जैन संस्कृति का इतिहास एवं दर्शन

डॉ. मीनाक्षी डागा

प्रस्तुत पुस्तक 'जैन संस्कृति का इतिहास एवं दर्शन' में जैन धर्म, दर्शन एवं संस्कृति की प्राचीनता व मौलिकता को विभिन्न साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों द्वारा प्रमाणित करते हुए प्राचीनतम विश्व धर्म के रूप में दर्शाया गया है। इसे मानव संस्कृति का आद्य प्रणेता कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी, क्योंकि मानव संस्कृति के विकास में इसने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। यह इतना सशक्त है, कि सदियों से समय के प्रबल झंझावतों का मुकाबला करते हुए आज तक विद्यमान है।

भगवान महावीर से पूर्व के जैन धर्म व दर्शन की स्थिति उसके स्वरूप तथा गौरव के साथ-साथ उसके विकास व प्रभाव की विवेचना की गई है। कर्मवाद व अनेकान्तवाद दार्शनिक जगत को अनुपम देन है। इसके अतिरिक्त ज्ञान मीमांसा, तत्व मीमांसा का वर्णन करते हुए जैनदर्शनानुसार मोक्ष प्राप्ति के लिए नव तत्व का विवेचन किया गया है। नीति मीमांसा के अन्तर्गत सभी तीर्थंकरों द्वारा प्रवर्तित नैतिक आदर्शों का वर्णन किया गया है।

वस्तुतः जैन दर्शन ने अनेकान्तवाद व अहिंसा के रूप में वर्तमान युग को ऐसी जीवन दृष्टि प्रदान की है, जिससे आज युद्ध, आतंकवाद, आर्थिक विषमता, साम्प्रदायिकता इत्यादि समस्त ज्वलंत समस्याओं का सहज समाधान किया जा सकता है।

जैन संस्कृति का इतिहास एवं दर्शन

डॉ. मीनाक्षी डागा

राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर

प्रकाशक :

राजस्थानी ग्रन्थागार

प्रकाशक एवं पुस्तक विक्रेता
प्रथम माला, गणेश मंदिर के पास,
सोजती गेट, जोधपुर (राजस्थान)
Ph: 0291-2657531, 2623933 (O)
e-mail : info@rgbooks.net
rgranthagar@sify.com
Website : www.rgbooks.net

© सर्वाधिकार सुरक्षित लेखिका

ISBN : 978-81-86103-07-4

- पहला संस्करण : 2014
- मूल्य : ₹ 800 (आठ सौ रूपये मात्र)

राजस्थानी ग्रन्थागार के लिए नागणेचिया ऑफसेट द्वारा कम्पोजिंग एवं मुद्रित

'Jain Sanskriti Ka Itihaas Avam Darshan'
by Dr. Minaxi Daga
Published By: **Rajasthani Granthagar, Sojati Gate, Jodhpur**

First Edition : 2014 Price : ₹800.00

प्राक्कथन

इस पुस्तक की विदूषी लेखिका डॉ. श्रीमति मीनाक्षी डागा के प्राक्कथन लिखने के स्नेहपूर्ण आमन्त्रण को मैंने बड़ी प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार किया। इस पुस्तक के वर्ण्य विषय की नवीनता, मौलिकता तथा वैज्ञानिक एवं तार्किक पद्धति से उसकी प्रस्तुति अनुपम है, प्रशंसनीय है। यह पुस्तक डॉ. मीनाक्षी डागा का शोध ग्रन्थ है, जो मेरे निर्देशन में सम्पन्न किया गया है। शोध कार्य सम्पन्न होने के पश्चात इतना शीघ्र इस पुस्तक का मुद्रित होना विदुषी लेखिका की योग्यता तथा रचना के व्यापक आकर्षण के स्पष्ट प्रमाण है।

जैन धर्म की प्राचीनता में जैन व जैनेतर साहित्य तथा उपलब्ध पुरातात्विक सामग्री के अध्ययन क्रम में लेखिका ने जैन धर्म के इतिहास का तुलनात्मक विश्लेषण किया है और निष्कर्ष रूप में जैन धर्म की प्राचीनता एवं मौलिकता सिद्ध करते हुए उसके गौरव को पुनः प्रतिष्ठित करने का सराहनीय कार्य किया है।

जैन संस्कृति ने भगवान ऋषभदेव से भगवान महावीर और बाद में भी मनुष्य के सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, शैक्षिक आदि सभी पक्षों को सकारात्मक रूप से प्रभावित करते हुए अधिक सक्षम बनाया है। वर्तमान में प्रचलित लिपि-विद्या एवं अंक विद्या भगवान ऋषभदेव जी की देन है। जैन संस्कृति क्रमशः तीर्थंकरों एवं आचार्यों की गुरु-शिष्य परम्परा के आधार पर इतने प्राचीनकाल से आज तक विद्यमान रही है। वर्तमान युग में भगवान महावीर ने जैन धर्म-दर्शन के सत्य की मशाल को पुनः प्रज्ज्वलित किया है।

मानव की गरिमा व स्वतंत्रता की प्रतिष्ठा का आगाज महावीर ने ही किया। 'व्यक्ति स्वयं ही अपने भाग्य का निर्माता है, सुख-दुःख के लिए वह स्वयं उत्तरदायी है।' उन्होंने भाग्यवाद के अंधविश्वास से घिरे हुए समाज को उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषार्थ और पराक्रम का महत्व समझाया व स्वतंत्रता और मुक्ति की सही दिशा बतायी। स्व. राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन ने कहा था - 'मानव की स्वतंत्रता और महत्ता का जो विचार हमें भगवान महावीर के दर्शन-चिंतन से प्राप्त हुआ है, विश्व के धार्मिक और सामाजिक इतिहास में उसका महत्व युग-युग तक अंकित रहेगा। उन के आत्मवाद और कर्मवाद के सिद्धान्त से हमें लोकतंत्र के बीज प्राप्त हुए हैं। उनके अपरिग्रहवाद के विचार से हमें समाजवाद और समतावाद की प्रेरणा प्राप्त हुई है। उनके अनेकांतवाद से धर्म निरपेक्षता का आधार सबल बना है।

भगवान महावीर के तत्वदर्शन के अनुसार जड़ और चेतन दो स्वतंत्र मूल तत्व है, जड़ कभी चेतन नहीं होता, चेतन कभी जड़ नहीं होता। दोनों की पर्यायों का परिवर्तन और

रुपान्तरण होता रहता है, इसी प्रकार विश्व व्यवस्था का क्रम संचालित होता है। षट् द्रव्यवाद में विश्व व्यवस्था के सम्बन्ध में वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। उनके नवतत्ववाद और गुणस्थान क्रम में आत्मविकास और मोक्ष दर्शन का व्यवस्थित और सुनिश्चित मार्ग दर्शन करता है।

भगवान महावीर ने विश्व को ऐसा नीति दर्शन दिया, जो जीवन के हर क्षेत्र में समता और अहिंसा की प्रतिष्ठा करता है। उन्होंने मानव की क्षमतानुसार धर्म को दो रुपों में प्रस्तुत किया। संसार से विरक्त व्यक्तियों को अनगार धर्म रुप में हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह से सर्वथा मुक्त रहने का उपदेश दिया। वहीं जिनमें इतनी क्षमता नहीं थी, उनको सागार धर्म रुप में हिंसा और परिग्रह को सीमित करने, परिहार्य असत्य और चोरी से बचने तथा विवाहित स्त्री और पुरुष के अतिरिक्त ब्रह्मचर्य का पालन करने की दिशा दिखाई। इस प्रकार जैन धर्म के नैतिक नियम एक आदर्श, सुसंस्कृत व सुव्यवस्थित समाज के निर्माण में सहायक है। महावीर ने सूत्र कृतांग में कहा –

कम्मुणा बम्भणो होई, कम्मुणा होइ खत्तिओ,
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दोहवइ कम्मुणा ॥

अर्थात् अपने कर्म, व्यवहार और व्यवसाय से मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होता है। समाज सेवा के किसी भी कार्य के आधार पर श्रेष्ठता और हीनता की कल्पना अज्ञान का परिचायक है। उन्होंने अपने शासन में जहाँ एक ओर सर्वोच्च प्रतिष्ठित ब्राह्मण वर्ग के इन्द्रभूति गौतम आदि अनेकों को प्रव्रजित किया वहीं दूसरी ओर शूद्र जाति के हरिकेशी चाण्डाल को भी अपना शिष्य बनाया, दासी चन्दन बाला को भी अपने धर्म में प्रव्रजित कर नारी संघ को नेतृत्व प्रदान किया।

इस प्रकार भगवान महावीर ने नारी उत्पीड़न, दास प्रथा, जातिवाद, सांप्रदायिक आग्रह और अभिनिवेश के विरुद्ध महान् क्रांति की मशाल जलायी। उन्होंने गुणों की पूजा पर बल दिया, नाम व अन्य बाहरी आवरणों को गौण समझा। इसी आधार पर जैन धर्म के नमस्कार महामंत्र में गुणों का स्मरण और वंदन है, किसी का नाम उसमें नहीं है। इसीलिए जैन धर्म दर्शन देश और काल की सीमाओं से अबाधित और शाश्वत है।

मैं विदुषी लेखिका का जैन धर्म के उज्ज्वल विचारों को देश के बहुजन वर्ग की भाषा में प्रस्तुत करने की मनोवृत्ति तथा उसे उल्लेखनीय सफलतापूर्वक सम्पन्न करने के कारण हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ। यह सभी मानवों के मस्तिष्क को प्रकाश देती हुई, आह्वान की घोषणा करती है। इसमें किंचित भी सन्देह नहीं कि यह शोध कृति आगामी शोधार्थियों के लिए प्रेरणा स्रोत बनेगी।

डॉ. पी.सी. जैन
पूर्व निदेशक, जैन अनुशीलन केन्द्र, जयपुर

आभार

इस पुस्तक के लिये मुझे अनेक श्रुत-मनीषियों, साधु-सन्तों, आचार्यों व गुरुजनों से प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से प्रेरणा व सहयोग मिला है। पुस्तक के समापन पर मैं उन सभी विलक्षण विभूतियों के प्रति श्रद्धावनत् हूँ। मुख्य रूप से पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री हस्तीमलजी म.सा., आचार्य श्री हीराचन्द्र जी म.सा, उपाध्याय प्रवर श्री मानचन्द्र जी म.सा., आचार्य श्री पद्मसागर जी म.सा., आचार्य श्री धर्मधुरन्धर जी म.सा. तथा आचार्य श्री महाश्रमण जी म.सा., आचार्य श्री मणिप्रभ सागर जी म.सा., गुरुवर्या महासती हेमप्रभा श्री जी म.सा. का भी मुझ पर मंगलमय आशीर्वाद रहा। इन वन्दनीय महापुरुषों व मुनिराजों के अनन्त उपकारों की मैं सदैव ऋणी रहूँगी।

इस पुस्तक के लेखन निर्देशक, डॉ. पी.सी. जैन, निदेशक, जैन अनुशीलन केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के प्रति उनकी सतत् प्रेरणा, अपरिमित सहयोग तथा सुयोग्य निर्देशन के लिए उपकृत हूँ। इन्होंने इस पुस्तक को लिखने हेतु मुझे विशेष सुविधायें प्रदान कराते हुए अपने गहन अध्ययन व अनुभव के द्वारा अनेक तथ्यों व विविध प्रमाणों के साथ मेरे विषय को विस्तार से अध्ययन करने की सही दृष्टि प्रदान की। आपके विद्वतापूर्ण सहयोग, निर्देशन तथा वात्सल्य के समक्ष मैं नतमस्तक हूँ। इनके प्रति मैं अपनी श्रद्धा को इस प्रकार अभिव्यक्त करना चाहूँगी-

अप्रतीम ज्ञानमय, अनवरत क्रियाशील हैं, वो वरदायी।
श्रद्धेय सर श्री पी.सी. जैन, गुरु हमारे प्रेरणादायी ।।

साथ ही डॉ. पी.सी. जैन के परिवारजन ने भी मुझे अपने परिवार के सदस्य के रूप में ही माना, उनके प्रति मैं हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ।

इस पुस्तक कार्य के विषय चयन तथा साहित्य सामग्री उपलब्ध कराने में स्व. श्री जौहरीमल जी पारख साहब ने अपने पुस्तकालय सेवा मंदिर, रावटी (जोधपुर) से बहुत सहयोग प्रदान किया, इसके लिये मैं उनकी भी हार्दिक आभारी हूँ। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय पुस्तकालय, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, राधाकृष्णन् केन्द्रीय पुस्तकालय, जयपुर, जवाहर कला केन्द्र के पुस्तकालय तथा प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर आदि संस्थानों से सन्दर्भ ग्रन्थों की सुविधाएँ प्राप्त हुई। अतः इन पुस्तकालयों मे सम्बद्ध अधिकारियों के प्रति भी मैं हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ।

पुस्तक में अतिव्यवस्तता के कारण अपने पारिवारिक दायित्वों का समुचित निर्वहन न कर पाने के उपरांत भी परिवार के सभी सदस्यों की मेरे प्रति मंगल भावना,

उत्साहवर्धन व सतत् सहयोग के प्रति आभार अभिव्यक्ति करने के लिए शब्द अक्षम है।

इस श्रम साध्य पुस्तक में समुचित सहयोग के लिए मैं मेरे पति श्रीमान् नरेन्द्रजी डागा, ससुरजी श्रीमान् मगनलालजी डागा (एडवोकेट), सासुजी श्रीमती कमलादेवीजी, पिताजी श्रीमान् केवलचन्दजी जैन, माताजी श्रीमती मनोहरदेवीजी, भ्राता श्रीमान् हेमन्तकुमारजी जैन (डी.जे.), श्रीमान् महेन्द्रजी पारख (आर.ए.एस.), भाभीजी डॉ. श्रीमती नन्दिता जैन तथा श्रीमती मधु पारख एवं परिजन श्री देवेन्द्र जी हिंगर, श्रीमती मधु हिंगर, श्री दिनेश जी जैन, श्रीमती नीरा जैन, श्री रविन्द्रजी डागा, श्रीमती रेखा डागा, अनुराग डागा, हिमांशु डागा व चेलसी डागा आदि सभी परिजनों ने मुझे सदैव मेरा कार्य करने के लिए वात्सल्यपूर्ण प्रोत्साहन व योगदान दिया है, वह मेरे लिए अविस्मरणीय एवं अतुलनीय है। अतः मैं सभी आदरणीय परिजनों के लिए श्रद्धापूर्ण नमन करते हुए, आत्मिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

मैं उन सभी महानुभावों को जिन्होंने किसी न किसी रूप में मेरा मार्गदर्शन किया है, उन सभी की आभारी हूँ। मैं उन जाने-अनजाने विद्वानों, व्यक्तियों का आभार व्यक्त करना अपना कर्तव्य समझती हूँ, जिनकी कृतियाँ, सुझाव व निर्देशन मेरे इस पुस्तक में उपयोगी रहे है।

प्रस्तुत पुस्तक में विषय, भाव व भाषा का समन्वय रखने का यथेष्ट प्रयास किया गया है, तथापि यदि कहीं मानवोचित या कम्प्यूटर जनित त्रुटियाँ रह गयी हो तो उनके लिए क्षमा प्रार्थी हूँ और अपेक्षा करती हूँ, कि सुधि पाठक उन्हें सही परिप्रेक्ष्य में समझेंगे।

डॉ. मीनाक्षी जैन (डागा)

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय : जैन धर्म, दर्शन एवं संस्कृति की प्राचीनता 11

साहित्यिक प्रमाण

1. बौद्ध दर्शन के प्रमाण
2. वैदिक दर्शन के प्रमाण
3. जैन दर्शन के प्रमाण
4. चौबीस तीर्थंकरों की परम्परा
5. जैन दर्शन की प्राचीनता पर दार्शनिक व इतिहासविदों के मत

पुरातात्त्विक प्रमाण

1. उत्खनन
2. सिक्के
3. अभिलेख
4. स्मारक
5. मूर्तियाँ एवं चित्रकला
6. संदर्भ सूची

द्वितीय अध्याय : सामाजिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक विकास पर प्रभाव 129

1. सामाजिक विकास में जैन दर्शन का योगदान
2. सांस्कृतिक विकास
3. तीर्थंकरों एवं आचार्यों की गुरु-शिष्य परम्परा
4. राजनैतिक व्यवस्था एवं जैन दर्शन
5. आर्थिक विचार एवं आर्थिक समृद्धि
6. संदर्भ सूची

तृतीय अध्याय : जैन दार्शनिक सिद्धान्त 177

I. कर्म-सिद्धान्त
   1. कर्म का स्वरूप
   2. कर्म के भेद
   3. कर्म का अस्तित्व
   4. कर्म की पौद्गलिकता

5. मूर्त व अमूर्त का संबंध
6. कर्म व उसका फल
7. ईश्वर और कर्मवाद
8. कर्म बंध
9. कर्म भेद (अष्ट कर्म)
10. कर्म बंध के कारण
11. कर्म विपाक के आधार
12. कर्म बन्धन से मुक्ति का उपाय
13. कर्मवाद एक अपूर्व देन

II. अनेकान्तवाद
1. स्याद्वाद विशिष्ट भाषा पद्धति
2. एकान्तवाद की स्थिति
3. अन्य दर्शनों पर अनेकान्त का प्रभाव
4. एकान्तवाद बनाम अनेकान्तवाद
5. सप्तभंगीनय
6. स्याद्वाद संशयवाद नहीं है

संदर्भ सूची

चतुर्थ अध्याय : ज्ञान मीमांसा 251

1. प्रमाण
2. ज्ञान मीमांसा का प्रमाण मीमांसा से स्वातंत्र्य
3. ज्ञान के विकास की भूमिकाएँ
4. जैन आगमों में प्रमाण चर्चा
5. प्रामाण्यवाद
6. अयथार्थ ज्ञान
7. प्रमाण विवेचन
    1. प्रत्यक्ष प्रमाण
    2. परोक्ष प्रमाण
        1. अनुमान
        2. औपम्य प्रमाण
        3. आगम प्रमाण
8. नयवाद

संदर्भ सूची

पंचम अध्याय : तत्त्व मीमांसा 334

1. पूर्वी तथा पश्चिमी तत्त्वज्ञान
2. भारतीय दर्शन में तत्त्वविचार
3. जैन तत्त्व विचार की प्राचीनता
4. जैन दर्शन में तत्त्वमीमांसा
    1. लोक व्यवस्था का आधार सत्ता का स्वरूप
    2. षड् द्रव्य-निरुपण
    3. पंचास्तिकाय-निरुपण
        1. जीव द्रव्यास्तिकाय
        2. पुद्गलास्तिकाय
        3. धर्मास्तिकाय
        4. अधर्मास्तिकाय
        5. आकाशास्तिकाय
        6. कालद्रव्य
    4. नवतत्त्व विवेचन
        1. जीव
        2. अजीव
        3. पुण्य
        4. पाप
        5. आस्रव
        6. संवर
        7. निर्जरा
        8. बंध
        9. मोक्ष
    5. लोक का स्वरूप

    वैदिक दर्शन में वर्णित भूगोल के साथ तुलनात्मक समीक्षा

संदर्भ सूची

षष्ठम् अध्याय : नीति मीमांसा 419

1. नीतिशास्त्र का उद्गम एवं विकास
2. नीति शास्त्र की परिभाषा
3. जैन नीति-मीमांसा

I. अनगार चारित्र धर्म
1. साधु के सत्ताइस गुण
2. महाव्रत
3. अष्ट प्रवचन माताएँ
4. परिषह जय
5. समाचारी
6. दिनचर्या
7. पाँच चारित्र
8. तप
9. वर्षावास
10. जिनकल्पी साधु की चर्या
11. अनगारी संल्लेखना
12. दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मान्यता- भेद
II सागार धर्म
1. गृही धर्म
i) अणुव्रत
ii) गुणव्रत
iii) शिक्षाव्रत
2. प्रतिमा
3. श्रावक पद का अधिकार
4. श्रावक के 14 नियम
5. श्रावक की अन्य क्रियाएँ
संदर्भ सूची

सप्तम अध्याय : उपसंहार 482
1. जैन धर्म-दर्शन का मानव संस्कृति के विकास में योगदान
2. भारतीय संस्कृति व दर्शन में जैन दर्शन की भूमिका
3. वर्तमान युग में जैन संस्कृति की उपादेयता

संदर्भ ग्रन्थ सूची 501
परिशिष्ट 512

जैन धर्म, दर्शन एवं संस्कृति की प्राचीनता

धर्म और दर्शन मनुष्य जीवन के दो अभिन्न अंग हैं। जब मानव चिन्तन के सागर में गहराई से डुबकी लगाता है, तब दर्शन का जन्म होता है तथा जब वह उस चिन्तन का जीवन में प्रयोग करता है, तब धर्म की अवतारणा होती है। मानव मन की उलझन को सुलझाने के लिए ही धर्म और दर्शन अनिवार्य साधन हैं। धर्म और दर्शन परस्पर सापेक्ष हैं, एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों का विषय सम्पूर्ण विश्व है। दर्शन मानव की अनुभूतियों की तर्कपूर्ण व्याख्या करके सम्पूर्ण विश्व के आधारभूत सिद्धान्तों की अन्वेषणा करता है। धर्म आध्यात्मिक मूल्यों के द्वारा सम्पूर्ण विश्व का विवेचन करने का प्रयास करता है। दोनों ही मानवीय ज्ञान की योग्यता में, यथार्थता में तथा चरम तत्त्व में विश्वास करते हैं। दर्शन सिद्धान्त को प्रधानता देता है, तो धर्म व्यवहार को। दर्शन बौद्धिक आभास है, धर्म आध्यात्मिक विकास है। मानव जीवन को सुन्दर, सरस एवं मधुर बनाने के लिए दोनों ही तत्त्वों की जीवन में अत्यन्त आवश्यकता है।

विश्व के धर्म, दर्शन, संस्कृति, देश, समाज अथवा जाति के प्राचीन से प्राचीनतम अतीत के परोक्ष स्वरूप को प्रत्यक्ष की भाँति देखने का दर्पण तुल्य एकमात्र वैज्ञानिक साधन इतिहास है। किसी भी देश, समाज, जाति, धर्म, दर्शन तथा संस्कृति के अभ्युदय, पतन, पुनरुत्थान, आध्यात्मिक उत्कर्ष एवं अपकर्ष में निमित्त बनने वाले लोक-नायकों के जीवनवृत्त आदि के क्रमबद्ध संकलन, आलेखन का नाम ही इतिहास है। इतिहास मानवता के लिए, भावी पीढ़ियों के लिए दिव्य प्रकाश स्तम्भ के समान दिशाबोधक मार्गदर्शक माना गया है, अतः किसी भी धर्म, समाज, संस्कृति अथवा जाति की सर्वतोमुखी उन्नति के लिए प्रेरणा के प्रमुख स्रोत उसके सर्वांगीण शृंखलाबद्ध इतिहास का होना अनिवार्य रूप से परमावश्यक है।

मानव संस्कृति के अभ्युदय के लिए धर्म-दर्शन का इतिहास जानना आवश्यक है। यह एक सामान्य जिज्ञासा होती है, कि धर्म दर्शन का आरंभ कब हुआ? उसका प्रारंभिक स्वरूप क्या रहा है? वर्तमान काल में विद्यमान विविध धर्म व दर्शनों के मध्य क्या वह आज भी अस्तित्वमान है? इन्हीं स्वाभाविक जिज्ञासाओं के समाधान स्वरूप हम एक ऐसे धर्म, दर्शन व संस्कृति को जानने का प्रयास करेंगे, जो वास्तव में मानव सभ्यता व संस्कृति का प्रथम पुरस्कर्ता कहा जा सके। वो है, जैन धर्म, दर्शन एवं संस्कृति।

जैन दर्शन विश्व का सबसे प्राचीन धर्म दर्शन है। यह कहना सहज तो नहीं है, चूंकि जैन दर्शन की प्राचीनता की प्रामाणिकता के लिए कोई क्रमबद्ध साहित्य अथवा इतिहास सुव्यवस्थित रूप से विद्यमान नहीं है। यद्यपि पिछले पचास वर्षों में अनेक विद्वानों ने इस दुष्कर कार्य को करने का अमित प्रयास किया है। तथापि क्रमबद्ध इतिहास के अभाव में अनेक विचारकों ने जैन दर्शन के अस्तित्व के बारे में अनेक भ्रमपूर्ण विचारों का प्रतिपादन किया है। किसी ने जैन दर्शन को हिन्दू धर्म की शाखा मान लिया, तो किसी ने इसे बौद्ध दर्शन की शाखा कह दिया। महावीर तथा बुद्ध की समकालीनता से जैन दर्शन को अर्वाचीन मान लिया गया। जैसा कि श्री विल्सन कहते हैं, कि "सब विश्वस्त प्रमाणों से भी यह अनुमान दूर नहीं किया जा सकता है, कि जैन जाति एक नवीन संस्था है और ऐसा लगता है, कि वह सर्व प्रथम आठवीं और नवीं सदी ईसवी में वैभव और सत्ता में आई थी। इससे पूर्व बौद्ध धर्म की शाखा के रूप में वह कदाचित अस्तित्व में रही हो और इस जाति की उन्नति उस धर्म के दब जाने के बाद से ही होने लगी हो कि जिसको स्वरूप देने में इसका भी हाथ था।"

इस प्रकार के भ्रमपूर्ण विपरीत विचारों एवं धारणाओं को निरर्थक सिद्ध करते हुए विविध साहित्यिक, ऐतिहासिक, पुरातात्विक एवं वैज्ञानिक साक्ष्यों के द्वारा जैन दर्शन की प्राचीनता को प्रमाणित करके इसके गरिमामय-इतिहास के द्वारा इसके प्राचीन गौरव को पुनः स्थापित करने की अत्यधिक आवश्यकता है। फलस्वरूप एक समृद्ध धर्म-दर्शन के पुनरुत्थान के द्वारा मानव संस्कृति का ऊर्ध्वगामी विकास किया जा सके। सर्वप्रथम विविध साहित्यिक प्रमाणों से ही जैन दर्शन की प्राचीनता को प्रमाणित करेंगे।

1. साहित्यिक प्रमाण :

भारतीय दर्शनों के साहित्य एवं विदेशी साहित्य के आधार पर जैन दर्शन की प्राचीनता को प्रमाणित करेंगे। मुख्य रूप से साहित्यिक शोध का चार भागों में विवेचन करेंगे –

1. बौद्ध दर्शन के प्रमाण।
2. वैदिक दर्शन के प्रमाण।
3. जैन दर्शन के प्रमाण।
4. विदेशी व भारतीय विद्वानों के शोध-मत।

बौद्ध दर्शन के प्रमाण : बुद्ध और महावीर की समकालीनता के आधार पर जैन और बौद्ध धर्म को समान प्राचीन समझा जाए तो यह उचित नहीं है। इससे भी आगे विद्वान जैन दर्शन को बौद्ध दर्शन की शाखा तक कह देते हैं। जैसा कि श्री डब्ल्यू. एस. लिले कहते हैं, कि "बौद्ध धर्म अपनी जन्म भूमि में जैन धर्म के रूप में टिका हुआ है। यह निश्चित बात है, कि जब भारत वर्ष में बुद्ध धर्म अदृश्य हो गया,

जैन धर्म दिखलाई पड़ा था।'[7] इन भ्रामक और असत्य अनुमानों को प्रस्तुत करने वाले विचारक जैन दर्शन ही नहीं वरन् संपूर्ण भारतीय दर्शन के इतिहास से अनभिज्ञ ही हैं। यहाँ तक, कि बौद्ध दर्शन के ये पक्षपाती बौद्ध दर्शन का भी परिपूर्ण ज्ञान नहीं रखते। अन्यथा वे ऐसे भ्रामक विचार कभी नहीं रखते, क्योंकि स्वयं बौद्ध दर्शन में भी जैन दर्शन की प्राचीनता के प्रमाण विद्यमान हैं। बौद्ध ग्रंथ धम्मपद में विविध स्थानों पर जैन संस्कृति के शब्दों का प्रयोग हुआ है और उनका विवेचन किया गया है। प्रथम अध्याय में ही गाथा 19-20 में 'श्रामणस्य' शब्द का प्रयोग हुआ है -

'अप्पम्पि चे संहितं भासमानो, धम्मस्य होति अनुधम्मचारी।
रागञ्च दोसञ्च पहाय मोहं, सम्मप्प जानों सुविमुत्त चित्तो।
अनुपादियानों इधवा हुरं वा, स भगवा सामञ्ञस्स होती॥'

अर्थात् चाहे अल्पमात्र ही संहिता का भाषण करें, किंतु यदि वह धर्म के अनुसार आचरण करने वाला हो, राग, द्वेष, मोह को त्यागकर, अच्छी प्रकार सचेत और अच्छी प्रकार मुक्तचित्त हो, यहाँ और वहाँ बटोरने वाला न हो तो वह श्रमणपन का भागी होता है।[8]

7वें अध्याय में ''अर्हन्तवग्गो'' शब्द आया है, जिसमें कहा गया है, कि जहाँ अर्हंत व वीतराग रमण करते हैं, वहीं रमणीय भूमि है।[9]

इसके अतिरिक्त अनेक स्थानों पर ''श्रमणो'' शब्द का विवेचन हुआ है -

''अलङ्कतो चेपि समं चरेय्य, सन्तो दन्तो नियतो ब्रह्मचारी।
सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं, सो ब्रह्मणो सो समणो सभिक्खू॥''

अर्थात् अलंकृत रहते भी शान्त, दान्त, नियम तत्पर, ब्रह्मचारी सारे प्राणियों के प्रति दंडत्यागी है, तो वही ब्राह्मण है, वही श्रमण है, वही भिक्षु है।[10]

आगे अध्याय चौदह[11] व उन्नीस[12] में भी श्रमण की विशेषताएँ बतायी गई हैं।

अध्याय 19 में जैन तत्त्वमीमांसा में विवेचित एक तत्त्व आस्रव का उल्लेख किया गया है।[13]

अध्याय 26 में ''अरहंत'' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[14] आगे प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव (उसभं) शब्द का भी उल्लेख आया है।[15]

बौद्ध साहित्य में त्रिपिटक में बुद्ध और उनके अनुयायियों के विरोधी के रूप में 'निगंठ' शब्द का बारम्बार प्रयोग हुआ है। जैन श्रमण को निर्ग्रंथ कहा जाता है। 'निगंठ' शब्द निर्ग्रंथ के ही पर्याय रूप में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार बौद्ध साहित्य से ही स्पष्ट होता है, कि जैन दर्शन बौद्ध दर्शन का महान् प्रतिद्वन्द्वी था, न कि उससे निकली शाखामात्र। इसके विपरीत प्राचीन जैन सूत्रों में बौद्धों का किंचित भी विवेचन नहीं मिलता। तात्पर्य है, कि निर्ग्रंथ बौद्ध सम्प्रदाय की उपेक्षा तक कर सकते थे अथवा संभव है, कि निर्ग्रंथ संप्रदाय बौद्ध संप्रदाय के पहले से विद्यमान रहा हो। बुद्ध के

समय निर्ग्रंथ सम्प्रदाय कोई नवीन स्थापित संप्रदाय नहीं था, यही मत पिटकों में भी मिलता है।

मज्झिम निकाय[11] के महासिंहनाद सुत्त में बुद्ध ने अपने प्रारम्भिक कठोर तपस्वी जीवन का वर्णन करते हुए तप के वे चार प्रकार बताए, जिनका उन्होंने स्वयं पालन किया था। वे चार तप हैं - 1. तपस्विता, 2. रुक्षता, 3. जुगुप्सा तथा 4. प्रविविक्तता।

1. तपस्विता का अर्थ है - नग्न रहना, हाथ में ही भिक्षा भोजन करना, केश, दाढ़ी के बालों को उखाड़ना, कंटकाकीर्ण स्थल पर शयन करना।
2. रुक्षता का अर्थ है - शरीर पर मैल धारण करना या स्नान न करना। अपने मैल को न अपने हाथ से परिमार्जित करना और न दूसरों से परिमार्जित कराना।
3. जुगुप्सा का अर्थ है - जल की बूंद पर तक दया करना।
4. प्रविविक्तता का अर्थ है - वनों में अकेले रहना।

ये चारों तप निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय में आचरित होते थे। भगवान महावीर ने स्वयं इनका पालन किया था तथा अपने अनुयायियों के लिए भी इसका विधान किया था। किंतु बुद्ध के दीक्षा लेने के समय महावीर के निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय का प्रवर्तन नहीं हुआ था, अतः अवश्य ही वह निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय महावीर के पूर्वज भगवान पार्श्वनाथ का था, जिसके उक्त चार तपों को बुद्ध ने धारण किया था, किंतु बाद में उनका परित्याग कर दिया था। मज्झिम निकाय के उक्त सूत्र से यह स्पष्ट है।

बौद्ध शास्त्रों में सामंजफल सुत्त नाम के प्राचीन सिंहली शास्त्र में भी निगंठनातपुत्र व उनके सिद्धांतों का जो विवेचन मिलता है, उससे निगंठों व जैनों का अभेद सिद्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त अंगुत्तरनिकाय में भी ऐसा उल्लेख मिलता है, कि निगंठ-नातपुत्र सर्व वस्तु जानता है और देखता है, संपूर्ण ज्ञान और दर्शन का वह दावा करता है, तपश्चर्या से कर्मों का नाश और क्रिया से नवीन कर्मों का अवरोध वह सिखाता है, जब कर्म समाप्त हो जाते हैं, तब सब कुछ समाप्त हो जाता है।[12]

सामंजफलसुत्त में नातपुत्त के सिद्धांतों का उल्लेख इस प्रकार है - चातुर्याम-संवर-संवुतो। इसको डॉ॰ याकोबी जैन पारिभाषिक शब्द 'चातुर्याम' सम्बन्धी उल्लेख मानते हैं। उनके अनुसार महावीर के पुरोगामी पार्श्वनाथ के सिद्धांत के लिए इसी शब्द का उपयोग किया गया है। ताकि महावीर के सुधारे हुए सिद्धांत पंचयाम धर्म से यह पृथक् हो जाए।[13]

पार्श्वनाथ के मूल धर्म में उनके अनुयायियों के लिए चार महाव्रत नियत थे और वे इस प्रकार थे - अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य) और अपरिग्रह (अनावश्यक वस्तुओं का त्याग)। महावीर जिस समाज में विचरते थे, उसमें पार्श्वनाथ के अपरिग्रह व्रत से पूर्णतः पृथक् 'ब्रह्मचर्य याने शीलव्रत' को स्वतन्त्र व्रत रूप से बढ़ाना परम

आवश्यक समझा।

जैन दर्शन में महावीर के इस सुधार के सम्बन्ध में डॉ. याकोबी कहते हैं, कि पार्श्वनाथ और महावीर के अन्तराल समय में साधू संस्था में चारित्र की शिथिलता आ गई हो ऐसी शास्त्र के तर्क से पूर्व सूचना मिलती है और ऐसा तभी संभव है, जब कि हम दो तीर्थंकरों के बीच पर्याप्त समयान्तर मान लेते हैं और पार्श्वनाथ के 250 वर्ष बाद महावीर हुए, यह सामान्य दन्तकथा इस मान्यता से एकदम मेल खा जाती है।[14]

इस प्रकार बौद्ध ग्रन्थों से ही हमें ऐसे ठोस प्रमाण प्राप्त होते हैं, कि जो पार्श्वनाथ के जीवन की ऐतिहासिकता को प्रमाणित करते हैं। इसी से यह स्वतः सिद्ध हो जाता है, कि बुद्ध और महावीर से बहुत पूर्व ही जैन दर्शन अस्तित्व में था।

मि. टी. डब्ल्यू. राईस डेविड लिखते हैं, कि "जैन मत बौद्धमत से निःसन्देह बहुत पुराना है और बुद्ध के समकालीन महावीर द्वारा पुनः संजीवित हुआ है और यह बात भी भली प्रकार से निश्चय है, कि जैन मत के मन्तव्य बहुत ही जरूरी और बौद्ध मत के मंतव्यों से बिल्कुल विरुद्ध हैं। ये दोनों मत न केवल धर्म से स्वाधीन हैं, वरन् एक दूसरे से निराले हैं।[15]

जैन दर्शन के काल निर्णय में ऐसे अनेक प्रमाण हैं। सेल ब्रुक साहब ने भी जैन दर्शन की प्राचीनता को स्वीकार किया है। इतना ही नहीं वरन् बौद्ध धर्म जैन धर्म से निकला हुआ होना चाहिए, ऐसा विधान किया है। एडवर्ड थॉमस ने भी 'जैनधर्म या अशोक की पूर्वश्रद्धा' नामक ग्रन्थ में इसी आशय के प्रमाण दिये हैं।

चन्द्रगुप्त (अशोक के दादा) स्वयं जैन था, इस बात को वंशावली का दृढ़ आधार प्राप्त है। राजा चन्द्रगुप्त श्रमण अर्थात् जैन गुरु से उपदेश लेता था। ऐसा मेगस्थनीज ग्रीक इतिहासकार की भी साक्षी है। अबुल फज़ल नामक फारसी ग्रन्थकार ने 'अशोक ने कश्मीर में जैन धर्म का प्रचार किया' ऐसा कहा है। राजतरंगिणी नामक कश्मीर के संस्कृत इतिहास में भी इस प्रकार के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

जहाँ बौद्ध दर्शन जैन दर्शन को पार्श्वनाथ जितना प्राचीन सिद्ध करता हैं। वैदिक दर्शन उसे बहुत आगे ले जाता है। ये जैन मान्यतानुसार प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव तक जैन दर्शन की प्राचीनता का समर्थन करते हैं।

वैदिक दर्शन के प्रमाण : जैन धर्म दर्शन विश्व का सबसे प्राचीन धर्म है। वह न वैदिक धर्म की शाखा है और न ही बौद्ध धर्म की वरन् यह स्वतंत्र धर्म दर्शन है। यह सत्य है, कि जैन धर्म शब्द का प्रयोग वेदों में पिटकों में और आगमों में देखने को नहीं मिलता है, जिसके कारण तथा साम्प्रदायिक अभिनिवेश के कारण कितने ही इतिहासकारों ने जैन धर्म को अर्वाचीन मानने की भयंकर भूल की है।

जब हम ऐतिहासिक दृष्टि से जैन धर्म का अध्ययन करते हैं, तब सूर्य के प्रकाश के समान यह स्पष्ट ज्ञात होता है, कि जैन धर्म विभिन्न युगों में विभिन्न नामों

द्वारा अभिहित होता रहा है। वैदिक काल से अरण्यक काल तक वह वातरशन मुनि या वातरशन श्रमणों के नाम से पहचाना गया है। ऋग्वेद में 'वातरशन' मुनि का उल्लेख है :

'मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला।'[16]

तैत्तिरीय अरण्यक में केतु, अरुण और वातरशन ऋषियों की स्तुति की गई है।

'केतवो अरुणासश्च ऋषयो वातरशनाः प्रतिष्ठां।
शतधा हि समाहितासो सहस्त्रधायसम॥'[17]

श्रीमद् भागवत के अनुसार भी वातरशन श्रमणों के धर्म का प्रवर्तन भगवान ऋषभदेव ने किया।[18] व्रात्य शब्द भी वातरशन शब्द का सहचारी है। वातरशन मुनि वैदिक परम्परा के नहीं थे। क्योंकि प्रारम्भ में वैदिक परम्परा में संन्यास और मुनिपद का स्थान नहीं था।

जैन धर्म का दूसरा नाम आर्हत भी अत्यधिक विश्रुत रहा है। जो अर्हत के उपासक थे वे 'आर्हत' कहलाते थे। वे वेद और ब्राह्मणों को नहीं मानते थे। वे यज्ञों में विश्वास न कर कर्म-बन्ध और कर्म निर्जरा को मानते थे। प्रस्तुत आर्हत धर्म को पद्मपुराण में सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा गया है।[19] इस धर्म के प्रवर्तक ऋषभदेव हैं। ऋग्वेद में अर्हन् को विश्व की रक्षा करने वाला सर्वश्रेष्ठ कहा है।[20] आचार्य श्रुतकेवली भद्रबाहु ने कल्पसूत्र में भगवान अरिष्टनेमि व अन्य तीर्थंकरों का विशेषण अर्हत् प्रयोग किया है।[21] पद्मपुराण एवं विष्णुपुराण में जैन धर्म के लिए आर्हत धर्म का प्रयोग मिलता है।

आर्हत शब्द का प्रचलन भगवान पार्श्वनाथ के तीर्थकाल तक अधिक रहा। महावीर युगीन साहित्य में मुख्य रूप से निर्ग्रंथ शब्द प्रयुक्त हुआ है।[22]

दशवैकालिक,[23] उत्तराध्ययन,[24] और सूत्रकृतांग[25] आदि आगमों में "जिन शासन, जिन-मार्ग, जिनवचन" शब्दों का प्रयोग हुआ है, लेकिन जैन धर्म शब्द का प्रयोग आगम ग्रन्थों में नहीं मिलता। सर्वप्रथम जैन शब्द का प्रयोग जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण कृत विशेषावश्यक भाष्य में देखने को मिलता है।[26] उसके पश्चात् के साहित्य में जैन धर्म शब्द का प्रयोग विशेष रूप से हुआ है। मत्स्यपुराण[27] तथा देवी भागवत[28] में भी जिन धर्म का वर्णन मिलता है।

तात्पर्य यह है, कि देशकाल के अनुसार शब्द बदलते रहे हैं, किंतु शब्दों के बदलने मात्र से जैन धर्म को आर्वाचीन नहीं माना जा सकता। परम्परा की दृष्टि से यह प्रमाण वैदिक साहित्य में ही उपलब्ध हैं, कि वेद पूर्व भी जैन दर्शन विद्यमान रहा है।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल में प्रजापति परमेष्ठी, हिरण्य गर्भ और वातरशन (नग्न) मुनियों का उल्लेख है।[29] इन उपमाओं का उल्लेख ऋषभदेव के सम्बन्ध में भी किया गया है, अतः वेद विरुद्ध नियमादि का पालन करने वाले तथा यज्ञ विरोधी नग्न श्रमणों की परम्परा का अस्तित्व ऋग्वेद काल तक जाता है। ये श्रमण ध्यान मग्न रहते

थे, कभी-कभी मौन का उपदेश देते थे, जो प्रचलित धर्म के अनुरूप नहीं होता था।

नाभिपुत्र ऋषभ और ऋषभ पुत्र भरत की चर्चा प्रायः सभी हिन्दू पुराणों में आती है। मार्कण्डेय पुराण अ. 50, कूर्मपुराण अ. 41, अग्निपुराण अ. 10, वायुपुराण अ. 33, गरुण पुराण अ. 1, ब्रह्माण्ड पुराण अ. 14, वराह पुराण अ. 74, लिंगपुराण अ. 47, विष्णु पुराण 2 अ. 1 और स्कन्द पुराण कुमारखण्ड अ. 37 में ऋषभदेव का वर्णन आया है। इन सभी में ऋषभदेव को नाभि और मरुदेवी का पुत्र बताया गया है। ऋषभ से सौ पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें से बड़े पुत्र भरत को राज्य देकर ऋषभदेव ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। इन्हीं भरत के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। सभी हिन्दू पुराण इसमें एकमत हैं। हिन्दु पुराणों का यह एकमत्य निसंदेह उल्लेखनीय है।

वेद, पुराण, उपनिषदों में अनेक स्थलों पर भिन्न-भिन्न प्रकार से विभिन्न तीर्थंकरों की स्तुति, महात्म्य विवेचन किया गया है। कहीं-कहीं वेद-विरोधी चरित्रों के रूप में भी इनका वर्णन मिलता है। जैसा कि ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है, कि ये वातरशन मुनि वैदिक रीति रिवाजों, यज्ञ-यागादि के विरोधी हैं तथा वेद को नहीं मानते तथा भिन्न प्रकार के व्रतों का पालन करते हैं, जिनसे आर्य अपरिचित हैं।[1] इस आशय के उल्लेख मद्भागवत् में भी मिलते हैं।

ब्राह्मण परम्परा और उसमें भी विशेष रूप से वैष्णव परम्परा का बहुमान्य और सर्वत्र अतिप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं, श्रीमद्भागवत, जिसे भागवत पुराण भी कहते हैं। इसमें भगवान् ऋषभदेव का जो वर्णन मिलता है, वह बहुत कुछ जैन परम्परा के वर्णन के अनुकूल ही है। इसमें लिखा है कि -

"जब ब्रह्मा ने देखा, कि मनुष्य की संख्या नहीं बढ़ी तो उसने स्वयंभू मनु और सतरूपा को उत्पन्न किया, उनके प्रियव्रत नामका लड़का हुआ, प्रियव्रत का पुत्र अग्नीध्र हुआ, अग्नीध्र के घर नाभि का जन्म हुआ। नाभि ने मरुदेवी से विवाह किया और उनसे ऋषभदेव हुए। ऋषभदेव ने इन्द्र के द्वारा दी गई जयन्ति नाम की भार्या से सौ पुत्र उत्पन्न किए और बड़े पुत्र का राज्याभिषेक करके संन्यास ले लिया। उस समय केवल शरीर मात्र उनके पास था और वे दिगम्बर वेश में विचरण करते थे, मौन रहते थे। कोई डराए, मारे, ऊपर थूके, पत्थर फेंके, मूत्र-विष्टा फेंके तो उन सबकी ओर ध्यान नहीं देते थे। यह शरीर असत् पदार्थों का घर है, ऐसा समझकर अहंकार-ममकार का त्याग करके अकेले भ्रमण करते थे। उनका कामदेव के समान सुन्दर शरीर मलिन हो गया था। उनका क्रिया-कर्म बड़ा भयानक हो गया था। शरीरादिक का सुख छोड़कर उन्होंने 'आजगर' व्रत ले लिया था। इस प्रकार केवल्यपति भगवान् ऋषभदेव निरन्तर परम आनन्द का अनुभव करते हुए भ्रमण करते-करते कोंक, बेंक, कुटक, दक्षिण कर्नाटक देशों में अपनी इच्छा से पहुँचे और कुटिका चल पर्वत के उपवन में उन्मत्त के समान नग्न होकर विचरने लगे। जंगल में बांसों की रगड़ से आग

लग गई और उन्होंने उसी में प्रवेश करके अपने को भस्म कर दिया।'[131]

श्री मद्भागवत में कहा है - ''हे परीक्षित! सम्पूर्ण लोक, देव, ब्राह्मण और गौ के परमगुरु भगवान् ऋषभदेव का यह विशुद्ध चारित्र मैंने तुम्हें सुनाया है। यह चारित्र मनुष्यों के समस्त पापों का हरण करने वाला है।'[132]

वे कहते हैं - ''नाभिराजा ने संसार में धर्म वृद्धि के लिए मोक्ष प्राप्ति और अपवर्ग के पथ प्रदर्शन के लिए अपत्यकामना की और अरिहन्त भगवान् को अवतरित करने के लिए यज्ञ किया।'[133]

''अर्हन् नाम-रूप प्रकृति के गुणों से निर्लेप अनासक्त तथा मोह से असंस्पृष्ट होते हैं और मोक्ष तथा उपसर्ग का मार्ग बतलाते हैं।'[134]

''ऋषभदेव आत्मस्वभावी थे। अनर्थ परम्परा (हिंसा आदि पाप) के पूर्ण त्यागी थे। वे केवल अपने ही आनन्द में लीन रहते तथा अपने ही स्वरूप में विचरण करते थे।'[135] सभी ऋद्धियाँ व सिद्धियाँ स्वतः ही उन्हें प्राप्त थी, जिनका उन्होंने स्वेच्छा से त्याग कर दिया, जिन्हें योगी लोग प्राप्त करने का प्रयास करते हैं।[136]

''ऋषभदेव साक्षात् ईश्वर थे। वे सर्व समता रखते, सर्व प्राणियों से मित्र-भाव रखते और सर्व प्रकार दया करते थे।'[137]

श्री मद्भागवत ने उच्च स्वर से उद्घोषित किया है, कि उस ऋषभदेव भगवान् का ज्येष्ठ और श्रेष्ठ गुणी भरत नामक पुत्र था। वह भारत का आदि सम्राट था और उसी के नाम से इस राष्ट्र का नाम भारत वर्ष पड़ा।[138]

जब भरत सम्पूर्ण राज्य को अपने अधीन करना चाहता था, तो शेष 98वें पुत्र उद्विग्न होकर परमयोगी ऋषभदेव के पास गए और उनके समक्ष राज्य चिन्ता का शोक प्रकट किया। भगवान ऋषभदेव ने उन 98 पुत्रों की राज्य के प्रति आसक्ति देखकर बहुत ही गम्भीर, मर्मस्पर्शी और कल्याणकारी उपदेश दिया। यह बहुत अंशों में जैन धर्म शास्त्रों के अनुरूप ही है। उसका सार संक्षेप इस प्रकार है -

1. हे पुत्रों! मानवीय संतानों। संसार में शरीर ही कष्टों का घर है। यह भोगने योग्य नहीं है। इसे माध्यम बनाकर दिव्य तप करो, जिससे अनन्त सुख की प्राप्ति होती है। तप से अन्तःकरण शुद्धि और अन्तःकरण शुद्धि से ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है।
2. हे पुत्रों! सत्पुरुषों के सदाचार से प्रीति करना ही मोक्ष का ध्रुव द्वार है। जो लोक में और संसार व्यवहार में प्रयोजन मात्र के लिए आसक्ति कर्तव्य-बुद्धि रखता है, वही समदर्शी प्रशान्त साधु है।
3. जो इन्द्रियों और प्राणों के सुख के लिए तथा वासना तृप्ति के लिए परिश्रम करता है, उसे हम अच्छा नहीं मानते, क्योंकि शरीर की ममता भी आत्मा के लिए क्लेशदायक है।

4. साधु जब तक आत्मस्वरूप को नहीं जानता, तब तक वह कुछ नहीं जानता। वह कोरा अज्ञानी है। जब तक वह कर्मकाण्ड (यज्ञ आदि) में फँसा रहता है, तब तक आत्मा और शरीर का संयोग छूटता नहीं है और मन के द्वारा कर्मों का बन्ध भी रुकता नहीं है।
5. जो सद्ज्ञान प्राप्त करके भी सदाचार का पालन नहीं करते, वे विद्वान् प्रमादी बन जाते हैं। मनुष्य अज्ञान भाव से ही मैथुन भाव में प्रवेश करता है और अनेक सन्तापों को प्राप्त करता है।
6. नर का नारी के प्रति काम-भाव ही हृदय की ग्रन्थि है। इसी कारण जीव का घर, खेत, पुत्र, कुटुम्ब और धन से आकर्षण होता है, मोहासक्ति बढ़ती है।
7. जब हृदय-ग्रन्थि को बनाए रखने वाले मन का बन्धन शिथिल हो जाता है, तब जीव इस संसार से छूटने लगता है और मुक्ति प्राप्त कर परम लोक में पहुँच जाता है।
8. सार-असार का भेद जानने वाला जीव वीतराग पुरुष की भक्ति करता है। भक्ति से अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है। तब जीव तृष्णा, सुख-दुःख का त्याग कर तत्त्व को जानने की इच्छा करता है तथा तप के द्वारा सब प्रकार की चेष्टाओं की निवृत्ति करता है तभी आत्मा कर्मों का नाश करके मुक्ति प्राप्त करती है।
9. विषयों की अभिलाषा ही अन्धकूप के समान नरक में जीव को पटकने वाली है।
10. हे पुत्रों! जो हेयोपादेय की विवेक दृष्टि से शून्य है और कामनाओं से परिपूर्ण है, वह संसारी कल्याण के मूलपथ को नहीं पहचान सकता।
11. जो पुरुष बुद्धि को मोह में उलझाकर और कुबुद्धि बनकर उन्मार्ग पर चलता है, दयालु विद्वान् उसे कभी भी उन्मार्ग पर नहीं चलने देते।
12. हे पुत्रों! जो स्थावर और जंगम जीवों की आत्मा को भी मेरे समान ही समझता है और कर्मावरण के भेद को पहचानता है, वही धर्म प्राप्त करता है। धर्म का मूल तत्त्व समदर्शन है।
13. जो साधक यमों (महाव्रतों)को ग्रहण करता है और आध्यात्म योग विविक्त सेवा द्वारा उसका साक्षात्कार करता है, वह अप्रमादी साधक मुक्ति के निकट पहुँचता है।
14. जो सर्वत्र विचक्षणता पूर्वक ज्ञान, विज्ञान, योग, धैर्य, उद्यम तथा सत्व से युक्त होकर विचरण करता है, वही कुशल है और वही मेरा अनुयायी है।
15. कर्माशय को विध्वंस करने के लिए हृदय ग्रंथि को नष्ट करो, यही बंध

का कारण है। अविद्या से ही बंध होता है। प्रमाद कर्म-बन्ध में सहायक होता है।

16. इस आत्मा की अपने कल्याण की दृष्टि नष्ट हो गई है और वह स्वार्थ के पीछे पागल हो गया है। पुत्रों! निष्काम और निःस्वार्थ होकर सुखलेश की उपेक्षा करके कर्ममूढ़ता और अनन्त दुःख ग्रस्तता को नष्ट करो।
17. नेत्रों के अभाव में जैसे अन्धा कुपथ पर जा चढ़ता है, उसी प्रकार जीव कर्मान्ध होकर कुमार्ग का अनुसरण कर रहा है। कुबुद्धि होने के कारण ही वह सच्चे धर्म पर श्रद्धा नहीं करता।
18. हे पुत्रों! मेरा शरीर मेरा नहीं है, यह तो आत्मा के विभाव का दुष्फल है। मेरा अपना तो आत्म स्वभाव ही है। वही मेरा सच्चा धर्म है। मैंने उस विभाव रूप अधर्म को दूर कर दिया, अतः मुझे लोग श्रेष्ठ आर्य कहते हैं।
19. अग्निहोत्र में वह कुछ नहीं है, जो आत्मयज्ञ में है।
20. मैं उसे ही यज्ञ मानता हूँ, जो सतोगुण से युक्त, शम, दम, सत्य, अनुग्रह, तप, तितिक्षा और अनुभव से सम्पन्न होता है। इसी मार्ग से अनन्त आत्माएँ परमात्म पद प्राप्त कर गई है। यही श्रेष्ठ मार्ग है।
21. स्थावर और जंगम जीवों पर सदा अभय दृष्टि रखो, यही सच्चा श्रेष्ठ मार्ग है और मोह नाश का कारण है। मुक्ति प्राप्ति के लिए प्रयत्न करो, यही सर्वोच्च ध्येय है। इसी सिद्धि से अनन्त सुख प्राप्त होता है।

भगवान् का यही उपदेश सुनकर उनके पुत्रों ने संसार त्याग दिया। कर्मकाण्ड त्याग कर उन्होंने परमहंस धर्म (आत्म धर्म) की पद्धति का अनुसरण किया।[1]

भागवत में भगवान् ऋषभदेव की तपस्या का बहुत ही रोमांचकारी वर्णन किया गया है। उपसर्गों, परीषहों और संकटों को पार करते हुए तथा वनवास के समस्त दुःखों को सहन करते हुए भगवान अवधूत वेश में विचरने लगे। उनका मन अविखण्डित और प्रशान्त था। वे मानापमान की चिन्ता न करके घूमते रहते थे।[2]

भगवान् ऋषभदेव के भगवतोक्त जीवन की जैनागमों और जैन पुराणों से पूरी तरह तुलना की जा सकती है। भगवान ऋषभदेव द्वारा अपने पुत्रों को उपदेश देने का प्रसंग अंगशास्त्र में भी है। सूत्रकृतांग का द्वितीय अध्ययन (प्रथमश्रुतस्कंध) इसी उपदेश से भरा है। वस्तुतः भागवतकार ने श्री ऋषभदेव के जीवन और धर्म को विशुद्ध रूप में उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। कहीं भी उन्हें यज्ञ समर्थक या वेदानुयायी प्रदर्शित नहीं किया गया है।

वैदिक धर्म के चौबीस अवतारों में भगवान् ऋषभदेव आठवें अवतार स्वीकार किए गए हैं, लेकिन उनका जीवन किसी भी अन्य वैदिक अवतार से मेल नहीं खाता है। वह अनूठा है।

"अष्टमे मरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः।
दर्शयन् वर्त्म धीराणां सर्वाश्रमनमस्कृतम्॥"[41]

श्रीमद्भागवत के अनुसार भी जैन धर्म-दर्शन का उद्गम श्री ऋषभदेव से हुआ ऐसा स्पष्ट ध्वनित होता है।[42]

पद्मपुराण में भी अनेक स्थानों पर जैन धर्म एवं आचार का विस्तृत विवेचन मिलता है।

"तीर्थंकराश्चतुर्विंशत्त यातैस्तुपुरस्कृताः।
छावाकृतं फणीन्द्रेण ध्यानमार्ग प्रदर्शकम्॥"[43]

पद्मपुराण के प्रथम खण्ड में क्रोष्टुवंश के विस्तार के वर्णन में श्लोक 119 से 131 तक अर्हत दीक्षा व मोक्ष मार्ग का वर्णन है। 140 से 142 में दिगम्बर मुनियों के आचार का वर्णन है।

भार्गवसुरगुर रूप दिगम्बर द्वारा वैदिक धर्म का विरोध और अर्हत धर्म का प्रतिपादन किया गया है। असुरों को अर्हत धर्म का अनुगामी बताया गया है।[44] आगे एक स्थान पर जैन आचार तथा उसके फल का वर्णन है। क्रोध रहित, दयालु, सत्यशील, शीलवान, शाकाहारी, सन्तोषी, दानी आदि आचारों का उल्लेख है। जैन धर्म की नीति के पालनकर्ता के लिए यहाँ शूद्र शब्द प्रयुक्त किया गया है।[45]

पद्मपुराण के भूमि खण्ड में अर्हत धर्म का विवेचन इस प्रकार किया गया है-

"अर्हतो देवता निर्ग्रन्थो दृश्यते गुरुः।
दयाचैव परोधर्मस्तत्र मोक्षः प्रदृश्यते॥"[46]

अर्थात् जिस धर्म में अर्हत देवता होता है और निग्रन्थ गुरु दिखाई देता है। इसमें दया करना ही सबसे बड़ा प्रमुख धर्म है और इसी में मोक्ष का दर्शन होता है।

यहाँ जिन धर्म की व्याख्या तथा वैदिक धर्म की निन्दा एक नग्न, मुण्डित सिर वाले व्यक्ति से करायी गयी है, जिसको पातक तथा कपटी कहा गया है। उसने राजा वेणु को जैन बना दिया।[47] उसके लिए पापी जैन पुरुष नाम प्रयुक्त किया गया है।[48]

"अहं धाता, अहं गोप्ता, अहं वेदार्थ एवच।
अहं धर्मो, महापुण्यो जैन धर्मः सनातनः।"[49]

अर्थात् मैं ही धाता हूँ, मैं ही गोप्ता हूँ और वेदों का अर्थ भी मैं ही हूँ। मैं महान् पुण्यों वाला धर्म हूँ, जो कि सनातन जैन धर्म है। यहाँ दिगम्बर साधु द्वारा जैन धर्म को सर्वश्रेष्ठ तथा सदैव विद्यमान रहने वाला कहा गया है।

विष्णु पुराण में भी ऋषभदेव का वर्णन है। इसमें ऋषभ की वंश परम्परा का परिचय इस प्रकार मिलता है - "ब्रह्माजी ने अपने से उत्पन्न अपने ही स्वरूप स्वयंभूव को प्रथम मनु बताया। फिर स्वयंभूव मनु से प्रियव्रत और प्रियव्रत से आग्नीध्र आदि दस पुत्र हुए। आग्निध्र से नाभि और नाभि से ऋषभ हुए।"[50] आगे

विवेचन है, कि भरत को राज्य सौंपने के पश्चात् वे तपस्या के लिए पुलहाश्रम चले गये। वहाँ तपस्या के कारण अत्यंत कृश हो गये। अन्त में उन्होंने नग्नावस्था में महाप्रस्थान किया। तब से यह हिम वर्ष लोक में भारत वर्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[51]

प्रभास पुराण में भी कहा गया है -

"कैलाशे विमले रम्ये, वृषभोऽयं जिनेश्वरः ।
चकार स्वावतारं च, सर्वज्ञः सर्वगः शिवः ॥[54]"

शिव पुराण में उन्हें शिव के अट्ठाईस योगावतारों में गिनाया गया है तथा निवृत्ति मार्ग की वृद्धि के लिए उनका जन्म होने का वर्णन है।[53]

विष्णु पुराण में हंसगीता नामक अध्याय में जैन साधु के दस धर्मों को यति धर्म का आचार बताया है। यथा एक बार भोजन, मौनवृत्ति, इन्द्रिय निरोध, राग-द्वेष रहितता आदि।[54]

स्कन्धपुराण में जैन तीर्थंकर नेमिनाथ को शिव के अनुरुप मानकर जाप करने का विधान किया है-

"मनोभीष्ठार्थ- सिद्धार्थ ततः सिद्धमवाप्तमान।
नेमिनाथ शिवेत्येवं नामचक्रे शवामनः ॥[55]"

ब्रम्हाण्ड पुराण में भी कहा है-

"नग्नादयो न पश्येतुः श्राद्ध श्राद्धकर्म-व्यवस्थितम्।
वृद्धश्रावक निर्ग्रन्थः इत्यादि ॥[56]"

लिंग पुराण में भी जैन नग्न साधु का उल्लेख है-

"सर्वात्मनात्मनिस्थाप्य परमात्मानमीश्वरवरं।
नग्नो जये निराहारो चीरीध्वांतगतो हिंसः ॥[57]"

ब्रह्माण्ड पुराण में आगे भगवान ऋषभदेव, उनके माता-पिता एवं केवल-ज्ञान के संदर्भ में जो विवेचन मिलता है, वह जैन आगमों के अनुकूल ही है। इसमें ऋषभदेव को नाभि और मरुदेवी का क्षत्रिय वंशी पुत्र बताया गया है। ऋषभदेव ने अपने सौ पुत्रों के अग्रज, भरत का राज्याभिषेक करके महाप्रव्रज्या ग्रहण कर ली। ऋषभदेव ने दस प्रकार के धर्म को धारण करके केवलज्ञान को प्राप्त किया।[58] अग्नि पुराण में ऋषभदेव व भरत के साथ पाँचवे तीर्थंकर सुमति नाथ का भी उल्लेख मिलता है।[59]

उपनिषद् साहित्य में भी यत्र-तत्र जैन संस्कृति के विद्यमान होने के प्रमाण मिलते हैं। वृहदारण्यक, छन्दोग्य, जाबाल, सन्यास, ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद आदि में अनेक स्थानों पर जैन तीर्थंकरों तथा दिगम्बर मुनियों का उल्लेख है। साथ ही उपनिषद् साहित्य पर जैन दर्शन का स्पष्ट प्रभाव भी देखने को मिलता है। उपनिषदों से पूर्व वैदिक दर्शन में देवताओं की स्तुति एवं यज्ञ विधियों का विवेचन ही मिलता है।

प्राचीनतम् उपनिषद् साहित्य का रचना काल ई०पू० 600 है।[60]

एन० सी० राय चौधरी का मत है, कि विदेह के महाराज जनक याज्ञवल्क्य के समकालीन थे। याज्ञवल्क्य, वृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषद् के मुख्य पात्र हैं। उनका कालमान ई०पू० सातवीं शताब्दी है। प्रस्तुत ग्रन्थ में पृष्ठ 97 में लिखा है - जैन तीर्थंकर पार्श्व का जन्म ई०पू० 877 और निर्वाणकाल ई०पू० 777 है। इससे भी यही सिद्ध है, कि प्राचीनतम उपनिषद् पार्श्व के पश्चात् के हैं।[61]

डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार प्राचीनतम उपनिषदों का कालमान ई०पू० आठवीं शताब्दी से ईसा की तीसरी शताब्दी तक है।[62]

इससे स्पष्ट है, कि उपनिषद् साहित्य भगवान पार्श्व के पश्चात् निर्मित हुआ है। भगवान पार्श्व ने यज्ञ आदि का अत्यधिक विरोध किया था। आध्यात्मिक साधना पर बल दिया था, जिसका प्रभाव वैदिक ऋषियों पर भी पड़ा और उन्होंने उपनिषदों में यज्ञों का विरोध किया। उन्होंने स्पष्ट कहा - यज्ञ विनाशी और दुर्बल साधन हैं, जो मूढ़ हैं, वे इनको श्रेय मानते हैं, वे बार-बार जरा और मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं। यथा -

"प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा अष्टादशोवतमवरंयेषुकर्म।
एच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढ़ा जरा मृत्यु ते पुनरेवापियन्ति॥"[63]

आत्म विद्या के लिए वेदों की असारता और यज्ञों के विरोध में आत्मयज्ञ की स्थापना यह वैदिक तर परम्परा की ही देन है।[64] भृगु ने अपने पिता से कहा -

"त्रयी धर्ममधर्मार्थं किंपाक फल सन्नियम्।
नास्ति तात! सुखं किं चिदत्र दुःखशताकुले।
तस्मान् मोक्षाय यतता कथं सेव्या मयात्रयी॥"[65]

अर्थात् हे तात्! सैकड़ों दुःखों से पूर्ण इस कर्मकाण्ड में कुछ भी सुख नहीं है, अतः मोक्ष के लिए प्रयत्न करने वाला मैं त्रयी धर्म का किस प्रकार सेवन कर सकता हूँ।

एम० विटरनिट्ज ने अर्वाचीन उपनिषदों को अवैदिक माना है।[66] लेकिन यह भी सत्य है, कि प्राचीनतम उपनिषद् भी पूर्ण रूप से वैदिक विचारधारा के निकट नहीं हैं, उन पर भगवान अरिष्टनेमि और पार्श्वनाथ की विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव है। इसके अतिरिक्त अनेक स्थलों पर जैन शब्दावली तथा जैन तीर्थंकरों का विवेचन जैन धर्म को उपनिषद् काल से प्राचीन तो सिद्ध कर ही देता है।

जाबालोपनिषद् में निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग हुआ है, जो जैन मुनियों के लिए प्रयुक्त होता है। इसमें लिखा है -

"यथा जात-रूपधरो निर्ग्रन्थो निष्परिग्रहस्तत्तद् ब्रह्म मार्गे सम्यक् सम्पन्नः
शुद्धमानसः प्राणसंधारणार्थं .....विमुक्तौ भैक्षमाचरन् .....
लाभालाभयोः समो भूत्वा..... स परमहंसो नाम॥"[67]

अर्थात् जो निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि तथा परिग्रह रहित होकर ब्रह्म के मार्ग में सम्यक् प्रकार से संलग्न है, वह शुद्ध मनोवृत्ति वाला है, प्राण रक्षा के लिए भिक्षा द्वारा आहार ग्रहण करता है तथा लाभ-अलाभ को समदृष्टि रखता है, वह परम हंस है।

नारद परिव्राजकोपनिषद् में लिखा है -

''यथा विधिश्चेज्जातरूपधरो भूत्वा..... जातरूपधरश्चरेदात्मानमन्विच्छेद् यथा-जात रूपधरो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रह स्तत्वब्रह्ममार्गे सम्यक् सम्पन्नः।''[68]

इसी प्रकार परमहंसोपनिषद् में भी परमहंस दिगम्बर भिक्षु का विवेचन मिलता है -

''इदमन्तरं ज्ञात्वा स परमहंस आकाशाम्बरो न नमस्कारो।
न स्वाहाकारो न निन्दा न स्तुति या दूच्छिको भवेत्सभिक्षुः।''[69]

इस प्रकार विभिन्न उपनिषदों में दिगम्बर निर्ग्रंथों का विवेचन मिलता है। प्राचीनतम उपनिषदों में भी जैन तीर्थंकरों की आराधना की गई है। जैसे कि वृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है -

''दीर्घायुत्वा युवला युर्वा शुभ जातायु ऊँ रक्ष रक्ष अरिष्टनेमि स्वाहा।
वामदेव शान्त्यर्थ मनुविधीयते सास्माकं अरिष्टनेमि स्वाहा॥''[70]

ऋषभं पवित्रं पुरुहूत ध्वरं यज्ञेषु यज्ञ परम पवित्रं, श्रुतधरं यज्ञं प्रति प्रधानं ऋतुयजन पशुमिंद्र माहवेति स्वाहा॥ ज्ञातारमिन्द्रं ऋषभं वदन्ति, अतिचारमिन्द्रं, तमरिष्टनेमिं, भवेभवे सुभवं सुपार्श्वमिन्द्रं हवेतुशक्रं अजितं जिनेन्द्र, तद्वद्धमानं पुरुहुतमिन्द्रं स्वाहा॥ दधातु दीर्घायुस्तत्वाय बलयवर्चसे, सुप्रजास्त्वाय रक्ष-रक्ष रिष्टनेमि स्वाहा॥[71]

महाभारत में विमलाचल पर्वत पर नेमि जिनके मुक्तिमार्ग का प्रतिपादन करने का उल्लेख है।[72] बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ कृष्ण के चचेरे भाई थे। अतः महाभारत में उनका विवेचन ऐतिहासिक तथ्य है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार भगवान नेमिनाथ के द्वारा ही श्री कृष्ण को अहिंसा का उपदेश मिला था।[73]

महाभारत में ऋषभदेव के सन्दर्भ में भी कहा गया है, कि अर्हत ऋषभदेव के चारित्र पर मोहित हो गए।[74]

भारतीय संस्कृति के महान् ग्रन्थ योगवाशिष्ठं में श्री रामचन्द्र जी अपनी हार्दिक इच्छा व्यक्त करते हुए कहते हैं, कि मुझे किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं है, मैं तो जिन की तरह अपने आपमें शांति-लाभ प्राप्त करना चाहता हूँ।[75] इससे स्पष्ट है, कि मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के समय से पहले भी जैन तीर्थंकरों के पवित्र जीवन की छाप भारतीय जनमानस पर अंकित थी। यहाँ उल्लेखनीय है, कि बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत स्वामी राम के समकालीन थे। संभव है राम उन्हीं से प्रेरित हुए हों।

रामायण में अनेक स्थानों पर 'श्रमण' नामक तपस्वियों का उल्लेख हुआ है। यथा -

ब्राह्मणा भुंजते नित्यं..... श्रमणाश्चैव भुंजते।[76]
श्रमणी शबरी नाम।[77]
आर्येण मम मान्धाता व्यसनं घोर मीप्सितम्।
श्रमणेन कृते पापम्.....।।[78]

श्रमण शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम वृहदारण्यक उपनिषद् में हुआ।[79]

रामायण में अनेक स्थानों पर देवायत के साथ-साथ चैत्य शब्द का प्रयोग हुआ है। जैन मन्दिरों के लिए भी अनेक जैन ग्रन्थों में चैत्य शब्द प्रयुक्त हुआ है, अतः चैत्य शब्द जैन मंदिरों की उपस्थिति का प्रतीक कहा जा सकता है यथा -

चैत्य यूपसमावृतान् कोसलान् व्यवर्तक।[80]
भूमिगृहांश्चैत्यगृहान् विचयार महाकपिः।।

अर्थात् लंका में हनुमान ने सीता को चैत्यगृहों में भी खोजा।[81]

सददर्शा विदूरस्थं चैत्य प्रासाद मूर्जितम्।
मध्ये स्तम्भसहस्त्रेण स्थितं कैलास पाण्डुरम्।।[82]

अर्थात् रावण की अशोक वाटिका में हनुमान को हजार खंभों वाला एक चैत्य प्रसाद दिखाई पड़ा था, जो गोलाकार, कैलास के समान श्वेत वर्ण वाला और बहुत ऊँचा था।

मनुस्मृति में अनेक स्थानों पर व्रात्य शब्द का उल्लेख मिलता है।[83] यह ब्राह्मण से पृथक् संस्कृति के लोगों के लिए प्रयुक्त हुआ है। मनुस्मृति में आगार धर्म का पालन करने वाले परिव्रजित मुनियों का विवेचन किया गया है -

"आगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः।
समुपोढ़ेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत्।।"[84]

इसके पश्चात् मोक्ष प्राप्त करने वाले सिद्ध की विशेषता बतायी गई है। 'नमोसिद्धाणं' जैन महामंत्र का दूसरा पद है। ब्राह्मण संस्कृति में कहीं सिद्ध का स्थान नहीं है-

"एक एव चरेन्नित्यं सिद्धयर्थमसहायवान्।
सिद्धिमेकस्य संपश्यन्न जहाति न हीयते।।"[85]

अर्थात् एकान्तवासी मनुष्य ही सिद्ध मुक्त होता है, यह ज्ञान करके संन्यासी संग रहित हो मोक्ष सिद्धि के निमित्त एकाकी ही रहे। वह न तो किसी से त्यागा ही जाता है, न किसी को त्यागता है।

आगे मनु कहते हैं, मुनि को अग्नि तथा गृह त्याग देना चाहिये, रोगादि व्याधियों

का ध्यान नहीं रखना चाहिये। संयत चित्त तथा मौन व्रत धारण करके उपेक्षाभाव से सबका ज्ञान करना चाहिये। केवल भिक्षा के निमित्त ग्राम में जाना चाहिये।[86]

भोजन के निमित्त उसे नारियल या काठ का कोई पात्र रखना चाहिये, वृक्ष की जड़, जीर्ण वस्त्र, निस्सहाय रहना तथा सर्वत्र समान भाव रखना ही उसका परम धर्म माना गया है। यही जीवन्मुक्त का प्रधान लक्षण है। उसे जीवनमरण की कोई अभिलाषा नहीं करनी चाहिये।[87]

मुनि को भलीभाँति देखकर अपने पाँव जमीन पर रखने चाहिये, ताकि किसी जीव की हिंसा न हो। जल को वस्त्र से छानकर पीना चाहिये। सत्य वचन बोलने चाहिये और शुद्ध अन्तःकरण से आचरण करना चाहिये। किसी के प्रतिवाद को सह लेना चाहिये। इस नश्वर शरीर से किसी से वैर नहीं करना चाहिये।[88]

मुनि को क्रोध, निंदा, दुर्वचन, प्रति क्रोध नहीं करना चाहिये। उसे निरपेक्ष, निरामिष तथा अध्यात्म में रत रहते हुए अपनी आत्मा में ही रमण करना चाहिये। कभी भी ग्रह, योग, नक्षत्र, हस्तरेखा आदि देखने के निमित्त से भिक्षा प्राप्त नहीं करनी चाहिये। न ही तपस्वी, ब्राह्मण, भिक्षुकों से भिक्षा मांगे। उनका भिक्षा पात्र किसी धातु का नहीं होना चाहिये। मनु कहते हैं, कि मुनि का पात्र काठ, मिट्टी या बांस का होना चाहिये। मुनि को दिन में केवल एक ही बार भिक्षा लेनी चाहिये, जिससे विषयासक्ति न बढ़े। जब गृहस्थ के घर में रसोई बनकर तैयार हो चुके और धुआँ न रहे, मूसल का शब्द सुनाई पड़ने लगे, घर के सभी लोग भोजन कर चुकें, तभी मुनि जाकर भिक्षा की याचना करे। यदि भिक्षा प्राप्त न हो तो विषाद न करे और अच्छा भोजन मिलने पर प्रसन्न भी न होवे। भिक्षा केवल जीवन रक्षा के लिए ही लेना उचित है। उसमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये। राग बन्ध का कारण है। अपनी प्रबल इन्द्रियों को वश में करने के लिए उसे स्वल्पाहार तथा एकान्तवास करना चाहिये। वही मुनि मोक्ष का अधिकारी होता है, जो इंद्रिय-निरोध करके राग-द्वेष का क्षय कर दे तथा अहिंसा का पालन करे।[89]

इस प्रकार मनुस्मृति में जैन मुनियों के आचार का विवेचन मिलता है तथा यत्र-तत्र जैन दर्शन के शब्दों का उल्लेख मिलता है, यथा-

"सम्यग्दर्शनसंपन्नः कर्मभिर्न निबद्धयते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते॥"[90]

अर्थात् सम्यग्दर्शन संपन्न व्यक्ति कर्मों में कभी नहीं बँधता। जो दर्शन विहीन है, वही कर्म करता हुआ, उसके फल रूप संसार को भोगता है। यहाँ सम्यग्दर्शन शब्द जैन दर्शन के रत्नत्रय रूप मोक्ष मार्ग का प्रथम पद है।

मनु महाराज ने 10वें अध्याय में ब्राह्मणों से पृथक् क्षत्रिय और वैश्य सभी को शूद्र कहा है। यहाँ यह ज्ञातव्य रहे, कि सभी जैन तीर्थंकर क्षत्रिय ही थे और

अनुयायियों में वैश्य अधिक रहे हैं। उन्होंने यज्ञोपवीत के अभाव में पौंड्रक, द्रविड़, अम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद एवं खश सभी को शूद्र कहा है, चाहे वे आर्य भाषा वाले या म्लेच्छ। मनु उन्हें दस्यु ही कहते हैं।[11] बहुत संभव है, कि ये सभी जातियाँ उस समय जैन धर्म की अनुगामी रही हों।

रामायण, महाभारत, मनुस्मृति के अतिरिक्त वेदों में भी जैन संस्कृति की विद्यमानता के अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं।

अथर्ववेद में अनेक स्थानों पर अलग-अलग तीर्थंकरों का नामोल्लेख तथा उनका गुण-गान किया गया है। कई स्थानों पर जैन आगमिक शब्दावली भी मिलती है, जो वैदिक संस्कृति से मेल नहीं खाती।

अथर्ववेद में अरिष्टनेमि को कृष्ण का गुरु घोर आंङ्गिरस कहा है।[12] आंङ्गिरस शब्द का उल्लेख हुआ है। उन्हें ज्ञान फैलाने वाले के रूप में प्रकाशित किया गया है। यथा -

''इदं प्रापमुत्तमं काण्डमस्य यस्माल्लोकात् परमेष्ठी समाय।
आसिञ्च सर्पि धृतवत् समङ्ग्ध्येय भागो आङ्गिरसो न अत्र॥''[13]

यहाँ आंङ्गिरस के साथ परमेष्ठी शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो जैनों का शब्द है। अर्थात् आंङ्गिरस जैन संस्कृति के प्रसारक थे। ब्राह्मण संस्कृति में परमेश्वर शब्द प्रयुक्त होता है।

ऋषभ तथा मरीचि का उल्लेख भी है यथा -

''सूर्यस्य रश्मीननु याः संचरन्ति मरीचार्वा या अनुसंचरन्ति। या सामृषभो
दूरतो वाजिनीवान्त्सद्यः सर्वान् लोकान् पर्यंति रक्षम्। स न ऐतु होममिमं
जुषाणो इन्तरिक्षेण सह वाजिनी वान्॥''[14]

यहाँ यह ज्ञातव्य रहे, कि जैन शास्त्रों के अनुसार मरीची के भव में ही भगवान महावीर के जीव ने तीर्थंकर गौत्र का बन्ध किया था।

इसके अतिरिक्त नवम् काण्ड के सूक्त 4 में तो ऋषभदेव का परमेश्वर के रूप में विस्तृत रूप से गुणगान किया गया है।[15] आगे श्लोक 12 में पार्श्व नाम का भी उल्लेख हुआ है।[16]

अथर्ववेद में आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभु (चन्द्राय) तीसरे तीर्थंकर संभवनाथ तथा चौबीसवें वर्धमान (महावीर) को नमन किया गया है। उनके उद्धरण इस प्रकार है -

''दिक्षु चन्द्राय, समनमन्त्स आर्ध्नोत्।
यथा दिक्षु चन्द्राय समनमन्नेवा मह्यं संनमः संनमन्तु॥''[17]
नमो नमस्कृताभ्यो नमः संभुञ्जतीभ्यः।[18]
व्याघ्रेऽह्यजनिष्ट वीरो नक्षत्र जा जायमानः सवीरः।
समावधीत् पितरं वर्धमानो मामातरं प्रमिनीज्जनित्रीम॥[19]

वेदों में अधिकांशतः जैन श्रमणों के लिए व्रात्य शब्द प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद के पन्द्रहवें काण्ड के पूरे प्रथम अनुवाक में व्रात्य के गुण- सामर्थ्य का विवेचन किया गया है। यथा -

"व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापति समैरयत्॥"[100]

अथर्ववेद - काण्ड 5, अणुवाक 4, सूक्त 19, सूत्र 7 अर्हन का उल्लेख -

"अष्टापदी, चतुरक्षी चतुःश्रोता चतुर्हनः।
द्वयास्य द्विजिह्वा भूत्वा साराष्ट्रमव धुनूते ब्रह्मज्यस्य॥"[101]

सामवेद में भी पृथक्-पृथक् स्थानों पर कई जैन तीर्थंकरों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण विवेचन मिलता है। सर्वाधिक स्तुति प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव भगवान की की गई है। उनके लिए वृषभो, वृषभः, वृषभं, रिषमो आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।[102] उन्हें सामर्थ्यवान परमेश्वर कहा है। सकल मनोरथ पूर्ण करने वाले बलशाली और सूर्य के समान तेजस्वी कहा है।[103] यथा -

'सहस्त्रधारं वृषभं पयोदुहं प्रियं देवाय जन्मने।"[104]

अर्थात् अनेक प्रकार की वाणियों वाले, सकल मनोरथ पूरा करने वाले, ज्ञान का दोहन करने वाले प्रिय ऋषभदेव जन्मे।

ऋषभदेव भगवान के अतिरिक्त मुख्य रूप से नेमिनाथ भगवान की स्तुति सामवेद में की गई है। उन्हें कहीं नेमि, कहीं अरिष्टनेमि और कहीं आंङ्गिरस नाम से नमन किया गया है। यथा -

"दधन्वेवायदी मन् वोचद् ब्रह्मेति वेरुतत्।
परिविश्वानि काव्या नेमिश्चक्रमिवाभुवत्॥"[105]
नेमिं नमन्ति चक्षसा मेषं विप्रा अभिस्वरे॥[106]
"न्यमूषुवाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारं रथानाम्।
अरिष्टनेमि पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहाहुवेम॥"[107]

आंङ्गिरस या अंङ्गिरो भी नेमिनाथ का ही एक नाम है, जो वेदों में बहुत मिलता है। अंङ्गिरो का वर्णन भी परमेश्वर के रूप में ही किया गया है।[108]

जैन तीर्थंकरों के लिए एक विशिष्ट शब्द अर्हत् प्रयुक्त किया जाता है। सामवेद में ऋषभदेव को अर्हत् कहा है। यथा -

"इमम् स्तोममर्हते जातवेद से रथमिव संमहेमा मनीषया।
भद्रा हिनः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयंतव॥"[109]

यजुर्वेद में भी तत्कालीन समाज में जैन धर्म-दर्शन तथा संस्कृति के प्रचलन के अनेक प्रमाण विद्यमान हैं। विविध रूपों में जैन तीर्थंकरों का उल्लेख एवं स्तुति की गई है। यद्यपि 24 तीर्थंकरों का क्रमबद्ध विवेचन नहीं है। इसमें भी सर्वाधिक स्तुति

ऋषभदेव भगवान की ही की गई है।[110]

तीर्थंकर ऋषभदेव ने सर्वप्रथम इस सिद्धान्त का उद्घोष किया था, कि मनुष्य अपनी शक्ति का विकास कर आत्मा से परमात्मा बन सकता है। प्रत्येक आत्मा में परमात्मा विद्यमान है। जो आत्मसाधना से अपने देवत्व को प्रकट कर लेता है, वह परमात्मा बन जाता है। यह इस श्लोक में स्पष्ट परिलक्षित होता है-

''चत्वारि श्रङ्गा त्रयोऽअस्य पादा द्वेशीर्षे सप्त हस्तासोऽअस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश॥''[111]

अर्थात् जिसके चार श्रृङ्ग (अनन्त दर्शन, ज्ञान, चारित्र एवं वीर्य) हैं, तीन पाद (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र) हैं, दो शीर्ष (कैवल्य और मुक्ति) हैं, और सात हस्त (सात व्रत हैं) तथा जो मन, वचन और काय- इन तीन योगों से बद्ध (संयत) हैं, उस वृषभ (ऋषभदेव) ने घोषणा की है, कि महादेव (परमात्मा) मनुष्य के भीतर ही आवास करता है।

ऐसा ही उल्लेख जैन ग्रन्थ परमार्थ प्रकाश में आया है, कि 'अप्पा सो परमप्पा' अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है। यह दार्शनिक सिद्धान्तों का साम्य यह सिद्ध कर देता है, कि ऋग्वेद में आया उल्लेख जैन संस्कृति को ही प्रकाशित करता है।

भगवान ऋषभदेव के साथ अ॰ 20 में श्लोक 1 व 9 में उनके पिता नाभि का भी उल्लेख है। सभी स्थानों पर ऋषभदेव का वर्णन उत्कृष्ट एवं बलशाली व्यक्तित्व के रूप में किया गया है।

यजुर्वेद में अनेक स्थानों पर पाँचवे तीर्थंकर सुमतिनाथ की सत्य आराधक के रूप में स्तुति की गई है। यथा -

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतिनाम्।
यज्ञं दधे सरस्वती॥[112]

'देवस्य चेततो महीम्प्रसवितु हेवा महे। सुमर्तिं सत्यराधसम॥'[113]
सुष्टर्तिं सुमति वृधो रर्तिं सवितुरीमहे। प्रदेवाय मतीविदे॥[114]

यजुर्वेद में सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ जी को संपूर्ण विश्व में व्यापक एवं रक्षक आराध्य कहा गया है। यथा-

''द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधायः शान्तिः।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्ति रेव
शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥''[115]

वेदों में एक और सर्वाधिक पूज्य तीर्थंकर तार्क्ष्य अरिष्टनेमि या आंङ्गिरस की स्तुति की गई है। यथा-

अयमुत्तरात् संयद्व सुस्तस्य तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानीग्रामण्यौ।[116]

आङ्गिरसो न पितरो नवग्वा अथर्वाणोभृगवः सोम्यासः।
तेषां वयं सुमतो यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्यामा॥[117]
ऊँ स्वस्ति नो इन्द्रो वृद्धश्रवाः, स्वस्तिनः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः, स्वस्ति नो बृहस्पति र्दधातु॥[118]

यह तीसरा श्लोक सामवेद में भी अन्तिम श्लोक के रूप में उल्लिखित है। आज भी वैदिक स्तुति में सर्वाधिक प्रचलित है।

यजुर्वेद के 19 अध्याय में भगवान महावीर की उपासना का भी कथन किया गया है-

"आतिथ्यरूपं मासरम् महावीरस्य नग्नहुः।
रुपमुपसदामेतस्त्रिस्त्रो रात्री सुरासुता॥"[119]

वैदिक दर्शन के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में भी जैन संस्कृति के पहले से विद्यमान होने के सर्वाधिक प्रमाण मिलते हैं। ऋग्वेद को अन्य देवताओं के साथ भगवान ऋषभदेव की स्तुति का ग्रंथ कह दें, तो अतिशयोक्ति न होगी। ऋग्वेद में 144 बार वृषभो नाम का उल्लेख हुआ है।[120] किन्तु टीकाकारों ने साम्प्रदायिकता के कारण अर्थ में परिवर्तन कर दिया है, जिसके कारण कई स्थल विवादास्पद हो गए हैं। जब हम उन ऋचाओं का साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह को छोड़कर अध्ययन करते हैं, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि यह भगवान ऋषभदेव के सम्बन्ध में ही कहा गया है। यथा -

"मरवस्य ते तीवषस्य प्रजूतिमियर्भि वाचमृताय भूषन्।
इन्द्र क्षितिमामास मानुषीणां विशां दैवी नामुत पूर्वयामा॥"[121]

अर्थात् हे आत्मद्रष्टा प्रभो! परम सुख पाने के लिए मैं तेरी शरण में आना चाहता हूँ, क्योंकि तेरा उपदेश और तेरी वाणी शक्तिशाली है- उनको मैं अवधारण करता हूँ। हे प्रभो! सभी मनुष्यों और देवों में पहले पूर्वयामा हो।

वैदिक युग में जैन धर्म का सर्वाधिक विश्रुत नाम आर्हत धर्म था। जो अर्हत के उपासक थे वे आर्हत कहलाते थे। वे वेद और ब्राह्मणों को नहीं मानते थे। ऋग्वेद में वेद और ब्रह्म के उपासकों को बार्हत कहा गया है। वे वैदिक यज्ञ-याग को ही सर्वश्रेष्ठ मानते थे। आर्हत लोक यज्ञों में विश्वास न करके कर्म-बंध और कर्म-निर्जरा को मानते थे। ऋग्वेद में अर्हन को विश्व की रक्षा करने वाला सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। अर्हत् का उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है। आर्हत शब्द की प्रधानता भगवान पार्श्वनाथ के तीर्थकाल तक चलती रही।

ऋग्वेद में ऋषभदेव के लिए केशी शब्द का भी प्रयोग हुआ है।[122] यथा -

"केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वदृशे केशीदं ज्योतिरूच्यते॥"

ऋग्वेद - 10/11/136/1

जैन आगमों में भी लम्बी तपस्या के कारण केश रखने से वे केशी या केशरियाजी के नाम से विश्रुत हुए। जैसे सिंह अपने केशों के कारण केशरी कहलाता है।
ऋग्वेद में एक स्थान पर उनके दिव्य शासन का उल्लेख किया गया है-

''मरुत्वं त वृषभं वावृधानमकवारि दिव्य शासनमिन्द्र।
विश्वा साहम वसे नूतनायोग्रासदोदा मिहं ताहे येमः॥''[123]

ऋषभदेव के अतिरिक्त ऋग्वेद में उनकी माता मरुदेवी[124] पिता नाभि[125] तथा पुत्र भरत एवं भरतवंश[126] का भी अनेक स्थानों पर उल्लेख किया गया है।

ऋग्वेद में ऋषभदेव की स्तुति से यह तो सिद्ध हो ही जाता है, कि जैन धर्म ऋग्वैदिक काल में विद्यमान था। लेकिन इससे यह तात्पर्य कदापि नहीं है, कि जैन धर्म ऋग्वेद का समकालीन धर्म ही था वरन् वह तो उससे भी बहुत पूर्व प्रागैतिहासिक काल में ही अस्तित्व में आ चुका था। इसका प्रमाण भी स्वयं ऋग्वेद में विद्यमान है।

ऋग्वेद में कई स्थानों पर बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि की भी स्तुति की गई है। यथा-

'अरिष्टनेमि पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहाहुवेम॥'[127]

इसके अतिरिक्त जैनों के प्रसिद्ध तीर्थ शत्रुञ्जय तथा रेवतगिरी का भी उल्लेख मिलता है।

''प्रससाहिषे पुरुहूत शत्रुञ्न्येष्ठस्ते शुष्म इह रातिरस्तु।
इन्द्रा भर दक्षिणेना वसूनि पतिः सिन्धूनामसि रेवतानाम्॥''[128]

इसके अतिरिक्त ऋषभदेव से वर्द्धमान (महावीर) तक चौबीस तीर्थंकरों की, सिद्धों की स्तुति की गयी है -

''ऊँ त्रैलोक्य प्रतिष्ठातानां, चतुर्विंशति तीर्थंकराणाम्।
ऋषभादिव वर्द्धमानान्तानां, सिद्धानां शरणं प्रपद्ये॥''[129]

उपर्युक्त उल्लेखों से यह सिद्ध हो जाता है, कि ऋग्वेद के 10 वें मण्डल की रचनाकाल तक 24 तीर्थंकर हो चुके थे, जिनकी शरण को त्रिलोक में स्वीकार किया गया है। अर्थात् वर्द्धमान से कितने वर्षों पूर्व ऋषभदेव हो चुके थे, जिनकी स्तुतिमात्र ऋग्वेद में की गई है। वे ऋग्वेद की रचना के बहुत पूर्व ही जैन (आर्हत) धर्म का प्रतिपादन कर चुके थे। इसे हम जैन आगमों के द्वारा और अधिक स्पष्ट रूप से जान सकते हैं।

जैन दर्शन के प्रमाण : जैन आगमों में जैन दर्शन की प्राचीनता के पर्याप्त प्रमाण विद्यमान हैं। जैन धर्म विश्व का प्राचीनतम धर्म है। जैन धर्म नाम नया है। यह नाम भगवान् महावीर के साथ जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने प्रयुक्त किया है। जैन शब्द उनके विरचित ग्रंथ विशेषावश्यक भाष्य में सर्वप्रथम प्रयुक्त किया गया है।[130] उनके उत्तरवर्ती साहित्य में तो जैन शब्द का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। इससे पूर्व भगवान

ऋषभ से महावीर तक जैन धर्म के लिए अनेक नाम प्रयुक्त होते रहे हैं। प्रारंभ में उसका नाम श्रमण धर्म था, फिर आर्हत धर्म हुआ। महावीर के युग में उसे निर्ग्रंथ धर्म कहा जाता था। बौद्ध साहित्य में भी महावीर के लिए अनेक स्थानों पर निग्गंठनाथ शब्द प्रयुक्त हुआ है।

जैन शब्द की अर्वाचीनता के बावजूद इस परम्परा की प्राचीनता इसके आगमों से सहज ही सिद्ध हो जाती है।

जैन आगमों में जहाँ भी अनगार धर्म स्वीकार करने का कथानक मिलता है, वहाँ कहा गया है, कि वह सामायिक आदि द्वादशांग पढ़ता है अथवा चतुर्दश पूर्व पढ़ता है।

शास्त्रों में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है, कि आचारांग आदि 12 अंगों की रचना महावीर के अनुगामी गणधरों ने की।[131]

समस्त जैन परम्परा की मान्यतानुसार तीर्थंकर भगवान अपनी देशना में जो अर्थ अभिव्यक्त करते हैं, उनको उनके प्रमुख शिष्य गणधर शासन के हितार्थ अपनी शैली में सूत्रबद्ध करते हैं। वे ही बारह अंग प्रत्येक तीर्थंकर के शासन काल में द्वादशांगी-सूत्र रुप में प्रचलित एवं मान्य होते हैं।[132] द्वादशांगी का गणिपिटक के नाम से भी उल्लेख किया गया है।[133] सूत्र गणधर कथित या प्रत्येक बुद्ध कथित होते हैं। वैसे श्रुतकेवली कथित और अभिन्न दशपूर्वी कथित भी होते हैं।[134]

सभी तीर्थंकरों के धर्मशासन में तीर्थ स्थापना के काल में ही गणधरों द्वारा द्वादशांगी की नये सिरे से रचना की जाती है, तथापि उन सब तीर्थंकरों के उपदेशों में जीवादि मूल भावों की समानता एवं एकरूपता रहती है, क्योंकि अर्थरूप में जैनागमों को अनादि अनन्त अर्थात् शाश्वत माना गया है। जैसा कि नन्दीसूत्र के 58वें सूत्र में तथा समवायांग सूत्र के 185 वें सूत्र में कहा गया है। तथापि समय समय पर अंग शास्त्रों का विच्छेद होने और प्रत्येक तीर्थंकर काल में नवीन रचना के कारण उन्हें सादि और सपर्यवसित भी माना गया है।[135]

इस प्रकार द्वादशांगी के शाश्वत और अशाश्वत दोनों ही रूप शास्त्रों में प्रतिपादित किए गए हैं। इस मान्यता के अनुसार प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल के अंतिम चौबीसवें तीर्थंकर श्रमण भगवान महावीर द्वारा चतुर्विध तीर्थ की स्थापना के पश्चात् जो उपदेश इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधरों को दिया गया, उसे ही आर्य सुधर्मा आदि ने द्वादशांगी के रूप में सूत्रबद्ध किया, जो आचारांगादि रूप में हमारे समक्ष वर्तमान में उपलब्ध है।[136]

वर्तमान में उपलब्ध द्वादशांगी महावीर भाषित है। लेकिन चतुर्दश पूर्व का जो आगम रूप में उल्लेख मिलता है, वह पूर्व के तीर्थंकरों द्वारा भाषित है। यह मुख्य रूप से पार्श्वनाथ भाषित ही है, जो महावीर से 250 वर्ष पूर्व ही हुए थे। भगवती सूत्र में

अनेक स्थानों पर महावीर के मुख से कहलाया गया है, कि अमुक वस्तु पुरुषादानीय पार्श्वनाथ ने कही है, जिसको मैं भी कहता हूँ। इससे 'पूर्व' श्रुत का अर्थ स्पष्ट हो जाता है, कि जो श्रुत महावीर से पूर्व की पार्श्वपत्यिक परम्परा से चला आ रहा है। डॉ० योकोबी का भी ऐसा ही मत है।[137]

जैन श्रुत के मुख्य विषय नवतत्त्व, पंच अस्तिकाय, आत्मा और कर्म का संबंध, उसके कारण, उसकी निवृत्ति के उपाय, कर्म का स्वरूप आदि हैं। इन्हीं विषयों का महावीर और उनके शिष्यों ने संक्षेप से विस्तार और विस्तार से संक्षेप करके भले ही कहा हो, पर वे सब विषय पार्श्वापत्यिक परम्परा के श्रुत में किसी न किसी रूप में निरुपित थे, इसमें कोई संदेह नहीं। एक भी स्थान पर महावीर या उनके शिष्यों में से किसी ने भी ऐसा नहीं कहा कि महावीर का श्रुत अपूर्व अथवा सर्वथा नवीन है। चौदह पूर्व के विषयों की एवं उनके भेद-प्रभेदों की जो टूटी-फूटी जानकारी नंदी सूत्र[138] तथा धवला[139] में मिलती है, उसका आचारांग आदि 11 अंगों में तथा अन्य उपांगादि शास्त्रों में प्रतिपादित विषयों के साथ मिलान करने पर इसमें संदेह नहीं रहता कि जैन परम्परा के आचार-विचार विषयक मुख्य प्रश्नों की चर्चा पार्श्वपत्यिक परम्परा के पूर्वश्रुत और महावीर की परम्परा के अंगोपांग श्रुत में समान ही है।

कल्पसूत्र में वर्णन है, कि महावीर के संघ में 300 श्रमण चतुर्दश पूर्व धारी थे।[140] महावीर शासित संघ में 'पूर्वश्रुत' और आचारांगादि श्रुत दोनों की ही बड़ी प्रतिष्ठा रही, फिर भी 'पूर्वश्रुत' की महिमा अधिक ही की जाती रही है। इसी से दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं के साहित्य में आचार्यों का ऐसा प्रयत्न रहा है, कि वे अपने-अपने कर्म तथा ज्ञान आदि विषयक इतर पुरातन ग्रंथों का संबंध उस विषयक पूर्वश्रुत से जोड़ते हैं। दोनों परम्पराओं के वर्णन से इतना निश्चित ज्ञात होता है, कि संपूर्ण निर्ग्रन्थ परम्परा अपने वर्तमान श्रुत का मूल पूर्व में मानती आई है।

'पूर्वश्रुत' में जिस-जिस देश काल का एवं जिन-जिन व्यक्तियों के जीवन का प्रतिबिम्ब था, उससे आचारांग आदि अंगों में भिन्न देश काल एवं भिन्न व्यक्तियों के जीवन का प्रतिबिम्ब पड़ा, यह स्वाभाविक है, फिर भी आचार एवं तत्त्वज्ञान के मुख्य प्रश्नों के स्वरूप में दोनों में कोई विशेष अंतर नहीं पड़ा।

इस प्रकार जैन आगमिक साधनों में सर्व प्रथम स्थान चौदह पूर्वों का है, फिर द्वादशांग का है। चतुर्दश पूर्व अपने मूल स्वरूप में तो अब विद्यमान नहीं है। फिर भी उनकी विषय वस्तु दिगम्बर साहित्य में अकलंकदेव के 'तत्त्वार्थवार्तिक' में मिलती है तथा श्वेताम्बर साहित्य में नन्दि सूत्र में मिलती है। वहीं से हरिभद्र सूरि, अभयदेव, मलयगिरि आदि टीकाकारों ने विषय वस्तु को लिया है। वीरसेन की धवला टीका व षट्खण्डागम में भी इनका विषय मिलता है।

चतुर्दश पूर्व-[141] 1. उत्पाद पूर्व 2. अग्रायणी पूर्व 3. वीर्यानुप्रवाद 4.

अस्तिनास्तिप्रवाद 5. ज्ञान प्रवाद 6. सत्य प्रवाद 6. आत्मप्रवाद, 8. कर्म प्रवाद, 9. प्रत्याख्यान, 10. विद्यानुप्रवाद, 11. कल्याण प्रवाद, 12. प्राणवाय, 13. क्रिया विशाल, 14. लोक बिन्दुसार ।

द्वादशांग- [142] श्वेताम्बर साहित्य में पूर्वों से ही अंगों की उत्पत्ति मानी गयी है। दिगम्बर परम्परा अंग साहित्य के बारे में मूक ही है। द्वादशांग निम्नलिखित है-

1. आचारांग, 2. सूत्रकृतांग, 3. स्थानांग, 4. समवायांग, 5. व्याख्या प्रज्ञप्ति, 6. ज्ञाता धर्मकथा, 7. उपासक दशांग, 8. अन्तःकृदशा, 9. अनुत्तरोपपातिकदशा, 10. प्रश्न व्याकरण, 11. विपाक सूत्र, 12. दृष्टिवाद।

दृष्टिवाद का विवेचन दिगम्बर साहित्य में भी किया गया है। अकलंकदेव ने दृष्टिवाद के पाँच अंग बताए हैं-

1. परिकर्म, 2. सूत्र, 3. प्रथमानुयोग, 4. पूर्वगत, 5. चूलिका।

वर्तमान में श्वेताम्बर सम्प्रदाय में द्वादशांग के अतिरिक्त 34 आगम और भी हैं वे ये हैं-

12 उपांग, 6 छेदसूत्र, 4 मूलसूत्र, 10 पइन्ना एक नन्दी और एक अनुयोग द्वार। इस प्रकार वर्तमान में 45 आगमों को स्वीकार किया गया है।[143]

जैन इतिहास को जानने के मुख्य स्त्रोत ये जैनागम ही हैं। मुख्य रूप से इतिहास का विवेचन दृष्टिवाद अंग में हुआ है। दृष्टिवाद सूत्र के पाँच अंगों में से चौथा अंग इतिहास का है। जितना इतिहास है, वह सारा दृष्टिवाद के अन्तर्गत आने वाला ज्ञान है। अतः इतिहास का ज्ञान आगम का ज्ञान है।

जैन धर्म के अनुसार सृष्टि शाश्वत है तथा अनादिकाल से गतिशील है। इसकी न आदि है, न अंत। जैन धर्म में काल परम्परा वैदिक धर्म के चार युगों (सत्य, द्वापर, त्रेता तथा कलियुग) की भांति मूलतः दो भागों में विभाजित की गई है- उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी।

उत्सर्पिणीकाल विकासकाल है। इस काल में जीवों के बल, वीर्य, पुरुषार्थ, शरीर आयु आदि की तथा भौतिक पदार्थों में रस आदि की वृद्धि निरन्तर होती रहती है। अवसर्पिणी काल ह्रास काल है। इस अवनतिशीलकाल में उक्त बातों में निरन्तर हानि होती चली जाती है। अर्थात् दुःख से सुख की ओर ले जाने वाला काल उत्सर्पिणी काल और सुख से दुःख की ओर ले जाने वाला काल अवसर्पिणी काल कहलाता हैं।

ये दोनों काल मिलकर कालचक्र कहलाते हैं। ये सृष्टि रुपी गाड़ी के दो चक्र हैं। जैसे गाड़ी के चक्र में आरे बने रहते हैं और वे उस चक्र को विभक्त करते हैं, उसी प्रकार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल में छह-छह आरे होते हैं। इन आरों का कालमान संख्यातीत वर्षों का होता हैं। ये छह आरे इस प्रकार हैं।

1. सुखमा-सुखमा-अत्यन्तसुखरुप। चार करोड़ा-करोड़ सागर।
2. सुखमा-सुखरुप। तीन करोड़ा करोड़ सागर।
3. सुखमा- दुखमा- सुख-दुःखरुप। दो करोड़ा करोड़ सागर।
4. दुखमा-सुखमा-दुःख-सुखरुप। बयालिस हजार वर्ष कम एक करोड़ा करोड़ सागर।
5. दुखमा- दुःखरुप। इक्कीस हजार वर्ष
6. दुखमा-दुखमा- अत्यन्त दुखरुप। इक्कीस हजार वर्ष।

यह अवसर्पिणी काल के आरों का क्रम है। उत्सप्रिणी काल के छः आरों का क्रम इससे विपरीत है। वह दुःखमा-दुःखमा से प्रारम्भ होकर सुखमा-सुखमा पर समाप्त होता है। प्रत्येक कालचक्र की कुल अवधि बीस करोड़ा करोड़ सागरोपम की होती है[1-4]

सागर (प्रकाश वर्ष की तरह) संख्यातीत वर्षों के समूह की संज्ञा है। यह संख्या होती है। एक संख्या -1 के आगे (5+7+15)=27 शून्य लगाने पर जितने अंक होते हैं, उतने वर्ष।

जैन धर्म के अनुसार अवसर्पण की आदि सभ्यता अत्यन्त सरल और सहज थी। किसी तरह की कौटुम्बिक व्यवस्था न होने से कोई उत्तरदायित्व नहीं था। अतः कोई व्यग्रता नहीं थी। जैन परम्परा के अनुसार उस समय जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति कल्पवृक्षों से हो जाती थी। प्रकृति और मानवीय तत्वों का यह ऐसे सम्मिश्रण का युग था, जहाँ धर्म-साधना, पाप-पुण्य, ऊँच-नीच आदि द्वन्द्वात्मक प्रवृत्तियों का अस्तित्व नहीं था। जैन पुराणकरों ने ऐसी परिस्थिति के युग को भोग-भूमि व्यवस्था का युग कहा है।

जब अवसर्पिणी कालचक्र का दूसरा और लगभग तीसरा विभाग क्रमशः व्यतीत हुआ, तो काल प्रभाव से सभी बातें ह्रासोन्मुखी होने लगी। कल्पवृक्षों को लेकर छीना-झपटी होने लगी। इस असुरक्षा की स्थिति ने सुरक्षा और सहयोग का आह्वान किया। इससे सामूहिक व्यवस्था प्रतिफलित हुई, जिसे जैन साहित्य में 'कुल' नाम दिया गया। इस व्यवस्था के संस्थापक को 'कुलकर' कहा गया। जैन परम्परा में इस तरह से 14 कुलकर मान गए हैं। वैदिक दर्शन में 14 मनु माने हैं। मनु और कुलकर संभवतया एक ही थे। दोनों परम्पराओं में अंतिम कुलकर या मनु नाभिराज को ही माना गया है। इनके समय तक विभाजन के साथ-साथ सामान्य दण्ड व्यवस्था भी प्रारम्भ हो गई थी। नाभि और उनकी पत्नी मरुदेवी के पुत्र ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर हुए।

चौबीस तीर्थंकरों की परम्परा- प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल में चौबीस जिन तीर्थंकर होते हैं। वे प्रचलित या लुप्त धर्म को पुनः प्रचलित करते हैं।

इस समय अवसर्पिणी काल चल रहा है और हम लोग उसके पांचवे आरे में गुजर रहें है। सुखमा-दुखमा नाम के आरे में धर्म-तीर्थंकरों का जन्म होता है।

चूंकि जैन दर्शन में 24 तीर्थंकरों की परम्परा प्रचलित है। वर्तमान अवसर्पिणी काल में भी 24 तीर्थंकर हुए है। चौबीस तीर्थंकरों के सम्बन्ध में सबसे प्राचीन उल्लेख दृष्टिवाद के मूल प्रथमानुयोग में था, लेकिन आज वह अनुपलब्ध है।[145] आज सबसे प्राचीन उल्लेख समवायांग, कल्पसूत्र, आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यक मलयगिरी वृत्ति, आवश्यक हारिभद्रीय वृत्ति और आवश्यक चूर्णि में मिलता है।

जैन दर्शन में तीर्थंकर शब्द अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। तीर्थंकर जैन धर्मसंघ (तीर्थ) का जनक, कर्ता या निर्माता होता है। जो संसार सागर से पार करने वाले धर्म-तीर्थ की स्थापना करते हैं, वे तीर्थंकर कहलाते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये धर्म हैं। इस धर्म का तथा इसे धारण करने वाले श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ रूप तीर्थ का प्रवर्तन, स्थापना करने वाले विशिष्ट व्यक्तियों को तीर्थंकर कहते हैं।

जैन धर्म किसी व्यक्ति विशेष का पूजक नहीं है। इसे ऋषभदेव, पार्श्वनाथ या महावीर का धर्म नहीं कहा गया है। यह अर्हंतों का, जिन का धर्म है। जैन धर्म के मूल महामंत्र **'नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं'**[146] में किसी व्यक्ति विशेष को नमस्कार नहीं किया गया है। जैन धर्म का स्पष्ट अभिमत है, कि कोई भी व्यक्ति आत्मिक उत्कर्ष कर मानव से महामानव बन सकता है, तीर्थंकर बन सकता है।

वर्तमान अवसर्पिणी काल में सर्वप्रथम ऋषभदेव भगवान ने तीर्थ की स्थापना की, अतः वे प्रथम तीर्थंकर है। कुछ विद्वानों का मानना है, कि उनके पश्चातवर्ती तेईस तीर्थंकरों द्वारा भी वैसे ही धर्म तीर्थों की परम्परा का प्रतिपादन किया जाता है, तो उन्हें तीर्थंकर क्यों माना जाए?

इसके समाधान में निवेदन है, कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और अनेकान्त आदि जो धर्म के आधारभूत मूल सिद्धान्त हैं, वे शाश्वत, सत्य और सदा सर्वदा अपरिवर्तनीय हैं। अतीत के अनन्तकाल में जो अनन्त तीर्थंकर हुए हैं, वर्तमान में जो श्री सीमंधर स्वामी आदि तीर्थंकर हैं और अनागत अनन्तकाल में जो अनन्त तीर्थंकर होंगे, उन सबके द्वारा धर्म के मूल स्तम्भ स्वरूप इन शाश्वत सत्यों के संबंध में समान रूप से प्ररूपणा की जाती रही है, की जा रही है और की जाती रहेगी। धर्म के मूल तत्त्वों के निरूपण में एक तीर्थंकर से दूसरे तीर्थंकर का किंचित मात्र भी मतभेद न कभी रहा और न कभी रहेगा। लेकिन प्रत्येक तीर्थंकर अपने-अपने समय में देश, काल व जन मानस की ऋजुता, तत्कालीन मानव की शक्ति, बुद्धि, सहिष्णुता आदि को ध्यान में रखते हुए उस काल और उस काल के मानव के अनुरूप

साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका के लिए अपनी-अपनी एक नवीन आचार संहिता का निर्माण करते हैं।

एक तीर्थंकर द्वारा संस्थापित श्रमण-श्रमणी, श्रावक और श्राविका रूप तीर्थ में काल-प्रभाव से जब अनेक प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, तीर्थ में लम्बे व्यवधान तथा अन्य कारणों से भ्रान्तियाँ पनपने लगती हैं, कभी-कभी तीर्थ विलुप्त *अथवा विलुप्त प्रायः, विशृंखल अथवा शिथिल हो जाता है, उस समय दूसरे तीर्थंकर* का समुद्भव होता है। तब वे विशुद्ध रुपेण नवीन तीर्थ की स्थापना करते हैं, अतः वे तीर्थंकर कहलाते हैं। दो तीर्थंकरों के होने के बीच का अन्तराल समय बहुत अधिक होने से पुनः नवीन तीर्थ की स्थापना की आवश्यकता होती है। जैसे प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवजी के पश्चात् पन्द्रह लाख करोड़ सागर वर्षों के बाद दूसरे तीर्थंकर अजितनाथजी का जन्म हुआ था। इसी प्रकार अन्यान्य तीर्थंकरों का आविर्भाव और स्थितिकाल भी समझना चाहिये।

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव :

आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव वर्तमान अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे के उपसंहार काल में हुए हैं।[54] इसी आरे के तीस वर्ष और साढ़े आठ मास शेष रहते उनका निर्वाण हो गया। श्रीमद्भागवत और मनुस्मृति के अनुसार भी भगवान ऋषभदेव का जन्म मनु की पाँचवी पीढ़ी में हुआ था।[55] गणना करने पर वह काल प्रथम सत युग का अंतिम चरण निकलता है। उस सतयुग के बाद आज तक 28 सतयुग बीत चुके हैं। ब्रह्मा जी की आयु का भी बहुत सा भाग समाप्त हो चुका है। वे राम और कृष्ण के अवतारों से भी पूर्व में हो चुके हैं।[56]

जैन साहित्यानुसार इस अवसर्पिणी काल की अपेक्षा से जैन धर्म के आद्य प्रणेता समाज स्रष्टा और नीति-निर्माता भगवान ऋषभदेव हुए हैं। वे आत्म-विद्या के प्रथम पुरस्कर्ता है।[57] वे प्रथम राजा, प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम तीर्थंकर और प्रथम धर्म चक्रवर्ती थे।[58]

जन्म : भगवान ऋषभदेव का जन्म अयोध्या के राजा नाभिराज एवं रानी मरुदेवी के यहाँ चैत्र कृष्णा नवमी को हुआ था।[59] कल्पसूत्र में उल्लेख है, कि उनका जन्म चैत्र कृष्ण अष्टमी को हुआ था।[60] भगवान ऋषभदेव का जीव जब सर्वार्थसिद्धि देवलोक से च्यवकर माता मरुदेवी की कुक्षि में अवतरित हुआ, उसी रात्रि में माता मरुदेवी ने चौदह महास्वप्न देखे। वे इस प्रकार हैं -

1. वृषभ, 2 हाथी, 3. सिंह, 4. लक्ष्मी, 5. पुष्पमाला, 6. चन्द्र, 7. सूर्य, 8. महेन्द्र ध्वज, 9. कुंभ, 10. पद्मसरोवर, 11. क्षीरसागर, 12. देव विमान, 13. रत्नराशि, 14. निर्धूम अग्नि।[61]

इस प्रकार जैन आगमों में यह परम्परा मानी गई है, कि सभी तीर्थंकरों की

माताएँ इसी प्रकार से 14 स्वप्न देखती हैं। माता मरुदेवी ने प्रथम स्वप्न वृषभ देखा, इसीलिए भगवान का नाम वृषभदेव या ऋषभदेव रखा गया। जैन आगमों के अनुसार सभी तीर्थंकरों के जन्म के पश्चात् मेरु पर्वत पर 64 इन्द्रों व 56 दिक्कुमारियों द्वारा तीर्थंकर भगवान का क्षीर सागर के जल से महाभिषेक किया जाता है। देव माता को माया-निद्रा में सुलाकर नवजात बालक को अभिषेक के लिए ले जाते हैं तथा अभिषेक के पश्चात् पुनः माता के पास लाकर सुला देते हैं। अतः ऐसा ही अभिषेक भगवान ऋषभदेव तथा अन्य सभी तीर्थंकरों का हुआ था।

आहार : भगवान ऋषभदेव के आहार के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है, कि तीर्थंकर स्तनपान नहीं करते थे। देवों ने प्रभु के जन्म ग्रहण करते ही उनके दाहिने अंगूठे में अमृत का संचरण कर दिया। अतः जब भी उन्हें आहार की इच्छा होती, वे अपना अंगूठा मुँह में रख लेते और उसी से नानाविध पौष्टिक रस ग्रहण करते थे।[155]

वंश तथा गौत्र स्थापना : भगवान ऋषभदेव के समय तक समाज में वंश, गौत्र आदि कुछ भी नहीं थे। ऋषभदेव जी जब 1 वर्ष के हुए, तब एक दिन शकेन्द्र विविध खाद्य-पदार्थों का सजा थाल लेकर उनके समक्ष प्रस्तुत हुए तब ऋषभदेव जी ने उनमें से एक इक्षु का टुकड़ा उठाया। प्रभु की इक्षुभक्षण की रुचि जानकर त्रैलोक्य प्रदीप्त प्रभु ऋषभ के वंश का नाम इक्ष्वाकुवंश रखा गया।[156] इक्षु के काटने से रस का स्राव होता है, अतः उनको 'काश्यप' गौत्रिय कहा गया।[157]

विवाह पद्धति का प्रारम्भ : युगलिया संस्कृति में विवाह से लोग अपरिचित थे। युगलिक रूप से ही जन्म होता था और बड़े होकर वे पति-पत्नी की तरह रहते थे। भगवान ऋषभदेव जब छोटे थे, तब एक युगल जोड़े में से लड़के की अकाल मृत्यु हो गई। ऐसा पहली बार हुआ था। अतः लोग विस्मित हो गये और उस अकेली लड़की को वे नाभिराजा के पास ले गये। तब नाभिराजा के यहीं ऋषभदेव के साथ ही उसका लालन पालन हुआ। कालान्तर में युवा होने पर उसका ऋषभदेव के साथ ही विवाह करके सर्वप्रथम विवाह पद्धति का प्रारम्भ किया गया, अतः ऋषभदेव जी के दो पत्नियाँ थी। एक उनके साथ युगलिक रूप से जन्मी-सुनन्दा तथा दूसरी जिसके साथ उनका विवाह कर दिया गया, सुमंगला।[158]

ऋषभदेव जी की सन्तति : ऋषभदेव जी की आयु 6 लाख पूर्व की हुई तब देवी सुमंगला ने भरत और ब्राह्मी को युगलिक रूप से जन्म दिया। थोड़ी देर बाद ही देवी सुनन्दा ने बाहुबली तथा सुन्दरी को युगलिक रूप से जन्म दिया। कालान्तर में देवी सुमंगला ने 49 पुत्र युगलों को जन्म दिया। इस प्रकार देवी सुमंगला 99 पुत्रों और एक पुत्री की तथा देवी सुनन्दा एक पुत्र व एक पुत्री की माता बनी। इस प्रकार ऋषभदेवजी के 100 पुत्र तथा 2 पुत्रीयाँ थी।[159] ये सभी सर्वांगसुन्दर, शुभ लक्षणों तथा उत्तम गुणों से युक्त थे।

प्रथम राजा : ऋषभदेव जी : नाभिराजा चौदहवें कुलकर थे अर्थात् नाभिराजा तक कुलकर व्यवस्था प्रचलित थी। भोगभूमि में लोग सहज, सरल स्वभाव के होते थे और कल्पवृक्षों से अपनी इच्छाएँ पूर्ण करते थे। परस्पर राग-द्वेष, कलह नहीं होता था। लेकिन नाभिराजा के समय भोगभूमि तथा कर्मभूमि का संक्रान्ति काल था, अतः कल्पवृक्षों से अपेक्षित मात्रा से कम सामग्री प्राप्त होने लगी, फलतः अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए लोगों में परस्पर झगड़े होने लगे। प्रारम्भ में हाकार, माकार नीति से समाज में शांति व्यवस्था हो जाती, लेकिन ज्यों-ज्यों सामग्री कम होती गयी समस्याएँ बढ़ने लगी, झगड़े भी बढ़ने लगे। तब युगलिक ऋषभदेवजी के पास गए। उन्होंने कहा, कि अब कर्मभूमि में तुम्हें कठोर परिश्रम करना पड़ेगा और सामाजिक व्यवस्था के लिए एक राजा चुनना होगा, जो सभी समस्याओं को हल करेंगे। नाभिराजा हमारे पूज्य हैं, अतः तुम उनके पास जाकर निवेदन करो। जब लोग उनके पास गए तो नाभिराज ने कहा, कि अब ऋषभदेव ही तुम्हारी समस्याओं का समाधान करेंगे। अतः तुम उन्हीं को राजा बनाओ। तब सभी युगलिकों ने विनिता नगरी को सजाया और प्रथम बार ऋषभदेव जी को राजा बनाकर उनका राज्याभिषेक किया।

भोजन व्यवस्था : भगवान ऋषभदेव के काल में सबसे प्रमुख समस्या भोजन की थी। कल्पवृक्षों की कमी से खाद्य सामग्री कम होने लगी थी। लोग अपनी क्षुधा की समस्या लेकर ऋषभदेव जी के पास पहुँचे। तब ऋषभदेव जी ने उनसे कहा - "अवशिष्ट कल्पवृक्षों के फलों के अतिरिक्त अन्य कन्द, मूल, फल, फूल तथा स्वतः उत्पन्न शालि आदि अन्न का प्रयोग करो।" लोगों ने ऋषभदेव जी के निर्देशों का पालन किया, लेकिन कुछ समय पश्चात् पुनः कच्चे अन्न से पेट दर्द व अपच आदि समस्याएँ होने लगी। तब ऋषभदेव जी ने उन्हें शालियों का छिलका हटाकर उन्हें हाथों से मसल कर खाने की सलाह दी। जब वह भी सुपच न हो सका, तो जल में भिगोकर और मुट्ठी व बगल में रखकर कर्म करके खाने की सलाह दी। लेकिन अपच की बाधा उससे भी दूर नहीं हुई।

ऋषभदेव जी अतिशय ज्ञानी होने के कारण अग्नि के विषय में जानते थे। वे यह भी जानते थे, कि काल की एकान्त स्निग्धता के कारण उस समय अग्नि उत्पन्न नहीं हो सकती थी, अतः कालान्तर में जब काल की स्निग्धता कुछ कम हुई तब उन्होंने लकड़ियों को घिस कर अग्नि उत्पन्न की तथा लोगों को पाक कला का ज्ञान कराया।[160]

प्रभु ने बताया, कि आग में कच्चे धान्य को पकाकर खाया जाता है। युगलियों ने आग में धान्य को डाला तो वह जल गया। तब वे पुनः ऋषभदेव जी के पास गए और बोले, कि आग तो स्वयं ही सारा धान्य खा जाती है। तब भगवान ने मिट्टी गीली करके हथेली के कुंभ स्थल पर रखकर उससे पात्र बनाया और बोले, कि ऐसे बर्तन बनाकर धान्य को उन बर्तनों में रखकर आग पर पकाने से वह जलेगा नहीं। इस प्रकार

लोग आग पर पका कर खाद्य तैयार करने लगे। मिट्टी के बर्तन और भोजन पकाने की कला सिखाकर ऋषभदेवजी ने उन लोगों की समस्या हल की, इसलिए लोग उन्हें प्रजापति कहने लगे।

धर्मानुकूल लोक व्यवस्था : ऋषभदेव जी ने लोक जीवन को स्वावलम्बी बनाना आवश्यक समझा। राष्ट्रवासी अपना जीवन स्वयं सरलता से अल्पारंभ पूर्वक बिता सकें, ऐसी शिक्षा देने के लिए उन्होंने 100 शिल्प तथा असि, मसि व कृषि रूप तीन कर्मों का प्रजा के हितार्थ उपदेश दिया। शिल्प कर्म का उपदेश देते हुए आपने प्रथम कुंभकार का कर्म सिखाया। फिर वस्त्र-वृक्षों के क्षीण होने पर पटकार कर्म और गेहगार वृक्षों के अभाव में वर्धकी कर्म सिखाया, फिर चित्रकार कर्म और रोम नखों के बढ़ने पर काश्यपक अर्थात् नापित कर्म सिखाया। इन पांच मूल शिल्पों के 20-20 भेदों से 100 प्रकार के कर्म उत्पन्न हुए।[151] व्यवहार की दृष्टि से उन्होंने मान-उन्मान, अवमान और प्रतिमान का भी ज्ञान कराया।[152]

लोक स्थिति एवं कला ज्ञान : लोकनायक और राष्ट्र स्थविर के रूप में उन्होंने विविध व्यवहारोपयोगी विधियों से तत्कालीन जन समाज को परिचित कराया। आपने भरत और ब्राह्मी, सुन्दरी के माध्यम से अपनी प्रजा को लेखन आदि बहत्तर (72) पुरुषों की कलाएँ और 64 महिला गुण अर्थात् स्त्रियों की कलाएँ सिखाई।[153]

ऋषभदेव आरंभ परिग्रह की हेयता को समझते हुए भी जनहित और उदय कर्म के फल भोगार्थ आरंभयुक्त कार्य भी करते-करवाते रहे। इसका अर्थ यह नहीं, कि वे इन कर्मों को निष्पाप समझते रहे थे। उन्होंने मानव जाति को अभक्ष्य-भक्षण जैसे महारम्भी जीवन से बचाकर अल्पारम्भी जीवन जीने के लिए असि-मसि-कृषि रूप कर्म की शिक्षा दी और समझाया, कि आवश्यकता से कभी सदोष प्रवृत्ति करनी भी पड़े तो पाप को पाप समझकर निष्पाप जीवन की ओर लक्ष्य रखते हुए चलना चाहिये। यही सम्यग्दर्शीपन है।

लोक जीवन को स्वाश्रयी बनाने के साथ ही साथ उन्हें सुन्दर और स्वपर कल्याणकारी बनाने के लिए उन्होंने अपनी पुत्री ब्राह्मी को दाहिने हाथ से अठारह प्रकार की लिपियों का ज्ञान कराया तथा सुन्दरी को बायें हाथ से गणित ज्ञान की शिक्षा दी।[154] फिर अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को पुरुष की बहत्तर कलाओं और बाहुबली को प्राणी लक्षण का ज्ञान कराया।[155]

विशेषावश्यक भाष्य में ब्राह्मी को सिखाई गयी लिपियों के नाम इस प्रकार बताए गए हैं -

1.	ब्राह्मी	2.	हंस	3.	भूत
4.	यक्षी	5.	राक्षसी	6.	उड्डी
7.	यवनी	8.	तरुष्की	9.	किरी

10. द्राविड़ी	11. सिंघविय	12. मालविनी
13. *नागरी*	14. *लाटी*	15. पारसी
16. *अनिमित्ती*	17. *चाणक्यी व*	18. मूलदेवी)[166]

पुरुषों की बहत्तर कलाएँ[167] :

1. लेहं - लेखन कला
2. गणियं - गणित कला
3. रुवं - रूप कला
4. नट्टं - नाट्य कला
5. गीयं - संगीत कला
6. वाइयं - वाद्य बजनाने की कला
7. सरगयं - स्वर जानने की कला
8. पुक्खरगयं - ढोल आदि वाद्य बजाने की कला
9. समतालं - ताल देने की कला
10. जूयं - जुआ खेलने की कला
11. जणवायं - वार्तालाप करने की कला
12. पासे किच्चं - नगर के संरक्षण की कला
13. अट्ठावयं - पासा खेलने की कला
14. दग मट्टियं - पानी व मिट्टी के योग से वस्तु बनाने की कला
15. अन्नविहिं - अन्न उत्पादन की कला
16. पाणविहिं - पानी को शुद्ध करने की कला
17. वत्थविहिं - वस्त्र बनाने की कला
18. सयणविहिं - शय्या निर्माण की कला
19. अज्जं - संस्कृत भाषा में कविता निर्माण की कला
20. पहेलियं - प्रहेलिका निर्माण की कला
21. गाहं - प्राकृत भाषा में गाथा निर्माण की कला
22. मागहियं - छन्द बनाने की कला
23. सिलोगं - श्लोक बनाने की कला
24. गंधजुत्ति - सुगंधित पदार्थ बनाने की कला
25. मधुसित्थं - मधुरादि षट्रस बनाने की कला
26. आभरणविहिं - अलंकार निर्माण तथा धारण करने की कला
27. तरुणी पडिक्कम्मं - स्त्री को शिक्षा देने की कला
28. इत्थी लक्खणं - स्त्री के लक्षण जानने की कला
29. पुरिस लक्खणं - पुरुष के लक्षण जानने की कला

30. हय लक्खणं – घोड़े के लक्षण जानने की कला
31. गय लक्खणं - गज (हाथी) के लक्षण जानने की कला
32. गोलक्खणं - गाय एवं वृषभ के लक्षण जानने की कला
33. कुक्कुड लक्खणं – कुक्कुट के लक्षण जानने की कला
34. मिंढय लक्खणं – मेढ़े के लक्षण जानने की कला
35. चक्कं लक्खणं – चक्र के लक्षण जानने की कला
36. छत्र लक्खणं - छत्र के लक्षण जानने की कला
37. दंड लक्खणं - दण्ड के लक्षण जानने की कला
38. असि लक्खणं - तलवार के लक्षण जानने की कला
39. मणि लक्खणं – मणि के लक्षण जानने की कला
40. कागणि लक्खणं – काकिणी (चक्रवर्ती के विशेषरत्न) के लक्षण जानने की कला
41. चम्म लक्खणं – चर्म के लक्षण जानने की कला
42. चन्द्र लक्खणं – चन्द्र के लक्षण जानने की कला
43. सूर चरियं – सूर्य आदि की गति जानने की कला
44. राहु चरियं – राहु की गति जानने की कला
45. गह चरियं - ग्रहों की गति जानने की कला
46. सौभाग करं – सौभाग्य का ज्ञान
47. दोभाग करं - दुर्भाग्य का ज्ञान
48. विज्जागयं – रोहिणी, प्रज्ञप्ति आदि विद्या संबंधी ज्ञान
49. मंत गयं - मन्त्र साधना आदि का ज्ञान
50. रहस्सगयं – गुप्त वस्तु को जानने का ज्ञान
51. समासं - प्रत्येक वस्तु के वृत का ज्ञान
52. चारं - सैन्य का प्रमाण आदि जानना
53. पडिवूहं – प्रतिव्यूह रचने की कला
54. पडिचारं – सेना को रणक्षेत्र में उतारने की कला
55. वूहं – व्यूह रचने की कला
56. खंधावारमाणं – सेना के पड़ाव का जमाव जानना
57. नगरमाणं – नगर प्रमाण जानने की कला
58. वस्थुमाणं – वस्तु का प्रमाण जानने की कला
59. खंधावार निवेसं - सेना का पड़ाव डालने का परिज्ञान
60. वत्थु निवेसं – प्रत्येक वस्तु के स्थापन करने की कला
61. नगर निवेसं – नगर निर्माण का ज्ञान

62. ईसत्थं - थोड़े को अधिक करने की कला
63. रूप्पवायं - तलवार आदि की मूठ बनाने की कला
64. आससिक्खं - अश्व शिक्षा
65. हत्थि सिक्खं - हस्ति शिक्षा
66. धणुवेयं - धनुर्वेद
67. हिरण्णपागं, सुवन्नपागं, मणिपागं, धातुपागं - हिरण्यपाक सुवर्णपाक, मणिपाक व धातुपाक बनाने की कला
68. बाहुजुद्धं, दण्डजुद्धं, मुट्ठिजुद्धं, अट्ठिजुद्धं, जुद्धं, निजुद्धं, जुद्धाईजुद्धं - बाहुयुद्ध, दण्डयुद्ध, मुष्ठियुद्ध, यष्टियुद्ध, युद्ध, नियुद्ध, युद्धातियुद्ध करने की कला
69. सुत्ताखेड़ं, नालियाखेड़ं, वट्टखेड़ं, चम्मखेड़ं - सुत बनाने की, नली बनाने का, गेंद खेलने की, वस्तु के स्वभाव जानने की व चमड़ा बनाने की कला
70. पत्तच्छेज्जं, कड़गच्छेज्जं - पत्र छेदन एवं कड़ग वृक्षांग विशेष छेदने की कला
71. संजीवं, निज्जीवं - संजीवन, निर्जीवन की कला
72. सउणरुयं - पक्षी के शब्द से शुभाशुभ जानने की कला

पुरुषों के लिए कला विज्ञान की शिक्षा देकर महाराज ऋषभदेव ने महिलाओं के जीवन को उपयोगी व शिक्षा सम्पन्न करना भी आवश्यक समझा। अपनी पुत्री ब्राह्मी के माध्यम से उन्होंने लिपि ज्ञान तो दिया ही, साथ में महिला गुणों के रूप में उनको 64 कलाएँ भी सिखाई। वे 64 कलाएँ इस प्रकार हैं[169] -

1.	नृत्य कला	2.	औचित्य
3.	चित्रकला	4.	वादित्रकला
5.	मन्त्र	6.	तन्त्र
7.	ज्ञान	8.	विज्ञान
9.	दम्भ	10.	जलस्तम्भ
11.	गीतमान	12.	तालमान
13.	मेघवृष्टि	14.	फलाकृष्टि
15.	आरामरोपण	16.	आकारगोपन
17.	धर्मविचार	18.	शकुनसार
19.	क्रियाकल्प	20.	संस्कृत जल्प
21.	प्रासादनीति	22.	धर्मरीति
23.	वर्णिकवृद्धि	24.	सुवर्णसिद्धि
25.	सुरभितेलकरण	26.	लीलासंचरण

27.	हयगज परीक्षण	28.	पुरुष स्त्री लक्षण
29.	हेमरत्न भेद	30.	अष्टादशलिपि परिच्छेद
31.	तत्कालबुद्धि	32.	वस्तुसिद्धि
33.	काम विक्रिया	34.	वैद्यक क्रिया
35.	कुम्भ भ्रम	36.	सारिश्रम
37.	अंजन योग	38.	चूर्ण योग
39.	हस्तलाघव	40.	वचन पाटव
41.	भोज्यविधि	42.	वाणिज्यविधि
43.	मुखमण्डन	44.	शालि खण्डन
45.	कथाकथन	46.	पुष्पग्रथन
47.	वक्रोक्ति	48.	काव्यशक्ति
49.	स्फार	50.	सर्वभाषा विशेष
51.	अभिधानज्ञान	52.	भूषण परिधान
53.	भृत्योपचार	54.	गृहाचार
55.	व्याकरण	56.	परिनिराकरण
57.	रन्धन	58.	केशबन्धन
59.	विणानाद	60.	वितण्डावाद
61.	अंक विचार	62.	लोक व्यवहार
63.	अन्त्याक्षरिका	64.	प्रश्नप्रहेलिका

सामाजिक व्यवस्था (वर्ण व्यवस्था) का सूत्रपात : भोग युग में मनुष्य न तो परिश्रम करता था, न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे कोई कर्म करना पड़ता था। सब कुछ स्वतः ही होता था, अतः किसी प्रकार की व्यवस्था की आवश्यकता ही नहीं थी। चूँकि भगवान ऋषभदेव ने ही मानव को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कर्म करना सिखाया, तभी लोगों में कार्य विभाजन की व्यवस्था की आवश्यकता हुई। अतः ऋषभदेवजी ने कर्म के आधार पर समाज के लोगों को तीन वर्णों में विभाजित करके उन्हें उनकी योग्यतानुसार कार्य सौंप दिये। इस प्रकार कार्य विभाजन से समाज में एक व्यवस्थित जीवन प्रारम्भ हुआ।

जो लोग शारीरिक दृष्टि से सुदृढ़ और शक्ति सम्पन्न थे, उन्हें प्रजा की रक्षा के कार्य में नियुक्त करके पहचान के लिए 'क्षत्रिय' शब्द की संज्ञा दी।

जो लोग कृषि, पशुपालन व वस्तुओं के क्रय-विक्रय-वितरण अर्थात् वाणिज्य व्यवसाय में निपुण हुए उन लोगों के वर्ग को वैश्य वर्ण की संज्ञा दी।

जिन कार्यों को करने में क्षत्रिय और वैश्य लोग प्रायः अनिच्छा और अरुचि रखते, उन सेवा और सफाई के कार्यों को भी करने में जो लोग तत्पर हुए, सेवा में

विशेष अभिरुचि प्रकट की, उस वर्ग के लोगों को 'शूद्र' की संज्ञा दी।

इस प्रकार ऋषभदेव के समय में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णों में समाज को विभाजित किया गया।[69]

आचार्य जिनसेन के अनुसार ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति महाराज भरत के द्वारा हुई। भरत ने चक्रवर्ती बनने के पश्चात् सोचा, कि यदि बुद्धिजीवी लोगों का एक वर्ण तैयार किया जाए, जो त्रिवर्ण के लोगों को भी नैतिक जीवन निर्माण में बौद्धिक सहयोग दें, तो समाज का नैतिक स्तर भी ऊँचा होगा। इसके लिए उन्होंने पहले भगवान ऋषभदेव व उनके अनुयायी श्रमणों को आमन्त्रित किया। लेकिन उन्होंने त्यक्त भोग सामग्री को पुनः स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। तब महाराज भरत ने अपने से गुणाधिक श्रावकों को बुलाकर कहा- आप अपनी जीविका के लिए व्यवसाय, सेवा, कृषि आदि कोई कार्य न करें, मैं आप लोगों की जीविका की व्यवस्था करूंगा। आपका कार्य केवल शास्त्रों का श्रवण, पठन, एवं मनन व देव गुरु की सेवा करते रहना है।

इस प्रकार अनेकों श्रावक प्रतिदिन भरत की भोजनशाला में भोजन करते और बोलते - 'वर्द्धते भयं, माहण, माहण' - अर्थात् भय बढ़ रहा है, हिंसा मत करो, हिंसा मत करो। वे लोग आरम्भ परिग्रह की प्रवृत्तियों से अलग रहकर लोगों को माहन-माहन, ऐसी शिक्षा देते, अतः उन्हें माहण अथवा 'ब्राह्मण' कहा जाने लगा।[70]

इस प्रकार आदिनाथ से लेकर भरत के राज्यकाल तक चार वर्णों की स्थापना हुई।

ऋषभदेवजी द्वारा दीक्षा (प्रव्रज्या) धर्म का सूत्रपात- ऋषभदेवजी की आयु 84 लाख पूर्व वर्ष थी।[71] उन्होंने 20 लाख वर्ष पूर्व का कुमार काल व्यतीत करके 63 लाख पूर्व वर्ष तक सामाजिक व राजनैतिक व्यवस्था करते हुए राज्य किया।[72] ऋषभदेवजी की देह 500 धनुष की थी।[73] उसके पश्चात् उन्होंने अपना सारा साम्राज्य अपने सौ पुत्रों को विभाजित करके सौंप दिया। उसके पश्चात् उन्होंने 1 वर्ष तक गरीबों को दान दिया, जिससे सभी लोगों को पता लग गया, कि ऋषभदेव जी उन्हें छोड़कर जा रहे हैं। चैत्र कृष्ण अष्टमी के दिन ऋषभदेवजी ने शहर के बाहर उपवन में जाकर अपने सभी वस्त्राभूषण इन्द्र को सौंपकर, चतुर्मुष्ठि लोच किया। इन्द्र के कहने पर मध्य बाल रख लिए। इसके पश्चात् 'नमो सिद्धाणं' कहकर दीक्षा व्रत अंगीकार किया। उनके साथ 4 हजार लोगों ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की। छद्मस्थ अवस्था में भगवान ऋषभदेव ने मौन व्रत धारण कर लिया था। अतः सभी अनुयायी साध्वाचार के उपयुक्त निर्देश के अभाव में वन-विहारी हो गए तथा अपनी इच्छानुसार कंद-मूल-फल आदि खाकर विचरण करने लगे। कुछ भूख-प्यास आदि परिषहों से संत्रस्त होकर वल्कलधारी तापस हो गए।[74]

भिक्षाचर्या का सूत्रपात : आचार्य जिनसेन के अनुसार ऋषभदेव भगवान ने छह मास का अनशन किया था।[175] अन्य श्वेताम्बर साहित्य में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता, वहाँ बेले की तपस्या के पश्चात् उनके भिक्षा के लिए भ्रमण का उल्लेख मिलता है। लेकिन लोगों को विधि पूर्वक भिक्षा देने का ज्ञान न होने के कारण कोई अपनी सुन्दर कन्या, कोई बहुमूल्य वस्त्राभूषण, कोई हस्ती अश्व, रथ, वाहन, छत्र, सिंहासनादि और कोई फलफूल आदि प्रस्तुत कर उन्हें ग्रहण करने की प्रार्थना करता, किंतु विधिपूर्वक भिक्षा देने का ध्यान किसी को नहीं आता। भगवान ऋषभदेव इन उपहारों को ग्रहण किए बिना ही लौट जाते।

इस प्रकार भिक्षा के लिए विचरण करते हुए ऋषभदेव भगवान को एक वर्ष बीत गया, फिर भी उनके मन में कोई ग्लानि पैदा नहीं हुई। एक दिन भ्रमण करते हुए प्रभु कुरु जनपद में हस्तिनापुर पधारे। वहाँ बाहुबली के पौत्र एवं राजा सोमप्रभ के पुत्र श्रेयांसकुमार युवराज थे। श्रेयांस ने भगवान को देखा तो दर्शन करते ही ज्ञानावरण के क्षयोपशम से उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हो गया कि, ये प्रथम तीर्थंकर हैं, आरम्भ-परिग्रह के त्यागी हैं, अतः इन्हें निर्दोष आहार देना चाहिए। उसी समय भवन में इक्षुरस के घड़े लाए गए थे। अतः श्रेयांस ने निर्दोष भाव से 108 इक्षुरस के घड़ों से भगवान को पारणा कराया। भगवान अछिद्रपाणि थे, अतः रस की एक भी बूंद नीचे नहीं गिरी। भगवान ऋषभदेव ने जगत को सर्वप्रथम वर्षीतप करके तप का पाठ पढ़ाया। श्रेयांस कुमार ने भिक्षादान की विधि से अनजान लोगों को वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन प्रभु को पारणा करवाकर सर्वप्रथम भिक्षा-दान की विधि बताई।[176] इस दिन को आज भी अक्षय तृतीया के रूप में जाना जाता है।

केवलज्ञान की प्राप्तिः प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् एक हजार वर्ष बाद ऋषभदेव भगवान ने चार घातिक कर्मों का सम्पूर्ण क्षय किया और पुरिमताल नगर के बाहर शकटमुख उद्यान में फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन[177] अट्ठम तप के साथ दिन के पूर्व भाग में उत्तराषाढ़ नक्षत्र के योग में ध्यान मग्न हुए और केवलज्ञान, केवल दर्शन की उपलब्धि की। देवों ने केवलज्ञान का महोत्सव किया। भगवान भाव अरिहंत हो गए। अरिहंत होने से आप में बारह गुण प्रकट हुए जो इस प्रकार हैं- 1. अनन्त ज्ञान, 2. अनन्त दर्शन, 3. अनन्त चारित्र, 4. अनन्त बल वीर्य, 5. अशोक वृक्ष, 6. देवकृत पुष्प वृष्टि, 7. दिव्य ध्वनि, 8. चामर, 9. स्फटिक सिंहासन, 10. छत्र, 11. आकाश में देव दुन्दुभि, 12. भामण्डल।

पाँच से बारह तक के आठ गुणों को प्रातिहार्य कहा गया है।[178] भक्तिवश देवों द्वारा यह महिमा की जाती है।

तीर्थंकरों की विशेषता : सामान्य केवली की अपेक्षा अरिहंत तीर्थंकर में खास विशेषताएँ होती हैं, जो प्रभावोत्पादक रूप से अतिशय रूप में होती हैं। जैसा कि

समवायांग सूत्र में लिखा है- 'चौतीसं बुद्धाइसेसा' और 'पणतीसं सच्चवयणाइसेसा पण्णत्ता'।[२५] दिगम्बर परम्परा में 34 अतिशयों का वर्णन नंदीश्वर भक्ति में किया गया है।

प्रथम देशना और तीर्थ स्थापना : केवलज्ञानी और वीतरागी बन जाने के पश्चात् फाल्गुन कृष्ण एकादशी के दिन प्रथम देशना देकर चतुर्विध तीर्थों की स्थापना करके प्रथम तीर्थंकर कहलाए। प्रश्न व्याकरण सूत्र में कहा गया है, कि समस्त जगत के जीवों की रक्षा व दया के लिए भगवान ने प्रवचन दिया, अतः जैन शास्त्रों तथा वैदिक पुराणों में भी भगवान ऋषभदेव को दशविध धर्म का प्रवर्तक कहा गया है।

भगवान ने श्रुत एवं चारित्र धर्म का निरुपण करते हुए रात्रि भोजन, विरमण सहित अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पंचमहाव्रत धर्म का उपदेश दिया। प्रभु ने समझाया, कि मानव जीवन का लक्ष्य भोग नहीं योग है, राग नहीं विराग है, वासना नहीं साधना है। वृत्तियों का हठात् दमन नहीं अपितु ज्ञान पूर्वक शमन करना चाहिये।[२६]

भरत का विवेक : सम्राट भरत को जिस समय प्रभु के केवलज्ञान की सूचना मिली, उसी समय एक दूत ने आकर आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न होने की शुभ सूचना भी दी। उसी समय उन्हें पुत्र-रत्न लाभ की तीसरी शुभ सूचना भी प्राप्त हुई।

तीन शुभ सूचनाएँ एक साथ पाकर भी महाराज भरत ने क्षणभर में ही अपने विवेक से निर्णय लिया, कि - चक्र रत्न और पुत्र रत्न की प्राप्ति तो अर्थ एवं काम का फल है, लेकिन प्रभु का केवल ज्ञान धर्म का फल है।[२७] अतः भरत सर्व प्रथम प्रभु की वन्दना करने गए, जो आत्मा के लिए श्रेयस्कर था।

मरुदेवी माता का मोक्ष: माता मरुदेवी अपने पुत्र ऋषभदेव को प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् एक हजार वर्ष बीत जाने पर एक बार भी देख नहीं पायी थी, अतः वह अपने प्रिय पुत्र के विरह में व्याकुल हो रोती रहती थी। ऋषभदेव प्रभु के केवलज्ञान प्राप्ति की सूचना मिलते ही भरत महाराज मरुदेवी माता को लेकर प्रभु के पास पुरिमताल नगर के बाहर शकटमुख उद्यान में पहुँचे।

समवसरण के निकट पहुँच कर माता मरुदेवी ने गजारुढ़ स्थिति में ही त्रिलोकवन्द्य भगवान ऋषभदेव की देवेन्द्रकृत महिमा देखी तो वे भगवान ऋषभदेव को उलाहना देने लगी, कि मैं तो समझती थी, कि मेरा पुत्र कष्टों में होगा, लेकिन तुम तो अनिर्वचनीय आनन्द सागर में झूल रहे हो। एक बार भी माँ की सुध नहीं ली और अब मैं आयी हूँ, तब भी एक शब्द भी नहीं बोलते हो। तब प्रभु ने उन्हें प्रतिबोध देते हुए समझाया और वे सरल मना, सरलकर्मा माता मरुदेवी आर्तध्यान से शुक्ल ध्यान में आरुढ़ हुई और कुछ ही क्षणों में ज्ञान, दर्शन, अन्तराय और मोह के आवरण को दूर करके केवल ज्ञान व केवल दर्शन की धारक बन गई। आयु का अवसान काल

सन्निकट होने के कारण वे उसी समय शेष चार अघाती कर्मों का भी समूल नाश करके, गजारुढ़ स्थिति में ही सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गई।[182] यद्यपि केवलज्ञान सर्वप्रथम भगवान ऋषभदेव को हुआ, लेकिन इस अवसर्पिणी काल में सर्वप्रथम मोक्षगामी माता मरुदेवी थी।

अहिंसात्मक युद्ध पद्धति का प्रतिपादन : भगवान ऋषभदेव के पुत्र बाहुबली ने युद्ध में भी अहिंसात्मक पद्धति का प्रतिपादन किया।

ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र सम्राट भरत ने सम्पूर्ण देशों में अपना एक छत्र अखण्ड साम्राज्य स्थापित करने की इच्छा से अपने 99 भाइयों के यहाँ यह संदेश भिजवाया, कि वे भरत महाराजा की अधीनता स्वीकार कर लें। उनका संदेश पाकर 98 भाइयों ने तो भगवान ऋषभदेव के पास दीक्षा ग्रहण कर ली, लेकिन बाहुबली भरत की राज्य लिप्सा से क्रोधित हो गए और उन्होंने भरत के संदेश को ठुकरा दिया। फलस्वरूप भरत और बाहुबली दोनों ही अपनी विशाल सेनाओं के साथ युद्ध मैदान में आ डटे, लेकिन युद्ध में होने वाले जन संहार को बचाने के लिए बाहुबली ने कहा, क्यों न हम दोनों भाई ही आपस में निर्णायक युद्ध कर लें।

इस प्रस्ताव पर दोनों ने एक मत होकर दृष्टियुद्ध, वाक् युद्ध, मुष्ठि युद्ध और दंड युद्ध द्वारा परस्पर बल परीक्षण प्रारम्भ किया। दृष्टियुद्ध, वाग्युद्ध, बाहुयुद्ध में क्रमशः भरत पराजित हए। अन्त में मुष्टि युद्ध हुआ, तो भरत के मुष्टिप्रहार से बाहुबली पर अधिक प्रभाव नहीं हुआ, किंतु जब बाहुबली ने भरत पर मुष्टि प्रहार के लिए हाथ उठाया, तो समस्त दर्शक भरत के लिए क्षमा प्रार्थना करने लगे। तब बाहुबली के मन में ग्लानि उत्पन्न हुई, कि मैं तुच्छ विषयभोगों के लिए अपने बड़े भाई पर हाथ उठा रहा हूँ, उसे मारने को उत्सुक हुआ हूँ, धिक्कार है मुझे। इसी विचार के साथ वे उठी हुई मुष्ठि से अपने केशों का लोच करके श्रमण बन गए।

इस घटना से एक तो बिना जनसंहार के युद्ध की विधा का प्रतिपादन किया। दूसरी ओर बड़े भाई के प्रति अतीव विनय भाव की प्रेरणा मिलती है।

तीर्थंकर ऋषभदेव का परिवार : भगवान ऋषभदेव को केवलज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् उनका धार्मिक परिवार पुनः बढ़ने लगा। उनके परिवार में 84000 श्रमणों का होना अद्भूत धर्मक्रांति का ही परिणाम था। उनकी व्यवस्था के लिए प्रभु ने 84 गण बनाए तथा प्रत्येक गण के मुखिया नियुक्त किए, जिन्हें गणधर कहा जाने लगा। इस प्रकार भगवान ऋषभदेव के 84 गणधर थे। प्रथम गणधर ऋषभसेन थे। प्रभु के परिवार में 3,00,000 श्रमणियाँ थी, जिनकी प्रमुख ब्राह्मी थी। उनके शासन में 3,05,000 श्रावक थे और 5,54,000 श्राविकाएँ थीं।[183]

प्रभु का निर्वाण : भगवान ऋषभ देव ने केवलज्ञान प्राप्ति के पश्चात् लम्बे समय तक वर्तमान भारत की सीमाओं से भी बहुत सुदूर क्षेत्रों में विचरण करते हुए

धर्म का प्रचार किया। जब उन्हें अपने जीवन का अवसान काल निकट जान पड़ा तो 10 हजार श्रमणों के साथ अष्टापद (कैलाश पर्वत) पर चढ़े। अवसर्पिणीकाल के तीसरे आरे के तीन वर्ष साढ़े आठ मास शेष रहे, तब छह दिनों तक अनशन (निराहार) तप में अयोगी अवस्था पाकर शेष अघाती कर्मों का क्षय करके माघ कृष्णा त्रयोदशी के दिन भगवान ऋषभदेव पर्यंकासन में सिद्ध बुद्ध मुक्त हुए।[86]

जैन धर्म अथवा भगवान ऋषभदेव की विदेशों में मान्यता : जैन मतानुसार तीर्थंकर ऋषभदेव कर्म भूमि के आदि स्रष्टा थे, जिन्होंने करोड़ों वर्ष पूर्व इस धरती पर अहिंसा मूलक समाज की स्थापना की और मानवता का प्रथम संदेश दिया था। अतएव भारतवर्ष में उनकी पूजा होना स्वाभाविक ही है, लेकिन भारत में ही नहीं वरन् विदेशों में भी उनकी पूजा के उल्लेख मिलते हैं। यहाँ यह स्पष्ट करना चाहूँगी, कि ऋषभदेव कालीन भारत की सीमाएँ बहुत विस्तृत थीं। समय के साथ अनेक नये छोटे-छोटे देश बनते गये और ये सीमाएँ संकुचित होती गई। जैसे वर्तमान में पाकिस्तान का टुकड़ा अलग देश बन गया है। इसके अतिरिक्त जैन साहित्य में यह भी विवरण मिलता है, कि केवलज्ञान के पश्चात् भगवान ऋषभदेव ने भारत से सुदूर प्रदेशों में भी विचरण करके धर्म का प्रचार-प्रसार किया था। उन्होंने जिस क्षेत्र में जिस प्रकार के ज्ञान का उपदेश दिया, वहाँ उसी के देवता के रूप में उनकी पूजा होने लगी।

भगवान ऋषभदेव कहीं कृषि के देवता माने गये, कहीं वर्षा के देवता, तो कहीं सूर्यदेव मानकर पूजे गए। सूर्य देव उनके केवल ज्ञान का द्योतक है। चीन और जापान भी उनके नाम और काम से परिचित रहे हैं। चीनी त्रिपिटक में उनका उल्लेख मिलता है। जापानी उनको 'रोकशब' (ROKSHAB) कहकर पुकारते हैं।

मध्य एशिया, मिश्र, यूनान, फोनेशिया एवं फणिक लोगों की भाषा में वे 'रेशेफ' कहलाए, जिसका अर्थ सींगों वाला देवता है, जो वृषभ का अपभ्रंश रूप है।[87] अक्कड़ और सुमेरों की संयुक्त प्रवृत्तियों से उत्पन्न बेबीलोनिया की संस्कृति और सभ्यता बहुत प्राचीन कही जाती है। उनके विजयी राजा हम्मुराबी (2123 से 2081 ई०पू०) के शिलालेखों से पता चलता है, कि स्वर्ग और पृथ्वी का देवता बैल (वृषभ) था।[88] सुमेर के लोग कई देवताओं की पूजा करते थे। वृषभदेव की वे कृषि के देवता के रूप में पूजा करते थे, जिसे वे 'आबू' अथवा 'तामुज' कहते थे।[89] इजिप्ट में सूर्य देवता को सृष्टि का रचयिता माना जाता था। कई देवताओं में उस समय पशु देवता अधिक लोकप्रिय थे। पशुओं में भी बैल और अज विशेष रूप से पवित्र समझे जाते थे।[90] सुमेर तथा बाबुल के एक धर्म शास्त्र में 'अर्हशम्म' का उल्लेख मिलता है।[91] 'अर्ह' शब्द 'अर्हत्' का ही संक्षिप्त रूप जान पड़ता है। जैनों के पौषध की भांति लोग (सब्बथ) (Sabbath) को पवित्र दिन मानते थे। उस दिन कोई भी सांसारिक काम

धन्धा नहीं करते थे। मांस और मदिरा छूना तक पाप समझते थे। संत मूसा और दनियाल अहिंसावादी थे।[96] उनके प्रभाव से आस-पास के देशों में भी अहिंसा का बहुत प्रचार था।

बेबीलोनिया वासी तथा यहूदियों की भाँति हित्ती जाति के लोगों पर भी भारतीय धर्मों का प्रभाव पड़ा था। इनका मुख्य देवता 'ऋतुदेव' (Weather-God) कहा गया है। उसका वाहन बैल था जिसे 'तेशुब' (Teshub) कहा जाता था, जो तित्थयर उसभ का अपभ्रंश जान पड़ता है।[97] मिश्रवासियों की धार्मिक मान्यताएँ बहुत कुछ जैनों से मिलती जुलती है। जैनों की भाँति वहाँ के लोग ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता-धर्ता एवं हर्ता नहीं मानते। मूली, प्याज, लहसुन आदि जमीकंद नहीं खाते। जूते भी पेड़ की छाल के बने हुए पहनते थे। 'आत्मवत सर्वभूतेषु' के सिद्धान्त को मानते और पालन करते रहे हैं। आज से छह हजार वर्षों के पहले से ही शाकाहार की श्रेष्ठता को मानते रहे हैं।[98]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है, कि जैन दर्शन के सिद्धान्त अति प्राचीन ही नहीं वरन् अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र में प्रसारित थे।

2. अजितनाथ जी :

भगवान ऋषभदेव के मोक्ष गमन के बहुत समय पश्चात् द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ जी हुए। दोनों तीर्थंकरों के निर्वाण का अन्तरकाल पचास लाख कोटि सागरोपम का था।[99]

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में अयोध्या के महाराजा इक्ष्वाकुवंशीय, काश्यपगोत्री जितशत्रु एवं महारानी विजया के पुत्र रत्न के रूप में अजितनाथ ने जन्म लिया। उनके गर्भ में आते ही महारानी विजयसेना ने चौदह स्वप्न देखे। उनके संपूर्ण गर्भकाल में महाराजा जितशत्रु अपने शत्रुओं द्वारा अजेय माने गये, अतः प्रभु का नाम अजित रखा गया। महारानी विजय सेना ने माघ मास के शुक्लपक्ष की दशमी के दिन प्रजेश योग में तीर्थंकर भगवान को जन्म दिया। जन्म होते ही सुन्दर स्वर्ण रंग के शरीर वाले प्रभु को 64 इन्द्रादि देव मेरु पर्वत पर ले गए और वहाँ उनका जन्माभिषेक महोत्सव किया गया। भगवान अजितनाथ की आयु 72 लाख पूर्व की थी तथा 450 धनुष का देहमान था।[100]

भगवान अजितनाथ ने बाह्य एवं आभ्यान्तर के समस्त शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली थी। जब उनकी आयु का चतुर्थांश बीत गया, तब उनका राज्याभिषेक किया गया। एक लाख पूर्व कम अपनी आयु के तीन भाग तथा एक पूर्वांग तक उन्होंने सूर्य से भी अधिक तेजस्वी राजा की भाँति राज्य किया। उसके पश्चात् अपने पुत्र अजितसेन का राज्याभिषेक करके, स्वयं राज्य से विरक्त होकर एक वर्ष तक वर्षीदान दिया। उसके पश्चात् माघ शुक्ला नवमी के दिन रोहिणी नक्षत्र को सहेतुक वन में

सप्तपर्ण वृक्ष के समीप जाकर सायंकाल के समय एक हजार अनुगामी राजाओं के साथ पंचमुष्ठि लोच करके दीक्षा धारण की। उसी समय वे मनः पर्याय ज्ञान से सम्पन्न हो गए।[45]

दीक्षा : दीक्षा के पश्चात् अजितनाथ जी को सातावेदनीय पुण्यबन्ध के कारण भिक्षादि सहज ही मिल जाती थी। प्रभु बारह वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में रहे। उसके पश्चात् पौष शुक्ला एकादशी को शाम को रोहिणी नक्षत्र में केवलज्ञान प्राप्त कर प्रभु अजितनाथ जी सर्वज्ञ हो गए।[46]

धर्म परिवार : तीर्थंकर अजितनाथ जी के सिंहसेन आदि नब्बे गणधर थे। तीन हजार सातसौ पचास पूर्वधारी, इक्कीस हजार छह सौ शिक्षक, नौ हजार चार सौ अवधिज्ञानी, बीस हजार केवलज्ञानी, बीस हजार चार सौ विक्रिया ऋद्धि वाले, बारह हजार चार सौ पचास मनः पर्ययज्ञानी और बारह हजार चार सौ अनुत्तरवादी थे। इस प्रकार सब मिलाकर एक लाख तपस्वी थे। प्रकुब्जा आदि तीन लाख बीस हजार आर्यिकाएँ थी, तीन लाख श्रावक थे तथा पाँच लाख श्राविकाएँ थीं।[47]

निर्वाण : अजितनाथ जी न तो पापों से जीते जाते हैं, न ही प्रतिवादियों से जीते जाते हैं। वे अपने नाम के अनुरूप ही अजित थे। इस प्रकार जन-जन के स्तुत्य प्रभु केवलज्ञान प्राप्ति के पश्चात् समस्त आर्यक्षेत्र में विचरण करते हुए, अन्त में सम्मेदशिखर पर पहुँचकर एक मास तक वहीं रहे तथा शुक्लध्यान के आश्रय से असंख्यात कर्म-प्रकृतियों की निर्जरा की। इस प्रकार चैत्रशुक्ला पंचमी के दिन जबकि चन्द्रमा रोहिणी नक्षत्र पर था, प्रातः काल के समय प्रतिमायोग धारण करके भगवान अजितनाथ जी ने मोक्ष प्राप्त किया।[48]

सगर चक्रवर्ती : द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ के तीर्थकाल में ही दूसरा चक्रवर्ती सगर हुआ। अयोध्या नगर में ही इक्ष्वाकुवंशीय राजा समुद्रविजय तथा रानी सुबला के सगर नाम का पुत्र हुआ। उसकी आयु सत्तर लाख पूर्व की थी। वह चार सौ पचास धनुष ऊँचा था, सब लक्षणों से परिपूर्ण था, लक्ष्मीमान था तथा सुवर्ण के समान कान्ति से युक्त था। उसके अठारह लाख पूर्व कुमार अवस्था में व्यतीत हुए। उसके पश्चात् महामण्डलेश्वर का पद प्राप्त हुआ। उसके बाद इतना ही काल बीत जाने पर छह खण्डों की पृथ्वी पर विजय दिलाने में समर्थ चक्र रत्न प्रकट हुआ। तत्पश्चात् प्रथम चक्रवर्ती भरत के समान ही सगर ने भी चिरकाल तक दिग्विजय किया और चक्रवर्ती सम्राट बना। फिर अनेक वर्षों तक निर्विघ्न चक्रवर्ती साम्राज्य लक्ष्मी का भोग किया। सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्र थे।[49] राजा भगीरथ उनका पौत्र था, जिसने सगर के पुत्रों को जीवित करने के लिए गंगा को पृथ्वी पर लाने का अद्वितीय कार्य किया था। इसका उल्लेख वैदिक दर्शन में भी मिलता है।

अंत में सगर अपने पुत्रों सहित दीक्षा धारण करके, यथा विधि तपस्या करके

सम्मेदशिखर पर जाकर शुक्लध्यान धारण करके मोक्षगामी हुए।

3. संभवनाथ जी :

तीसरे तीर्थंकर संभवनाथ जी हुए। जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में श्रावस्ती नगर के राजा दृढ़राज्य तथा उनकी महारानी सुषेणा के यहाँ तीर्थंकर संभवनाथजी का जन्म हुआ। महारानी सुषेणा ने फाल्गुन शुक्ल अष्टमी के दिन प्रातःकाल मृगशिरा नक्षत्र में पुण्योदय से चौदह महा स्वप्न देखे और अन्त में सुमेरुपर्वत के शिखर के समान आकार वाला शुभलक्षणा हस्ती को मुख में प्रवेश करते देखा। उसी दिन संभवनाथजी का जीव माता के गर्भ में आया। नौवें माह में कार्तिक शुक्ला पूर्णमासी के दिन मृगशिरा नक्षत्र, सौम्य योग में तीन ज्ञानों से युक्त संभवनाथ जी का जन्म हुआ और देवों ने सुमेरुपर्वत पर ले जाकर उनका जन्माभिषेक करके संभवनाथ नामकरण किया।[२७]

द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ तथा संभवनाथ जी के निर्वाण का अन्तरकाल तीस लाख कोटि सागरोपम था। उनकी आयु साठ लाख पूर्व की थी। उनका शरीर चार सौ धनुष ऊँचा था। उनकी आयु का एक चौथाई भाग बीत जाने पर उन्हें राज्य का सुख प्राप्त हुआ। साम्राज्य भोग करते 44 लाख पूर्व और चार पूर्वांग व्यतीत होने पर उन्हें वैराग्य हुआ। दीक्षा पर्याय चार पूर्वांग (336 लाख वर्ष) कम एक लाख पूर्व की थी।[२८]

संभवनाथ जी को दीक्षा लेते ही मनः पर्याय ज्ञान हो गया। उसके पश्चात् वे 14 वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में विचरण करते रहे। उसके पश्चात् शाल्मली वृक्ष के नीचे कार्तिक कृष्णा चतुर्थी को शाम के समय मृगशिरा नक्षत्र में उन्हें अनन्त चतुष्टय रूप केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई।[२९]

धर्म परिवार : तीर्थंकर संभवनाथ जी के चारुषेण आदि 105 गणधर थे। 2150 पूर्वधारी थे, एक लाख उन्तीस हजार तीन सौ शिक्षक थे। नौ हजार छह सौ अवधिज्ञानी तथा पन्द्रह हजार केवलज्ञानी थे। उन्नीस हजार आठ सौ विक्रिया ऋद्धि के धारक थे तथा बारह हजार एक सौ पचास मनः पर्ययज्ञानी उनकी सभा में थे। वे बारह हजार वादियों सहित कुल दो लाख श्रमण सम्पदा से युक्त थे। धर्मार्या आदि तीन लाख बीस हजार आर्यिकाएँ थीं। तीन लाख श्रावक तथा पाँच लाख श्राविकाएँ थीं। असंख्य देवी-देवता तथा संख्यात तिर्यंच भी उनकी बारह प्रकार की धर्मसभाओं में सम्मिलित थे।[३०]

निर्वाण : जब आयु का एक माह अवशेष रहा तब प्रभु संभवनाथ ने सम्मेदशिखर पर जाकर एक हजार राजाओं के साथ प्रतिमायोग धारण कर लिया। चैत्रमास के शुक्ल पक्ष की षष्ठी के दिन सायंकाल में प्रभु ने अपने अघातिया कर्म चतुष्टय का क्षय करके मोक्ष प्राप्त किया।[३१]

4. अभिनन्दन जी :

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में अयोध्यापति इक्ष्वाकुवंशी काश्यपगौत्री संवर राजा तथा उनकी सिद्धार्था पटरानी के पुत्र अभिनन्दन जी चौथे तीर्थंकर हुए। माघ मास के शुक्ल पक्ष की द्वादशी के दिन अदिति योग में प्रभु का जन्म हुआ। पचास लाख पूर्व उनकी आयु थी, साढ़े तीन सौ धनुष ऊँचा शरीर था। सुवर्ण की कांति के धारक थे। तीसरे तीर्थंकर संभवनाथ जी तथा अभिनन्दन जी के निर्वाण का अन्तराल दस लाख करोड़ सागरोपम था।

अभिनन्दन जी साढ़े बारह लाख पूर्व कुमार अवस्था में रहे। उसके पश्चात् उनके पिताश्री ने उन्हें साम्राज्य सौंप दिया।[206] उन्होंने साढ़े छत्तीस लाख पूर्व तक सुख पूर्वक *साम्राज्य लक्ष्मी का उपभोग किया। उसके पश्चात् उनकी आयु के आठ पूर्वांग* शेष रहे तब उन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ। अतः जितेन्द्रिय भगवान ने माघ शुक्ला द्वादशी के दिन सायंकाल में एक हजार राजाओं के साथ अग्रउद्यान में जिन-दीक्षा धारण की। उसी समय उन्हें मनःपर्यय ज्ञान हो गया।[207]

अभिनन्दन जी दीक्षा के पश्चात् 18 वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में मौनपूर्वक रहे। उसके पश्चात् पौष शुक्ला चतुर्दशी के दिन शाम के समय सातवें पुनर्वसु नक्षत्र में उन्हें असन वृक्ष के नीचे दीक्षावन में ही केवलज्ञान प्राप्त हुआ।[208]

धर्म परिवार : केवलज्ञान के पश्चात् तीर्थंकर अभिनन्दन जी ने चतुर्विध संघ की स्थापना की। उसमें वज्रनाभि आदि एक सौ तीन गणधर, दो हजार पाँच सौ पूर्वधारी, दो लाख तीस हजार पचास शिक्षक, नौ हजार आठ सौ अवधिज्ञानी, सोलह हजार केवलज्ञानी, उन्तीस हजार विक्रिया ऋद्धि के धारक, ग्यारह हजार छह सौ पचास मनः पर्ययज्ञानी और ग्यारह हजार प्रचण्ड वादी थे। इस प्रकार उनके 3 लाख की श्रमण संपदा थी। मेरुषेणा आदि तीन लाख तीस हजार छह सौ आर्यिकाएँ उनके शासन में थीं। तीन लाख श्रावक तथा पाँच लाख श्राविकाएँ उनकी स्तुति करते थे।[209]

निर्वाण : *केवलज्ञान के पश्चात् प्रभु समस्त आर्यावर्त में* दूर-दूर तक धर्म प्रचार करते हुए लम्बे समय तक विचरण करते रहे। अन्त में सम्मेदगिरि पर जाकर वहाँ एक मास तक ध्यानारुढ़ हुए। वहीं वैशाख शुक्ला षष्ठी के दिन प्रातःकाल पुनर्वसु नक्षत्र में अनेक मुनियों के साथ मोक्ष रूप परमद को प्राप्त किया।[210]

5. सुमतिनाथ जी :

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में अयोध्या के राजा मेघरथ तथा उनकी पटरानी मंगला के पुत्र के रूप में तीर्थंकर सुमतिनाथ जी का जन्म हुआ। चैत्र माह के शुक्ल पक्ष की एकादशी के दिन चित्रा नक्षत्र तथा पितृ योग में तीन ज्ञान से युक्त प्रभु सुमतिनाथ जी का जन्म हुआ। 64 इन्द्रों ने बालक का सुमेरु पर्वत पर जन्माभिषेक करके उनका

नामकरण सुमति किया।[211]

अभिनन्दन स्वामी तथा सुमतिनाथ जी के निर्वाण का अन्तरकाल नौ लाख करोड़ सागरोपम का था। सुमतिनाथ जी की आयु चालीस लाख पूर्व की थी शरीर की ऊँचाई तीन सौ धनुष थी तथा स्वर्ण कान्ति वाले थे। दीक्षा पर्याय द्वादश पूर्वांक (दस करोड़ आठ लाख वर्ष) कम एक लाख पूर्व की होगी।[212]

सुमतिनाथ जी के कुमार-काल के दस लाख पूर्व बीत जाने पर उनका राज्याभिषेक किया गया। राज्य करते हुए उन्तीस लाख पूर्व और बारह पूर्वांक बीत जाने पर उन्होंने दीक्षा धारण की। भगवान ने वैशाख सुदी नवमी को मघा नक्षत्र में सहेतुक वन में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा ली। उन्होंने छद्मस्थ अवस्था में 20 वर्ष बिताए। फिर चैत्र शुक्ला एकादशी को सूर्यास्त के समय केवलज्ञान हुआ।[213]

धर्म - परिवार : सुमतिनाथ भगवान के सात ऋद्धियों के धारक अमर आदि एक सौ सोलह गणधर थे। दो हजार चार सौ पूर्वधारी उनके साथ रहते थे। दो लाख चौपन हजार तीन सौ पचास शिक्षकों के साथ थे, ग्यारह हजार अवधिज्ञानी थे, तेरह हजार केवलज्ञानी तथा अठारह हजार चार सौ विक्रिया ऋद्धि के धारण करने वाले, दस हजार चार सौ पचास मनः पर्ययज्ञानी थे। बीस हजार दो सौ चौरासी वादी थे। इस प्रकार कुल तीन लाख बीस हजार मुनि उनके संघ को सुशोभित कर रहे थे। अनन्तमती आदि तीन लाख तीस हजार आर्यिकाएँ उनकी अनुगामिनी थीं। तीन लाख श्रावक और पाँच लाख श्राविकाएँ उनके अनुयायी थे।

निर्वाण : केवलज्ञान के पश्चात 18 क्षेत्रों में तीर्थंकर सुमतिनाथजी ने विहार करके धर्म प्रचार किया। जब आयु का 1 मास शेष रहा तब उन्होंने सम्मेद शिखर पर जाकर एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया। वहीं चैत्र शुक्ला एकादशी के दिन मघा नक्षत्र में शाम के समय प्रभु ने निर्वाण प्राप्त किया।[214]

6. पद्मप्रभुजी :

जम्बूद्वीप की कौशाम्बी नगरी में इक्ष्वाकु वंशी काश्यपगोत्री धर नामक एक बड़े राजा हुए। उनकी सुसीमा नाम की पटरानी ने चौदह स्वप्न देखे। नौ मास पश्चात कार्तिक मास की कृष्ण पक्ष की त्रयोदशी के दिन लाल कमल की आभा वाले पुत्र को जन्म दिया। इन्द्रों ने मेरु शिखर पर ले जाकर क्षीर सागर के जल से उनका जन्माभिषेक किया। पद्म (कमल) के समान आभा के कारण उनका नामकरण पद्मप्रभु किया गया। सुमतिनाथ और पद्मप्रभु के निर्वाण का अन्तरकाल नब्बे हजार कोटि सागरोपम था। पद्मप्रभु की आयु तीस लाख पूर्व की थी, देह दो सौ पचास धनुष ऊँची थी।[215]

पद्मप्रभु की आयु का जब एक चौथाई भाग पूर्ण हुआ तो उनका राज्याभिषेक

किया गया। अनेक वर्षों तक राज्यलक्ष्मी का भोग करने के पश्चात् कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी के दिन शाम को चित्रा नक्षत्र में पद्मप्रभुजी ने मनोहर वन में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा धारण की। छह माह तक मौनपूर्वक छद्मस्थ अवस्था में विचरण करते हुए कर्म निर्जरा की। उसके पश्चात् चैत्र शुक्ला पूर्णमासी के दिन चित्रा नक्षत्र में क्षपक श्रेणी पर आरुढ़ होकर प्रभु ने केवलज्ञान प्राप्त किया और चार घातिया कर्मों का नाश किया।[16]

धर्म परिवार : पद्मप्रभु के 110 गणधर थे। 2300 पूर्वधारी थे, 2,69,000 शिक्षक थे 10,000 अवधिज्ञानी थे तथा 12,000 केवलज्ञानी थे 16,800 विक्रिय ऋद्धिधारी थे, 10,300 मनः पर्यायज्ञानी थे तथा 9,600 वादी थे। इस प्रकार सब मिलाकर 3,30,000 मुनि सम्पदा थी। रात्रिषेणा आदि 4,20,000 आर्यिकाएँ थीं 3,00,000 श्रावक तथा 5,00,000 श्राविकाएँ थी। असंख्यात देव-देवियाँ तथा संख्यात तिर्यंच भी उनकी सेवा में थे।[17]

निर्वाण : केवलज्ञान के पश्चात् अनेक वर्षों तक भव्य जीवों को प्रशस्त मोक्ष मार्ग दिखाते रहे। पद्मप्रभु की व्रत (दीक्षा) पर्याय सोलह पूर्वांग (तेरह करोड़ चवालीस लाख बरस) कम एक लाख पूर्व की थी। जब आयु का एक माह शेष रहा तो सम्मेदशिखर पर जाकर एक हजार राजाओं के साथ प्रतिमायोग धारण किया। फाल्गुन कृष्ण चतुर्थी के दिन शाम के समय चित्रा नक्षत्र में चतुर्थ शुक्ल ध्यान धारण करके प्रभु मोक्षगामी हुए।[18]

7. सुपार्श्वनाथजी :

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के वाराणसी नगर के राजा सुप्रतिष्ठ इक्ष्वाकु वंशीय एवं काश्यप गोत्रीय थे। उनकी रानी पृथ्वीषेणा ने ज्येष्ठशुक्ला द्वादशी के दिन अग्निमित्र नामक शुभ योग में तीर्थंकर सुपार्श्व को जन्म दिया। उनकी देह की कान्ति, स्वर्ण जैसी थी, आयु बीस लाख पूर्व की थी और शरीर की ऊँचाई दो सौ धनुष थी। दीक्षा पर्याय बीस लाख पूर्वांग (16 करोड़ 80 लाख वर्ष) कम एक लाख पूर्व थी। छठे तीर्थंकर पद्मप्रभु जी तथा सातवें सुपार्श्वनाथजी के निर्वाण का अन्तरकाल नौ हजार करोड़ सागरोपम था।[19]

कुमार सुपार्श्व पाँच लाख पूर्व का कुमार काल व्यतीत करने के पश्चात राजा बने और अनेक वर्षों तक सुखपूर्वक साम्राज्य किया। उनकी आयु बीस पूर्वांग कम एक लाख वर्ष शेष रह गई तब उन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ। तब सुपार्श्वनाथजी ने ज्येष्ठशुक्ला द्वादशी को सायंकाल में विशाखा नक्षत्र में सहेतुक वन में जाकर 1 हजार राजाओं के साथ दीक्षा के पश्चात् छद्मस्थ अवस्था में नौ वर्ष तक मौन रहे। उसके पश्चात सहेतुक वन में ही फाल्गुन कृष्णा षष्ठी के दिन सायंकाल में विशाखा नक्षत्र में प्रभु को केवलज्ञान हुआ।[20]

धर्म-परिवार : सुपार्श्वनाथ भगवान के 95 गणधर थे। दो हजार तीस पूर्वधारी थे, दो लाख चवालीस हजार नौ सौ बीस शिक्षक थे, नौ हजार अवधीज्ञानी थे, ग्यारह हजार केवलज्ञानी थे, पन्द्रह हजार तीन सौ विक्रिया ऋद्धि के धारक थे, नौ हजार एक सौ पचास मनः पर्ययज्ञानी और आठ हजार छह सौ वादी उनके अनुगामी थे। इस प्रकार वे तीन लाख साधुओं के स्वामी थे। उनकी अनुगामी तीन लाख तीस हजार आर्यिकाएँ थीं। तीन लाख श्रावक और पाँच लाख श्राविकाएँ थीं। असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यात् तिर्यंच उनकी वन्दना करते थे।[221]

निर्वाण : भगवान सुपार्श्वनाथजी की आयु का जब एक माह शेष रह गया, तब उन्होंने सम्मेदशिखर पर जाकर एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण किया और फाल्गुन कृष्णा सप्तमी के दिन विशाखा नक्षत्र में सूर्योदय के समय मोक्षगामी हुए।[222]

8. चन्द्रप्रभुजी : जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में चन्द्रपुर नामक नगर था। वहाँ के राजा इक्ष्वाकु वंशीय काश्यपगौत्रीय महासेन थे। उनकी रानी लक्ष्मणा ने एक रात्रि में चौदह महास्वप्न देखे। सुखपूर्वक गर्भकाल को पूर्णकर माता लक्ष्मणा ने पौष कृष्णा एकादशी के दिन शक्रयोग में अनुराधा नक्षत्र में अर्धरात्रि में पुत्ररत्न को जन्म दिया।[223] देव-देवेन्द्रों ने अति-पाण्डु-कम्बल-शिला पर प्रभु का जन्माभिषेक किया और पुनः लाकर माता के पास सुला दिया।

महाराज महासेन ने जन्म महोत्सव के बारहवें दिन नामकरण के लिए सभी को आमन्त्रित करके कहा, "बालक की माता ने गर्भकाल में चन्द्रमा का दोहन पूर्ण किया और इस बालक के शरीर की प्रभा भी चन्द्रमा जैसी है, अतः इसका नाम चन्द्रप्रभ रखा जाता है।" चन्द्रप्रभु जी आठवें तीर्थंकर हुए। उनकी कान्ति सफेद, आयु दस लाख पूर्व की, काया डेढ़ सौ धनुष ऊँची और व्रत पर्याय चौबीस पूर्वांग (दो करोड़ सौलह लाख वर्ष) कम एक लाख पूर्व की हुई। सुपार्श्वनाथजी और चन्द्रप्रभुजी के निर्वाणकाल का अंतर नौ सौ कोटि सागरोपम का हुआ।[224]

चन्द्रप्रभुजी के दो लाख पचास हजार पूर्व व्यतीत होने पर कुमार अवस्था में उनका राज्याभिषेक हुआ।[225] कौमार्यावस्था में यथा समय उनका विवाह हुआ। अनेक वर्षों तक साम्राज्य भोग के पश्चात् लौकान्तिक देवों द्वारा प्रतिबुद्ध किये जाने पर महाराज चन्द्रप्रभ ने वरचन्द्र नामक पुत्र का राज्याभिषेक करके उसे राज्य सौंप दिया। उसके पश्चात् दीक्षाकल्याणक की पूजा करके देवों के द्वारा लायी गयी विमला पालकी में बैठकर सर्वर्तुक वन में जाकर दो दिन उपवास करने के पश्चात् पौषकृष्णा एकादशी के दिन अनुराधा नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ निर्ग्रंथ दीक्षा अंगीकार की।[226]

केवलज्ञान : दीक्षा के दूसरे दिन ही उन्हें मनः पर्यायज्ञान प्राप्त हो गया। समस्त पदार्थों में माध्यस्थ भाव रखते हुए वे जिन-कल्प-मुद्रा में तीन माह व्यतीत कर दीक्षा

वन में नागवृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर स्थित हुए। वहीं फाल्गुन कृष्ण सप्तमी को सायंकाल में अनुराधा नक्षत्र में परमाभाव सम्यग्दर्शन, अन्तिम यथाख्यात चारित्र, क्षायिक ज्ञान को प्राप्त करके सयोगी केवली जिनेन्द्र हो गए। उस समय वे सर्वज्ञ, समस्त लोक के स्वामी सबका हित करने वाले, इन्द्रों द्वारा वन्दनीय, सर्वदर्शी, सब पदार्थों का उपदेश करने वाले थे। चौंतीस अतिशयों और आठ प्रतिहार्यों द्वारा उनका तीर्थंकर नामकर्म का वैभव प्रकट हो रहा था। समस्त दिशाओं को प्रकाशित करती हुई उनकी कान्ति ऐसी लगती थी मानो केवलज्ञान की प्रभा ही प्रकाशमान हो।[227]

धर्म परिवार : भगवान चन्द्रप्रभु जी 12 सभाओं से सेवित थे। उनके 93 गणधर थे, दो हजार पूर्वधारी थे, आठ हजार अवधिज्ञानी थे, दो लाख चार सौ शिक्षक थे, दस हजार केवलज्ञानी थे, चौदह हजार विक्रिया ऋद्धि धारक मुनि थे, आठ हजार मनः पर्ययज्ञानी थे तथा सात हजार छः सौ वादी थे। इस प्रकार सब मुनियों की संख्या ढ़ाई लाख थी। वरुणा आदि तीन लाख अस्सी हजार आर्यिकाएँ उनकी अनुगामिनी थीं, तीन लाख श्रावक तथा पाँच लाख श्राविकाएँ उनके अनुयायी थे। वे असंख्यात देव-देवियों से स्तुत्य थे और संख्यात तिर्यंच उनकी सेवा करते थे।[228]

निर्वाण : चन्द्रप्रभु जी ने समस्त आर्यावर्त में विहार कर धर्म-प्रवर्तन किया। अन्त में सम्मेदशिखर पर जाकर विहार बन्द कर दिया। वहाँ धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति पूर्वक उन्होंने एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण किया और एक माह तक सिद्धशिला पर आरुढ़ रहे। फाल्गुन शुक्ला सप्तमी के दिन ज्येष्ठा नक्षत्र में सायंकाल के समय योग-निरोध कर चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त कर सिद्ध-बुद्ध मुक्त हो गए। ऐसे अष्ट कर्मों का क्षय करके चन्द्रप्रभ स्वामी मोक्ष-लक्ष्मी से संपन्न हो सबके वन्दनीय हो गए।[229]

९. सुविधिनाथ जी :

नवमें तीर्थंकर सुविधिनाथ जी का नाम पुष्पदन्त भी था।[230] जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के काकन्दी नगर में इक्ष्वाकु वंशीय काश्यपगोत्री क्षत्रिय राजा सुग्रीव का राज्य था। उनकी पटरानी रामादेवी ने फाल्गुन कृष्ण नवमी के दिन प्रभातकाल में मूल नक्षत्र में चौदह महास्वप्न देखे। तभी प्रभु सुविधिनाथ जी माता के गर्भ में आए। यथासमय मार्गशीर्ष शुक्ला प्रतिपदा के दिन जैत्रयोग में प्रभु का जन्म हुआ। कुन्दपुष्प की कान्ति से सुशोभित होने से उनका नाम पुष्पदन्त रखा गया।[231]

नवमें तीर्थंकर भगवान पुष्पदन्त जी की कांति श्वेत थी, आयु दो लाख पूर्व थी, काया एक सौ धनुष और व्रत पर्याय अठाईस पूर्वांग (तेइस करोड़ बावन लाख वर्ष) कम एक लाख पूर्व की थी। चंद्रप्रभु जी तथा पुष्पदन्तजी के निर्वाणकाल का अंतर नब्बे कोटि सागरोपम का था।[232]

पुष्पदन्तजी ने पचास हजार पूर्व की आयु तक कुमार अवस्था के सुख भोगे।

उसके पश्चात् महाराज सुग्रीव ने उनका विवाह करके राज्याभिषेक कर दिया। पचास हजार पूर्व और अट्ठाईस पूर्वांग तक वे सुखपूर्वक राज्य करते रहे। एक दिन उल्कापात देखकर उनको आत्मज्ञान हो गया और उन्होंने राज्यलक्ष्मी का त्याग कर दिया। अपने पुत्र सुमति का राज्याभिषेक करके दीक्षा अंगीकार कर ली। सूर्यप्रभा नामक पालकी में बैठकर वे पुष्पकवन में गए और मार्गशीर्ष के शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के दिन सायंकाल में बेला का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ दिक्षित हो गए। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्यय ज्ञान हो गया।[33]

केवलज्ञान : सुविधिनाथ जी दीक्षा के पश्चात् चार वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में तपस्या करते हुए विचरण करते रहे। उसके पश्चात कार्तिक शुक्ला द्वितीया के दिन सायंकाल के समय मूल नक्षत्र में दो दिन का उपवास लेकर नागवृक्ष के नीचे ध्यान में स्थित हुए। वहीं उन्होंने चार घातिया कर्मों को नष्ट करके अनन्तचतुष्टय रूप केवलज्ञान को प्राप्त किया।[34]

धर्म-परिवार : भगवान सुविधिनाथजी के सात ऋद्धियों को धारण करने वाले 88 गणधर थे, 1500 श्रुतकेवली थे, 1,55,500 शिक्षक थे, 8400 अवधिज्ञानी थे, 7000 केवलज्ञानी और 13000 विक्रिया ऋद्धिधारक थे, 7500 मनः पर्ययज्ञानी और 6600 वादी थे। इस प्रकार सब मिलाकर 2 लाख श्रमण उनकी आज्ञा में विचरते थे। घोषार्या आदि 3 लाख 80 हजार आर्यिकाएँ उनके तीर्थ में थीं। 2 लाख श्रावक तथा 5 लाख श्राविकाएँ उनके अनुगामी थे। असंख्यात् देव तथा संख्यात तिर्यंच उन्हें वन्दना करते थे।[35]

निर्वाण : इस प्रकार 12 सभाओं से पूजित भगवान सुविधिनाथजी आर्य देशों में विहार करते हुए अन्त में सम्मेद शिखर पहुँचे। वहाँ वे भाद्रशुक्ला अष्टमी के दिन मूल नक्षत्र में सायंकाल के समय योग निरोध करके एक हजार मुनियों के साथ मोक्षगामी हुए।[36]

10. शीतलनाथ जी :

जम्बूद्वीप भरतक्षेत्र में मलय नाम देश में भद्रपुर नगर में इक्ष्वाकु वंशीय राजा दृढ़रथ राज्य करते थे। उनकी महारानी सुनन्दा ने चैत्रकृष्ण अष्टमी के दिन पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में रात्रि के अन्तिम प्रहर में चौदह स्वप्न देखे, तभी प्रभु शीतलनाथ जी माता के गर्भ में अवतीर्ण हुए। नवमाह व्यतीत होने पर माघ कृष्णा द्वादशी के दिन विश्व योग में प्रभु ने जन्म लिया। देवेन्द्रों ने सुमेरु पर्वत पर ले जाकर उनका महा अभिषेक किया और शीतलनाथ नामकरण किया।[37]

शीतलनाथ जी का वर्ण सोने जैसा था और शरीर नब्बे धनुष का था। उनकी आयु एक लाख पूर्व और दीक्षा पर्याय पच्चीस हजार पूर्व थी। सुविधिनाथजी और

शीतलनाथजी के निर्वाण का अन्तरकाल नौ कोटि सागरोपम था।[238]

कुमार शीतलनाथ के आयु का चतुर्थ भाग व्यतीत होने पर उनका विवाह करके उनका राज्याभिषेक किया गया। आयु का चतुर्थ भाग शेष रहने तक उन्होंने सुखपूर्वक शासन किया। फिर एक दिन जंगल में भ्रमण के दौरान देखा, कि थोड़ी देर पहले जो पाले का समूह समस्त पदार्थों को आवृत किए हुए था वह नष्ट हो गया। यहीं पदार्थों की क्षणभंगुरता देख उन्हें आत्मज्ञान हो गया। तब अपने पुत्र को साम्राज्य सौंपकर शीतलनाथजी शुक्रप्रभा नामक पालकी में बैठकर सहेतुक वन में गये। वहाँ उन्होंने माघकृष्णा द्वादशी के दिन सायंकाल के समय पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में दो उपवास का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ संयम धारण किया।[239]

केवलज्ञान : दीक्षा के पश्चात मुनि शीतलनाथ जी 3 वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में रहे। तब वे एक दिन बेल के वृक्ष के नीचे दो दिन के उपवास का नियम लेकर ध्यानस्थ हुए। तब पौषकृष्णा चतुर्दशी के दिन पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में सायंकाल के समय केवलज्ञान प्राप्तकर भगवान शीतलनाथ 10वें तीर्थंकर बने।[240]

धर्म-परिवार : भगवान शीतलनाथजी के धर्मपरिवार में 81 गणधर थे। 1400 पूर्वधारी थे, 59200 शिक्षक थे, 7200 अवधिज्ञानी थे, 7000 केवलज्ञानी थे, 12000 विक्रिया ऋद्धिधारी मुनि थे, 7500 मनः पर्ययज्ञानी थे। इस प्रकार सब मुनियों की संख्या 1 लाख थी। धारणा आदि 1 लाख 80 हजार आर्यिकाएँ थी। 2 लाख श्रावक तथा 3 लाख श्राविकाएँ उनकी अनुयायी थे। असंख्यात देव तथा संख्यात तिर्यंच भी उनकी सेवा करते थे।[241]

निर्वाण : असंख्यात देशों में विहार करते हुए भगवान शीतलनाथजी आयु के एक माह शेष रहने पर सम्मेदशिखर पहुंचे। वहाँ उन्होंने एक माह का योग-निरोध कर प्रतिमायोग धारण किया और एक हजार मुनियों के साथ आश्विन शुक्ला अष्टमी के दिन सायंकाल के समय पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में समस्त कर्मों को नष्ट करके मोक्षगामी हुए।[242]

11. श्रेयांसनाथजी :

इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में सिंहपुर नगर में इक्ष्वाकुवंशी विष्णु राजा का राज्य था। उनकी महारानी सुनन्दा ने एक बार ज्येष्ठ कृष्णा षष्ठी के दिन श्रवण नक्षत्र में प्रातःकाल चौदह स्वप्न देखे तथा अपने मुख में प्रवेश करता हुआ हाथी देखा। उसी समय श्रेयांसनाथ जी ने माता के गर्भ में प्रवेश किया। यथासमय नौ माह पश्चात् फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन विष्णुयोग में तीन ज्ञान के धारक प्रभु श्रेयांसकुमार का जन्म हुआ। राज्य में चारों ओर सुख शान्ति छा गई। देवों ने पंचम क्षीर सागर से जल लाकर सुमेरु पर्वत पर उनका अभिषेक करके प्रभु को पुनः माता के पास सुला

दिया। तभी उनका नाम श्रेयांसकुमार रखा गया।[243]

श्रेयांसकुमार जी का वर्ण सोने जैसा तथा काया अस्सी धनुष की थी। उनकी आयु चौरासी लाख वर्ष की और व्रत पर्याय इक्कीस लाख वर्ष की थी। शीतलनाथजी और श्रेयांसनाथजी के निर्वाण का अन्तरकाल छत्तीस हजार छियासठ लाख तथा सौ सागरोपम कम एक करोड़ सागरोपम का था।[244]

श्रेयांसकुमार इक्कीस लाख वर्ष की आयु के हुए तब उनका विवाह करके उनके पिता ने उन्हें राज्य भार सौंप दिया। उसके पश्चात उन्होंने बयालीस लाख वर्ष तक राज्य किया। तब एक दिन वसन्त ऋतु परिवर्तन के निमित्त से उन्हें वैराग्य हुआ और वे अपने पुत्र को राज्यभार सौंपकर दीक्षा के लिए उद्यत हुए। विमलप्रभा नामकी पालकी में बैठकर मनोहर नामक उद्यान में गए। वहाँ उन्होंने बेले का नियम लेकर फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन प्रातःकाल के समय श्रवण नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ संयम धारण किया। उसी समय उन्हें चौथा मनः पर्यय ज्ञान उत्पन्न हो गया।[245]

केवल ज्ञान : दीक्षा के पश्चात् श्रेयांसनाथ जी ने छद्मस्थ अवस्था में दो वर्ष व्यतीत किए। तब एक दिन मनोहर उद्यान में ही दो दिन के उपवास का नियम लेकर तुम्बुर वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हुए। वहीं पर उन्हें माघ कृष्णा अमावस्या के दिन श्रवण नक्षत्र में सायंकाल के समय केवलज्ञान हुआ।[246]

धर्म परिवार : भगवान श्रेयांसनाथ के कुन्थु आदि सत्तर गणधर थे। तेरह सौ पूर्व धारियों से सहित थे, अड़तालीस हजार दो सौ शिक्षक थे, छह हजार अवधिज्ञानी थे, छह हजार पाँच सौ केवलज्ञानी थे, ग्यारह हजार विक्रिया ऋद्धि के धारक थे, छह हजार मनः पर्यय ज्ञानी थे और पांच हजार वादी थे। इस प्रकार सब मिलाकर चौरसी हजार मुनि उनकी आज्ञा में विचरते थे। धारणा आदि एक लाख बीस हजार आर्यिकाएँ थीं। दो लाख श्रावक तथा चार लाख श्राविकाएँ उनके अनुयायी थे। असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यात तिर्यंच उनकी सेवा में रहते थे।[247]

निर्वाण : श्रेयांसनाथ जी अनेक वर्षों तक धर्म प्रचार करते हुए आर्यावर्त में विचरते रहे। अन्त में सम्मेदशिखर जाकर एक माह तक योग निरोध करके एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण किया। श्रावण शुक्ला पूर्णिमा के दिन सायंकाल के समय घनिष्ठा नक्षत्र में विद्यमान कर्मों की निर्जरा करके भगवान श्रेयांसनाथ जी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए।[248]

तीर्थंकर श्रेयांसनाथ जी के काल में ही प्रथम वासुदेव त्रीपृष्ठ हुए थे।

12. वासुपूज्य जी :

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के चम्पानगर में इक्ष्वाकुवंशी काश्यपगौत्री राजा वसुपूज्य का राज्य था। उनकी महारानी जयावती थी। एकदा आषाढ़कृष्ण षष्ठी के दिन

शतभिषा नक्षत्र में रानी जायावती ने चौदह स्वप्न देखे, तभी वासुपूज्य जी ने माता के गर्भ में प्रवेश किया। यथा समय नौवें फाल्गुन माह में कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के दिन वारुण योग में भगवान वासुपूज्य जी का जन्म हुआ।[249]

वासुपूज्य जी के शरीर की कांति लाल थी, आयु बहत्तर लाख वर्ष थी और काया सत्तर धनुष प्रमाण ऊँची थी। उनकी दीक्षा पर्याय चौवन लाख वर्ष थी। श्रेयांसनाथ जी और वासुपूज्यजी के निर्वाण का अन्तरकाल चौवन सागरोपम का था।[250]

वासुपूज्य जी के कुमार काल के आठारह लाख वर्ष बीत जाने पर उन्हें संसार से विरक्ति होने लगी। अतः महाराज वासुपूज्य जी देवों द्वारा लायी हुई पालकी में बैठकर मनोहर उद्यान गये। वहाँ दो उपवास का नियम लेकर फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी के दिन सायंकाल के समय विशाखा नक्षत्र में सामायिक चारित्र ग्रहण कर लिया इसके साथ ही उन्हें मनःपर्यय ज्ञान हो गया। उनके साथ छह सौ छिहत्तर राजाओं ने भी दीक्षा ग्रहण की।[251]

केवल ज्ञान : दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् वासुपूज्य स्वामी एक वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में विचरण करते रहे। तब एक दिन विचरण करते हुए अपने दीक्षावन में पहुँचे और वहाँ कदम्ब के वृक्ष के नीचे बैठकर उपवास का नियम लिया और माघ शुक्ला द्वितीया के दिन सायंकाल के समय विशाखा नक्षत्र में चार घातिया कर्मों को नष्ट करके केवलज्ञान प्राप्त किया।[252]

धर्म परिवार : वासुपूज्य भगवान के धर्म आदि 66 गणधर थे। उनके 1200 पूर्वधारी थे, 39200 शिक्षक थे, 5400 अवधिज्ञानी थे, 6000 केवलज्ञानी थे, 10 हजार विक्रियाऋद्धिधारी थे, 6 हजार मनःपर्ययज्ञानी थे और 4200 वादी थे। इस प्रकार सब मिलकर 72 हजार मुनियों से शोभित थे। सेना आदि 1 लाख 6 हजार आर्यिकाएँ उनकी आज्ञानुवर्तिनी थीं। 2 लाख श्रावक तथा 4 लाख श्राविकाएँ उनके अनुयायी थे। असंख्यात देव-देवियों तथा संख्यात तिर्यंचों से वे स्तुत्य थे।[253]

निर्वाण : भगवान वासुपूज्य जी समस्त आर्यक्षेत्र में विचरण करते रहे। फिर एक हजार वर्ष तक चम्पानगरी में आकर रहे। जब आयु का एक माह शेष रह गया, तो योग निरोध करके रजतमालिका नामक नदी के किनारे मन्दरगिरि के शिखर पर मनोहर उद्यान में पर्यंकासन पर विराजमान हुए तथा भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी को सायंकाल में विशाखा नक्षत्र में 94 मुनियों के साथ मुक्ति को प्राप्त हुए।[254]

13. विमलनाथ जी :

भरत क्षेत्र के काम्पिल्य नगर में भगवान ऋषभदेव के वंशज कृतवर्मा नाम का राजा राज्य करता था। जयश्यामा उनकी पटरानी थी। ज्येष्ठकृष्ण दशमी के दिन रात्रि के पिछले भाग में उत्तराभाद्रपद नक्षत्र के रहते जयश्यामा देवी ने चौदह स्वप्न देखे। उसी समय मुख में प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। तभी भगवान ने माता के गर्भ

में प्रवेश किया। माघ शुक्ला चतुर्थी के दिन अहिर्बुध्न्य योग में महारानी ने पुत्ररत्न को जन्म दिया। देवों ने जन्माभिषेक के पश्चात् बालक का नामकरण विमल वाहन किया।[55]

विमलनाथ जी के शरीर की कांति सोने जैसी थी, काया साठ धनुष ऊँची थी और व्रत पर्याय पन्द्रह लाख वर्ष थी। उनकी आयु साठ लाख वर्ष थी। वासुपूज्य जी और विमलनाथ जी के निर्वाण का अन्तरकाल तीस सागरोपम का था।[56]

कुमार विमलवाहन के पन्द्रह लाख वर्ष की आयु होने पर उनका राज्याभिषेक किया गया। 30 लाख वर्ष पर्यंत वे भौतिक राजसी सुखों का भोग करते रहे। एक दिन समस्त दिशाएँ, भूमि, वृक्ष और पर्वत बर्फ से ढक रहे थे, ऐसी हेमन्त ऋतु में बर्फ की शोभा को तत्क्षण विलीन होते देखा और उन्हें वैराग्य हो गया। उसी समय उन्हें अपने पूर्वभव का भी ज्ञान हो गया। तब विमलनाथ जी देवदत्ता नामकी पालकी पर सवार होकर सहेतुक वन में गए और दो दिन के उपवास का नियम लेकर दिक्षित हो गए। विमलनाथ जी माघ शुक्ला चतुर्थी के दिन सायंकाल के समय उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हुए। उसी दिन उन्हें मनःपर्यय ज्ञान हो गया।[57]

केवलज्ञान : भगवान विमलनाथ जी 3 वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में विचरण करते रहे। तब एक दिन वे अपने दीक्षा वन में पहुँचे, वहाँ उन्होंने दो दिन के उपवास का नियम लेकर जम्बू (जामुन) वृक्ष के नीचे ध्यान किया। फलस्वरूप माघ शुक्ला षष्ठी के दिन सायंकाल के समय उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में भगवान विमलनाथ को अतिशय केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।[58]

धर्म-परिवार : भगवान विमलनाथ जी के मन्दर आदि 55 गणधर थे। ग्यारह सौ पूर्वधारी थे, 36530 शिक्षक थे, 4800 अवधिज्ञानी थे, 5500 केवलज्ञानी थे, 9000 विक्रिया ऋद्धि धारक थे, 5500 मनः पर्यय ज्ञानी थे, 3600 वादी थे। इस प्रकार 68000 मुनि उनकी आज्ञा में विचरते थे। पद्मा आदि 1 लाख 3 हजार आर्यिकाएं थी, 1 लाख श्रावक तथा 4 लाख श्राविकाएँ उनके अनुयायी थे। असंख्यात देव-देवियों एवं संख्यात तिर्यंचों से सेवित थे। प्रभु विमलनाथ जी के शासन काल में ही स्वयंभू नामक वासुदेव और भद्र बलदेव हुए थे।[59]

निर्वाण : भगवान विमलनाथ जी के चार कल्याणक काम्पिल्य नगर में हुए। तथापि पाँचवां कल्याणक सम्मेदशिखर पर हुआ। जीवन का एक माह शेष रहने पर प्रभु ने सम्मेदशिखर पर जाकर योग-निरोध किया। तब आषाढ़ कृष्णा अष्टमी के दिन प्रातः काल उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में क्रिया प्रतिपाति शुक्लध्यान धारण करके 8600 मुनियों के साथ मोक्षगामी हुए। यह दिन विद्वानों में कालाष्टमी के नाम से भी प्रचलित है।[60]

14. अनन्तनाथ जी :

जम्बूद्वीप के दक्षिण भरत क्षेत्र की अयोध्या नगरी में इक्ष्वाकुवंशी काश्यपगौत्री

महाराज सिंहसेन राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम सुयशा था। कार्तिक कृष्णा प्रतिपदा के दिन प्रातःकाल रेवती नक्षत्र में महारानी सुयशा ने चौदह स्वप्न देखे और उसी समय एक हाथी को मुख में प्रवेश करते देखा। उसी समय प्रभु ने माता के गर्भ में प्रवेश किया। नव माह व्यतीत होने पर ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी के दिन पुष्य योग में प्रभु का जन्म हुआ। देवों ने जन्माभिषेक के पश्चात बालक का नाम अनन्तजीत रखा।[62]

भगवान अनन्तनाथजी की देह की कान्ति सुवर्ण जैसी थी, आयु तीस लाख वर्ष की थी तथा काया पचास धनुष प्रमाण थी। उनकी व्रत पर्याय साढ़े सात लाख वर्ष थी। भगवान विमलनाथजी और अनन्तनाथजी के निर्वाण का अन्तरकाल नौ सागरोपम का था।[63]

कुमार अनन्तजीत का सात लाख पचास हजार वर्ष की आयु में राज्याभिषेक हुआ। राज्य करते हुए पन्द्रहलाख वर्ष बीत जाने पर एक दिन उल्कापात देखकर उन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ। तब उन्होंने अपने पुत्र अनन्त विजय को राज्य सौंपकर दीक्षा अंगीकार की। देवों द्वारा तृतीय दीक्षा कल्याणक की पूजा के पश्चात अनन्तनाथ जी सागरदत्त नामक पालकी में बैठकर सहेतुक वन में गए। वहाँ बेला का नियम लेकर ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी के दिन सायंकाल के समय प्रभु एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हुए। उसी समय उन्हें मनः पर्यय ज्ञान हो गया।[64]

केवल ज्ञान : भगवान अनन्तनाथजी दीक्षित होने के पश्चात् दो वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में विचरण करते रहे। एक दिन वे अपने दीक्षा वन में पहुँचे। वहाँ उन्होंने अश्वत्थ-पीपल के वृक्ष के नीचे चैत्र कृष्णा अमावस्या के दिन सायंकाल में रेवती नक्षत्र में ध्यानारूढ़ होकर केवल ज्ञान प्राप्त किया। उसी समय देवों ने चतुर्थ कल्याणक की पूजा की।[65]

धर्म-परिवार : तीर्थंकर अनन्तनाथजी के जय आदि पचास गणधर थे। उनके एक हजार पूर्वधारी थे, तीन हजार दो सौ वादी थे, उनतालीस हजार पाँच सौ शिक्षक थे, चार हजार तीन सौ अवधीज्ञानी थे, पाँच हजार केवलज्ञानी थे, आठ हजार विक्रिया ऋद्धिधारक थे, पाँच हजार मनः पर्यय ज्ञानी थे। इस प्रकार प्रभु के धर्म परिवार में कुल छियासठ हजार मुनि थे। सर्वश्री आदि एक लाख आठ हजार आर्यिकाएँ उनकी आज्ञानुवर्तिनी थीं। दो लाख श्रावक तथा चार लाख श्राविकाएँ उनके अनुयायी थे। वे असंख्यात देव-देवियों तथा संख्यात तिर्यंचों द्वारा सेवित थे। इस प्रकार वे बारह सभाओं के भव्य समूह के अग्रणी थे।[66]

निर्वाण : भगवान अनन्तनाथजी ने लाखों वर्षों तक भव्य जीवों को धर्म में प्रेरित किया। जब आयु का एक माह शेष रहा तब सम्मेदशिखर पर जाकर उन्होंने योग-निरोध किया। छह हजार एक सौ मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया।

चैत्र कृष्णा अमावस्या के दिन रात्रि के प्रथम भाग में चतुर्थ शुक्ल ध्यान में आरुढ़ होकर वे सब मोक्षगामी हुए। तब देवों ने आकर पंचम मोक्ष कल्याणक की पूजा की।[266]

15. धर्मनाथ जी :

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में रत्नपुर नामक राज्य था। वहाँ महाप्रतापी राजा भानु राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम सुप्रभा था। एक बार महारानी सुप्रभा ने वैशाख शुक्ला त्रयोदशी के दिन रेवती नक्षत्र में प्रातःकाल के समय चौदह स्वप्न देखे। तब तीर्थंकर देव के जीव ने माता के गर्भ में प्रवेश किया। अपने अवधिज्ञानी पति से उन स्वप्नों का फल जानकर महारानी अति प्रसन्न हुई। नव माह पूर्ण होने पर माघ शुक्ला त्रयोदशी को गुरुयोग में प्रभु का जन्म हुआ। इन्द्रों ने सुमेरु पर्वत पर ले जाकर उनका जन्माभिषेक किया और धर्मनाथ नाम रखा। तब पुनः प्रभु को माता के पास सुला दिया।[267]

भगवान धर्मनाथ जी के देह की कांति स्वर्ण के समान थी, आयु दस लाख वर्ष की थी, काया पैंतालीस धनुष ऊँची थी और व्रतपर्याय ढ़ाई लाख वर्ष की थी। तीर्थंकर अनन्तनाथ जी और धर्मनाथ जी के निर्वाणकाल का अंतर चार सागरोपम का था।[268]

कुमार धर्मनाथ जी की आयु के ढ़ाई लाख वर्ष बीत गये, तब उनका राज्याभिषेक किया गया। पाँच लाख वर्ष प्रमाण राज्यकाल बीत जाने पर एक दिन उल्कापात देखने से उन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया। तब सुधर्म नामक ज्येष्ट पुत्र को राज्य सौंपकर नागदत्ता नामकी पालकी में बैठकर सालवन चले गये। वहाँ उन्होंने दो दिन के उपवास का नियम लेकर माघशुक्ला त्रयोदशी को सायंकाल के समय पुष्य नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा अंगीकार की। दीक्षित होते ही उन्हें चौथा मनः पर्यय ज्ञान हो गया।[269]

केवलज्ञान : दीक्षा लेने के पश्चात 1 वर्ष तक धर्मनाथ जी छद्मस्थ अवस्था में मुनि के रुप में विचरण करते रहे। तब एक दिन अपने दीक्षावन में ही सप्तच्छंद वृक्ष के नीचे दो दिन के उपवास का नियम लेकर योग धारण किया और पौषशुक्ला पूर्णिमा को सायंकाल के समय पुष्य नक्षत्र में केवल ज्ञान प्राप्त किया। तब देवों ने चतुर्थ कल्याणक की पूजा की।[270]

धर्म-परिवार : भगवान धर्मनाथजी के धर्म परिवार में अरिष्टसेन आदि तैंतालीस गणधर थे, नौ सौ ग्यारह पूर्वधारी थे, चालीस हजार सात सौ शिक्षक थे, तीन हजार छह सौ तीन प्रकार के अवधिज्ञानी थे, चार हजार पाँच सौ मनःपर्यय ज्ञानी थे, दो हजार आठ सौ वादी थे, इस प्रकार सब मिलाकर चौंसठ हजार मुनि उनकी निश्रा में विचरण करते थे। सुव्रता आदि बासठ हजार चार सौ आर्यिकाएँ थीं। दो लाख श्रावक तथा चार लाख श्राविकाएँ उनकी अनुयायी थीं। वे असंख्यात् देव-देवियों तथा

संख्यात् तिर्यंचों से पूजित थे। उनके धर्मशासन में ही पुरुषसिंह नामक वासुदेव और सुदर्शन नाम के बलभद्र हुए थे।[271]

निर्वाण : धर्म-ध्वज से शोभित प्रभु धर्मनाथजी ने उपर्युक्त बारह प्रकार की सभाओं को लाखों वर्षों तक पूरे आर्यावर्त में उद्‌बोधित किया। जब आयु का 1 माह शेष रहा तब वे सम्मेद शिखर चले गये वहाँ एक माह का योग निरोध करके आठ सौ नौ मुनियों के साथ ध्यानारुढ़ हुए। ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्थी के दिन रात्रि के अन्त भाग में शुक्लध्यान को पूर्ण करके पुष्य नक्षत्र में मोक्षगामी हुए।[272]

16. शान्तिनाथ जी :

भगवान शान्तिनाथ जी सोलहवें तीर्थंकर हैं। वे पूर्वभव में जब मेघरथ थे तब कबूतर की रक्षा की। यह घटना वसुदेव हिण्डी[273] त्रिशष्टि शलाकापुरुष चारित्र[274] तथा उत्तर पुराण[275] आदि सभी में मिलती है। वैदिक ग्रन्थ महाभारत में भी शिवि राजा के उपाख्यान के रूप में इसका विवेचन मिलता है। बौद्ध वाङमय में भी 'जीमूतवाहन' के रूप में यह घटना चित्रित की गई है। प्रस्तुत घटना हमें बताती है, कि जैन परम्परा केवल निवृत्ति रूप अहिंसा में ही नहीं, वरन् मरते हुए की रक्षा के रुप में प्रवृत्ति रूप भी अहिंसा धर्म है।

कुरुजाङ्गल देश के मध्य सुन्दर हस्तिनापुर नगरी थी। वहाँ के देदीप्यमान राजा काश्यपगौत्री विश्वसेन थे। उनकी प्रियरानी ऐरादेवी थी। एक बार भादों बदी सप्तमी के दिन भरणी नक्षत्र में रात्रि के चतुर्थ भाग में महारानी ऐरादेवी ने चौदह स्वप्न देखे तथा मुख में प्रवेश करता हुआ हाथी देखा। उसी समय मेघरथ का जीव तीर्थंकर रूप में माता के गर्भ में अवतीर्ण हुआ। तभी इन्द्रों ने प्रथम कल्याणक की पूजा की। नवें माह में महारानी ऐरादेवी ने ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी के दिन याम्ययोग में प्रातःकाल के समय प्रभु को जन्म दिया। तब देवों ने सुमेरु पर्वत पर बालक का जन्माभिषेक करके शान्तिनाथजी नामकरण करके पुनः माता के पास सुला दिया।

भगवान शान्तिनाथ जी की देह की कांति स्वर्ण के समान, आयु एक लाख बरस की काया चालीस धनुष की और व्रत पर्याय पच्चीस हजार वर्ष की थी। तीर्थंकर धर्मनाथ जी और शांतिनाथ जी के निर्वाणकाल का अंतर पौन पल्योपम कम तीन सागरोपम था।[276]

पच्चीस हजार वर्ष की आयु में कुमार शान्ति को महाराज विश्वसेन ने राज्य सौंपकर राजतिलक किया। पच्चीस हजार वर्ष तक शासन करने के पश्चात् वे चक्रवर्ती बने। चक्रवर्ती महाराज शान्तिनाथ जी के तेज को प्रकट करने वाले साम्राज्य के साधन चक्र आदि चौदह रत्न और नौ निधियाँ प्रकट हुईं। उन चौदह रत्नों में से चक्र, छत्र, तलवार और दण्ड आयुधशाला में प्रकट हुए, काकिणी, चर्म और चूड़ामणि श्रीगृह में प्रकट हुए थे, पुरोहित, स्थपति, सेनापति और गृहपति हस्तिनापुर में प्राप्त हुए थे और

कन्या, गज और अश्व विजयार्ध पर्वत पर प्राप्त हुए थे। नौ निधियाँ सागर और नदी के समागम पर इन्द्रों के द्वारा लाकर दी गई थीं। इस प्रकार पच्चीस हजार वर्ष तक चक्रवर्ती साम्राज्य का भोग करते हुए एक दिन अलंकार गृह में चक्रवर्ती सम्राट शान्तिनाथ जी को वैराग्य उत्पन्न हो गया। उन्होंने अपने नारायण नामक पुत्र को राज्य सौंप दिया। तब लोकान्तिक देवों ने आकर दीक्षा अभिषेक किया। तब सर्वार्थसिद्धि नामकी पालकी में बैठकर सहस्राम्रवन में जाकर सुन्दर शिलातल पर उत्तर की ओर मुख करके पर्यंकासन में विराजमान हो गए। ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी के दिन शाम के वक्त भरणी नक्षत्र में बेला का नियम लेकर उन्होंने सिद्ध भगवान को नमस्कार करके समस्त वस्त्राभूषण छोड़कर केशों का पंचमुष्ठि लोच करके सामायिक चारित्र धारण किया। तभी उन्हें मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हो गया। भगवान शान्तिनाथ जी ने एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा धारण की।[२८]

केवल ज्ञान : भगवान श्री शान्तिनाथ जी सोलह वर्ष तक तपश्चरण करते हुए समस्त पृथ्वी पर छद्मस्थ अवस्था में विचरण करते रहे। चक्रायुध आदि अनेक मुनियों के साथ एक बार सहस्राम्रवन में गए। वहाँ नन्द्यावर्त वृक्ष के नीचे तेला (तीन उपवास) का नियम लेकर पूर्व की ओर मुख करके विराजमान हो गए। पौष शुक्ला दशमी के दिन प्रभु ने केवलज्ञान प्राप्त किया।[२९]

धर्म परिवार : तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ जी के केवलज्ञान के पश्चात् उनके धर्म-परिवार में चक्रायुध आदि छत्तीस गणधर थे। आठ सौ पूर्वधारी थे, इकतालीस हजार आठ सौ शिक्षक थे, तीन हजार अवधिज्ञानी थे, चार हजार केवलज्ञानी थे, छह हजार विक्रिया ऋद्धिधारी थे। चार हजार मनः पर्ययज्ञानी थे और दो हजार चार सौ वादी थे। इस प्रकार कुल मिलाकर बासठ हजार मुनि थे। हरिषेणा आदि साठ हजार तीन सौ आर्यिकाएँ थीं। दो लाख श्रावक तथा चार लाख श्राविकाएं थीं। असंख्यात देव-देवी तथा संख्यात तिर्यंच उनकी स्तुति करते थे। इस प्रकार वे बारह गणों को समीचीन धर्म का उपदेश देते थे।[३०]

निर्वाण : हजारों वर्षों तक धर्म का उद्योत करने के पश्चात् जब आयु का एक माह शेष रहा, तो वे सम्मेदशिखर पर चले गए। वहाँ भगवान शान्तिनाथ जी अचल योग से विराजमान हो गए। ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी के दिन रात्रि के पूर्व भाग में भरणी नक्षत्र में प्रभु सभी योगों का निरोध करके शुक्ल ध्यान के द्वारा मोक्षगामी हुए और सिद्ध पद को प्राप्त किया। तब देवों ने अन्तिम संस्कार निर्वाण कल्याणक की पूजा की।[३१]

17. श्री कुन्थुनाथ जी :

जम्बुद्वीप के भरत क्षेत्र के कुरुजांगल देश में हस्तिनापुर नगर था। वहाँ कौरववंशी काश्यपगोत्री महाराज सूरसेन राज्य करते थे। उनकी श्रीकान्ता नामक पटरानी थी। उन्होंने श्रावण कृष्ण दशमी के दिन रात्री के पिछले भाग में चौदह स्वप्न

देखे। उसी समय प्रभु कुन्थुनाथ जी अहमिन्द्र की आयुपूर्ण करके माता के गर्भ में अवतरित हुए। तब देवों ने प्रथम गर्भकल्याणक की पूजा की। नव मास व्यतीत होने पर महारानी ने वैशाख शुक्ल प्रतिपदा के दिन आग्नेय योग में पुत्र रत्न को जन्म दिया। इन्द्रों ने आकर प्रभु का जन्माभिषेक सुमेरु पर्वत पर किया तथा बालक का नामकरण कुन्थु किया।[282]

श्री कुन्थुनाथ भगवान की देह की कांति सुवर्ण के समान तथा ऊँचाई पैंतीस धनुष प्रमाण की थी। उनकी आयु पचानवे हजार वर्ष की थी और दीक्षा पर्याय तेईस हजार साढ़े सात सौ वर्ष की थी। तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ जी तथा कुन्थुनाथ जी के निर्वाण का अंतरकाल आधे पल्योपम का था।[283]

कुमार कुंथु तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष कुमार काल व्यतीत करने के पश्चात् सिंहासनारूढ़ हुए और उनका विवाह हुआ। इतना ही समय और व्यतीत होने पर वे चक्रवर्ती सम्राट बने। तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष तक चक्रवर्ती सम्राट के सुखों व राज्य का भोग करने के पश्चात् एक दिन उन्हें अपने पूर्व भव का स्मरण हुआ, जिससे उन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया। अतः वे अपने पुत्र को राज्य सौंपकर दीक्षा के लिए उद्यत हुए। तब इन्द्रों ने आकर उनका दीक्षा कल्याणक किया। उसके पश्चात् वे विजया नामकी पालकी में बैठकर सहेतुक वन गए। वहाँ तेला का नियम लेकर वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन कृतिका नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ सायंकाल के समय दीक्षा धारण की। उसी समय उन्हें मनःपर्यय ज्ञान हो गया।[284]

केवलज्ञान : दीक्षा के पश्चात् तपस्या करते हुए श्रीकुंथुनाथ भगवान सोलह वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में विचरण करते रहे। तब एक दिन वे सहेतुक वन में पहुँचे, वहाँ बेला का नियम लेकर तिलक वृक्ष के नीचे ध्यानारुढ़ हुए। वहीं चैत्र शुक्ला तृतीया के दिन सायंकाल के समय कृतिका नक्षत्र में उन्हें केवल ज्ञान हो गया। देवों ने आकर चतुर्थ कल्याणक की पूजा की।[285]

धर्म-परिवार : तीर्थंकर कुंथुनाथजी के धर्म-परिवार में स्वयंभू आदि पैंतीस गणधर थे। सात सौ पूर्वधारी मुनि थे, तैंतालीस हजार एक सौ पचास शिक्षक थे, दो हजार पांच सौ अवधिज्ञानी थे, तीन हजार दो सौ केवल ज्ञानी थे, पाँच हजार एक सौ विक्रियाऋद्धि धारी थे, तीन हजार तीन सौ मनः पर्ययज्ञानी थे, दो हजार पचास वादी थे। इस प्रकार सब मिलाकर साठ हजार मुनिराज उनके साथ थे। भाविता आदि साठ हजार तीन सौ पचास आर्यिकाएँ थीं, तीन लाख श्राविकाएँ थीं, दो लाख श्रावक थे, असंख्यात देव-देवियाँ थीं और संख्यात तिर्यंच थे। भगवन इन बारह प्रकार की सभाओं को उपदेश देते हुए विहार करते थे।[286]

मोक्ष : अनेक देशों में विहार करते प्रभु धर्म का उद्योत करते रहे। जब उनकी आयु का एक माह शेष रह गया, तब वे सम्मेद शिखर पहुँचे। वहाँ भगवान

कुन्थुनाथजी ने एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण किया और वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन रात्रि के पूर्वभाग में कृतिका नक्षत्र का उदय रहते हुए समस्त कर्मों का नाश करके मोक्ष प्राप्त किया।[287]

18. श्री अरनाथ जी :

इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में कुरुजांगल देश था। उसके हस्तिनापुर नगर में सोमवंशी काश्यपगौत्री राजा सुदर्शन राज्य करता था। उनकी मित्रसेना नाम की पटरानी थी। एक बार फाल्गुन कृष्ण तृतीया के दिन रेवती नक्षत्र में रात्रि के पिछले प्रहर में महारानी मित्रसेना ने चौदह स्वप्न देखे। उसी समय तीर्थंकर देव का माता के गर्भ में अवतरण हुआ। नव मास पूर्ण होने पर मिगसर शुक्ल चतुर्दशी के दिन पुष्य नक्षत्र में प्रभु का जन्म हुआ। तब देवों ने प्रभु का सुमेरु पर्वत पर ले जाकर जन्माभिषेक किया। और अरनाथ नामकरण किया।[288]

श्री अरनाथ भगवान के देह की कांति सुवर्ण के सामन थी तथा ऊँचाई तीस धनुष की थी। उनकी आयु चौरासी हजार वर्ष की थी। उनकी व्रत पर्याय इक्कीस हजार वर्ष की थी। तीर्थंकर श्री कुंथुनाथ जी और अरनाथ जी के निर्वाण का अन्तरकाल एक हजार करोड़ वर्ष कम पल्यापम के चौथे भाग का था।[289]

इक्कीस हजार वर्ष कुमार अवस्था में व्यतीत करने के पश्चात अरनाथ जी को मण्डलेश्वर राजा बनाया गया। बयालीस हजार वर्ष की आयु में चक्रवर्ती सम्राट बन गये। तिरसठ हजार वर्ष की आयु तक उन्होंने सुखपूर्वक शासन किया। एक दिन शरद ऋतु के मेघों के अकस्मात विलय हो जाने के दृश्य को देखकर उन्हें आत्मज्ञान हुआ। तब अपने पुत्र अरविन्द कुमार को राज्य सौंपकर प्रभु वैजयन्ती नामकी पालकी में बैठकर सहेतुक वन चले गए। वहाँ तेले का नियम लेकर उन्होंने मिगसर शुक्ला दशमी के दिन रेवती नक्षत्र में संध्या के समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा लेते ही वे चार ज्ञान के धारी हो गये।[290]

केवलज्ञान : मुनिराज अरनाथजी सोलह वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में विचरण करते रहे। तब एक दिन सहेतुक वन में कार्तिक शुक्ल द्वादशी के दिन रेवती नक्षत्र में सायंकाल के समय आम्रवृक्ष के नीचे तेले का नियम लेकर विराजमान हुए। उसी समय चार घातिया कर्म नष्ट करके वे अरिहन्त पद को प्राप्त हुए। अर्थात् उन्हें केवलज्ञान हो गया और देवों ने चतुर्थ कल्याणक की पूजा की।[291]

धर्म-परिवार : तीर्थंकर श्री अरनाथजी ने केवलज्ञान के पश्चात धर्म-शासन की स्थापना की। उस धर्म परिवार में कुम्भार्य आदि तीस गणधर थे, छह सौ दस ग्यारह अंग चतुर्दश पूर्वधारी थे, पैंतीस हजार आठ सौ पैंतीस सूक्ष्म बुद्धि को धारण करने वाले शिक्षक थे। अट्ठाइस सौ अवधिज्ञानी थे, इतने ही केवलज्ञानी थे, तैंतालीस सौ विक्रियाऋद्धिधारक थे, बीस सौ पचपन मनःपर्यय ज्ञानी थे। सोलह सौ वादी थे। इस

प्रकार सब मिलाकर पचास हजार मुनिराज उनके साथ थे। यक्षिला आदि साठ हजार आर्यिकाएँ थीं। असंख्यात देव और संख्यात तिर्यंच थे। इस प्रकार इन बारह सभाओं से युक्त तीर्थंकर अरनाथ जी ने अनेक वर्षों तक विभिन्न देशों में धर्म उपदेश दिए। इनके काल में पुण्डरीक वासुदेव तथा नन्दिषेण बलभद्र हुए थे।[292]

मोक्ष : केवलज्ञान के पश्चात 5 हजार वर्षों तक धर्म का उद्योत करते हुए प्रभु अरनाथ जी विहार करते रहे। जब आयु का एक माह शेष रहा, तब सम्मेदशिखर पर जाकर उन्होंने एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण कर लिया। चैत्र कृष्णा अमावस्या के दिन रेवती नक्षत्र में रात्रि के पूर्व भाग में प्रभु सिद्ध-बुद्ध मुक्त हो गए।[293]

अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ का वर्णन 'अंगुत्तर निकाय' में भी आता है। वहाँ पर तथागत बुद्ध ने अपने से पूर्व जो सात तीर्थंकर थे, उनका वर्णन करते हुए कहा कि उनमें से सातवें तीर्थंकर 'अरक' थे।[294] अरक तीर्थंकर के समय का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा, कि अरक तीर्थंकर के समय मनुष्य की आयु साठ हजार वर्ष होती थी। 500 वर्ष की लड़की विवाह के योग्य समझी जाती थी। उस समय मानव को केवल छह प्रकार का कष्ट था- (1)शीत, (2)उष्ण, (3)भूख, (4)तृष्णा, (5)पेशाब, (6)मलोत्सर्ग । इसके अतिरिक्त किसी भी प्रकार पीड़ा और व्याधि नहीं थी। तथापि अरक ने मानव को नश्वरता का उपदेश देकर धर्म करने का सन्देश दिया।[295] उनके उस उपदेश की तुलना उत्तराध्ययन के दसवें अध्ययन से की जा सकती है, अतः बुद्ध के बताये हुए अरक तीर्थंकर और अरनाथ जी एक ही हो सकते हैं।

19. मल्लिनाथ जी :

भरतक्षेत्र के बंगदेश में एक मिथिला नगर था। वहाँ इक्ष्वाकु वंशी काश्यपगौत्री राजा कुम्भ का राज्य था। उनकी रानी का नाम प्रभावती था। उन्होंने चैत्र शुक्ल प्रतिपदा के दिन प्रातःकाल के समय अश्विनी नक्षत्र में चौदह स्वप्न देखे और मुख में प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। उसी समय गर्भ में तीर्थंकर के जीव ने प्रवेश किया। नौ मास व्यतीत होने पर रानी प्रभावती ने मिगसर सुदी एकादशी के दिन जिन बालक को जन्म दिया। तब देवों ने आकर सुमेरु पर्वत पर प्रभु का जन्माभिषेक करके उनका मल्लीनाथ नामकरण किया।[296]

यहाँ यह उल्लेखनीय है, कि दिगम्बर वांङ्मय में भगवान मल्लिनाथ जी को पुरुष ही माना गया है, क्योंकि वे स्त्री मुक्ति के विरोधी हैं। इसके विपरीत समस्त श्वेताम्बर आगमों में तीर्थंकर मल्लिनाथ जी को स्त्री माना गया है। अतः यह उल्लेख मिलता है, कि मल्लि कुमारी नामकी पुत्री का जन्म हुआ। उनकी देह की कांति सुवर्ण के समान थी, ऊँचाई पच्चीस धनुष की थी। आयु पचपन हजार वर्ष की, तथा व्रत पर्याय चौपन हजार नौ सौ वर्ष थी। तीर्थंकर श्री अरनाथ जी और मल्लीनाथ जी के निर्वाण का अन्तरकाल एक हजार कोटि वर्ष का था।[297]

उत्तर पुराण के अनुसार 100 वर्ष व्यतीत होने के पश्चात मल्लिनाथ जी ने पूरे नगर में अपने विवाह की तैयारियाँ देखी, तब उन्हें अपने पूर्व भव का आत्मज्ञान हो गया और दीक्षा के लिए उद्यत हुए। कुमार अवस्था में ही विषयों का त्याग करके वैराग्य मार्ग पर चल पड़े। मल्लीनाथ जी जयन्त नाम की पालकी में बैठकर श्वेतवन में गए। वहाँ दो दिन के उपवास का नियम लेकर मिगसरसुदी एकादशी को अश्विनी नक्षत्र में सायंकाल के समय सिद्ध भगवान को नमस्कार करके तीन सौ राजाओं के साथ दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्यय ज्ञान हो गया।[२२९]

सभी श्वेताम्बर आगमों में चूँकि मल्लिनाथ जी को स्त्री स्वीकार किया गया है। अतः मल्ली कुमारी के वैराग्य तथा दीक्षा के संदर्भ में भी पृथक् कथानक प्रचलित है। यह कथानक इस प्रकार है, कि मिथिला की राजकुमारी मल्ली अतीव सुन्दर थी। उसके कौमार्य लावण्य की प्रशंसा दूर-दूर तक फैल गयी। अतः कुछ पूर्व संस्कारों से प्रेरित होकर छहों दिशाओं से विवाह के प्रस्ताव आए, जिन्हें उनके पिता महाराज कुम्भ ने अस्वीकार कर दिया, फलस्वरूप उन छहों ने मिलकर मिथिला पर आक्रमण करने के लिए युद्ध का संदेश भिजवा दिया। तथा मिथिला नरेश चिन्तित हो गए। उन्हें चिन्ताग्रस्त देखकर राजकुमारी मल्ली ने अपने पिता को आश्वासन देते हुए कहा, कि आप निश्चित हो जाइये। उन छहों राजाओं को मैं समझा दूँगी। आप सिर्फ उन्हें पृथक्-पृथक् मिथिला नगर में आने का संदेश भेजें और उन्हें रात्रि के अंधेरे में बुलाकर पृथक्-पृथक् ठहरा देवें। इस बीच मल्लीकुमारी ने राजउद्यान के मध्य एक भवन बनवाया, जिसके मध्य में स्वयं की प्रतिकृति स्वर्ण प्रतिमा बनवाकर रखी, जिसका पीछे से ढक्कन खुलता था। उस महल में छह कक्ष इस प्रकार बनवाए, जिनके अन्दर के झरोखे से वह स्वर्ण प्रतिमा स्पष्ट दिखाई देती, लेकिन उनमें खड़े व्यक्ति एक दूसरे को देख नहीं सकते। उन छहों भवनों में उन छहों राजाओं - पांचाल नरेश जीतशत्रु, कुरुराज अदीनशत्रु, काशीपति महाराज शंख, कुणाल नरेश रुप्पी, कोशलाधीश प्रतिबुद्धि और चम्पानरेश चन्द्रछाग को पृथक्-पृथक् ठहरा दिया गया।

सूर्योदय होते ही मोहन घर के झरोखों में से उन राजाओं ने मल्लीकुमारी की स्वर्ण मण्डित उस प्रतिमा को देखा और मुग्ध हो गए। मल्लीकुमारी प्रतिमा के ढक्कन में से प्रतिदिन एक माह तक अपने भोजन का एक-एक ग्रास डालती थी, अतः उसके अन्दर वह अन्न सड़ गया। जब सभी राजा उस प्रतिमा को निहार रहे थे, तभी राजकुमारी मल्ली ने उस प्रतिमा का ढक्कन खोल दिया, जिससे चारों ओर का वातावरण तीव्र दुस्सह्य दुर्गन्ध से पूरित हो गया, अतः सभी ने अपने-अपने उत्तरीय से नाक ढ़ककर मुख मोड़ लिए। तब भगवती मल्ली ने उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा - *हे देवानुप्रिय! इस कनकमयी पुतली में अतिस्वादिष्ट एवं मनोज्ञ अशन, पान, खाद्य एवं स्वाद्य इन चारों प्रकार के आहार का एक-एक ग्रास डाला जाता रहा है। मेरी इस*

कनक निर्मिता प्रतिकृति स्वरूपा पुतली में डाला गया मनोज्ञ अशन पानादि का पुद्गल परिणमन इतना अमनोज्ञ नितान्त असह्य, अशुभ व दुर्गन्ध पूर्ण बन गया, तो वीर्य एवं रज से निर्मित श्लेष्म, लार, मल, मूत्र, मज्जा, शोणित आदि अशुचियों के भण्डार, नाड़ियों के जाल से आबद्ध, आन्त्र जाल के कोष्ठागार, सभी प्रकार के रोगों के घर, अस्थि, चर्म और मांसमय इस अशुचि के भण्डार सड़नधर्मा, पतनधर्मा, नश्वर औदारिक शरीर में प्रतिदिन डाले गए अशन-पानादि आहार का पुद्गल परिणमन कितना घोर दुर्गन्ध पूर्ण होगा, यह तो साधारण से साधारण बुद्धिवाला व्यक्ति भी समझ सकता है।

अतः इस शाश्वत सत्य को ध्यान रखते हुए आप सांसारिक काम-भोगों में अनुराग, आसक्ति, तृष्णा, लोलुपता और मुग्धता मत रखो और इस मनुष्य भव को व्यर्थ मत गँवाओ।

मल्ली कुमारी ने उन सभी को पूर्व भव की याद दिलाते हुए कहा, कि - हे देवानुप्रियों! इस मानव भव से पूर्व के तीसरे भव में हम सातों समवयस्क बाल सखा थे। हमने बाल-क्रीड़ा, अध्ययन, राज्यभोग, सांसारिक सुखोपभोग एक साथ किए। फिर एक साथ ही श्रमण दीक्षा लेकर तप किया था। हम सबने विशुद्ध भाव से एक समान दुष्कर तपश्चरण किया। तुम छहों साथी मुनि यदि दो उपवास करते, तो मैं छल से बहाना करके तीन उपवास कर लेता। इस प्रकार उत्कृष्ट तपस्या से मैंने तीर्थंकर नाम गौत्रकर्म का उपार्जन तो किया, लेकिन छल और झूठ से अधिक तपस्या करने के कारण मैंने स्त्री नामकर्म का भी बन्ध कर लिया। अन्त में हम सातों ने साथ-साथ ही संलेखनापूर्वक पादपोपगमन संथारा किया और समाधिपूर्वक आयुपूर्ण कर हम सातों ही जयन्त नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुए और बत्तीस सागर तक दैविक सुखों को भोगकर हमने इस वर्तमान रूप में जन्म धारण किया है। देव भव में हम सातों ने प्रतिज्ञा की थी, कि हम यहाँ से च्यवन के पश्चात् एक दूसरे को प्रतिबोधित करेंगे। आप लोग अपने उस देव भव को स्मरण करें।[२०]

राजकुमारी मल्ली के द्वारा अपने पूर्व भव सुनकर सभी छह राजाओं को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। कुमारी को यह ज्ञात होते ही उसने छहों भवनों के द्वार खुलवा दिए और पूर्व के सातों मित्र परस्पर मिले। तब भगवती मल्ली ने कहा, कि मैं तो भवभ्रमण से मुक्त होने के लिए प्रव्रजित होऊँगी। आप लोगों का क्या विचार है? तब उन सबने भी भगवती मल्ली के साथ प्रव्रजित होने का निर्णय लिया।

एक वर्ष पश्चात् वर्षीदान देकर संपूर्ण विधि से भगवती मल्ली ने तीन सौ स्त्रियों व तीन सौ पुरुषों के साथ पौष शुक्ला एकादशी को दीक्षा अंगीकार की।[२१]

केवल ज्ञान : श्री ऋषभदेव जी से महावीर भगवान तक की इस चौबीसी के अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा प्रभु मल्लिनाथ जी की यह विशेषता रही, कि उनका

छद्मस्थ काल सबसे कम अर्थात् एक प्रहर से कुछ अधिक या डेढ़ प्रहर तक ही रहा। मल्लिनाथ जी ने जिस दिन दीक्षा ग्रहण की, उसी दिन उन्हें केवल ज्ञान हो गया।[301]

उत्तर पुराण में यह उल्लेख मिलता है, कि मल्लिनाथजी छह दिन तक छद्मस्थ अवस्था में रहे, तब उन्हें अशोक वृक्ष के नीचे केवल ज्ञान हुआ।[302]

धर्म-परिवार : भगवान मल्लिनाथ के अतिरिक्त ऋषभादि तेईस तीर्थंकरों के एक ही प्रकार की परिषद् थी लेकिन तीर्थंकर मल्लिनाथ जी के साध्वियों की आभ्यान्तर परिषद् और साधुओं की बाह्य परिषद् इस प्रकार दो प्रकार की परिषदें थीं।[303]

तीर्थंकर मल्लिनाथ जी ने केवलज्ञान के पश्चात् चतुर्विध संघ की स्थापना की। उनके समवशरण में विशाख आदि अट्ठाईस गणधर थे, पाँच सौ पचास पूर्वधारी थे, उनतीस हजार शिक्षक थे, दो हजार दो सौ अवधिज्ञानी थे, इतने ही केवलज्ञानी थे, एक हजार चार सौ वादी थे, दो हजार नौ सौ विक्रिया ऋद्धिधारी थे। एक हजार सात सौ पचास मनःपर्ययज्ञानी थे। सब मिलाकर चालीस हजार मुनि उनके सान्निध्य में थे। बन्धुषेणा आदि पचपन हजार आर्यिकाएँ थीं। एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएँ थीं। असंख्यात देव देवियाँ और सिंह आदि संख्यात तिर्यंच थे। इनके शासन में सातवें दत्त नारायण व नन्दिमित्र बलदेव हुए।[304]

मोक्ष : तीर्थंकर मल्लिनाथ जी चौपन हजार नौ सौ वर्ष तक धर्म का उद्योत करते हुए विचरण करते रहे। जब उनकी आयु का एक माह शेष रहा, तो वे सम्मेदशिखर पर पहुँचे। वहाँ पाँच हजार मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण किया और फाल्गुन शुक्ला सप्तमी के दिन भरणी नक्षत्र में मोक्षगामी हुए।[305]

20. श्री मुनिसुव्रत जी:

भरतक्षेत्र मगध देश में राजगृह नाम का नगर था। उसमें हरिवंश शिरोमणि सुमित्र नाम का राजा राज्य करता था। वह काश्यप गौत्री था। उनकी रानी का नाम सोमा था। एक बार श्रावण कृष्ण द्वितीया के दिन श्रवण नक्षत्र में महारानी सोमादेवी ने चौदह स्वप्न देखे और मुख में प्रवेश करता हुआ हाथी देखा। इसी समय तीर्थंकर देव के जीव ने माता के गर्भ में प्रवेश किया। नवमाह पूर्ण होने पर प्रभु का जन्म हुआ। देवों ने जन्माभिषेक करके मुनिसुव्रत नामकरण किया।[306] ज्येष्ठ कृष्णा नवमी को प्रभु का जन्म हुआ।[307]

मुनिसुव्रतस्वामी की देह की कांति कृष्णवर्ण की थी। उनकी आयु तीस हजार वर्ष की थी। उनकी ऊँचाई बीस धनुष की थी। प्रभु की दीक्षा पर्याय साढ़े सात हजार वर्ष की थी। तीर्थंकर मल्लीनाथ जी और मुनिसुव्रतनाथ जी के निर्वाण का अन्तरकाल चौवन लाख वर्ष का था।[308]

मुनिसुव्रतनाथ जी के कुमारकाल के सात हजार पाँच सौ वर्ष बीत जाने पर

उनका राज्याभिषेक हुआ। उसके पश्चात् पन्द्रह हजार वर्ष तक उन्होंने सुखपूर्वक शासन किया। तब एक दिन प्रभु को आत्मज्ञान हुआ और उन्होंने अपना राज्यभार अपने पुत्र विजय को सौंपकर दीक्षा धारण कर ली। मुनि सुव्रतनाथ जी अपराजित नामक पालकी पर विराजमान होकर नील वन में गए। वहाँ उन्होंने बेला (दो उपवास) का नियम लेकर वैशाख कृष्ण दशमी के दिन श्रवण नक्षत्र में सायंकाल के समय एक हजार राजाओं के साथ संयम धारण किया। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्यज्ञान हो गया।[109]

केवल ज्ञान : दीक्षा अंगीकार करने के पश्चात् मुनिसुव्रतनाथ जी कठोर तपस्या करते हुए ग्यारह माह तक छद्मस्थ अवस्था में ही विचरण करते रहे। विचरण करते हुए एक दिन वे नील वन में पहुँचे। वहाँ चम्पक वृक्ष के नीचे दो दिन के उपवास का नियम लेकर ध्यानस्थ हुए। वहीं उन्हें वैशाख कृष्ण नवमी के दिन सायंकाल में श्रवण नक्षत्र में केवलज्ञान हुआ।[110]

धर्म - परिवार : तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रतनाथ जी के धर्म-परिवार में मल्लि आदि अठारह गणधर थे। पाँच सौ द्वादशांग के जानकार थे। इक्कीस हजार शिक्षक थे। एक हजार आठ सौ अवधिज्ञानी थे, इतने ही केवलज्ञानी थे, दो हजार दो सौ विक्रिया ऋद्धि धारक थे, एक हजार पाँच सौ मनःपर्यय ज्ञानी थे और एक हजार दो सौ वादी थे। इस प्रकार सब मिलाकर तीस हजार मुनि उनके साथ थे। पुष्पदन्ता आदि पचास हजार आर्यिकाएँ थीं, एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएँ थीं। संख्यात तिर्यंच और असंख्यात देव उनकी धर्म सभा में प्रवचन सुनने आते थे। इस प्रकार उनकी बारह सभाएँ थीं।[111]

निर्वाण : हजारों वर्षों तक मुनिसुव्रतनाथ जी ने आर्यक्षेत्र में विचरण करते हुए धर्म का प्रवर्तन किया। जब उनकी आयु का एक माह शेष रह गया, तब वे सम्मेदशिखर पर चले गए। वहाँ जाकर उन्होंने एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण कर लिया और फाल्गुन कृष्ण द्वादशी के दिन रात्रि के पिछले भाग में मोक्ष प्राप्त किया, तब देवों ने पंचम निर्वाण कल्याणक की पूजा की।[112]

श्री मुनिसुव्रतनाथ जी के तीर्थंकर काल में श्री रामचंद्रजी आठवें बलदेव तथा लक्ष्मण जी वासुदेव हुए थे।[113]

21. श्री नमिनाथ जी :

जम्बूद्वीप के वङ्ग नामक देश में मिथिला नगर था। वहाँ भगवान ऋषभदेव के वंशज काश्यपगोत्री विजय महाराज शासन करते थे। उनकी महारानी का नाम वप्पिला देवी था। शरद ऋतु की प्रथम द्वितीया अर्थात् आश्विन कृष्ण द्वितीया के दिन आश्विन नक्षत्र में रात्रि के पिछले प्रहर में महारानी ने चौदह दिव्य स्वप्न देखे। उसी समय तीर्थंकर देव ने माता के गर्भ में प्रवेश किया और देवों ने गर्भ कल्याणक की पूजा की।

वप्पिलादेवी ने आषाढ़कृष्ण दशमी के दिन स्वाति नक्षत्र के योग में महाप्रतापी पुत्र को जन्म दिया। देवों ने उनका जन्माभिषेक सुमेरु पर्वत पर ले जाकर किया और नमिनाथ नामकरण किया।[314]

श्री नमिनाथ जी के देह की कांति सुवर्ण के समान थी आयु दस हजार वर्ष की थी। उनकी देह पन्द्रह धनुष ऊँची थी और व्रत पर्याय ढ़ाई हजार वर्ष थी। मुनिसुव्रत स्वामी और नमिनाथ के निर्वाण काल का अंतर छः लाख वर्ष था।[315]

नमिनाथ जी ढ़ाई हजार वर्ष के हुए तब उनका राज्याभिषेक किया गया और उनका विवाह हुआ। उसके पश्चात् पाँच हजार वर्ष तक उन्होंने शासन किया। तब एक दिन दो देवकुमारों द्वारा उद्‌बोध प्राप्त करके उन्हें वैराग्य हो गया। वे अपने सुप्रभ नामक पुत्र को राज्य सौंपकर उत्तरकुरु नामकी पालकी में बैठकर चैत्रवन में चले गए। वहाँ उन्होंने बेला का नियम लेकर आषाढ़ कृष्ण दशमी के दिन अश्विनी नक्षत्र में सायंकाल के समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा अंगीकार की।[316]

धर्म-परिवार : तीर्थंकर श्री नमिनाथ जी के धर्म-तीर्थ में सुप्रभार्य आदि सत्रह गणधर थे। चार सौ पचास समस्त पूर्वों के जानकार थे। बारह हजार छह सौ व्रतधारी शिक्षक थे। एक हजार छह सौ अवधिज्ञानी थे। इतने ही केवलज्ञानी थे, पन्द्रह सौ विक्रिया ऋद्धिधारी थे, बारह सौ पचास मनः पर्यय ज्ञानी थे और एक हजार वादी थे। इस प्रकार सब मुनियों की संख्या बीस हजार थी। भंगिनी आदि पैंतालीस हजार आर्यिकाएँ थीं। एक लाख श्रावक थे और तीन लाख श्राविकाएँ थीं। असंख्यात देव तथा संख्यात तिर्यंच उनकी धर्मसभा में प्रवचन सुनते थे।[317]

निर्वाण : केवलज्ञान होने के पश्चात् प्रभु श्री नमिनाथ जी हजारों वर्षों तक संपूर्ण आर्यावर्त में विचरण करते हुए धर्म का उद्योत करते रहे। जब उनकी आयु का एक वर्ष शेष रहा, तब वे सम्मेद शिखर पर चले गए। वहाँ उन्होंने एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण किया। वैशाख कृष्ण चतुर्दशी के दिन रात्रि के अन्तिम समय में अश्विनी नक्षत्र में नमिनाथ जी अष्टकर्मों का क्षय करके मोक्षगामी हुए।[318]

22. श्री अरिष्टनेमि जी :

अब तक इतिहासज्ञ महावीर एवं पार्श्वनाथ को ही ऐतिहासिक पुरुष मान रहे थे। लेकिन वर्तमान के कुछ वर्षों के अनुसंधान से यह प्रमाणित हो गया, कि अरिष्टनेमि भी ऐतिहासिक थे। प्रसिद्ध कोषकार डॉ॰ नगेन्द्रनाथ वसु, पुरातत्त्वज्ञ डॉ॰ फूहरर, प्रो॰ वारनेट, कर्नल टाड, मि॰ करवा, डॉ॰ हरिसन, डॉ॰ प्राणनाथ विद्यालंकार, डॉ॰ राधाकृष्णन आदि अनेक विज्ञजनों ने यह मत अभिव्यक्त किया है, कि अरिष्टनेमि एक ऐतिहासिक पुरुष रहे हैं। इस संदर्भ में अनेक पुरातत्त्विक एवं साहित्यिक साक्ष्य उपलब्ध हो रहे हैं। काठियावाड़ प्रान्त के प्रभास पट्टन नगर में भूमि की खुदाई में एक *ताम्र पत्र मिला है, जिसमें लिखा है -*

''रेवानगर के राज्य का सु... जाति के देव 'नेबुशदनेझर' हुए वे यदुराज (श्रीकृष्ण) के स्थान द्वारका आया, उसने एक मन्दिर सर्व..... देव नेमि जो स्वर्गसदृश रेवत (गिरनार) पर्वत के देव हैं, उसने मन्दिर बनाकर सदैव के लिए अर्पण किए।''[320]

यद्यपि इस ताम्रपत्र का 'नेबुशदनेझर' राजा का समय ई०पू० छठी शताब्दी का बतलाया जाता है। उस समय गिरनार पर्वत पर भगवान नेमिनाथ का एक मन्दिर था और वे नेमिनाथ जैनों के बाईसवें तीर्थंकर थे, जो श्री कृष्ण के समकालीन हुए थे।

ऋग्वेद में अरिष्टनेमि शब्द बार-बार प्रयुक्त हुआ है।[321] ऋग्वेद में कई स्थानों पर तार्क्ष्य अरिष्टनेमि की स्तुति की गई है। यजुर्वेद में नेमिनाथ जी के लिए तार्क्ष्य अरिष्टनेमि तथा आङ्गिरस नाम भी प्रयुक्त हुआ है। यथा -

1. अयमुत्तरात् संयद्वसुस्तस्य तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानी ग्रामण्यौ॥[322]
2. अङ्गिरसो नःपितरो नवग्वा अथर्वाषोभृगवः सोभ्यासः॥[323]

सामवेद में भी अनेक स्थानों पर नेमिनाथ, तार्क्ष्य अरिष्टनेमि तथा अंङ्गिरस नामों के उल्लेख के साथ उनकी स्तुति की गई है।[324] अथर्ववेद में भी ज्ञान को फैलाने वाले के रूप में अंङ्गिरस की स्तुति की गई है। यथा -

इदं प्रापमुत्तमं काण्डमस्य यस्माल्लोकात् परमेष्ठी समाप।
आ सिञ्च सर्पिर्धृतवत् समङ्ग्ध्येय भागो अङ्गिरसो न अत्र ॥[325]

महाभारत में भी तार्क्ष्य शब्द अरिष्टनेमि के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त हुआ है।[326] उन तार्क्ष्य अरिष्टनेमि ने राजा सगर को जो मोक्ष सम्बन्धी उपदेश किया है, उसकी तुलना जैन धर्म के मोक्ष सम्बन्धी मन्तव्यों से की जा सकती है।[327]

तार्क्ष्य अरिष्टनेमि ने सगर से कहा - ''सगर! संसार में मोक्ष का सुख ही वास्तविक सुख है, किन्तु धन, धान्य, पुत्र एवं पशु आदि में आसक्त मूढ़ मनुष्य को इसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता। जिसकी बुद्धि विषयों में अनुरक्त एवं मन अशान्त है, ऐसे जनों की चिकित्सा अत्यन्त कठिन है। स्नेह बन्धन में बन्धा हुआ मूढ़ मोक्ष पाने के योग्य नहीं है।''

ऐतिहासिक दृष्टि से स्पष्ट है, कि सगर के समय में वैदिक लोग मोक्ष में विश्वास नहीं करते थे, अतः यह उपदेश किसी वैदिक ऋषि का नहीं हो सकता।

हरिवंश पुराण में महाभारतकार वेदव्यास जी ने श्रीकृष्ण और अरिष्टनेमि के चचेरे भाई होने का उल्लेख किया है। जो इस प्रकार है[328] -

''बभुवस्तु यदोः पुत्राः पंच देव सुतोपमाः।
सहस्त्रदः पयोदश्च, क्रोष्टा नीलांऽजिकस्तथा।''

अर्थात् महाराज यदु के सहस्त्रद, पयोद, क्रोष्टा, नील और अंजिक नाम के देवकुमारों के तुल्य पाँच पुत्र हुए।

"गान्धारी चैव माद्री च, क्रोष्टोर्भार्ये बभूवतुः।
गान्धारी जनयामास अनमित्रं महाबलम्।
माद्री युधाजितं पुत्र, ततोऽन्यं देवमीढुषम्।
तेषांवंशस्त्रिधाभूतो, वृष्णीनां कुलवर्धनः॥"

अर्थात् क्रोष्टा की माद्री नाम की दूसरी रानी से युधाजित और देवमीढुष नामक दो पुत्र हुए।

माद्रयाः पुत्रस्य जज्ञाते, सुतौ वृष्ण्यन्धकावुभौ।
जज्ञाते तनयौ वृष्णेः, स्वफल्काश्चित्रकस्तथा॥

अर्थात् क्रोष्टा के बड़े पुत्र युधाजित के वृष्णि और अन्धक नामक दो पुत्र हुए। वृष्णि के दो पुत्र हुए-स्वफल्क तथा चित्रक।

"अक्रूरः सुषुवे तस्माच्छ्व फल्काद् भूरि दक्षिणः॥"

अर्थात् स्वफल्क के अक्रूर नामक महादानी पुत्र हुए।

चित्रकस्याभवन् पुत्राः, पृथुर्विपृथुरेव च।
अश्वग्रीवोऽश्वबाहुश्च, सुपार्श्वक गवेषणौ॥
अरिष्टनेमिरश्वश्च, सुधर्मा धर्म भृत्तथा।
सुबाहुर्बहुबाहुश्च, श्रविष्ठाश्रवणे स्त्रियौ॥

अर्थात् चित्रक के पृथु, विपृथु, अश्वग्रीव, अश्वबाहु सुपार्श्वक, गवेषण, अरिष्टनेमि, अश्व, सुधर्मा, धर्मभृत, सुबाहु और बहुबाहु नामक बारह पुत्र तथा श्रविष्ठा व श्रवणा नाम की दो पुत्रियाँ हुई।

हरिवंश पुराण में वेदव्यास जी ने श्री अरिष्टनेमि जी के वंश वर्णन के साथ-साथ श्री कृष्ण के वंश का वर्णन भी इस प्रकार से किया है[17] -

'अश्मक्यां जनयामास, शूरं वै देवमीढुषः।
महिष्यां जज्ञिरे शूराद्, भोज्यायां पुरुषा दश॥
वसुदेवो महाबाहु पूर्वमानक दुंदुभिः।.....
देवभागस्ततोजज्ञे, तथा देवश्रवा पुनः।
अनाधृष्टि कनवको, वत्सवानाथ गृंजिमः॥
श्यामः शमी को गण्डूषः, पाँच चास्य वरांगनाः।
पृथुकीर्ति पृथा चैव, श्रुतदेवा श्रुतश्रवाः॥
राजाधि देवी च तथा पंचैते वीरमातरः। .....
वासुदेवाच्च देवक्यां, जज्ञे शौरि महायशाः।...'

अर्थात् यदु के क्रोष्टा, क्रोष्टा के दूसरे पुत्र देवमीढुष के पुत्र शूर तथा शूर के वसुदेव आदि दस पुत्र तथा पृथुकीर्ति आदि पाँच पुत्रियाँ हुईं। वसुदेव की देवकी नाम

की रानी से श्री कृष्ण का जन्म हुआ।

इस प्रकार वैदिक परम्परा के मान्य ग्रन्थ हरिवंश में दिये गए यादववंश के वर्णन से भी यह सिद्ध होता है, कि श्री कृष्ण और श्री अरिष्टनेमि चचेरे भाई थे और दोनों के परदादा युधाजित और देवमीढुष सहोदर थे।

दोनों परम्पराओं में अन्तर इतना ही है, कि जैन परम्परा के अनुसार अरिष्टनेमि के पिता समुद्रविजय को वसुदेव का बड़ा सहोदर माना गया है, जबकि हरिवंश पुराण में चित्रक और वसुदेव को चचेरे भाई माना है। संभव है, कि चित्रक (श्रीमद् भागवत् के अनुसार चित्ररथ) समुद्रविजय का ही अपरनाम रहा हो।

दोनों परम्पराओं में नामों की असमानता लम्बे अतीत में हुए युद्धों, दुष्काल आदि अनेक कारणें से हो सकती है। लेकिन दोनों परम्पराओं में श्री अरिष्टनेमि और श्री कृष्ण को चचेरा भाई मानने में कोई दो राय नहीं है।

तीर्थंकर अरिष्टनेमि का प्रभाव भारत के बाहर विदेशों में भी पहुँचा है। कर्नल टॉड के शब्दों में, "मुझे ऐसा प्रतीत होता है, कि प्राचीन काल में चार बुद्ध या मेधावी महापुरुष हुए हैं। उनमें पहले आदिनाथ और दूसरे नेमिनाथ थे। नेमिनाथ ही स्केन्डोनेविया निवासियों के प्रथम 'ओडियन' और चीनियों के प्रथम 'फो' देवता थे।"

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डॉ॰ राय चौधरी ने अपने वैष्णव धर्म के प्राचीन इतिहास में अरिष्टनेमि को कृष्ण का चचेरा भाई लिखा है।

जीवन परिचय : शौर्यपुर के राजा समुद्रविजय काश्यप गोत्री हरिवंश शिरोमणि थे। उनकी रानी शिवादेवी ने एक बार कार्तिक शुक्ला षष्ठी को उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में रात्रि के पिछले प्रहर में चौदह स्वप्न देखे और मुख में प्रवेश करता हुआ हाथी देखा। उसी समय तीर्थंकर अरिष्टनेमि के जीव ने माता के गर्भ में प्रवेश किया और देवों ने प्रथम गर्भ कल्याणक की पूजा की। फिर श्रावण शुक्ला षष्ठी के दिन चित्रा नक्षत्र में ब्रह्मयोग के समय तीन ज्ञान के धारक प्रभु का जन्म हुआ। तब देवों ने सुमेरु पर्वत पर ईशान दिशा में पाण्डुक शिला पर प्रभु का जन्माभिषेक करके उनका नेमि नामकरण किया।[150]

श्री नेमिनाथ जी के देह की कांति श्यामवर्ण की थी, देह की ऊँचाई दस धनुष की थी। उनकी आयु एक हजार वर्ष थी। इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ तथा नेमिनाथ के निर्वाण का अन्तर काल पाँच लाख वर्ष का था। नेमिनाथ भगवान की दीक्षा पर्याय सात सौ वर्ष की थी।[151]

कुमारकाल के तीनसौ वर्ष पूर्ण हुए तब एक बार नेमिनाथ ने आयुधशाला में जाकर शार्ङ्ग नामक दिव्य धनुष चढ़ा दिया और कृष्ण का पाञ्चजन्य शंख फूंक दिया। तब चक्रवर्ती श्री कृष्ण चिन्तित हुए। उनके युवा होने के संकेत को पाकर उन्होंने राजा

उग्रसेन की पुत्री राजीमति के साथ उनका विवाह निश्चित कर दिया। उस समय श्री कृष्ण प्रभु नेमिनाथ की बारात लेकर उनके विवाह के लिए प्रस्थान कर गये। मार्ग में नेमिनाथ जी ने एक स्थान पर बाड़े में बन्द भय से व्याकुल हजारों मृगों को देखा, जो करुण स्वर में क्रन्दन कर रहे थे। उन्हें देखकर नेमिनाथ जी ने पूछा, कि इन मूक पशुओं को इस तरह क्यों बन्द किया गया है। तब उत्तर में रक्षकों ने कहा, कि आपके विवाहोत्सव में होने वाले विशाल भोज के लिए इन्हें यहाँ लाया गया है। उन निरीह पशुओं के प्रति करुणा का सागर उमड़ पड़ा और नेमिनाथ जी ने विवाह से इन्कार करके तुरन्त उन पशुओं को मुक्त कराया। अहिंसा के प्रवर्तक प्रभु उसी समय इस क्रूर संसार से विरक्त हो गये। इस प्रकार कुमारकाल के तीन सौ वर्ष बीत जाने पर नेमिनाथ जी ने सहस्राम्रवन में जाकर तेला का नियम लिया और श्रावण शुक्ला षष्ठी के दिन सायंकाल के समय एक हजार राजाओं के साथ सयंम धारण किया।[332]

केवलज्ञान : श्री नेमिनाथ जी दीक्षा धारण करने के पश्चात् तपस्या करते हुए 56 दिन तक छद्मस्थ अवस्था में विचरण करते रहे। तब एक दिन वे रेवतक (गिरनार) पर्वत पर तेला का नियम लेकर किसी बड़े बाँस के वृक्ष के नीचे विराजमान हुए। वहाँ उन्हें आसोज कृष्णा पडिमा के दिन चित्रा नक्षत्र में प्रातःकाल के समय केवलज्ञान हुआ।[333]

धर्म परिवार : तीर्थंकर श्री नेमिनाथ जी की धर्मसभा में वरदत्त आदि ग्यारह गणधर थे, चार सौ श्रुतज्ञानी पूर्वो के जानकार थे, ग्यारह हजार आठ सौ शिक्षक थे, पन्द्रह सौ तीन ज्ञान के धारक थे, इतने ही केवलज्ञानी थे, ग्यारह सौ विक्रिया ऋद्धि धारक थे, नौ सौ मनः पर्ययज्ञानी थे और आठ सौ वादी थे। इस प्रकर सब मिलाकर उनके अठारह हजार मुनिराज थे। राजीमती, यक्षी आदि चालीस हजार आर्यिकाएँ थीं, एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएँ थीं। असंख्यात देव-देवियाँ थी संख्यात तिर्यंच थे।[334]

निर्वाण : श्री नेमिनाथ जी ने केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् छह सौ निन्यानवे वर्ष नौ महीने और चार दिन तक विहार करते हुए धर्म प्रचार किया। फिर विहार छोड़कर पाँच सौ तैंतीस मुनियों के साथ एक महीने तक योग निरोध करके आषाढ़ शुक्ल सप्तमी के दिन चित्रा नक्षत्र में रात्रि के प्रारम्भ में ही चार अघातिया कर्मों का नाशकर मोक्ष प्राप्त किया। तब देवों ने आकर पंचम मोक्ष कल्याणक की पूजा की।

तीर्थंकर नेमिनाथ जी के तीर्थकाल में ही पद्म नामक बलभद्र, श्री कृष्ण वासुदेव व अर्ध चक्रवर्ती हुए, ब्रह्मदत्त नामक बारहवें सकल चक्रवर्ती हुए तथा जरासंन्ध नामक प्रतिनारायण हुए।[335]

23. श्री पार्श्वनाथ जी :

तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ भगवान को वर्तमान युग के अनेक इतिहासविदों ने गहन अनुसंधान के पश्चात् एक ऐतिहासिक महापुरुष स्वीकार किया है। सर्व प्रथम डॉ० हरमन जैकॉबी ने जैनागमों के साथ-साथ बौद्ध पिटकों के प्रमाणों के प्रकाश में भी भगवान पार्श्व को एक ऐतिहासिक पुरुष सिद्ध किया है।[336] उसके पश्चात् कोलब्रुक, स्टीवेन्सन, एडवर्ड, थामस, डॉ० बेलवलकर, दास गुप्ता, डॉ० राधाकृष्णन्,[337] शूबेन्टियर, गेरीनोट, मजूमदार, ईलियट और पुसिन प्रभृति अनेक पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने भी यह सिद्ध किया है, कि महावीर के पूर्व भी एक निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय विद्यमान था, जिसके प्रधान भगवान पार्श्वनाथ थे।

डॉ० वासम के अभिमतानुसार भगवान महावीर को बौद्ध पिटकों में बुद्ध के प्रतिस्पर्धी के रूप में अंकित किया गया है, अतः उनकी ऐतिहासिकता तो असंदिग्ध है। भगवान पार्श्वनाथ चौबीस तीर्थंकरों में से तेईसवें तीर्थंकर के रूप में प्रख्यात थे।[338]

भगवान पार्श्वनाथ जी भगवान महावीर से पूर्व तेइसवें तीर्थंकर हुए थे। यह जैन आगमों में तो स्पष्ट रूप से विवेचित है। इसके अतिरिक्त जैन, बौद्ध तथा वैदिक तीनों के साहित्य में स्पष्ट विवेचन मिलता है, कि भगवान बुद्ध और पार्श्वनाथ कालीन वैदिक ऋषियों पर भी निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय (भगवान पार्श्वनाथ) के दर्शन का प्रभाव था। उपनिषदों का रचनाकाल तीर्थंकर पार्श्वनाथ के पश्चात् का है।

एन०सी० रायचौधरी का मत है, कि विदेह के महाराज जनक याज्ञवल्क्य के समकालीन थे। याज्ञवल्क्य, वृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषद् के मुख्य पात्र हैं। उनका कालमान ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी है। जैन तीर्थंकर पार्श्व का जन्म ई०पू० 877 और निर्वाण काल ई०पू० 777 है। इससे यही सिद्ध होता है, कि प्राचीनतम उपनिषद् पार्श्व के पश्चात् के हैं।[339]

डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार प्राचीनतम उपनिषदों का कालमान ई०पू० आठवीं शताब्दी से ई०पू० तीसरी शताब्दी तक है।[340]

आर्थर ए० मैकडॉनल के अभिमतानुसार प्राचीनतम वर्ग वृहदारण्यक छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय और कौशितकी उपनिषद् का रचना काल ई०पू० 600 है।[341]

भगवान पार्श्वनाथ जी का अस्तित्त्व काल ई०पू० दसवीं शताब्दी है। कालगणना के अनुसार श्रमण भगवान महावीर का निर्वाण ई०पू० 528 में हुआ था। उनका जीवन काल 72 वर्ष का था। भगवान पार्श्व भगवान महावीर से 250 वर्ष पूर्व हुए थे। उनका जीवनकाल 100 वर्ष था।[342]

अतः वैदिक संस्कृति पार्श्वनाथ भगवान के उपदेशों से बहुत प्रभावित हुई। जैसा कि महाकवि निकर लिखते हैं, "हिदुत्व और जैन धर्म आपस में घुलमिलकर इतने एकाकार हो गए हैं, कि आज का साधारण हिन्दु यह जानता भी नहीं है, कि

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैन धर्म के उपदेश थे, हिन्दुत्व के नहीं।''

इस प्रकार स्पष्ट है, कि उपनिषद् साहित्य भगवान पार्श्व के पश्चात् निर्मित हुआ है। भगवान पार्श्वनाथ ने यज्ञ आदि का अत्यधिक विरोध किया था। आध्यात्मिक साधना पर बल दिया था, जिसका प्रभाव वैदिक ऋषियों पर भी पड़ा और उन्होंने उपनिषदों में यज्ञों का विरोध किया। उन्होंने स्पष्ट कहा - 'यज्ञ विनाशी और दुर्बल साधन है, जो मूढ़ हैं, वे इनको श्रेय मानते हैं, वे बार-बार जरा और मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं।'[344] भगवान पार्श्वनाथ के आत्म-विज्ञान का वैदिक संस्कृति पर इतना प्रभाव पड़ा, कि उस समय यज्ञ याग तथा शुष्क वैदिक क्रिया-काण्ड के प्रति विरोध के स्वर प्रखर होने लगे। तात्कालिक वेदानुयायी क्षत्रिय कुमार जैसे जनक, श्वेतकेतु, उद्दालक, जाबाली, आरुणि, याज्ञवल्क्य आदि विज्ञजन ऋषियों तक को आत्म-विद्या का उपदेश देते थे।[345]

वैदिक परम्परा की भाँति ही भगवान बुद्ध के जीवन दर्शन पर तीर्थंकर पार्श्वनाथ की परम्परा की गहरी छाप पड़ी थी। स्वयं बुद्ध अपने प्रमुख शिष्य सारिपुत्र से कहते हैं, कि - ''सारिपुत्र बोधि प्राप्ति से पूर्व मैं दाढ़ी-मूछों का लुंचन करता था। मैं खड़ा रहकर तपस्या करता था। उकडू बैठकर तपस्या करता था। मैं नंगा रहता था। लौकिक आचारों का पालन नहीं करता था। हथेली पर भिक्षा लेकर खाता था। बैठे हुए स्थान पर आकर दिए हुए अन्न को, अपने लिए तैयार किए हुए अन्न को और निमंत्रण को भी स्वीकार नहीं करता था।''[346]

यह समस्त आचार जैन श्रमणों का है। इस आचार में कुछ स्थविर कल्पिक हैं और कुछ जिनकल्पिक है। दोनों ही प्रकार के आचारों का उनके जीवन में सम्मिश्रण हैं। संभव है प्रारंभ में गौतम बुद्ध पार्श्व की परम्परा में दीक्षित हुए हों। श्रीमति राइस डेविड्स का भी ऐसा ही मत है, ''बुद्ध पहले गुरु की खोज में वैशाली पहुँचे, वहाँ आलार और उद्रक से उनकी भेंट हुए, फिर बाद में उन्होंने जैन धर्म की तप-विधि का अभ्यास किया।''[347]

चूँकि बुद्ध और महावीर समकालीन थे, अतः जिस जैन संस्कृति से बुद्ध प्रभावित हुए, वह महावीर की परम्परा तो हो नहीं सकती, अतः यह सिद्ध होता है, कि वे उनसे पूर्व हुए तीर्थंकर पार्श्वनाथ जी की परम्परा से ही प्रभावित हुए।

इस प्रकार भगवान पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता वैदिक, बौद्ध अन्य दार्शनिक विद्वानों के मतों से तो प्रमाणित होती ही है, जैन आगमों में भी महावीर के समय तक भी पार्श्वनाथ जी के अनुयायियों की विद्यमानता के प्रमाण मिलते हैं।

उत्तराध्ययन के तेवीसवें अध्याय में केशी श्रमण और गौतम का संवाद है। वह संवाद यह प्रमाणित करता है, कि महावीर से पूर्व निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय में चार याम को मानने वाला एक सम्प्रदाय था, जिसके प्रधान प्रणेता भगवान पार्श्वनाथ थे।[348]

भगवती सूत्र, सूत्रकृतांग और उत्तराध्ययन आदि आगमों में ऐसे अनेक पार्श्वपत्य श्रमणों का वर्णन आया है, जो चार याम को छोड़कर महावीर के पंचमहाव्रत रूप धर्म को स्वीकार करते हैं। इससे भी यह सिद्ध होता है, कि महावीर के पूर्व चतुर्याम धर्म को मानने वाला भगवान पार्श्व का निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय विद्यमान था।[३७]

इस प्रकार बुद्ध और उपनिषदों से पूर्व में पार्श्वनाथ जी की परम्परा विद्यमान थी। यह भी माना जाता है, कि यूनान के महान् दार्शनिक पाइथागोरस भारत आए थे और भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमणों के सम्पर्क में रहे। उन्होंने उन श्रमणों से आत्मा, पुनर्जन्म, कर्म आदि जैन सिद्धान्तों का अध्ययन किया और फिर वे विचार उन्होंने यूनान की जनता में प्रसारित किए। उन्होंने मांसाहार का विराध किया। कितनी ही वनस्पतियों का भक्षण भी धार्मिक दृष्टि से त्याज्य बतलाया। उन्होंने पुनर्जन्म को सिद्ध किया।[३८]

उपर्युक्त विविध सन्दर्भों के परिप्रेक्ष्य में यह प्रमाणित हो जाता है, कि भगवान पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक महापुरुष थे, जिनका विभिन्न दर्शनों एवं लोगों पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। भगवान पार्श्वनाथ की स्तुति के रूप में जितने मंत्र एवं स्तोत्र उपलब्ध होते हैं, उतने वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौबीस तीर्थंकरों में से किसी के भी नहीं है। पार्श्वनाथ भगवान के काव्य, महाकाव्य, चरित्र एवं मन्दिरों की सर्वाधिक संख्या है।

उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर यह ज्ञात होता है, कि भगवान पार्श्वनाथ ने केवलज्ञान के पश्चात सुदूर प्रदेशों में विहार एवं धर्म प्रचार किया था। काशी-कौशल से नेपाल तक प्रभु का विहार हुआ। पार्श्वनाथ जी ने कुरु, काशी, कौशल, अवन्ति, पौण्ड्र, मालव, अंग, बंग, कलिंग, पांचाल, मगध, विदर्भ, दशार्ण, सौराष्ट्र, कर्नाटक, कोंकण, मेवाड़, लाट, द्रविड़, कच्छ, काश्मीर, शाक, पल्लव, वत्स और आभीर आदि विभिन्न क्षेत्रों में विहार किया। दक्षिण कर्नाटक, कोंकण, पल्लव और द्रविड़ आदि उस समय अनार्य क्षेत्र माने जाते थे। शाक भी अनार्य देश था। शाक्य भूमि नेपाल की उपत्यका में है, वहाँ भी पार्श्व के अनुयायी थे।[३९] महात्माबुद्ध के काका स्वयं भगवान पार्श्वनाथ के श्रावक थे। जो शाक्यदेश में भगवान के विहार होने से ही संभव हो सकता है।

इस प्रकार आर्य एवं अनार्य दोनों ही क्षेत्रों में पार्श्वनाथ जी के विहार हुए और दोनों ही जातियों पर उनका प्रभाव था। वे सभी उनके परम भक्त थे, अतः पार्श्वनाथ भगवान को 'पुरिसादरणीय' कहा जाने लगा। भगवान महावीर ने भी उनके लिए इस विशेषण का प्रयोग अनेक स्थानों पर किया है। आगमों में अन्य सभी तीर्थंकरों के लिए 'अरहा' विशेषण का ही उल्लेख मिलता है। केवल पार्श्वनाथजी का परिचय देते हुए लिखा गया है, कि 'पासेणं अरहा पुरिसादाणीए, पासस्सणं अरहओ पुरिसादाणि

अस्स।'[152] इससे प्रमाणित होता है, पार्श्वनाथ जी में कोई खास विशिष्टता मानी जाती थी। पुरुषादानीय का अर्थ है - पुरुषों में आदरणीय। इस विशेषण से भगवान पार्श्वनाथ की विशिष्टता लोकप्रियता एवं प्रभाव पृथक् रूप से परिलक्षित होता है।

जीवन परिचय : इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में काशी देश में बनारस नाम का नगर था। वहाँ काश्यपगोत्री राजा विश्वसेन राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम वामादेवी था। एक बार उन्होंने वैशाख कृष्ण द्वितीया के दिन प्रातःकाल के समय विशाखा नक्षत्र में चौदह शुभ स्वप्न देखे और मुख में प्रवेश करता हुआ हाथी देखा। तभी पार्श्वनाथ जी के जीव ने माता के गर्भ में प्रवेश किया। नव माह पूर्ण होने पर पौषकृष्ण एकादशी के दिन अनिल योग में प्रभु का जन्म हुआ। तब देवों ने आकर जन्माभिषेक करके उनका नामकरण पार्श्वनाथ किया।[153]

भगवान पार्श्वनाथ के देह की कांति नीलवर्ण की थी और ऊँचाई नौ हाथ की थी। उनकी आयु सौ वर्ष की थी और व्रत पर्याय सत्तर वर्ष की थी। तीर्थंकर नेमिनाथ और पार्श्वनाथ के निर्वाण का अन्तरकाल तिरासी हजार साढ़े सात सौ वर्ष का था।[154]

कुमार पार्श्व सोलह वर्ष के हुए तब एक दिन क्रिड़ा करते हुए नगर से बाहर उद्यान में पहुँच गए। वहाँ एक तापस अपनी तपस्या का प्रदर्शन करता हुआ पंचाग्नि के मध्य बैठा था और अग्नि को अधिक प्रज्वलित करने के लिए उसमें और लकड़ियाँ डाली। कुमार पार्श्व ने अवधिज्ञान से जानकर तापस को रोकने का प्रयास किया, कि लकड़ी में जीव हैं, लेकिन तापस ने अपने अभिमान में उनकी बात को नहीं माना। तब पार्श्वकुमार ने जलती लकड़ी को निकालकर उसे तोड़ कर दिखाया, उसमें अधजले सर्प का जोड़ा निकला। पार्श्वकुमार के उद्‌बोधन से वह सर्प युगल शांति से मरकर धरणेन्द्र पद्मावती देव बने।[155]

पार्श्वकुमार जब तीस वर्ष के हुए तब उन्हें मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से आत्मज्ञान हुआ और वे दीक्षा लेने के लिए प्रवृत्त हुए। पार्श्वकुमार विमला नाम की पालकी में बैठकर अश्ववन में पहुँचे। वहाँ उन्होंने तेले का नियम लेकर सिद्ध भगवान को नमस्कार करके पौषकृष्ण एकादशी के दिन प्रातःकाल तीन सौ राजाओं के साथ दीक्षा अंगीकार की।[156]

केवलज्ञान : दीक्षा अंगीकार करने के पश्चात् मुनि पार्श्व चार माह तक छद्मस्थ अवस्था में विचरण करते हुए दीक्षावन अश्ववन में पहुँचे और देवदारु के विशाल वृक्ष के नीचे तेले का नियम लेकर ध्यानस्थ हुए। और सात दिन तक ध्यानस्थ रहे। तभी आकाशमार्ग से जाते हुए कमठ तापस का जीव, जो शम्बर असुर बना था, को अपने पिछले भव का वैर-विरोध याद आ गया। तब उसने क्रोधवश यमराज की भाँति सात दिन तक अतिवृष्टि की, छोटे-मोटे पहाड़ लाकर ध्यानस्थ प्रभु के पास गिराए। तब धरणेन्द्र-पद्मावती ने प्रभु पार्श्वनाथ को सर्प फन से आवृत कर उस भीषण तूफान से

बचाया। कमठ भी थककर चला गया। तब पार्श्वनाथ जी को द्वितीय शुक्लध्यान के द्वारा चैत्र कृष्ण त्रयोदशी के दिन प्रातःकाल के समय विशाखा नक्षत्र में केवलज्ञान हुआ।[357]

यहाँ यह उल्लेखनीय है, कि पार्श्वनाथजी ने नाग युगल की रक्षा की, जिसके फलस्वरुप उन्होंने उनकी रक्षा की। इसके अतिरिक्त आज तक नाग जाति उनकी पूजा करती है, जो आज भी असम की पहाड़ियों में रहते हैं।[358]

धर्म-परिवार : भगवान पार्श्वनाथ के समवसरण में स्वयंभू आदि दश गणधर थे, तीन सौ पचास मुनि पूर्वधर थे, दस हजार नौ सौ शिक्षक थे, एक हजार चार सौ अवधिज्ञानी थे, एक हजार केवलज्ञानी थे, और छह सौ वादी थे। इस प्रकार सब मिलाकर सोलह हजार मुनि थे। सुलोचना आदि छत्तीस हजार आर्यिकाएँ थीं। एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएँ थीं। असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यात तिर्यञ्च थे। इस प्रकार की बारह प्रकार की धर्मसभाओं को प्रभु पार्श्वनाथ जी ने पांच माह कम सत्तर वर्ष तक विचरण करते हुए प्रतिबोधित किया।[359]

निर्वाण : भगवान पार्श्वनाथ जी की आयु का एक माह शेष रहा तब वे सम्मेद शिखर पर चले गये। वहाँ छत्तीस मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण करके विराजमान हो गए। श्रावण शुक्ला सप्तमी के दिन प्रातःकाल के समय विशाखा नक्षत्र में प्रभु मोक्षगामी हुए। तब इन्द्रों ने आकर पंचम मोक्ष कल्याणक की पूजा की।[360]

24. महावीर स्वामी :

वर्तमान अवसर्पिणी काल में भरतक्षेत्र के चौबीसवें तथा अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर हुए। भगवान महावीर प्रामाणिक रूप से एक इतिहास पुरुष माने गये हैं। उनका समय ई॰ पू॰ छठी शताब्दी माना गया है। यह काल संपूर्ण विश्व में सामाजिक सुधार एवं धार्मिक उत्क्रान्ति का काल था। ई॰ पू॰ छठी शताब्दी में भारत में महावीर एवं बुद्ध ने वैदिक हिंसा व आडम्बर पूर्ण क्रियाकाण्डों के विरोध में अहिंसा का उपदेश देकर धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्रांति का सूत्रपात किया। उसी काल में चीन में लाओत्से और कन्फ्यूसियस यूनान में पाइथागोरस, अफलातून और सुकरात, ईरान में जरथुष्ट, फिलीस्तीन में जिरेमियाँ और इर्जाकेल आदि महापुरुषों ने अपने-अपने क्षेत्र में सांस्कृतिक एवं धार्मिक क्रान्ति का सूत्रपात किया था। इन सभी युगपुरुषों में सर्वाधिक सशक्त, करुणामय, धर्ममय, मानवता के नियमों से विश्वकल्याण और विश्व प्रेम का जो आदर्श उपस्थित किया, 'जिओ और जीने दो' का नारा दिया, वह अनुपम एवं अद्वितीय है। महावीर के जीवन-दर्शन सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक आदर्श हैं।

वर्तमान काल में उपलब्ध समस्त जैन आगम, सूत्र, सिद्धान्त एवं शास्त्र भगवान महावीर द्वारा उपदेशित एवं भाषित तत्वों के आधार पर ही गणधरों एवं बाद के आचार्यों द्वारा लिपिबद्ध किये गये हैं। यद्यपि यह उल्लेख मिलता है, कि चतुर्दश पूर्व

भी जैन आगम हैं, जो पार्श्व कालीनश्रुत माने जाते हैं, लेकिन वे वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं, लुप्तप्राय हो गये हैं।

जीवन-परिचय : भरत क्षेत्र के विदेह नामक देश में कुण्डलपुर नगर के राजा सिद्धार्थ थे। उनकी त्रिशला नाम की रानी थी। एक बार आषाढ़ शुक्ला षष्ठी के दिन उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में रात्रि के चौथे प्रहर में चौदह स्वप्न देखे। तीर्थंकर प्रभु के जीव ने तभी माता के गर्भ में प्रवेश किया। नौवाँ माह पूर्ण होने पर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन अर्यमा नामक शुभ योग में प्रभु का जन्म हुआ। देवेन्द्रों ने सुमेरु पर्वत पर ले जाकर उनका अभिषेक किया और उनका नाम श्री वर्धमान रखा।[361]

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है, कि श्वेताम्बर आगमों में यह माना गया है, कि भगवान महावीर का जीव पहले तीन माह तक देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में रहा। उसके पश्चात हरिणगमेशी देव ने गर्भापहरण करके उसे माता त्रिशला की कुक्षि में स्थापित किया। इसका कारण यह बताया गया, कि तीर्थंकरों का जन्म क्षत्रिय कुल में ही होता है।[362]

श्री वर्धमान की देह की कांति सुवर्ण के समान थी और ऊँचाई सात हाथ की थी। उनकी आयु बहत्तर वर्ष की थी। उनकी दीक्षा पर्याय बयालीस वर्ष की थी। तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ और महावीर के निर्वाण का अन्तरकाल दो सौ पचास वर्ष था।[363]

एक बार वर्द्धमान बाल्यकाल में अपने मित्रों के साथ खेल रहे थे। कुमार वर्द्धमान पेड़ पर चढ़े हुए थे, तभी एक भयंकर नाग उस पेड़ पर आ गया। सभी बालक डर कर भागने लगे, लेकिन वर्द्धमान उस पर चढ़कर क्रीड़ा करने लगे। तभी से उनका नाम महावीर पड़ गया।[364]

तीस वर्षों तक कुमार काल व्यतीत करने के पश्चात आत्मज्ञान होने से महावीर चन्द्रप्रभा नाम की पालकी में बैठकर पाण्डव वन में गये। वहाँ तेले का नियम लेकर उन्होंने मिगसर वदी दशमी के दिन उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में संध्या के समय संयम धारण किया।[365]

यहाँ यह स्पष्ट कर देना चाहूँगी, कि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में वासुपूज्य, मल्ली, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर इन पाँचों तीर्थंकरों को 'कुमार प्रव्रजित' कहा है। दिगम्बर आम्नाय में तो कुमार का अर्थ, अकृत राज्याभिषेक एवं अविवाहित दोनों ही स्वीकार किया गया है। लेकिन श्वेताम्बर परम्परा में कुमार शब्द से सिर्फ आकृत राज्य का अर्थ किया गया है। अतः वे मानते हैं कि महावीर का विवाह यशोधरा से हुआ तथ प्रियदर्शिनी नाम की एक पुत्री भी हुई। विवाह के डेढ़ वर्ष पश्चात् उन्होंने संयम धारण किया।[366]

केवल ज्ञान : दीक्षा अंगीकार करते ही महावीर को चौथा मनः पर्ययज्ञान हो

गया। उसके पश्चात् वे तपश्चरण करते हुए बारह वर्ष तक छद्मथ अवस्था में भ्रमण करते रहे। फिर एक दिन वे जम्भृक ग्राम के पास ऋजुकूला नदी के किनारे मनोहर वन में साल वृक्ष के नीचे तेला का नियम लेकर प्रतिमायोग से विराजमान हुए। वैशाख शुक्ला दशमी के दिन अपराह्न काल में हस्त और उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के बीच में चन्द्रमा के आ जाने पर प्रभु महावीर को केवलज्ञान हुआ। सौधर्मेन्द्र ने चतुर्थ ज्ञान कल्याणक की पूजा की।[367]

धर्म परिवार : महावीर भगवान ने केवलज्ञान के 24 घंटे पश्चात् प्रथम देशना दी, तब इन्द्रभूति गौतम प्रभु से उद्‌बोधन पाकर अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ, प्रभु के पास दीक्षित हो गए और महावीर के प्रथम गणधर हुए। उनके पश्चात् वायुभूति, अग्निभूति, सुधर्म, मौर्य, मौन्द्रय, पुत्र, मैत्रेय, अकम्पन, अन्धवेला तथा प्रभास आदि दस गणधर हुए। इनके अतिरिक्त तीन सौ ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों के धारक थे, नौ हजार नौ सौ यथार्थ संयम को धारण करने वाले शिक्षक थे, एक हजार तीन सौ अवधिज्ञानी थे, सात सौ केवलज्ञानी थे, नौ सौ विक्रियाऋद्धि के धारक थे, पाँच सौ पूजनीय मनः पर्ययज्ञानी थे और चार सौ अनुत्तरवादी थे। इस प्रकार सब मिलाकर चौदह हजार मुनिराज थे। चन्दना आदि छत्तीस हजार आर्यिकाएँ थीं, एक लाख श्रावक थे, तीन लाख श्राविकाएँ थीं। असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यात तिर्यंच थे। इस प्रकार बारह प्रकार की सभाओं को तीर्थंकर महावीर ने अर्धमागधी भाषा में प्रतिबोधित किया। उन्होंने छहद्रव्य, सततत्त्व, संसार और मोक्ष के कारण तथा उनके फल का प्रमाण नय और निक्षेप आदि उपायों के द्वारा विस्तारपूर्वक निरुपण किया। भगवान का उपदेश सुनकर भव्य बुद्धि वाले कितने ही सभासदों ने संयम धारण कर लिया और कितनों ने ही सम्यग्दर्शन धारण कर लिया।[368]

निर्वाण : भगवान महावीर अनेक देशों में विहार करते हुए धर्म के वास्तविक स्वरूप का प्रसार करते रहे। अन्त में पावापुरी नगर में जाकर मनोहर नामक उद्यान में बेले का नियम लेकर विराजमान हो गए। कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी के दिन रात्रि के अन्तिम समय में स्वाति नक्षत्र में एक हजार मुनियों के साथ मोक्षगामी हुए। उसी रात्रि में उनके प्रथम गणधर गौतम स्वामी को केवलज्ञान हुआ।[369]

जैन दर्शन की प्राचीनता पर दार्शनिक व इतिहासविदों के मत :

जैन संस्कृति की प्राचीनता के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अपने अपने गहन शोध के आधार पर जो निष्कर्ष निकाले और अपने मन्तव्य प्रस्तुत किये हैं, उन्हें जानना भी समीचीन होगा। हम जान सकते हैं, कि जैन धर्म की प्राचीनता को विद्वानों ने किस प्रकार स्वीकार किया है।

डॉ॰ एस॰ राधाकृष्णन् के अनुसार, "ईसा से एक शताब्दी पूर्व भी ऐसे लोग थे, जो ऋषभदेव की पूजा करते थे। जो सबसे पहले तीर्थंकर थे। इसमें कोई सन्देह नहीं,

कि वर्धमान और पार्श्वनाथ से पूर्व भी जैन मत प्रचलित था। यजुर्वेद में तीन तीर्थंकरों के नामों का उल्लेख है - ऋषभदेव, अजितनाथ एवं अरिष्टनेमि।''[370]

न्यायमूर्ति रांगलेकर (बम्बई हाई कोर्ट) के अनुसार ''आधुनिक ऐतिहासिक शोध से यह प्रकट हुआ है कि यथार्थ में ब्राह्मण धर्म का सद्भाव अथवा हिन्दु धर्म रूप में परिवर्तन होने के पहले, बहुत काल पहले जैन धर्म इस देश में विद्यमान था।''

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने इतिहास समुच्चय में लिखा है, कि ''काश्मीर के राजवंश में 47वां अशोक राजा हुआ, इसने 62 वर्ष तक राज्य किया, श्री नगर इसी ने बसाया और जैन मत का प्रसार किया, यह राजा शार्चीनर का भतीजा था, मुसलमानों ने इसको शुकराज या शकुनिका बेटा लिखा है, इसके वक्त में श्रीनगर में छः लाख मनुष्य थे, इसका सत्ता समय 1394 ई०पू० का है।''[371]

उपर्युक्त कथन से यह बात सिद्ध होती है, कि आज से 3401 वर्ष पहले कश्मीर तक जैन धर्म प्रचार पा चुका था और बड़े-बड़े राजा लोग इस धर्म को मानने वाले थे। रामायण के समय का वर्णन करते हुए लेखक लिखते हैं, कि ''अयोध्या के वर्णन में उसकी गलियों में जैन फकीरों का फिरना लिखा है, इससे प्रकट है कि रामायण के बनने से पहले जैनियों का मत था।''[372]

स्वामी राममिश्र शास्त्री के अनुसार ''जैन दर्शन वेदान्तादि दर्शनों से भी पूर्व के हैं। तब ही तो वेदव्यासजी ब्रह्मसूत्रों में कहते हैं, **'नैकस्मिन संभवात्।'** जब वेदव्यास जी के ब्रह्मसूत्र प्रणयन के समय पर जैनमत था, जब तो उसके खण्डनार्थ उद्योग किया गया। यदि वह पूर्व में नहीं होता तो वह खण्डन कैसा और किसका? ..... वेदों में अनेकान्तवाद का मूल मिलता है।..... सृष्टि की आदि से जैन मत प्रचलित है।' जैसे कालचक्र ने जैनमत के महत्त्व को ढाँक दिया है, वैसे ही उसके महत्व को जानने वाले लोग भी अब नहीं रहे।''[373]

श्री वरदकान्त मुखोपाध्याय के अनुसार ''शंकराचार्य स्वयं स्वीकार करते हैं कि जैन धर्म अति प्राचीन काल से है। वे बादरायण व्यास के वेदान्त सूत्र के भाष्य में कहते हैं, कि दूसरे अध्याय के द्वितीय पाद के सूत्र 33-36 जैन धर्म ही के सम्बन्ध में है। शारीरिक मीमांसा के भाष्यकार रामानुज का भी यही मत है।''[374]

श्री विद्यालंकार ने भी लिखा है, ''जैन धर्म बहुत प्राचीन धर्म है और महावीर से पहले तेईस तीर्थंकर हो चुके हैं, जो उस धर्म के प्रवर्तक या प्रचारक थे। सबसे पहले तीर्थंकर राजा ऋषभदेव थे, जिनके पुत्र भरत के नाम से इस देश का नाम भारत वर्ष पड़ा।''

नाना लाल चि० मेहता के अनुसार ''चीनी तुर्कस्तान के गुहा मंदिरों में उसके प्रासंगिक चित्र भी देखने को हमें मिल जाते हैं।''[375]

प्रो० जैनी के अनुसार ''अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध किया जा सकता है कि

यद्यपि जैन धर्म का समकालीन बंधु धर्म, बौद्ध धर्म भारत वर्ष की सीमा में से लगभग अदृश्य हो गया था, फिर भी विद्वानों से उसको आवश्यक न्याय प्राप्त हुआ है। परन्तु जैन धर्म को जो, कि देश में आज तक भी टिका हुआ है और जिसने इस विशाल देश की संस्कृति एवं उसकी राजकीय और आर्थिक घटनाओं पर भी भारी प्रभाव डाला है, विद्वानों से आवश्यक न्याय प्राप्त नहीं हुआ और न आज भी प्राप्त हो रहा है, यह महाखेद की बात है।''[१०८]

प्रो॰ जैनी के कथन के सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है, कि पाश्चात्य दार्शनिकों में से कुछ तो असंदिग्ध रूप से जैन धर्म को प्राचीन और विश्वव्यापी मानते हैं, लेकिन कतिपय विचारक इसे अर्वाचीन और यहाँ तक कि बौद्ध धर्म की शाखा तक कहने से भी नहीं चूके। लेकिन वे स्वयं अपने मत के प्रति निश्चित नहीं रहे। यथा-

श्री विल्सन कहते हैं, कि सब विश्वस्त प्रमाणों से भी यह अनुमान दूर नहीं किया जा सकता है, कि जैन जाति एक नवीन संस्था है और ऐसा लगता है कि वह सर्वप्रथम आठवीं और नवीं सदी ईसवी में वैभव और सत्ता में आई थी। इससे पूर्व बौद्ध धर्म की शाखा रूप में वह कदाचित अस्तित्त्व में रही हो और इस जाति की उन्नति उस धर्म के दब जाने के बाद से ही होने लगी हो, कि जिसको स्वरूप देने में इसका भी हाथ था।[१०९] श्री विल्सन ही फिर आगे कहते हैं, कि ''भारतवर्ष की जनसंख्या के जैन निःसंदेह एक महान् और जाहोजलाली एवं सत्ता की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग है।''[११०] श्री डब्ल्यू॰एस॰ लिले के अनुसार ''बौद्ध धर्म अपनी जन्मभूमि में जैनधर्म के रूप में टिका हुआ है। यह निश्चित बात है, कि जब भारतवर्ष से बुद्ध धर्म अदृश्य हो गया, जैनधर्म दिखलाई पड़ा था।''[१११]

डॉ॰ हॉपकिंस जैसे सुप्रसिद्ध विद्वान् भी जैन धर्म के सन्दर्भ में भ्रमित थे, जिसे बाद में स्वयं उन्होंने स्वीकार किया था। डॉ॰ होपकिंस के अनुसार, ''भारत के सब महान् धर्मों में से नात पुत्त का धर्म ही न्यूनतम रोचक है और प्रत्यक्षतः जीवित रहने का वह न्यूनतम अधिकारी है। जो धर्म मुख्य सिद्धांत रूप से ईश्वर को नहीं मानता, मनुष्य पूजा करना, और कीड़ी-मकोड़ी की रक्षा-पोषण करना सिखाता है, उसको वस्तुतः जीवित रहने का ही न तो अधिकार है और न उसका विचार-तत्त्वज्ञान के इतिहास में ही एक दर्शन रूप से कोई अधिक प्रभाव ही कभी रहा है।''[११२]

अपने ऐसे बेबुनियाद निष्कर्षों को भ्रम-निवारण किए जाने पर डॉ॰ होपकिंस ने श्री विजयेन्द्रसूरि जी को एक पत्र में लिखा था, कि ''मुझे अब एकदम पता लग गया है, कि जैनों का व्यवहारी धर्म प्रत्येक रीति से प्रशंसा पात्र है। तब से मैं निश्चय ही दुःखी हूँ, कि लोगों के चरित्र और नैतिकता पर इस धर्म ने जो आश्चर्य जनक प्रभाव डाला उसकी ओर ध्यान दिए बिना ही ईश्वर को नहीं मानने, केवल मनुष्य पूजा करने और कीड़ी-मकोड़ी की रक्षा पोषण करने वाले के रूप में जैन धर्म की मैंने निंदा की।

परन्तु जैसा, कि बारंबार बना करता है, धर्म के साथ गाढ़ सम्बन्ध ही, न कि पुस्तकों द्वारा प्राप्त किए बाहरी ज्ञान, उसकी विशिष्टताओं का दिग्दर्शन कराता है और समष्टि में अत्यंत अनुकूल वातावरण वही उत्पन्न करता है।''[351]

डॉ॰ हॉपकिंस के विरोध में श्री बेल्वल्कर लिखते हैं, ''अनेक पदार्थों की भाँति ही जिसे उसके कथनानुसार जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं है, वह जैनधर्म दो हजार से अधिक वर्षों से भी जीवित है, इतना ही नहीं अपितु उसने साधुओं एवं गृहस्थों में अनेक उत्तम कोटी के पुरुष भी उत्पन्न किए हैं और अत्यन्त श्रद्धालु और सत्य मार्ग शोधक अनेक उपासकों और भक्तों को मार्ग दर्शन कराकर वास्तविक शांति भी प्रदान की है।''[352]

इसी प्रकार श्रीमति स्टीवेन्सन यद्यपि जैन धर्म के अनेक सदियों तक राजधर्म होने से अनभिज्ञ है, फिर भी वे उसके व्यापक प्रभाव को स्वीकार करती है। उनका मत है, कि ''यद्यपि जैन धर्म किसी भी रीति से कहीं भी राजधर्म नहीं है, फिर भी आज जो प्रभाव उसका देखा जाता है, वह भारी है। उसके साहूकारों और सर्राफों का धन-वैभव, ऋणदाताओं व साहूकारों का सर्वोपरि महान् धर्म होने की उसकी स्थिति से इसका राजकाज पर प्रभाव, विशेष रूप से देशी राज्यों में सदा ही रहा है। यदि कोई इसके प्रभाव में शंका करता हो, तो उसे देशी राज्यों की ओर से प्रकाशित जैनों के पवित्र धार्मिक दिवसों में जीव हिंसा बंद रखने संबंधी आज्ञापत्रों की संख्या भर देख लेना चाहिये।''[353]

डॉ॰ हर्मन जैकॉबी तथा डॉ॰ व्हूलर जैसे विद्वानों ने ही सर्वप्रथम जैन धर्म को प्राचीन स्वतन्त्र धर्म के रूप में प्रतिष्ठित करके जैन धर्म का सतही अध्ययन करने वाले विचारकों का भ्रम तोड़ा। डॉ॰ जैकोबी के 'श्री भद्रबाहु के कल्पसूत्र की प्रस्तावना' और 'श्री महावीर तथा उनके पुरोगामी'[354] अनुक्रम से ई॰ सन् 1879 और 1880 में प्रकाशित विद्वतापूर्ण दो लेख और सन् 1887 में पढ़ा गया डॉ॰ व्हूलर का 'जैनों की भारतीय शाखा' लेख ही जैन धर्म के शास्त्रीय या बुद्धिगम्य और विस्तृत विवरण देने वाले सर्वप्रथम लेख थे। इनके फलस्वरूप अनेक यूरोपीय विद्वानों का ध्यान जैन धर्म की ओर आकर्पित हुआ और आज पुनः इसके प्राचीन गौरव को स्वीकार किया जाने लगा है।

हर्मन जैकोबी के अनुसार, जैन धर्म एक मौलिक पद्धति है, जो सभी धर्मों से नितान्त भिन्न है और स्वतन्त्र है, इसलिए प्राचीन भारत के दार्शनिक विचार और धार्मिक अध्ययन के लिए इसका अत्यन्त महत्त्व है। इसी प्रकार ओ॰ पेटोल्ड के अनुसार, ''जैन धर्म एक बहुत पुराना धर्म है, विद्वान् स्नातक यह बहुत कठिनाई से अनुमान कर सकते हैं, कि इसका मूल अत्यन्त सुदूर काल में भारत की प्रागार्थ जाति के समय तक पहुँचता है।''

मेजर जनरल फरलांग के मतानुसार "आर्य लोगों के गंगा और सरस्वती तक पहुँचने के बहुत पूर्व अर्थात् ईस्वी सन् से आठ सौ-नौ सौ वर्ष पहले होने वाले तीर्थंकर पार्श्वनाथ के पूर्व बाईस तीर्थंकरों ने जैनियों को उपदेश दिया था। अन्त में वह इस परिणाम पर पहुँचते हैं, कि जैन धर्म के प्रारम्भ को जानना असंभव है।"

डॉ० एन० गिरनाट जैन धर्म के स्वरूप के बारे में लिखते हैं, कि "जैन धर्म में मनुष्य की उन्नति के लिए सदाचार को अधिक महत्त्व दिया गया है। जैन धर्म अधिक मौलिक, स्वतंत्र तथा सुव्यवस्थित है। ब्राह्मण धर्म की अपेक्षा यह अधिक सरल, सम्पन्न एवं विविधतापूर्ण है और यह बौद्ध धर्म की तरह शून्यवादी नहीं है।"

इस प्रकार गहन अध्ययनशील विद्वानों के द्वारा जैन धर्म की प्राचीनता और व्यापकता को स्वीकार किया जाना भी अपने आप में एक प्रमाण पुरस्सर वक्तव्य व्यक्त करता है, जैन धर्म व संस्कृति की प्राचीनता का।

अतः यहाँ कहना चाहूँगी, कि जैन धर्म न केवल प्राचीन है वरन् वह विश्व के अनेक दूरस्थ भू-भागों में प्रसारित एवं पूजित था। इसका विवेचन हमें कतिपय जैन व्यापारियों द्वारा व्यापारिक संबंधों और समुद्री यात्राओं के वर्णन में ही मिल पाता है। आज से तीन चार शताब्दियों पूर्व के कतिपय हस्तलिखित ग्रंथों में हमें ऐसे कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्र मिलते हैं, कि भारत से बाहर भी अफगानिस्तान, ईरान, इराक, टर्की आदि देशों तथा सोवियत रुस के अजोब सागर से ओब की खाड़ी से भी उत्तर तक तथा लाटविया से अल्लाई के पश्चिमी छोर तक किसी काल में जैन धर्म का व्यापक प्रसार था। इन प्रदेशों में अनेक जैन मन्दिरों, जैन तीर्थंकरों की विशाल मूर्तियों की विद्यमानता का भी इनमें उल्लेख है। कतिपय व्यापारियों और पर्यटकों ने जो इसी दो तीन शताब्दियों में हुए है, इन विवरणों में यह दावा किया है, कि वे स्वयं अनेक कष्ट सहन करके इन स्थानों की यात्रा करके आये हैं।

ऐसे विवरणों में सर्वप्रथम विवरण बुलाकीदास खत्री का है, जो सं० 1682 (सन् 1625 ई०) में घोड़ों का काफिला लेकर अपने साथियों के साथ उत्तरापथ के नगरों की यात्रा पर निकला था। यह काफिला विभिन्न नगरों एवं तीर्थों की यात्रा करता हुआ नौ वर्ष बाद लौटकर अपने घर आगरा पहुँचा। इस यात्रा में उसने आगरा से यात्रा प्रारम्भ करके लाहौर, मुल्तान, कंधार, इस्तफान (इसकानगर), खुरासान, इस्तंबूल (आसतंबोल), बब्बर, बब्बरकूल या बाबर तथा तारातंबोल नगरों को देखा, जिनमे से कतिपय नगरों का उन्होंने सविस्तार वर्णन भी किया है। इन नगरों के मध्य की पारस्परिक दूरी उन्होंने क्रमशः 300, 150, 300, 800, 600, 1200, 500 और 700 कोस दी है। विभिन्न हस्तलिखित ग्रंथों में इस विवरण के अनेक संस्करण मिलते हैं, जिनमें यत्र तत्र थोड़ा बहुत अंतर भी है। एक संस्करण में काबुल और परेसमान नगरों का भी यात्रा मार्ग में उल्लेख है। स्व० मुनि कान्तिसागर जी[365] श्री सागरमल जी

कोठारी,[396] स्व॰ श्री वासुदेव शरण अग्रवाल[397] एवं श्री अगरचंद जी नाहटा ने भी इस विवरण के कई एक संस्करण प्रकाशित करा दिए हैं।

दूसरा विवरण मिलता है, अहमदाबाद के व्यापारी पद्मसिंह की सपरिवार दूर देशान्तर की यात्रा का। यह विवरण स्वयं पद्मसिंह ने यात्रा से लौटकर हैदराबाद से अहमदाबाद में रह रहे रतनचंद भाई को लिखे अपने पत्र में किया था। यह पत्र भी मुनि श्री कान्तिसागर जी ने प्रकाशित करवा दिया। पद्मसिंह जी ने यह यात्रा सं॰ 1805 में प्रारम्भ की थी और 16 वर्ष बाद सं॰ 1821 में वह लौटकर सकुशल स्वदेश आए थे।

उनकी यात्रा का मार्ग इस्तंबूल तक प्रायः वही रहा, जो बुलाकिदास का रहा है। लेकिन उसके आगे वे अजितनाथ जी के मन्दिर से युक्त किसी ताल, तलंगपुर, चंद्रप्रभु तीर्थ, नवापुरी, पाटण और तारातंबोल (द्वितीय) की यात्रा का विवरण देते हैं। पद्मसिंह जी इस्पहान को आशापुरी तथा इस्तंबूल को तारातंबोल नाम देते हैं।[398] ऐसा संभव है, कि ध्यान चूक जाने से या विस्मृति से प्रवाह में लिखा गया है।

दिगम्बर जैन पुस्तकालय कापड़िया भवन, सूरत[399] से प्रकाशित एक अन्य ग्रन्थमाला में भी उत्तर दिशा के तीर्थ वर्णन में पूर्व से पश्चिम में बहने वाली गंगानदी के किनारे पर अनेक जैन मंदिरों की विद्यमानता का उल्लेख किया गया है। उसमें तारातंबोल में भी जैन मंदिरों और मूर्तियों की वंदना के साथ-साथ, किसी जवला-गवला नामक शास्त्र की विद्यमानता की भी सूचना दी है। तीर्थमाला में तारातंबोल के मार्ग में मांगी तुंगी पर्वत पर 28 हाथ (42 फुट) चौड़ी तथा 48 हाथ (72 फुट) ऊँची मूर्ति का भी उल्लेख है, जिसके पाँव के अँगूठे पर 28 नारियल ठहर सकते थे। इसी प्रकार एक ऐसे सवरोवर का भी उल्लेख किया है, जिसमें 6 हाथ × 10 हाथ आकार की शान्तिनाथ जी की प्रतिमा स्थित थी।

पद्मसिंह जी ने इस्तंबूल में मुकुट स्वामी की 38 हाथ × 28 हाथ (57 फुट × 42 फुट) आकार की निराधार खड़ी मूर्ति का वर्णन किया है, जिसके पाँव के अंगूठे पर भी उपर्युक्त मांगीतुंगी पर्वत पर खड़ी मूर्ति के पाँव के अंगूठे के समान 28 नारियल रखे जा सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, कि दोनों वर्णन एक ही मूर्ति के हैं। इस्तंबूल में निराधार खड़ी इस विशाल मूर्ति का वर्णन हमें इसी नगर में खड़ी हरक्यूलिस की इस विशाल मूर्ति की याद दिलाता है, जो विश्व के आठ आश्चर्यों में से एक मानी जाती रही है।

पद्मसिंह जी इस्तंबूल से 600 कोस की दूरी पर स्थित किसी ताल में अजितनाथ जी की 20 हाथ × 6 हाथ (30 × 9 वर्ग फुट आकार की मूर्ति की विद्यमानता का वर्णन करते हैं। जहाँ वे नाव के द्वारा गये थे। वहाँ से वे 500 कोस दूरस्थ तलंगपुर नगर का वर्णन करते हैं और बताते हैं, कि वहाँ 28 जैन मंदिर थे।

तलंगपुर से वे 700 कोस दूर नवापुरी पट्टन जाते हैं व मार्ग में किसी चन्द्रप्रभु के मंदिर के दर्शन भी करते हैं। लेकिन उन्होंने इस मंदिर के निश्चित स्थान के बारे में कुछ नहीं लिखा। नवापुरी पट्टन से 300 कोस दूर स्थित तारातंबोल नगर का उन्होंने बड़ा ही सरस वर्णन किया है। इस नगर में उन्होंने अनेक जैन मंदिर, मूर्तियाँ व हस्तलिखित ग्रंथ संग्रह देखे तथा जैन मुनि के दर्शन किए। सूरत से प्रकाशित दिगम्बर जैन तीर्थ माला में तारातंबोल में किसी 'जवला गवला' नामक शास्त्र की विद्यमानता की सूचना पद्मसिंह जी के वर्णन में हस्तलिखित ग्रंथों के विद्यमान होने की पुष्टि करती है।

बुलाकीदास जी के द्वारा किया गया तारातंबोल का वर्णन भी बड़ा ही सजीव है। वे लिखते हैं, कि वहाँ बादशाह हिन्दू है तथा जैन धर्मावलंबी है। उनका नाम जैचंद सूर, चन्द्रसूर या सूरचन्द्र है। वहाँ, जैनों के मंदिर सोने व चांदी के बने हुए हैं, मूर्तियाँ रत्नजटित हैं। राजा के साथ प्रजा भी जैन धर्मानुयायी है। यह नगर सिंधुसागर नामक नदी के किनारे पर स्थित है। इसी के अन्य संस्करण में तारातंबोल के आस-पास स्थित मंदिरों की संख्या 700 दी गई है। शहर के मध्य में आदीश्वर जी के विशाल मंदिर के स्थित होने की बात लिखी है, जिसमें 108 जड़ाव की मूर्तियाँ थीं, प्रतिमाओं की वेदियाँ स्वर्ण जटित थीं, आदिश्वर जी का सिंहासन भी जड़ाऊ था। मंदिर में 700 मन सोने की ईंटों का उपयोग किया गया था तथा इस मंदिर में त्रिकाल पूजा होती थी। मुनि शील विजय जी भी तारातंबोल का लगभग ऐसा ही वर्णन करते हैं।

बुलाकीदास जी ने इस्तंबूल से आगे 500 कोस पर बब्बर देश या बाबर नगर का नामोल्लेख किया है। शील विजय जी उसे बबरकूल कहते हैं। वे लिखते हैं, कि "बबरकूल वशि पंचासे, पवन राज ईहा सुधि बसे" अर्थात् इस्तंबूल से पाँच सौ कोस दूर बबरकूल है, जहाँ पवनराज का भी निवास है। यह वर्णन बेबीलोनिया के उन मूल पुरुषों की याद दिलाता है, जो मतु या मर्तु (वैदिक मरुत) नाम के वायुदेवता के पूजक थे। शील विजय जी का बब्बरकूल स्थित पवनराज व बेबलोनिया में 'मरुत' देवता की स्थापना से प्रतीत होता है, कि यह बब्बरकूल बेबीलोनिया ही होना चाहिये। यहाँ के निवासी भारत से निकले पणि और चौल ही माने जाते हैं। बेबीलोनिया, सीरिया के दक्षिण, फारस के पश्चिम और अरब के उत्तर में स्थित प्रदेश हैं। लेकिन यात्रा मार्ग के अन्य नगरों को देखते हुए प्रतीत होता है, कि केस्पियन सागर के दक्षिणी तट पर बसे बाबुल को ही बाबर, बब्बर या बबरकूल कहा गया होगा। पद्मसिंह जी ने अजितनाथ जी के मंदिर की दूरी इस्तंबूल से उतनी ही बताई है, जितनी बुलाकीदास ने बाबर की। अतः अनुमान लगाया जा सकता है, कि वह मूर्ति बाबर में ही रही होगी। तलंगपुर की स्थिति के बारे में कुछ निश्चित कहना कठिन है। तलंग शब्द उन हूणों और तुर्कों के लिए प्रयुक्त शब्द है जो गोबी के रेगिस्तान, इस्सिकुल और सिरदरिया में

ऊँचे पहियों की गाड़ी रखते थे। बुलाकीदास जी इस्फान में और शील विजय जी ने इस्तंबूल में इसी जाति का राज्य होना बताया है। अतः प्रतीत होता है, कि सिर दरिया के किनारे ताशकंद से थोड़ा उत्तर में बसा तुर्किस्तान ही पद्मसिंह जी का तलंगपुर हो सकता है।

पद्मसिंह जी तलंगपुर या तुर्किस्तान से नवापुरी पट्टण गए। नगर के अन्तर में पट्टन शब्द के प्रयोग से प्रतीत होता है, कि यह कोई नदी या समुद्र के किनारे स्थित व्यापारिक नगर था। तुर्कीस्तान और नवापुरी के मध्य वे चन्द्रप्रभु तीर्थ भी गए। इसकी स्थिति वहाँ रही होगी यह कह पाना कठिन है, लेकिन नवापुरी पट्टन ओब नदी की खाड़ी में बसा नोवा पोर्ट ही प्रतीत होता है, जिसकी स्थिति चन्द्रप्रभु जी से 700 कोस कही गई है। तारातंबोल नवापुरी पट्टन से 300 कोस दूर कहा गया है।

वास्तव में तारातंबोल किसी एक नगर का नाम नहीं है। ये इर्तिश नदी के किनारे बसे तारा और तोबोलस्क नाम के दो नगर है। तारा इर्तिश और इशिम के संगम पर बसा है और तोबोलस्क इर्तिश और तोबेल के संगम पर। इन दो नगरों के मध्य की दूरी बहुत अधिक नहीं है। इसीलिए इनके नामों का प्रयोग एक दूसरे की पहचान के लिए साथ-साथ किया गया है, जो सामान्य प्रथा रही है। बुलाकीदास जी, शील विजय जी.म॰ आदि इसे सिंधुसागर नदी पर स्थित बताते हैं। संभवतः इर्तिश और भारतीय सिंधु नदी रुसी उच्चारण ईंत में उच्चारण साम्य के भ्रम से उन्होंने इर्तिश को ही सिंधु सागर कहा है।

शील विजय ने तारातंबोल से 100 गाउ (गव्यूति) दूर जिस स्वर्ण कांतिनगर का उल्लेख किया है, वह 'अल्ताई' का संस्कृत रूप है। तुर्की और मंगोल भाषाओं में अल्ताई का अर्थ है, स्वर्णगिरी। अल्ताई की पहाड़ियों में स्थित सोने की खानें अज्ञातकाल से ही सारे एशिया की सोने की मांग को पूरा करती रही है। अतः भारतीय व्यापारियों का भी अवश्य ही इन खानों से संबंध सदा से रहा होगा। यह कल्पना की जा सकती है।

शील विजय जी ने जैन धर्मी प्रजाजनों से भरे-पूरे जिस लाट देश का तारातंबोल के साथ उल्लेख किया है, वह स्पष्टतः लाटविया है। इन वर्णनों से अल्ताई से लाटविया तक की समस्त प्रजा जैन धर्मावलंबी सिद्ध होती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है, कि इन उल्लिखित स्थानों में भारतीयों ने पूर्वकाल में अवश्य ही अपने मंदिर, जिनालय आदि बनाए होंगे। साधु-संत भी वहाँ रहते होंगे, उन्होंने शास्त्र भी लिखे होंगे। लेकिन इस्लाम धर्म के प्रचार-प्रसार और पश्चिमी देशों की राजनैतिक उथल-पुथल ने भारतीयों के इन प्रदेशों से प्राचीन संपर्क को तोड़ दिया। बौद्ध धर्म के प्रभाव ने अपनी समान प्रकृति के जैन धर्म के अवशेषों को आत्मसात कर लिया और इसी से अब तक शोध-खोज करने वाले विद्वानों ने इसे

बौद्ध धर्म से ही संबंधित किया है। बौद्ध धर्मोपदेशकों ने भारत से बाहर जाकर शताब्दियों तक धर्म-प्रचार किया और जैन या वैदिक धर्मावलंबी प्रचारकों ने ऐसा नहीं किया होगा, यह बात समझ में नहीं आती है। अतः ये यात्रा विवरण और प्रस्तुत तीर्थों का स्थान निर्धारण अवश्य ही इनके शोध का मार्ग-प्रशस्त करते हैं। इसे हम पुरातात्विक साक्ष्यों के द्वारा परख कर और अधिक प्रामाणिक सिद्ध कर सकते हैं।

पुरातात्विक साक्ष्य : इतिहास का वह हिस्सा जिसके सम्बन्ध में लिखित साधन नहीं मिलते, प्रागैतिहासिक काल कहा जाता है। जिस काल में मानव सभ्य बन गया और लिखित साधन उपलब्ध होते हैं, उसे आद्य इतिहास कहा जाता है। हड़प्पा संस्कृति को आद्य इतिहास कहा जा सकता है। इसके पूर्व 2600 ई०पू० से पहले प्राक् इतिहास कहा जाता है। भारत में प्राचीनतम लिखित सामग्री जो पढ़ी गई है, अशोक के अभिलेख हैं, जो ईसा की तीसरी सदी पूर्व के हैं। इससे पूर्व के गौतम बुद्ध और महावीर की ऐतिहासिकता में तो कोई संदेह नहीं है।

प्रागैतिहासिक काल की जानकारी हमें केवल पुरातात्विक साधनों के आधार पर होती है। पुरातात्विक स्रोत को मुख्य रूप से छह भागों में बाँटा जा सकता है - 1. उत्खनन, 2. सिक्के, 3. अभिलेख, 4. स्मारक या भवन, 5. चित्रकला तथा 6. मूर्तियाँ।

1. **उत्खनन** : सर जॉन मार्शल के नेतृत्व में 1901 ई० में ही भारत में ऐतिहासिक स्थलों पर खुदाई करके प्राचीन सामग्री प्राप्त की गई, जिसके आधार पर प्राक् इतिहास व आद्य इतिहास की जानकारी प्राप्त होती है। इस काल से सम्बन्धित जानकारी अग्र लिखित स्थलों से प्राप्त होती है :-

आदमगढ़, अहाड़, आलमगीरपुरा, आमरा, अतरंजी, खेड़ा, बागौर, मदाने, भोगत्राओं, ब्रह्मगिरी, चन्दोली, चिरांद, दायमा, बाद, एराण, हड़प्पा, इमामगाँव, कालीबंगन, खण्डी विली, कोलडिहवा, ललितपुर, लेखहिता, महेश्वर, मोहन-जोदड़ो, नागरी, आदियल, अहिच्छत्र, अम्बाखेरी, अंजीरा, बहदराबाद, बरगाँव, भीम बेटाका, बीर भानपुरा, बूर्जहोम, चौतेरो, उवरकोट, दाओजलीह, दिंग, वल्लुर, हस्तिनापुर, जोखे कामथ, किलेगुल मुहम्मद, कोटदिजि, लंघनज, लोथल, मास्की, मुन्दीजक, नालंदा, नाल- नवदातोली, नोह, पंचमपल्ली, पतने, पेढ़म्बी, प्रकाश, रुपरसराय, नाहरराय, सिंहभूमि, सूतकागेनदार, टेक्कल कोट, विसोदी, नासिक, नेवासा, पेठान, पाण्डुराजरदीन, पलवीय, पिकलीहल, राणा गुण्डाय, संगनकल्लु, सियहदम्ब, सोनेगाँव, टीनर सापिर, उतनुर, पालबाय आदि।

भारत में स्थित उपर्युक्त स्थलों की खुदाई से प्राप्त पत्थर, हड्डी के औजार, मकानों के खण्डहर, मिट्टी के बर्तन आभूषण आदि वस्तुओं के स्तरों की जानकारी होती है। पुरापाषाण युग के कुछ पत्थरों के खुरदरे औजार सोहन नदी (पाकिस्तान)

की घाटी में मिले हैं। इससे ज्ञात होता है, कि इस नदी के किनारे मानव 400000 से 200000 वर्ष पूर्व भी रहता था। उत्खनन के आधार पर ही हमें पता लगाता है, कि लगभग 26000 ई०पू० ही गंगाघाटी में भौतिक संस्कृति थी।

डॉ० बी०बी० लाल ने हस्तिनापुर के उत्खनन के आधार पर बताया है, कि महाभारत में वर्णित कौरव-पांडव युद्ध लगभग 900 ई०पू० में हुआ। बलुचिस्तान, उत्तर पश्चिमी भारत, गंगा-यमुना, दोआब तथा दक्षिण भारत में लोहे के अवशेष से एक महत्त्वपूर्ण तकनीकी जानकारी होती है।[37]

मथुरा, उदयगिरी, खण्डगिरी, कौशांबी, विदिशा, उज्जयिनी आदि स्थानों से अनेक प्राचीन अवशेष प्राप्त हुए हैं। उनसे पता चलता है, कि ई० सन् के पहले उत्तर भारत में कई जगह जैन स्तूपों, मन्दिरों तथा तीर्थंकर प्रतिमाओं का निर्माण हो चुका था। उत्तर भारत में जैन कला के जितने प्राचीन केन्द्र थे, उनमें मथुरा का स्थान अग्रगण्य है। सोलह शताब्दियों से ऊपर के दीर्घकाल में मथुरा में जैन धर्म का विकास होता रहा। यहाँ के चित्तीदार लाल बलुए पत्थर की बनी हुई कई हजार जैन कलाकृतियाँ अब तक मथुरा और उसके आसपास के जिलों से प्राप्त हो चुकी हैं।

मथुरा में एक प्राचीन खंभे पर कंकाली देवी की मूर्ति है और उसके पास ही एक टीला है, अतः उसे कंकाली टीला कहते हैं। मथुरा से नैऋत्य कोण में आगरा और गोवर्धन जाने वाली सड़क के बीच 500 फुट लंबा व 350 फुट चौड़ा विस्तार वाला यह कंकाली टीला है। उसके अन्दर से दो ढ़ाई हजार वर्ष से भी प्राचीन कई वस्तुएँ निकली हैं। जिनमें प्राचीन जैन मन्दिरों के भग्न खण्डहर, जैसे-स्तूप, तोरण, आयागपट्ट, खंभे, खंभे पर की पट्टियाँ, छत्र और मूर्तियाँ आदि मिले हैं। उन ध्वंसाऽवशेष खण्डहरों में कोई 110 प्राचीन शिलालेख भी प्राप्त हुए हैं। उन शिलालेखों से यह तो स्पष्ट हो गया, कि महात्मा बुद्ध से दो सौ वर्ष पूर्व भी मथुरा में जैन मन्दिर विद्यमान थे और समय-समय पर अनेक जैनाचार्य वहाँ आकर धर्मोपदेश देते रहे हैं। जैनों में स्त्रियाँ भी दीक्षा लेकर भ्रमण करती थीं।

सर्वप्रथम 1871 ई० में जनरल कनिंघम ने कंकाली टीले पर उत्खनन का कार्य करवाया और कई प्राचीन अवशेष प्राप्त हुए। उसके पश्चात् 1875 ई० में मथुरा के कलेक्टर ग्राऊज साहब ने वहाँ खुदाई करवाई, तब भी कई प्राचीन नमूने मिले। बाद में 1887 ई० से 1896 ई० तक डॉक्टर ब्रजेश और डॉ० फूहरर ने कंकाली टीले पर कई बार खुदाई करवायी और फलस्वरूप अनेक प्राचीन प्रमाण एकत्र किए, जिन्हें लखनऊ के अजायबघर में रखा गया। डॉ० फूहरर ने अपने शोध पर एक रिपोर्ट तैयार की, जिसका सारांश कुछ इस प्रकार है -

1. श्वेताम्बर जैनों की 10 मूर्तियाँ निकली हैं। उन पर शिलालेख भी अंकित हैं। उनमें 4 शिलालेख तो ऐसे हैं, कि जिनसे जैनों के इतिहास पर अच्छा

प्रकाश पड़ता है।

2. श्वेताम्बर जैनों के एक विशाल मन्दिर के 34 टुकड़े हैं और वे हविष्क राजा के समय के हैं।
3. महावीर की एक मूर्ति है, उसे 23 तीर्थंकरों की मूर्तियाँ घेर कर बैठीं हैं जिसे जैन चौबीसी कहते हैं।
4. संवत् 1036 और 1134 की बनी हुई पद्मप्रभु की दो मूर्तियाँ हैं।
5. ई॰ सन् पहली शताब्दी की बनी हुई बोधि सत्त्व, अमोघसिद्धार्थ की एक मूर्ति है।
6. बुद्ध की दस मूर्तियाँ लेख सहित हैं।
7. नर्तकी के पूरे कद की मूर्ति सहित एक खंभ है।
8. चार फुट व्यास का एक बहुत ही अच्छा पत्थर का छत्र है।

उपर्युक्त रिपोर्ट से यह तो प्रमाणित हो ही जाता है, कि किसी समय में मथुरा में जैन तथा बौद्ध दोनों धर्मों का बड़ा प्राबल्य रहा था।

सन् 1889-90 में जब जैन स्तूप और दिगम्बर जैनों के मन्दिर की खुदाई का काम हुआ तब 80 मूर्तियाँ जैन तीर्थंकरों की निकलीं और उनके साथ ही 120 टुकड़े जो पत्थर की पट्टियों के थे, निकले और उन पर बहुत से शिलालेख भी हैं। उन शिलालेखों में 17 तो बहुत पुराने हैं। सर्वाधिक खुदाई का कार्य सन् 1890-91 में हुआ और इन वर्षों की निकली वस्तुओं का उल्लेख डॉ॰ फुहरर ने इस प्रकार किया है -

1. पत्थर के 737 टुकड़े निकले, जिन पर बहुत ही अच्छा नक्काशी का काम खुदा हुआ है। इनमें पटियों, चौर पटे, खंभे, तोरण, दरवाजे और मूर्तियाँ वगैरह भी शामिल हैं और शिल्पकलाविदों की जाँच से वे बहुत ही प्राचीन प्रमाणित होती हैं।
2. इन खण्डहरों में से 62 टुकड़े ऐसे हैं, जिन पर शिलालेख खुदे हुए हैं। वे शिलालेख ईसा के डेढ़ सौ वर्ष पूर्व पहले से लेकर ई॰स॰ 1023 तक के हैं।
3. इनमें एक लेख ऐसा है, जिसके अक्षर उस लेख से भी बहुत पुराने हैं, जो कि ईसा के 150 वर्ष पूर्व खोदा गया था। यह लेख एक मन्दिर का है। इसमें मन्दिर बनाने वाले का नाम भी है। इससे प्रमाणित होता है, कि ईस्वी सन् से कई शताब्दियों पहले भी मथुरा में जैन मन्दिर विद्यमान थे। उस मन्दिर के ऊपर का काम यह सिद्ध करता है, कि दो ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व भी इस देश में शिल्पकला अपनी उत्कृष्टता को पहुँची हुई थी।
4. एक मूर्ति की बाँई तरफ खुदा हुआ एक और शिलालेख मिला है। उसमें

लिखा है, कि यह मूर्ति ईस्वी सन् 156 वर्ष पूर्व स्थापित हुई थी और यह मूर्ति एक ऐसे स्तूप के हत्थे में थी, जिसको स्वयं देवताओं ने बनाया था।[332]

मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई का कार्य अभी पूर्ण नहीं हआ है, उसमें अभी भी न जाने कितनी अनमोल निधियाँ इतिहास की प्रमाण पुरस्सरता को अपने में समेटे हुए भूगर्भ में ही उत्खनन शोध के लिए अपेक्षित रूप में विद्यमान है। कंकाली टीले के अतिरिक्त भी उत्खनन में अनेक स्थानों पर जैन धर्म की प्राचीनता के अनेक पुरातात्त्विक प्रमाण प्राप्त हुए हैं। जैसे –

1. श्री स्थम्भन तीर्थ में एक पार्श्वनाथ की प्राचीन मूर्ति है, उसके पृष्ठभाग में एक शिलालेख खुदा हुआ है –

   ''नमे स्तीर्थे कृत स्तीर्थे, वर्षे द्विक चतुष्टये।
   आषाढ़ श्रावको गौड़ोऽकारयत् प्रतिमा त्रयम्॥''

   अर्थात् इक्कीसवें तीर्थंकर श्री नमिनाथ के 2222 वर्षों के बाद गौड़ देश के आषाढ नामक श्रावक ने तीन मूर्तियाँ बनावाकर प्रतिष्टा करवाई थी। उनमें एक चारुप नगर में, एक श्रीपत्तन में और एक स्तम्भनतीर्थ में विराजित की। इन प्रतिमाओं का समय प्रायः पाँच लाख वर्षों का है।
2. आकोला (बरार) के पास एक ग्राम में भूगर्भ में से कई मूर्तियाँ मिली हैं जिनमें कई मूर्तियाँ तो विक्रम संवत् से कई शताब्दियों पहले की बताई जा रही हैं।
3. पटना के पास खुदाई का कार्य करते हुए जो मूर्तियाँ मिली हैं, वे सम्राट कोणिक (अशोक) के समय की बताई जाती है।
4. जैंतलसेर (काठियावाड़) के पास डाका ग्राम से मिली हुई जैन मूर्तियाँ भी विक्रम पूर्व कई शताब्दियों की हैं।
5. मथुरा से 14 मील की दूरी पर परखम ग्राम है। वहाँ की खुदाई में मिली हुई मूर्तियाँ विक्रम पूर्व 250 वर्षों की हैं।
6. वैनातट के खुदाई काम से प्राप्त हुई जैन मूर्तियाँ भी 2300 वर्ष प्राचीन हैं।
7. धन कटक प्रान्त के भूगर्भ से मिली हुई जैन मूर्तियाँ चक्रवर्ती खारवेल के दो सौ वर्ष पहले की हैं।
8. श्रावस्ती नगर के पास खुदाई का काम करते समय भूगर्भ में से एक संभवनाथ का मन्दिर मिला है। वह भगवान महावीर के समय या उनसे भी प्राचीन है।[333]
9. भारत के बाहर भी जैन धर्म का प्रसार पुरातन काल में रहा है। कुछ वर्ष पूर्व आस्ट्रिया के बुडापेस्ट नगर के समीपवर्ती खेत में एक किसान को

भगवान महावीर की मूर्ति प्राप्त हुई थी। (परिशिष्ट 5)

तक्षशिला के पास अंग्रेजों ने खुदाई का काम करवाया था, जिसमें भूमि में से एक नगर निकला 'मोहन-जोदड़ो'। उस नगर में से करीब 500 वर्ष प्राचीन ध्यानावस्थित एक मूर्ति प्राप्त हुई। यह भारत सरकार के केन्द्रीय पुरातात्विक संग्रहालय में सुरक्षित सील क्र0 620/1928-29 है। इस सील में दायीं ओर नग्न कायोत्सर्ग मुद्रा में भगवान् ऋषभदेव हैं, जिनके शिरोभाग पर एक त्रिशुल है, जो रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र) का प्रतीक है। निकट ही उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत है, जो राजसी ठाठ में हैं। वे भगवान के चरणों में अंजलिबद्ध भक्तिपूर्वक नतमस्तक हैं। उनके पिछे वृषभ (बैल) है, जो ऋषभदेव जी का चिह्न (पहचान) है। अधोभाग में सात प्रधान अमात्य हैं, जो तत्कालीन राजसी गणवेश में पदानुक्रम से खड़े हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त सील में हमें सात विषय दिखाई देते हैं - 1. ऋषभदेव नग्न कायोत्सर्गरत योगी, 2. प्रणाम की मुद्रा में नतशीश भरत चक्रवर्ती, 3. त्रिशुल, 4. कल्पवृक्ष पुष्पावलि, 5. मदुलता, 6. वृषभ (बैल) 7. पंक्तिबद्ध गणवेश धारी प्रधान अमात्य। जैन वाङ्मय से इन तथ्यों की पुष्टि होती है। इतिहासवेत्ता श्री राधाकुमुद मुकर्जी ने भी इस बात को माना है, कि मथुरा संग्रहालय में भी ऋषभ की इस तरह की मूर्ति सुरक्षित है। पी०सी० राय ने भी माना है, कि मगध में पाषाणयुग के बाद कृषि युग का प्रवर्तन ऋषभयुग में हुआ।

इस तरह की संरचना का आधार कोई सुदृढ़ सांस्कृतिक परम्परा ही हो सकती है। भारतीय इतिहास, संस्कृति और साहित्य ने इस तथ्य को पुष्ट किया है, कि सिन्धुघाटी की सभ्यता जैन सभ्यता थी। सिन्धुघाटी के संस्कार जैन संस्कार थे। सिन्धुघाटी में प्राप्त योगमूर्ति यह सिद्ध करती है, कि जैन धर्म प्राग्वैदिक ही नहीं वरन् सिन्धु घाटी सभ्यता से भी अधिक प्राचीन है।

श्री रामप्रसाद चन्दा ने अगस्त 1932 के 'मॉर्डन रिव्यू' में कायोत्सर्ग मुद्रा के सम्बन्ध में लिखा है, कि 'यह जैनों की विशिष्ट ध्यान मुद्रा है और जैन धर्म प्राग्वैदिक है, उसका सिन्धुघाटी की सभ्यता पर व्यापक प्रभाव था।'

श्री पी०आर० देशमुख के ग्रंथ 'इंडस सिविलाइजेशन एण्ड हिन्दू कल्चर' में यह स्पष्ट उल्लेख है, कि "जैनों के पहले तीर्थंकर सिन्धु सभ्यता के ही थे। सिन्धु जनों के देव नग्न ही थे। जैन लोगों ने उस सभ्यता, संस्कृति को बनाये रखा और नग्न तीर्थंकरों की पूजा की।"

सिन्धु जनों की भाषा प्राकृत थी। प्राकृत जनसामान्य की भाषा है। जैनों और हिन्दुओं में भारी भाषिक भेद है। जैनों के समस्त प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ प्राकृत में है। जबकि हिन्दुओं के समस्त ग्रन्थ संस्कृत में है। प्राकृत भाषा के प्रयोग से भी यह सिद्ध होता है, कि जैन प्राग्वैदिक है और उनका सिन्धुघाटी सभ्यता से सम्बन्ध था।[३४]

डॉ० ज्योति प्रसाद जैन का ऐसा मत है, कि सिन्धु घाटी सभ्यता में प्राप्त अवशेषों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है, कि उसके पुरस्कर्ता प्राचीन विद्याधर जाति के लोग थे तथा धार्मिक मार्गदर्शक मध्य प्रदेश के वे मानववंशी मूल आर्य थे, जो श्रमण संस्कृति के उपासक थे। संभवनाथ का विशेष चिह्न अश्व है और सिन्धु देश चिरकाल तक अपने सैन्धव अश्वों के लिए प्रसिद्ध रहा है। मौर्यकाल तक सिंध में एक सम्भूतक जनपद और सांभव (सबूज) जाति के लोग विद्यमान थे, जो बहुत सम्भव है, कि तीर्थंकर सम्भवनाथ जी की परम्परा से सम्बद्ध रहे हों। इसी प्रकार सिन्धु सभ्यता में नागफण के छत्र से युक्त कलाकृतियाँ भी प्राप्त हुई हैं, जो सातवें तीर्थंकर सुपार्श्व की हो सकती हैं। इनका चिह्न स्वास्तिक है और उत्खनन से प्राप्त सामग्री से हम जान सकते हैं, कि तत्कालीन सिन्धु घाटी में स्वास्तिक एक अत्यन्त लोकप्रिय चिह्न रहा है।

इस प्रकार जैन इतिहास में चौबीस तीर्थंकरों की परम्परा एक मिथक नहीं है। उसका अपना ऐतिहासिक और आध्यात्मिक महत्त्व है, जो पुरातात्विक शोधों के द्वारा निरंतर प्रमाणित होता जा रहा है।

प्रसिद्ध इतिहासकार आर०एस० शर्मा[१०] के अनुसार सिन्धु प्रदेश पर आक्रमण करने वाले आर्य ही लगते है, जो ईरान होते हुए भारत आकर यहाँ के सिन्धु प्रदेशों में बसने का प्रयास कर रहे थे। इनके आगमन से इनका सिन्धु के मूल निवासियों के साथ युद्ध होना स्वाभाविक लगता है।

इस सभ्यता को विदेशी आक्रमणकारियों ने नष्ट कर दिया। इस मन्तव्य के दो आधार बताए गए हैं :-

1. मोहन जोदड़ो के ऊपरी स्तर पर पाये गए लगभग 48 नरकंकालों का अन्वेषण।
2. ऋग्वेद में वर्णित वैदिक देवता इन्द्र का उल्लेख, जिसने कई दुर्गों को बर्बाद किया।

इस प्रदेश में पाये गये नर कंकालों के अध्ययन से पता चला, कि इन पर तलवार जैसे किसी तेजधार वाले हथियार से वार किए गए थे। जबकि सिन्धुवासी शान्तिप्रिय थे। वे हथियारों के बारे में अधिक नहीं जानते थे। हरियूपीय नामक शहर की चर्चा ऋग्वेद में मिलती है, जिसे इन्द्र ने नष्ट किया। विद्वान इसे हड़प्पा मानते हुए आर्यों को इस संस्कृति व सभ्यता का विनाशक बताते हैं।

उत्खनन में प्राप्त सामग्री से यह ज्ञात होता है, कि विवाह एवं धार्मिक उत्सवों के समय ढ़ोल बजाना सिन्धु सभ्यता की ही देन है। सोने-चाँदी, हाथी दाँत, मोती, नीलम आदि के आभूषण सिन्धु काल में भी प्रचलित थे। वे गले में सबसे अधिक आभूषण पहनते थे। आज का शतरंज व पासों का खेल सिन्धु सभ्यता की देन है।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी सिन्धुकाल में पाया जाता है।[३५]

सिन्धु और पंजाब की सरहद पर भूमि से एक नगर फिर निकला है। इसको हड़प्पा के नाम से जाना गया है। वह नगर करीब दश सहस्र वर्ष जितना पुराना कहा जाता है। इसमें से भी कई मूर्तियाँ निकली हैं। वे भी उस नगर के बराबर ही प्राचीन बतायी जाती है। हड़प्पा की संस्कृति को ई०पू० 3000 से 2000 वर्ष के काल की मानी जाती है। वे अनार्य एवं अवैदिक थे, किन्तु इनमें उन पश्चिमी आर्यों का जो कालान्तर में वैदिक संस्कृति को जन्म देने वाले थे, कुछ मिश्रण रहा हो सकता है। कम से कम नवोदित वैदिक आर्यों का हड़प्पा वालों के साथ ही सर्व प्रथम एवं सबसे भीषण संघर्ष हुआ। वैदिक साहित्य के दस्यु, असुर आदि यही थे। पश्चिमी एशिया में एक के बाद एक आने वाली सुमेर, असुर, बाबुली आदि सभ्यताओं का सम्पर्क अपने से ज्येष्ठ मोहनजोदड़ो एवं समकालीन हड़प्पा सभ्यता के साथ रहा है। मिस्र की प्राचीनतम सभ्यता भी इसी काल की हैं। ई०पू० 2350 के लगभग हड़प्पा के लोगों के साथ पश्चिमी एशिया की सुमेरी सभ्यता का सम्पर्क निश्चित रूप से रहा प्रतीत होता है। तत्कालीन काल गणना में यह तिथि महत्त्वपूर्ण है। हड़प्पा संस्कृति के चिह्न गंगा, चम्बल और नर्मदा के कांठों में पश्चिमी उत्तर प्रदेश (हस्तिनापुर) आदि में, पश्चिमी राजस्थान तथा गुजरात काठियावाड़ आदि प्रदेशों में भी प्राप्त हो चुके हैं, जो उसके विस्तृत प्रसार के सूचक हैं। इस सभ्यता की उत्तराधिकारिणी झूकर आदि उत्तरवर्ती सभ्यताएँ मानी जाती हैं। उसके पश्चात इन्डो-आर्यों, आर्यों तथा उनकी वैदिक सभ्यता का उदय माना जाता है।[३६]

सन् 1964-65 ई० में अहिच्छत्र के उत्खनन के द्वारा कुछ तथ्य इस प्रकार से प्रकाश में आए हैं -

1. अहिच्छत्र के प्रथम काल में 60 से०मी० ऊँचाई तक गेरुए रंग के मृण्पात्रों की प्राप्ति हुई है। इनमें साधार तश्तरियाँ, घट, कटोरे तथा कुंडे प्रमुख हैं। इनमें एक ऐसी भी तश्तरी पायी गई है, जो हड़प्पा संस्कृति में प्राप्त तश्तरियों से मिलती-जुलती हैं। अतः ऐसा माना जाने लगा है, कि गेरुए रंग के मृण्पात्रों वाली संस्कृति का सम्बन्ध पूर्व हड़प्पा संस्कृति से था। अतिरंजी खेड़ा, लालकिला, सीसथल, मोटाथल तथा सरस्वती घाटी के कई स्थलों से प्राप्त पुरावशेषों के आधार पर डॉ० आर०सी० गोड़ ने यह मत प्रतिपादित किया है। पिछले वर्षों में कुछ मृण्मुद्राएँ भी दक्षिण पाँचाल क्षेत्र में मुझे प्राप्त हुई हैं, जो गेरुए मृण्पात्रों के काल में लिखे के अस्तित्व को प्रकट करती हैं। यद्यपि इस मृण्मुद्रा की लिपि अपठनीय है। अतः उनके अक्षरों के रूप साम्य के आधार पर ही उन्हें पूर्व हड़प्पा संस्कृति से जोड़ा जा सकता है। इनमें से एक मृण्मुद्रा कीलाक्षरांकित प्रतीत होती है। इस चित्र के आधार पर ऋग्वेद में वर्णित दासराज्ञ युद्ध की प्रमाणिकता सिद्ध होती है, जिसमें पश्चिमोत्तर के पक्थ, भलान, विगाणिन सहित

दस राजाओं को पांचाल नरेश सुदास ने रावी के तट पर स्थित हरियूपिया में परास्त किया था तथा हस्तिनापुर के नरेश संवरण ने सिन्धु नदी पर स्थित कोट में शरण ली थी।

पुरातात्विक रिपोर्ट में स्पष्टतः यह संकेत है, कि अहिच्छत्र प्रथमकाल तथा द्वितीयकाल में निरन्तरता न होकर व्यवधान है। दोनों में लगभग 300 वर्ष का अन्तर था।

2. अहिच्छत्र के द्वितीय काल में धूसर चित्रित मृण्पात्रों की प्राप्ति यह प्रमाणित करती है, कि लगभग 1450 ई०पू० में अहिच्छत्र ने पुनः अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा प्राप्त की। यह महाभारत काल था, जब द्रोणाचार्य ने अहिच्छत्र को अपने अधिकार में रखा तथा दक्षिण पांचाल की राजधानी काम्पिल्य को द्रुपद को सौंप दिया। द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा के बाद अहिच्छत्र का महत्त्व पुनः घट गया।

3. अहिच्छत्र के तृतीय काल का प्रारम्भ काले चमकदार पॉलिश वाले मृण्पात्रों के साथ होता है, जो बौद्ध राज्य से सम्बन्धित है।

इस प्रकार उत्तर गंगाघाटी के इस क्षेत्र के पुरावशेषों से न केवल पूर्व वैदिक काल से लेकर महाभारत काल तक के प्रागैतिहासिक काल का पता लगता है, वरन् वैदिक साहित्य में वर्णित संस्कृति व राजवंशों के अस्तीत्व की पुष्टि भी कुछ अंशों तक हो जाती है। विभिन्न स्थानों पर हुए उत्खनन में अब तक सर्वाधिक प्राचीन सभ्यता सिन्धु सभ्यता ही उजागर हुई है। सिन्धु सभ्यता न केवल अनार्य थी, वरन् निश्चित रूप से द्रविड़ीय थी। यह द्रविड़ संस्कृति जिन, श्रमण संस्कृति की उपासक थी।

2. ***सिक्के*** : *खुदाई से प्राप्त प्राचीन सिक्के, सोने, चाँदी, ताम्बे, लोहे, सीसा* व मिट्टी के भी होते थे। उन पर बने देवताओं के चित्रों व धातुओं से तत्कालिक धार्मिक, सामाजिक व आर्थिक स्थितियों का ज्ञान होता है।

मोहन जोदड़ो में खुदाई से 500 से अधिक मोहरें मिली हैं, जिससे सिन्धु सभ्यता की धार्मिक स्थितियों का ज्ञान होता है। वस्तुतः सिन्धुघाटी की अनेक मुद्राओं में वृषभयुक्त कायोत्सर्ग योगियों की मूर्तियाँ अंकित मिली हैं, जिससे यह अनुमान होता है, कि वे वृषभ लांछनयुक्त योगीश्वर ऋषभ की पूजा करते थे। प्रो० प्राणनाथ विद्यालंकार ने तो वहाँ से प्राप्त एक मुद्रा (न० 449) पर तो 'जिनेश्वर' (जिन इडसरह) शब्द भी अंकित रहा बताया है और जैन आम्नाय की श्री, ह्रीं क्लिं आदि देवियों की मान्यता भी वहाँ रही बतायी है।

श्री रामप्रसाद चँदा का कथन है, कि "सिन्धु घाटी की अनेक मोहरों में अंकित न केवल बैठी हुई देव मूर्तियाँ योगमुद्रा में हैं और सुदूर अतीत में सिन्धु घाटी में योग मार्ग के प्रचार को सिद्ध करती है, बल्कि खड्गासन देव मूर्तियाँ भी योग की

कायोत्सर्ग मुद्रा में है। यह कायोत्सर्ग ध्यान मुद्रा विशेष रूप से जैन है। आदिपुराण आदि में इस कायोत्सर्ग मुद्रा का उल्लेख ऋषभदेव तपश्चरण सम्बन्ध में बहुधा हुआ है। जैन ऋषभ की इस कायोत्सर्ग मुद्रा में खड्गासन प्राचीन मूर्तियाँ ईसवी सन् के प्रारम्भकाल की मिलती है। मोहर नं. 3 से 5 तक के ऊपर अंकित देव मूर्तियों के साथ बैल भी अंकित है, जो ऋषभ का पूर्व रूप हो सकता है। ऋषभ या वृषभ का अर्थ होता है, बैल और ऋषभदेव तीर्थंकर का चिह्न बैल ही है।'[10]

प्राचीन वैशाली के बसाढ़ स्थल से खुदाई में चौथी शताब्दी ई.पू. की 24 मिट्टी की मोहरें प्राप्त हुई। हड़प्पा से भी अनेक मोहरें प्राप्त हुई हैं। सिन्धु क्षेत्र से प्राप्त मोहरों पर कुछ लिखा हुआ भी है, लेकिन उसे अभी तक पढ़ा नहीं जा सका है। सिन्धु क्षेत्र से प्राप्त मुद्राओं के द्वारा वहाँ देवी पूजा तथा शैव पूजा की भी पुष्टि होती है। इसके अतिरिक्त उन मोहरों से पशु आराधना के संकेत भी मिलते हैं। प्रो. मार्शल के अनुसार पशुओं का चित्रण मुहरों पर मिला है। मिस्र में भी नंदी या सांड की पूजा होती थी। बैल की पूजा तो लगभग सभी प्राचीन सभ्य देशों में लोकप्रिय थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव की प्राचीनतम सभ्यता के काल में मोहरें धातु की न होकर मिट्टी की होती थीं। उन पर अंकित आकृतियाँ उनके धार्मिक विश्वास को उजागर करती हैं, जो स्पष्ट रूप से जैन धर्म व संस्कृति की प्राचीनता का पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत करती हैं।

3. **अभिलेख** : मुहरों, प्रस्तर, स्तंभों, चट्टानों, ताम्र पत्रों, ईंटों, मन्दिरों की भित्तियों पर अभिलेख प्राचीन लिपी के रूप में पाये जाते हैं। सिन्धु घाटी से प्राप्त अभिलेख सबसे प्राचीन हैं, लेकिन वे अभी तक पढ़े नहीं जा सके हैं। इस लिपी का सम्बन्ध कुछ हद तक भारत की द्रविड़ भाषा से हो सकता है। उर्दू की तरह हड़प्पा लिपी भी दायें से बायें ओर लिखी जाती थी। इसकी पुष्टि दो हजार अभिलेखों के अध्ययन से होती है।

इस भाषा के लगभग चार सौ चिह्न अक्षर थे। लेकिन यह इन्डोग्राफिक या लोगोग्राफिक या किसी तीसरे प्रकार की लिपी थी। स्केनडिनेविया के डॉ. परपोला के अनुसार इनमें से कुछ प्राचीन तमिल भाषा के आधार पर पढ़े जा सकते हैं। लेकिन अन्य विद्वान् इसे नहीं मानते।

प्राचीन समय के सहस्रों लेख प्रकाश में आए हैं तथा निरन्तर खुदाई से नए अभिलेखों का पता चल रहा है। यद्यपि सभी अभिलेखों पर उनकी तिथि अंकित नहीं है, फिर भी अक्षरों की बनावट, उनमें प्रयुक्त भाषा के आधार पर उनका काल मोटे रूप में निर्धारित हो जाता है। इनमें सर्वाधिक प्राचीन अभिलेख प्राकृत भाषा में मिलते हैं। सर्वाधिक अभिलेख सम्राट अशोक के द्वारा लिखवाए गए शिलालेख हैं। सभी शिलालेख जनभाषाओं से अभिप्रेत प्राकृत में ही लिखे गए है। सम्राट अशोक की

राजभाषा मागधी प्राकृत थी। लेकिन उस समय अधिकांश भारत में शौरसेनी प्राकृत का प्रचलन था, अतः अधिकांश शिलालेखों में यही भाषा प्रयुक्त हुई है।

उदयगिरी खण्डगिरी में ई०पू० दूसरी सदी का चेदिवंशीय कलिंग सम्राट खारवेल का हाथी गुफा अभिलेख भी प्राकृत भाषा और ब्राह्मी लिपि में लिखा हुआ है। यह अभिलेख जैन इतिहास की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण है ही, साथ ही नन्दकालीन भारतीय इतिहास, मौर्य पूर्व युग की भारतीय प्राच्य-मूर्ति-शिल्पकला, प्राचीन कलिंग एवं मगध के राजनैतिक सम्बन्ध, दक्षिण भारतीय राज्यों से कलिंग के सम्बन्धों का उनमें सुन्दर वर्णन है। इसकी दसवीं पंक्ति में 'भरधवस' भारत का नाम लिखा है। इसे प्राचीनतम शिलालेखीय प्रमाण मानकर भारत का संवैधानिक नाम भारतवर्ष घोषित किया गया। इससे यह भी सिद्ध होता है, कि महावीर निर्वाण के 100 वर्ष बाद जैन धर्म कलिंग का राष्ट्र धर्म बन गया था।

इनसे भी प्राचीन अभिलेख पिपरहवा-बौद्ध अस्थिकलश अभिलेख पाँचवीं शती ई०पू० का सोहगौरा ताम्रपत्र- अभिलेख लगभग चौथी शती ई०पू० का तथा महास्थान खण्डित प्रस्तर-पट्टिका लगभग 300 ई०पू० का प्राप्त हुआ है। इन सभी में प्राकृत भाषा और ब्राह्मी लिपि का प्रयोग किया गया है।[20]

प्रभास पाटण कठियावाड़ में भूगर्भ से एक ताम्रपत्र मिला है। इसमें लिखा है, कि 'नेबुसदनेज़र नाम के राजा ने एक भव्य मन्दिर बनाकर गिरनार मण्डन नेमिनाथ को अर्पण किया है। इस ताम्र पत्र के आधार पर विद्वानों ने बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ को ऐतिहासिक व्यक्ति स्वीकार कर लिया है। नेबुसदनेज़र का समय ई०पू० छठी, सातवीं शताब्दी का माना गया है।'

जनरल कनिंघम ने 1871 ई०स० में सर्वप्रथम मथुरा के कंकाली टीले में खुदाई करवाई। इसमें उन्हें, जो शिलालेख मिले हैं, उनमें कई शिलालेखों पर कनिष्क, हविष्क और वासुदेव का नाम पाया जाता है, जिनका समय ईसा से पूर्व पचास वर्ष का है और कई शिलालेख तो इनसे भी बहुत पुराने हैं।

1895 ई० सन् में डॉ० फुहरर ने कंकाली टीले पर और खुदाई करवायी, जिसमें अर्हम् महावीर की एक पूरे कद की मूर्ति निकली, उस पर 299वें संवत् का एक शिलालेख भी है। यह संवत् कनिष्क, हविष्क और वासुदेव आदि कुशाणवंशी राजाओं का है। अभी तक इस सन् का प्रारंभ ई० सन् के 78वें वर्ष से माना जाता था। विद्वानों का मत था, कि इसे कनिष्क ने चलाया होगा। लेकिन इस शिलालेख के प्राप्त होने के पश्चात् यह माना जाने लगा, कि यह सम्वत् ईसा के 50 वर्ष पूर्व प्रचलित हुआ होगा।[21]

डॉ० फुहरर ने कंकाली टीले से प्राप्त शिलालेखों व अन्य सामग्री की प्रतिलिपियाँ व चित्र डॉ० व्हूलर के पास भेजे। उन्होंने वे सब 'एपिग्राफिका इण्डिका'

में प्रकाशित किए हैं। ये शिलालेख ईसा के 150 वर्ष पूर्व से लेकर 1050 वर्ष तक के हैं। उन पर पत्थर का जो काम है, वह बहुत बारीकी का है। उस पर जो मूर्तियाँ और बेलबूटे हैं, वे सब प्रायः इस देश की शिल्पकला से ही सम्बद्ध है। कुछ विद्वानों का मत है, कि फारस, असिरिया और बाबुल की कारीगरी की भी कुछ झलक उनमें है। इस टीले से प्राप्त सामग्री जैन आगमों में उल्लिखित बातों की प्रामाणिकता को सिद्ध करती है। इन शिलालेखों और चित्रों से जैनों के प्राचीन इतिहास और धर्म की अनेक बातों पर प्रकाश पड़ता है। भारत की प्राचीन वर्णमालाएँ तथा प्राकृतिक भाषाओं और उनके व्याकरण एवं शिल्पकला तथा राजनीतिक व सामाजिक व्यवस्था का ज्ञान होता है। इन शिलालेखों से यह तो निश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है, कि जैन धर्म बहुत प्राचीन है। हजारों वर्ष पूर्व भी इस धर्म के अनुयायी 24 तीर्थंकरों की परम्परा में विश्वास रखते थे।

4. **स्मारक** : प्राचीन काल में बने स्मारक, स्तूप, भवन मन्दिर आदि की निर्माण शैली व बनावट से उस काल की संस्कृति, धर्म आदि का ज्ञान होता है। उत्तर भारतीय मंदिरों की शैली 'नागर' शैली कही जाती है। दक्षिण भारत के मन्दिरों की शैली द्रविड़ शैली कही जाती है। इनके संयोग से बनी शैली को वेसर शैली कहा जाता है। संपूर्ण भारत व भारत से बाहर भी अनेक स्थानों पर प्राचीन मंदिर स्तूप आदि आज भी जैन धर्म की प्राचीनता एवं विशालता की गाथा गा रहे हैं।

प्राचीनकाल से ही मथुरा जैनों का पवित्र तीर्थस्थल रहा है। जैन साहित्य के अनुसार मथुरा के जैन धार्मिक प्रतिष्ठान अति प्राचीन हैं और वे कई तीर्थंकरों से जुड़े हैं। जिन प्रभसूरि (चौदहवीं शती) के मतानुसार "मथुरा में स्वर्ण एवं मणि निर्मित एक स्तूप था, जिसका निर्माण देवी कुबेरा ने सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ के सम्मान में करवाया था। दीर्घकाल पश्चात् तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मथुरा यात्रा के पश्चात् देवी के आदेश से इस स्तूप पर ईंटों का आवरण चढ़ाया गया और उसके पार्श्व में एक प्रस्तर प्रतिमा प्रतिष्ठापित की गई। महावीर निर्वाण से तेरह शताब्दियों के पश्चात् वप्पभट्टी सूरि की प्रेरणा से इस स्तूप का जीर्णोद्धार किया गया।"[10] विविध तीर्थकल्प में मथुरा के श्री सुपार्श्व-स्तूप को एक महत्त्वपूर्ण तीर्थ स्थल बताया गया है।[11]

सन् 1890 ई. में मथुरा के खुदाई के कार्य में यह स्तूप निकल आया। इसका उल्लेख पूर्व में प्राप्त एक मूर्ति के अभिलेख में भी था। पुरातत्त्वज्ञों ने यह अनुमान किया है, कि यह स्तूप ईस्वी सन् से कई सदियों पहले बन चुका था। यह इमारत देश में बहुत पुरानी है।

इसके अतिरिक्त दक्षिण भारत में भी अनेक प्राचीन स्मारक विद्यमान हैं। तमिलनाडु की पर्वत श्रेणियों में अनेक मनोहारी प्राकृतिक गुफाएँ हैं, जिन्हें जैन मुनियों के आवास के योग्य बनाने के लिए उनमें प्रस्तर शय्याओं और शिला-प्रक्षेपों का

प्रावधान किया गया था। विलक्षण बात यह है, कि शय्याओं से युक्त ये गुफाएँ उस समय से बहुत पहले की हैं, जब दक्षिणा पथ में किसी जैन वास्तु-स्मारक का निर्माण किया गया होगा। तमिलनाडु में यत्र-तत्र स्थित ब्राह्मी अभिलेखांकित ये गुफाएँ पूर्वी घाट के अनेक स्थानों विशेष रूप से मदुरै के आस-पास के क्षेत्र में मिलती हैं।

ये प्रारंभिक जैन अधिष्ठान कई कारणों से महत्त्वपूर्ण हैं -

1. वे इस क्षेत्र के प्राचीनतम प्रस्तर स्मारकों का प्रतिनिधित्व करते हैं।
2. ब्राह्मीलिपि में तमिल भाषा के प्राचीनतम अभिलेख उत्कीर्ण हैं।
3. और वे तमिलनाडु में जैन धर्म के प्रारंभिक प्रसार के प्रामाणिक साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं।

फलस्वरूप प्रस्तर और शैलोत्कीर्ण शैली की प्राचीनतम वास्तु-शिल्पीय गतिविधि और इस क्षेत्र में प्राप्त प्राचीनतम लेखों के अध्ययन में इनका अत्यधिक महत्त्व है, यद्यपि कलागत और सौंदर्यगत विकास की दृष्टि से वे किसी गतिविधि का प्रारंभ कदाचित ही करते हैं। तथापि धार्मिक स्थापत्य के उपयोग में लायी गयी प्रस्तर-सामग्री का प्रवर्तन उन आद्य प्रस्तर स्मारकों में देखा जा सकता है, जो अधिकांशतः जैन हैं। इसमें कम ही संदेह है, कि इन गुफाओं ने परवर्ती काल में जैन और ब्राह्मण धर्मों की उन शैलोत्कीर्ण गुफाओं का मार्ग प्रशस्त किया जो उसी क्षेत्र में विकसित हुई, जहाँ ब्राह्मी अभिलेखांकित प्राचीन गुफाएँ विद्यमान हैं।

इन जैन केन्द्रों की कुछ सामान्य विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। प्राकृतिक गुफाओं को इस प्रकार से परिवर्तित किया गया, कि वे आवास के योग्य बन सकीं। ऊपर, बाहर की ओर लटकते हुए प्रस्तर खण्ड का शिला-प्रक्षेप के रूप में इस प्रकार काटा गया, कि उसने जल को बाहर निकालने तथा नीचे शरण स्थल बनाने का काम किया। गुफाओं के भीतर शिलाओं को काटकर शय्याएँ बनायी गयीं, जिनका एक छोर तकिए के रूप में प्रयोग करने के लिए कुछ उठा हुआ रखा गया। शय्याओं को छैनी से काट-काटकर चिकना किया गया। ऐसा प्रतीत होता है, कि कुछ पर तो पॉलिश भी की गई थी।

दाता या आवासकर्ता के नामों के उल्लेखयुक्त ब्राह्मी अभिलेख या तो शय्याओं पर उत्कीर्ण हैं या ऊपर की ओर लटकते हुए शिला-प्रक्षेप पर।

इन गुफाओं के सामने स्तंभों पर आधारित खपरैल की छत के रूप में अतिरिक्त निर्माण कार्य भी किया गया था। स्तंभों को स्थिर करने के लिए उकेरे गए कोटर आज भी कुछ गुफाओं के सामने शिलाओं पर देखे जा सकते हैं। गुफाएँ प्रायः झरनों के समीप स्थित हैं, जल की सुविधापूर्वक प्राप्ति के लिए ही ऐसे स्थानों को चुना गया था।

मदुरै के निकटवर्ती पहाड़ी क्षेत्र कदाचित तमिलनाडु में जैनों के प्रमुख केन्द्र थे,

क्योंकि ये वही क्षेत्र थे, जहाँ अन्ततोगत्वा जैनों के कुछ सर्वाधिक प्रभावशाली चैत्यवास अस्तित्व में आए। मदुरै में ही आचार्य वज्रनंदी ने लगभग 470 ई० में जैनों के द्रविड़ संघ की स्थापना की थी।

कर्नाटक से प्रारंभ होकर जैनों की यात्रा का मार्ग कोंगुदेश (कोयंबदूर क्षेत्र) की पर्वत-श्रेणियों तिरुच्चिरापल्लि के पश्चिमी क्षेत्र और वहाँ से पुदुक्कोट्टै के दक्षिण से होता हुआ मदुरै तक का विशाल क्षेत्र माना जा सकता है। तोण्डैमण्डलम (चिंगलपट, उत्तर अर्काट और दक्षिण अर्काट) की पर्वत श्रेणियों में अवस्थित प्रस्तर-शय्याओं से युक्त गुफाओं से प्रतीत होता है, कि धीरे-धीरे कुछ जैन तमिलनाडु के उत्तरी अंचलों में भी पहुँचे थे। चोल देश में तिरुच्चिरापल्लि और कावेरी के कछारों के पश्चिमी तटों को छोड़कर तोण्डैमण्डलम के दक्षिण और पाण्ड्य राज्य के उत्तर में जैनों के प्रवेश के प्रमाण कम ही मिलते हैं।

इन स्थानों से जुड़ी हुई असमंजस में डालने वाली एक ऐसी परम्परा भी है, जो उनका सम्बन्ध पाँच पाण्डव वीरों से जोड़ती है। दक्षिण भारत में ऐसे सभी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थानों का जहाँ पुरावशेष विद्यमान हैं, स्थानीय अनुभूतियों के अनुसार महाकाव्यों की घटनाओं से वास्तव में अत्यंत घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह तथ्य ब्राह्मण केन्द्रों के विषय में भी उतना ही सच है, जितना कि जैन और बौद्ध स्थानों के विषय में। इसीलिए ये पहाड़ियाँ और उनकी गुफाएँ, शय्याएँ और निर्झर सामान्यतः स्थनीय बोली में पंच पाण्डव मलै, पंचपाण्डवर टिप्प (या किट्टु), पंचपाण्डवर पडुक्कै, ऐवर्शुनै आदि के नाम से जाने जाते हैं।

इस प्रकार संपूर्ण भारत में विभिन्न स्थानों पर ऐसे स्मारक विद्यमान हैं, जो अति प्राचीनकाल में जैन धर्म की विद्यमानता को सिद्ध करते हैं। आज पाश्चात्य देशों में भी खुदाई में भूगर्भ से अनेक ऐसे पदार्थ निकल रहे हैं, कि वे पूर्वकाल में वहाँ जैन धर्म का प्रचार होना साबित करते हैं। अमेरिका में ताम्रमय सिद्धचक्र का गट्टा और मंगोलिया में अनेक जैन मन्दिरों के ध्वंसावशेष उपलब्ध हो रहे हैं। इतिहास से यह भी ज्ञात होता है, कि एक समय अफ्रीका में एक जैन धर्माचार्य की अध्यक्षता में शत्रुञ्जय गिरनार आदि तीर्थों की रचना हुई थी। इसी प्रकार एक समय तिब्बत में शास्त्रार्थ के लिए एक जैनाचार्य गये और शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करके जैन धर्म का झण्डा फहराया।[2]

खुदाई में निकले विभिन्न स्मारकों के अतिरिक्त ऐसे अनेक स्मारक एवं तीर्थस्थल हैं, जो स्वयं तीर्थंकरों के समय से आज तक अपने रूप में अविचल रूप से खड़े हैं। यद्यपि उनका भी अनेक बार जीर्णोद्धार हुआ है। ये ऐसे स्मारक हैं, जिनकी प्रामाणिकता जैन आगमों तथा जैनेतर साहित्य के साथ-साथ विदेशी साहित्य में भी प्राप्त होती है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण तीर्थ शंत्रुजय, गिरनार एवं सम्मेदशिखर हैं। ये

भारत के ऊँचे पर्वत शिखरों पर निर्मित वे स्मारक हैं, जहाँ स्वयं तीर्थंकर विराजित हुए थे। अर्थात् प्रागैतिहासिक काल से अद्यावधि तक वे विद्यमान हैं और जैनागमों के अनुसार वे प्रलयकाल में भी नष्ट नहीं होंगे। शत्रुंजय तीर्थ इस अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव भगवान की तपोभूमि था। गिरनार बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ भगवान की तपोभूमि एवं निर्वाण स्थल था, जिनके स्मारक वहाँ आज भी विद्यमान हैं। जिनके सम्बन्ध में फरग्यूसन कहते हैं, कि 'समुद्र सतह से 3000 से 4000 फुट ऊँचे शत्रुंजय और गिरनार पर्वतों के शिखरों पर मन्दिरों के भव्य नगर सुशोभित हो रहे हैं। इस प्रकार मन्दिर नगर बनवाने की विशिष्टता का अन्य धर्मों की अपेक्षा जैनों ने ही विशेष रूप से अमल किया।'[७७]

प्रो॰ ईलियट का कथन है कि "शत्रुंजय के शिखर पर विशेषतया प्रत्येक दिशा में सुवर्णमय और रंग-बिरंगी नक्शीदार मन्दिर खुले और मूक खड़े हैं। उनमें चमकते प्रदीपों के बीच में भव्य और शांत तीर्थंकरों की मूर्तियाँ हैं। इन प्रशांत मुद्राओं के समूह वाले मन्दिरों की श्रेणियाँ और गगन चुम्बी गढ़ों में के देव-देवी यह सूचना करते मालूम पड़ते हैं, कि ये सब स्मारक मानवी प्रयत्न से नहीं अपितु किसी दैवीय प्रेरणा से ही निर्मित हुए हैं।"[७८]

सम्मेदशिखर भी एक ऐसा ही अद्वितीय, पर्वतीय जैन स्मारक है, जहाँ बीस तीर्थंकरों का निर्वाण हुआ था। द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ जी के समय से वह पर्वतराज जैन स्मारक बना हुआ है। तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ जी के निर्वाण के पश्चात् से इसका नाम पार्श्वनाथ तीर्थ भी प्रचलित हो गया। यह अति पवित्र स्थल है, यहाँ से 20 तीर्थंकरों के अतिरिक्त लाखों मुनियों ने केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त किया। इस अति विशाल प्राचीनतम जैन स्मारक की विद्यमानता के पश्चात् तो जैन दर्शन की प्राचीनता में कोई संशय ही नहीं रह जाता। जैन धर्म की प्राचीनता के प्रमाण मांगने वाले दार्शनिकों एवं इतिहासविदों का ध्यान इन अविचल स्मारकों की ओर गया ही नहीं, यह आश्चर्य जनक है।

इसके पश्चात् पावापुरी जहाँ भगवान महावीर का निर्वाण हुआ था, वह भी एक महत्त्वपूर्ण जैन स्मारक है। इससे भी प्राचीन स्मारक मुण्डस्थल में है। यहाँ भगवान महावीर की दीक्षा के पश्चात् उनके जीवनकाल में ही उनके बड़े भाई राजा नन्दीवर्धन ने भगवान महावीर का मन्दिर बनवाया था। यद्यपि वह मन्दिर उसी रूप में न रहा, लेकिन उसके खण्डहर तथा शिलालेख आज भी अपनी प्राचीनता की गवाही दे रहे हैं।[७९]

जैन मान्यता के अनुसार प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव भगवान का निर्वाण स्थल हिमालय (कैलाश पर्वत) है। हिमालय में स्थित तीर्थों का ध्यानपूर्वक अवलोकन करने से इस मत का समर्थन होता है। भगवान ऋषभदेव के पिता नाभिराय ने बद्रीनाथ

मन्दिर के पीछे वाले पर्वत पर तपस्या की थी। वहाँ उनके चरण विद्यमान हैं।

बद्रीनाथ मन्दिर की मूर्ति भगवान ऋषभदेव की है। इससे इस तथ्य पर प्रकाश पड़ता है, कि चक्रवर्ती भरत ने जिन 72 जिन मन्दिरों का निर्माण करवाया था, वे कैलाश में नहीं वरन् संपूर्ण हिमालय में विभिन्न स्थलों पर करवाया था। संभवतया कालक्रम में विभिन्न धर्मों, संस्कृतियों के परिवर्तन के साथ-साथ भगवान ऋषभदेव जी की मूर्तियाँ शैव पूजा में परिवर्तित हो गयी हों, जैसा कि बद्रीनाथ में हुआ है। इस शोधपूर्ण विषय के शोध के पश्चात् जैन धर्म की प्राचीनता के ये अनेक स्मारक हमारे समक्ष विद्यमान होंगे।

पर्वतीय स्मारकों के अतिरिक्त सभी तीर्थंकरों की जन्मभूमि को भी कल्याण भूमि के रूप में जैन लोग तीर्थ मानते हैं। उन सभी स्थलों पर प्राचीन मन्दिर स्मारक बने हुए हैं। अयोध्या, सावत्थी (श्रावस्ती), कौशांबी, बनारस, चन्द्रपुरी, काकंदी, भद्दलपुर, सिंहपुर, कंपिलपुर, रत्नपुर, गजपुर, मिथिला, राजगृह, मथुरा, शौरीपुर और क्षत्रिय कुण्ड आदि नगर तीर्थंकरों की कल्याणक भूमि हैं। दूर-दूर से जैन आज भी वहाँ मन्दिरों के दर्शन करने जाते हैं

5. मूर्तियाँ एवं चित्रकला : पुरातात्विक साक्ष्य में अन्तिम महत्वपूर्ण निधि मूर्तियाँ एवं चित्रकला के नमूने हैं। यत्र-तत्र मन्दिरों के ध्वंसावशेषों के बिखरे हुए चिह्न आयागपट भूगर्भ में दबी अखण्ड और खण्डित मूर्तियाँ भी जैन धर्म की प्राचीनता के पुष्ट प्रमाण हैं। (परिशिष्ट 6)

मथुरा के कंकाली टीले से ऐसे अनेक चिह्न प्राप्त हुए हैं -

1. **आयाग पट्ट** : यह एक पत्थर का चौरस टुकड़ा है इसके बीच में एक जिन मूर्ति है। उसके चारों ओर बहुत सुन्दर नक्काशी का काम है। तीर्थंकरों के सम्मानार्थ ऐसे पट्ट बनवाकर मन्दिरों में लगाते थे। इस पट्ट के नीचे प्राचीन लिपि में एक शिलालेख भी खुदा हुआ है। उस पर लिखा है -

"नमोअरहंताणं सिंहकस्स वणिकस्स (पुत्तेन) कोसिकी पुत्तेणसिंहनादिकेन आयागपटो थापितो अरिहंत पूजाय।"

यह लेख प्राकृत भाषा में है। इसका भाव यह है, कि सिंहक नामक वणिक की कौशकी नामक भार्या का पुत्र सिंहनादक, उसने अरिहंतों की पूजा के लिए इस पट्ट को स्थापित किया है। इसका समय वि०सं० से दो सौ वर्ष से भी अधिक का बताया गया है। (परिशिष्ट 4)

2. **लाल पत्थर का छत्ता** : यह सब ओर से अखंडित है। इसमें पत्थर पर जो काम है, उसे देखकर प्राचीनकाल की विकसित शिल्पकला का ज्ञान होता है। अनुमान है कि यह किसी मूर्ति के ऊपर लगा हुआ होगा। यह भी बहुत प्राचीन है।

3. **दरवाजा का बाजू** : मथुरा से पश्चिम 7 मील पर मोरी ग्राम के खंडहरों में

मिले इस दरवाजे के बाजू पर भी देखने योग्य कलाकारी है।

4. **सूर्य की प्रतिमा** : यह मूर्ति केशवजी के मन्दिर से मिली है। जिस बैठक पर यह मूर्ति है, उसकी बनावट बहुत ही सुन्दर है। मूर्ति के एक-एक हाथ में कमल का पुष्प है।

5. **श्रमण मूर्ति** : यह एक तरफ से खण्डित जैन श्रमण कृष्णर्षि की मूर्ति है, जिनके एक हाथ में रजो हरण तथा दूसरे हाथ में मुखवस्त्रिका है। उनके ऊपर की ओर मध्य में समवशरण की रचना तथा दोनों ओर दो-दो तीर्थंकरों की मूर्तियाँ हैं। विद्वानों के अनुसार इस कृति का काल वि०सं० के दो शताब्दियों पूर्व का है। (परिशिष्ट 3)

6. **स्तंभ** : कंकाली टीले से अनेक प्रकार के प्राचीन कलात्मक स्तंभ निकले हैं। वे सभी बहुत ही सुन्दर हैं।

7. **पाटव के स्तंभ** : इन पर बहुत ही अजीब तरह की मूर्तियाँ बनी हुई हैं। मूर्तियों में वस्त्र रहित स्त्रियों की मूर्तियाँ अधिक है। एक स्त्री अद्‌भुत जीव पर खड़ी है, जिसकी शक्ल मनुष्य तथा बन्दर का मिश्रित रूप है तथा उसका पेट बहुत बड़ा है एवं कमर में जांघिया सा पहना हुआ है।

8. **जिन तीर्थंकर की पूरे कद की मूर्ति** : मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त इस मूर्ति का ऊपरी भाग दाहिनी तरफ से खंडित है। दूसरी एक मूर्ति पद्मासन में अधिष्ठित है। ये दोनों ही ध्यान मुद्राएँ हैं। ये मूर्तियाँ वि०सं० पूर्व दो सौ वर्ष की हैं। ये अब लखनऊ के म्यूजियम में विद्यमान हैं। मुहम्मद गजनी ने 1018 ई०स० में मथुरा को ध्वंस किया तभी शायद ये मूर्तियाँ खण्डित हुई हों। (परिशिष्ट 1 तथा 2)

इन उपर्युक्त अवशेषों से यह ज्ञान होता है, कि मथुरा में बहुत प्राचीन काल से लम्बे समय तक जैन धर्म समृद्ध रूप से प्रचलित रहा होगा। शायद इक्कीसवें तीर्थंकर नमीनाथ के समय से क्योंकि यह उनकी जन्म कल्याण भूमि है।

इनके अतिरिक्त कुछ समय पूर्व मोहन जोदड़ों की खुदाई में एक प्राचीन मूर्ति प्राप्त हुई है, जो कायोत्सर्ग मुद्रा में है। यह ध्यान मुद्रा जैनों में ही प्रचलित थी। प्राचीन मिस्री मूर्तियों तथा प्राचीन यूनानी कुराई नामक मूर्तियों में भी प्रायः वही आकृति है तथापि उनमें उस देहोत्सर्ग निसंग भाव का अभाव है, जो सिन्धुघाटी की मुद्राओं पर अंकित मूर्तियों में तथा कायोत्सर्ग मुद्रा से युक्त जिन मूर्तियों में पाया जाता है।

इस प्रकार सिन्धुघाटी के वृषभ के लांछनयुक्त ऋषभदेव की योगीमूर्तियों के अतिरिक्त नागफण से युक्त योगी मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। ये मूर्तियाँ सातवें तीर्थंकर सुपार्श्व की हो सकती हैं। इनका लांछन स्वास्तिक है और तत्कालीन सिन्धु घाटी में स्वास्तिक एक अत्यन्त लोकप्रिय चिह्न दृष्टिगोचर होता है। सड़कें तथा गलियाँ तक स्वास्तिकाकार मिलती हैं।[45]

इस प्रकार उपलब्ध पुरातात्विक अवशेषों स्मारकों तथा साक्ष्यों के द्वारा यह तो निश्चित रूप से प्रमाणित हो ही जाता है, कि जैन धर्म एवं संस्कृति विश्व की प्राचीनतम सभ्यता थी। वर्तमान में जितने पुरातात्विक साक्ष्य हमारे समक्ष विद्यमान हैं, उनसे कई गुना अधिक भूगर्भ में अज्ञात रूप से विद्यमान हैं, जो आज भी ज्ञात होने के लिए अपेक्षित हैं। जैसा कि एक पुरातत्त्ववेत्ता का कथन है, "अगर हम दस मील लम्बी त्रिज्या लेकर भारत के किसी भी स्थान को केन्द्र बना वृत्त बनावें तो उसके भीतर निश्चय से जैन भग्नावशेषों के दर्शन होंगे।"

निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है, कि जैन धर्म, दर्शन, संस्कृति एवं सभ्यता साहित्यिक विश्लेषण के आधार पर आदि तीर्थंकर ऋषभदेव भगवान तक जाती है। इसकी पुष्टि पुरातात्विक साक्ष्यों के द्वारा हो जाती है, जो इसे सिन्धु-घाटी-सभ्यता जितना प्राचीन सिद्ध करते हैं। डॉ० हेरास के अनुसार "मोहन जोदड़ो का प्राचीन नाम नन्दूर अर्थात् मकर देश था और नन्दूर लिपि मनुष्य की सर्वप्रथम लिपी थी तथा यह सभ्यता मनुष्य की भूतल पर सर्वप्रथम सभ्यता थी।" डॉ० हेरास इस सभ्यता को द्रविड़ीय ही मानते हैं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है, कि 'मकर' नवें तीर्थंकर पुष्पदन्त का लांछन है। जॉन मार्शल इस सिन्धु सभ्यता की जननी उत्तर भारत के मध्य देश में उदित एवं विकसित संस्कृति को मानते हैं। प्रो० एस० श्रीकण्ठशास्त्री का कहना है, कि अपने दिगम्बर धर्म, योगमार्ग, वृषभ आदि विभिन्न लांछनों की पूजा आदि बातों के कारण प्राचीन सिन्धु सभ्यता जैन धर्म के साथ अद्भुत सादृश्य रखती है, अतः वह मूलतः अनार्य अथवा कम से कम अवैदिक तो है ही।

अतः ऐसा प्रतीत होता है, कि इस प्राचीन सिन्धु सभ्यता के पुरस्कर्ता प्राचीन विद्याधर जाति के लोग थे, जिन्हें द्रविड़ों का पूर्वज कहा जा सकता है। लेकिन साथ ही उनके प्रेरक एवं मार्गदर्शक मध्य देश के वे मानव वंशी मूल आर्य थे, जो तीर्थंकरों के आत्मधर्म और श्रमण संस्कृति के उपासक थे। तीसरे तीर्थंकर सम्भवनाथ से लेकर नवें तीर्थंकर पुष्पदन्त तक का काल सिन्धु सभ्यता के विकास का काल है। सुपार्श्व से पुष्पदन्त पर्यंत का काल उसका उत्कर्ष काल रहा है।

प्रायः इसी समय पंजाब के मान्टगुमारी जिले के हड़प्पा शहर में एक अन्य सभ्यता विकसित होने लगी थी। इसका काल लगभग ई०पू० 3000 से 2000 वर्ष माना जाता है। हड़प्पा वाले भी अनार्य और अवैदिक थे। नवोदित वैदिक आर्यों का हड़प्पा वालों के साथ ही सर्वप्रथम एवं अत्यधिक भीषण संघर्ष हुआ। वैदिक साहित्य के दस्यु, असुर आदि यही थे।

पश्चिमी एशिया में एक के बाद एक आने वाली सुमेर, असुर, बाबुली आदि सभ्यताओं का सम्पर्क अपने से ज्येष्ठ (पूर्वकालीन) मोहन जोदड़ों एवं समकालीन हड़प्पा सभ्यता के साथ विशेष रहा। मिस्र की प्राचीनतम सभ्यता भी प्रायः इसी काल

की है। ई०पू० 2350 के लगभग हड़प्पा वालों के साथ पश्चिमी एशिया की सुमेरी सभ्यता का सम्पर्क निश्चित रूप से रहा प्रतीत होता है। तत्कालीन काल गणना में यह तिथि महत्त्वपूर्ण है। हड़प्पा सभ्यता के चिह्न गंगा, चम्बल और नर्मदा के कांठों में पश्चिमी उत्तरप्रदेश (हस्तिनापुर) आदि में पश्चिमी राजस्थान तथा गुजरात कठियावाड़ आदि प्रदेशों में भी प्राप्त हो चुके हैं, जो इसके विस्तृत प्रसार के सूचक हैं। इस सभ्यता की उत्तराधिकारिणी झूकर आदि उत्तरवर्ती सभ्यताएँ मानी जाती हैं। तदुपरान्त आर्यों (इन्डो-आर्यों) का तथा उनकी वैदिक सभ्यता का उदय हुआ माना जाता है। वैदिक सभ्यता के विकास एवं प्रसार के साथ आर्हत धर्म के प्रभाव एवं विस्तार में न्यूनाधिकता समय-समय पर आती रही। लेकिन इस संस्कृति का समूल विनाश कभी नहीं हुआ वरन् यह जैन धर्म के नाम से आज भी विद्यमान है और सदैव रहेगी। इसका कारण है, कि यह धर्म एवं संस्कृति शाश्वत मूल्यों, सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक नियमों पर आधारित है। अतः यह प्राचीनतम सभ्यताओं की आधारशिला होने के साथ-साथ वर्तमान युग में भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शक एवं प्रासंगिक है।

संदर्भ सूची :

1. विल्सन ग्रन्थावली, भाग 1, पृ० 334
2. लिले, इण्डिया एण्ड इट्स प्रोब्लम्स, पृ० 144
3. राहुल सांकृत्यायन, धम्मपदं - गा० 20, अ० 1
4. राहुल सांकृत्यायन, धम्मपदं - गा० 7, अ० 98-99
5. राहुल सांकृत्यायन, धम्मपदं - गा० 10, अ० 142
6. राहुल सांकृत्यायन, धम्मपदं - गा० 14, अ० 184
7. राहुल सांकृत्यायन, धम्मपदं - गा० 19, अ० 264-265
8. राहुल सांकृत्यायन, धम्मपदं - गा० 19, अ० 272
9. राहुल सांकृत्यायन, धम्मपदं - गा० 26, अ० 420
10. राहुल सांकृत्यायन, धम्मपदं - गा० 26, अ० 422
11. मज्झिम निकाय, पृ० 48 से 50
12. अंगुत्तर निकाय, 3, 74 से०बु०ई० पुस्त० 45, प्रस्तावना, पृ० 45
13. याकोबी, इण्डियन एण्टी०, पुस्त० 9, पृ० 160
14. याकोबी, से०बु०ई०, पुस्त० 45, पृ० 122-123
15. एनसाइक्लोपिडिया ब्रिटानिका व्हा०, पृ० 29
16. ऋग्वेद संहिता, 10/11/136/2
17. तैतिरीय अरण्यक, 1/21/3, 1/24
18. *श्रीमद् भागवत्, 5/3/20*
19. पद्मपुराण, 13/350

20. ऋग्वेद, 2/33/10, 2/3/1/3, 7/18/22, 10/2/2/99/7, 10/85/4 आदि
21. कल्पसूत्र, सू० 161, 162
22. *आचारांग, 1/3/1/108, निग्गंथं पावयणं (भगवती 9/6/386)*
23. अ. सौच्चाणं जिण सासणं - दशवैकालिक, 8/25
    ब. जिणमय, वही 9/3/15
24. जिणवयणे अणुस्ता जिणवयणं जे करेंति भावेण - उत्तराध्ययन सूत्र, 36/264
25. अणुत्तरं धम्ममिणं जिणाणं (सूत्रकृतांग) - अ० 6 गा० 7
26. अ. जइण समुग्धायगईए, विशेषावश्यक भाष्य, गा० 383
    ब. जिण तित्थं, वही, गा० 1043
27. मत्स्यपुराण, 4/13/54
28. गत्वाथ मोह यामास रजि पुत्रान् वृहस्पतिः,
    जिनधर्म समास्थाय वेदबाह्यं स वेदवित् ।
    छद्म रुपधरं सौम्य बोधयन्तं छलेन तान्,
    जैन धर्मकृतं स्वेन, यज्ञनिन्दा परं तथा ॥ दैवीभागवत्, 4/13/54
29. ऋग्वेद, 10/11/136, 10/121, 10/90
30. ऋग्वेद
    (1) मं० 3, अष्टक 3, अ० 3, वर्ग 21, ऋचा 140,
    (2) म० 8, अ० 10, सू० 89, ऋचा 3, 4
    (3) मं० 2, अ० 2, सू० 12 ऋचा 5
    (4) अ० 6, अ० 4, वर्ग 32, ऋचा 10 आदि ।
31. श्रीमद्भागवत, स्कं० 5, अ० 6, श्लो० 3-6
32. वही, स्कं० 5, अ० 6, श्लो० 16
33. वही, 5/3/13
34. वही, 5/6/19
35. वही, 5/4/14
36. वही, 5/6/15
37. वही, 5/6
38. वही, 5/7/2-3
39. वही, 5/5
40. वही, 5/7
41. वही, 1/3/13
42. वही, 5/3/20
43. पद्मपुराण रामशर्मा आचार्य, 1/7/127
44. वही, 1/7/60-101
45. वही, 1/25/44-50
46. पद्मपुराण, भूमिखण्ड, रामशर्मा आचार्य, 2/36/17

47. वही, 2/36/11-48
48. वही, 2/37/1
49. वही, 2/37/11
50. विष्णुपुराण, 2/1/7
51. विष्णुपुराण, 2/1/32
52. प्रभासपुराण
53. शिवपुराण, 7/2/9
54. विष्णुपुराण, 2/131/59
55. स्कंधपुराण प्रभासखण्ड, अ॰ 16, सू॰ 96
56. ब्रह्माण्डपुराण, उ॰ 3, अ॰ 14, सू॰ 34, 39
57. लिंगपुराण, अ॰ 47, श्लोक 25
58. नाभिस्तु जनयेत पुत्रं मरुदेव्या मनोहरम्।
ऋषभं क्षत्रियं श्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीर पुत्रः शताग्रजः।
राज्येऽभिषिच्य भरत, महाप्राव्राज्यमास्थित॥
इह हिश्वाकुकुलवंशाद्भवेन नाभिसुतेन मरुदेव्यानंदन
महादेवेन ऋषभेण दशप्रकारो धर्मः स्वयमेवा चीर्णः केवलज्ञानलाभाच्च प्रवर्तितः। - ब्रह्माण्ड पुराण
59. ऋषभो मरुदेव्याच, ऋषभाद भरतोऽभवत्।
भरताद् भारतं वर्ष, भरतात् सुमतिरत्वभूत। - अग्निपुराण
60. History of the Sanskrit Litrature, Arther A. Macdonal, p. 226
61. Political History of Anciant India, N.c. Raychodhary, p. 52
62. The Principal of Upnishadas, Dr. S. Radhakrishnan, p. 22
63. मुण्डकोपनिषद्, 1/2/7
64. अ. छान्दोग्य उपनिषद्, 8/5/1
ब. वृहदारण्यक उपनिषद्, 2/2/9, 10
65. श्वेताश्वतर उपनिषद्, पृ॰ 23
66. प्राचीन भारतीय साहित्य, एम॰ विंटरनिट्ज, पृ0 190-191
67. जाबालोपनिषद्, पृ॰ 6
68. नारद परिव्राजकोपनिषद्, 3/86
69. ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्, Ed. W.E. Shastri- Paniskar p. 150 (Nirnaya-sagar press, 1925)
70. वृहदारण्यक उपनिषद्
71. वही
72. रेवतान्दौ जिनो नेमिर्युगादि विमलाचले।
ऋषीणामाश्रमा देवमुक्ति मार्गस्यकारणं॥ - महाभारत, मध्य पर्व

73. छान्दोग्य उपनिषद्, 3/17
74. ऋषभादीनां महायोगिनामाचारे दृष्टाव अर्हतादयो मोहिताः। - महाभारत, शान्तिपर्व, मोक्ष धर्म, अ० 263, श्लोक 20
75. नाहं रामो न मे वाञ्छा, भावेषु न च मे मनः।
शान्तिमास्थातुमिच्छामि, स्वात्मन्येव जिनो यथा॥ -योगवासिष्ठ, अ० 15, श्लोक 8
76. रामायण-वाल्मिकी, 1/14/12
77. वही, 3/3/26
78. वही, 4/18/33
79. वृहदारण्यक उपनिषद्, 4/3/22
80. रामायण - वाल्मिकी, 2/50/10
81. वही, 5/12/15
82. वही, 5/15/16
83. मनुस्मृति, प्र० बाबू बैजनाथ प्रसाद बुकसैलर - अ० 2, श्लोक 39, 40, अ० 11, श्लोक 197, राजादरवाजा, बनारस सीटी।
84. मनुस्मृति, अ० 6, श्लोक 41
85. वही, अ० 6, श्लोक 42
86. वही, अ० 6, श्लोक 93
87. वही, अ० 6 श्लोक 44-45
88. वही, अ० 6, श्लोक 46-47
89. वही, अ० 6, श्लोक 48-60
90. वही, अ० 6, श्लोक 74
91. वही, अ० 10, श्लोक 43-45
92. आङ्गिरसानामाद्यैः पंचानुवाकैः स्वाहा। - यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, म० दयानन्द सरस्वती - का० 1, अनु० 3, सूक्त 22, सूत्र 2
93. यजुर्वेद - दयानन्द सरस्वती, का० 12, अनु० 3, सू० 3, श्लोक 45
94. वही, का० 4, अनु० 8, सू० 38, सूत्र 5
95. वही, का० 9, अनु० 2, सू० 4, सूत्र 1-11 व 14-23
96. वही, का० 9, अनु० 2, सू० 4, सूत्र 12
97. वही, का० 4, अनु० 8, सू० 39, सूत्र 7
98. वही, का० 11, अनु० 1, सू० 2, सूत्र 31
99. वही, का० 6, अनु० 11, सू० 110, सूत्र 3
100. वही, का० 15, अनु० 1, सू० 1, सूत्र 1
101. वही, अथर्ववेद, का० 5, अनु० 4, सू० 19, सूत्र 7
102. वही, सामवेद-पूर्वार्चिक अ० 1 द० 7 श्लो० 9; अ० 2 द० 1 श्लो० 5; द० 3 श्लो० 8; अ० 2 द० 5 श्लो० 7; अ० 2 द० 10 श्लो० 2; अ० 3 द० 10 श्लो० 5; द० 11 श्लो० 4;
सामवेद - उत्तरार्चिक - अ० 1, ख० 5, श्लो० 2; अ० 2 ख० 2 श्लो० 1; अ० 6 ख० 1 श्लो० 2; अ० 9

ख॰ 7 श्लो॰ 2

103. वही, सामवेद उत्तरार्चिक 13/2/1, 13/5/1, 14/1/3, 21/1/1
104. वही, सामवेद उत्तरार्चिक 12/2/2
105. वही सामवेद पूर्वार्चिक 1/10/4
106. वही, सामवेद उत्तरार्चिक 5/5/2
107. वही, सामवेद पूर्वार्चिक 3/11/1
108. वही, सामवेद उत्तरार्चिक 1/2/2, 5/3/2, 6/2/3, 20/5/2, 17/3/3
109. वही, सा॰उ॰, 7/3/1
110. वही, यजुर्वेद अ॰ 19/91, 20/18, 20/40, 20/46, 21/22, 21/40-42, 47, 59, 60, 24/7, 13, 30, 28/4, 33/21
111. वही, यजुर्वेद 17/91
112. वही, 20/85
113. वही, 22/11
114. वही, 22/12
115. वही, 36/17
116. वही, 15/18
117. वही, 19/50
118. वही, 25/19
119. वही, 19/14
120. ऋग्वेद, मण्डल/अध्याय/सूत्र/मंत्र अर्थात् 1/24/190/1, 2/4/33/15, 3/3/46/1-2, 3/3/47/1-2, 3/3/30/9, 3/3/38/5, 3/3/48/1, 3/4/52/8, 3/4/59/3, 3/5/62/6, 4/1/1/16-18, 4/1/5/3, 4/2/16/20, 5/2/28/4, 6/1/1/8, 6/2/19/11, 6/1/87/8, 6/2/16/41 व 47, 6/2/18-19/1 व 9, 6/4/44/11 व 21, 6/2/22/1, 6/2/28/8 व 25, 6/4/49/6, 7/2/19/1, 8/1/1/2, 8/3/19/31-37, 8/3/20/10, 8/4/21/4, 8/7/60/13-14, 8/7/61/2, 10/12/26/1-2
121. ऋग्वेद, 2/34/2
122. कर्क देव वृषभो युक्त आसीद् अवावचीत् सारथीरस्य केशी।
दुधर्युक्तस्य द्रवतः सहानस, ऋच्छन्ति मानिष्पदो मुद्गलानीम्॥ -ऋग्वेद, 10/102/6
123. ऋग्वेद, 36/7/3/22
124. वही, 8/3/13/28, 29
125. वही, 8/2/13/32, 8/3/13/28, 29
126. वही, 10/9/100/2
127. ऋग्वेद, 10/12/178/1
128. वही, 10/12/180/1
129. ऋग्वेद, 10

130. (i) जेणं तित्थं - विशेषावश्यक भाष्य - गा॰ 1043
(ii) तित्थं जइणं - वही, गा॰ 1045, 1046
(iii) जइण समुग्घयगाईए - वही, गा॰ 383
131. नन्दीसूत्र - विजयदानसूरि संशोधित चूर्णि, पृ॰ 111
132. (i) आवश्यक निर्युक्ति, गा॰ 192
(ii) धवला, 1/64/72
133. (i) समवायांग सूत्र, 1/136
(ii) नन्दी सूत्र, सू॰ 40
134. मूलाचार- वट्टकेराचार्य, सू॰ 5/80
135. नन्दी सूत्र, सू॰ 42
136. आवश्यक निर्युक्ति, भद्रबाहु, गा॰ 192
137. जैन सूत्राज, डॉ॰ हर्मन जैकोबी, प्रस्तावना पृ॰ 44
138. नन्दी सूत्र, पृ॰ 109
139. षट्खण्डागम, धवला टीका - वीरसेन, पृ॰ 114
140. जैन सूत्राज्, भाग-1, कल्पसूत्र 5, पृ॰ 268
141. नन्दी सूत्र
142. वही
143. वही
144. भगवती सूत्र, प्र॰ साधुमार्गी संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना शतक 6, उ॰ 7, पृ॰ 122-123
145. (i) समवायांग सूत्र, सू॰ 147
(ii) नन्दी सूत्र, सू॰ 56
146. दशवैकालिक सूत्र, मंगलाचरण
147. (i) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
(ii) कल्पसूत्र
148. श्रीमद् भागवत, अ॰ 1
149. कल्पसूत्र
150. जिनेन्द्र मत दर्पण, भाग 1, पृ॰ 10
151. उसहे णामं अरहा कोसलिए पढमराया, पढमजिणे, पढमकेवली पढमतित्थयरे पढम धम्मवर चक्क वट्टी समुप्पज्जित्थे। - जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, 2/30
152. तिलोय पण्णत्ति- आ॰ यतिवृषभ, 4/533 व 560
153. कल्पसूत्र, सू॰ 192
154. (i) वही, सू॰ 33
(ii) आवश्यकनिर्युक्ति, गा॰ 182
155. आधर मंगुलिए, ठवंति देवा मणुत्रं तु ॥ 1 ॥ आवश्यक निर्युक्ति, 1
156. आवश्यक निर्युक्ति, गा॰ 186
157. वही, पृ॰ 153

158. वही, गा॰ 191
159. कल्पसूत्र सुबोधिका टीका, पृ॰ 498
160. आवश्यक चूर्णि, पृ॰ 155
161. आवश्यक चूर्णि, पृ॰ 156 पूर्व भाग
162. आवश्यक निर्युक्ति, गा॰ 213-14
163. कल्पसूत्र सुबोधिका टीका, सू॰ 211
164. आवश्यक निर्युक्ति, गा॰ 212
165. वही, गा॰ 213
166. विशेषावश्यक भाष्य, गा॰ 464 की टीका
167. समवायांग सूत्र, समवाय 72
168. (i) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वक्षस्कार 2, टीका पत्र 139-2,
(ii) कल्पसूत्र सुबोधिका टीका, 140-1
169. आदिपुराण, पर्व 16, श्लोक 243 से 246
170. आवश्यक चूर्णि, पृ॰ 213-14
171. तिलोयपण्णत्ति- यतिवृषभसेन, गा॰ 586
172. वही, गा॰ 597
173. समवायांग, 500 सू॰ 3
174. (i) आवश्यक निर्युक्ति, गा॰ 239 व 242
(ii) कल्पसूत्र, सू॰ 195
175. महापुराण- पुष्पदन्त, पर्व 18, श्लोक 1
176. (i) हरिवंशपुराण- जिनसेन, सर्ग 6, श्लोक 183-190
(ii) आवश्यक निर्युक्ति, गा॰ 345
(iii) त्रिशष्टि शलाका चरित्र- आचार्य हेमचन्द्र, 1/3/301-302
177. (i) कल्पसूत्र, सू॰ 196
(ii) आवश्यक निर्युक्ति, गा॰ 263
178. अभिधान राजेन्द्र कोष- आचार्य राजेन्द्र सूरि जी, 1 पृ॰ 31
179. (i) समवायांग, समवाय 111
(ii) सुत्तागम, पृ॰ 345-46
180. प्रश्न व्याकरण, 2/1
181. तत्र धर्मफलं तीर्थं, पुत्रः स्यात् कागजं फलम्।
अर्थानुबन्धिनोऽर्थस्य फलं चक्र प्रभास्वरम्॥ महापुराण- पुष्पदन्त, 24/6/573
182. करिस्कन्धाधिरूढैव, स्वामिनि मरुदेव्यथ।
अन्तकृत्केवलित्वेन, प्रपेदे पदमव्ययम्। त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, 1/3/530
183. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति- अमोलक ऋषि जी, पृ॰ 87-88
184. (i) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, 48/91
(ii) कल्पसूत्र, सू॰ 199

185. भगवान ऋषभदेव और उनकी लोकव्यापी मान्यता-कामता प्रसाद जैन, द्वितीय खण्ड, पृ० 41
186. द स्टोरी ऑफ सिविलिजेशन (ऑवर ओरियन्टल हेरिटेज), न्यूयार्क विल ड्यूरेन्ट-1954, पृ० 219
187. वही, पृ० 127
188. वही, पृ० 199
189. विदेशी संस्कृतियों में अहिंसा- कामता प्रसाद जैन, पृ० 403
190. वही, पृ० 405
191. वही, पृ० 406
192. वही, पृ० 407
193. (i) उत्तरपुराण- आचार्य गुणभद्र, श्लोक 26 अ० 48
(ii) त्रिशष्टिशलाका पुरिस चरित्र, श्लोक 280
194. (i) उत्तरपुराण, श्लोक 18-29, अ० 48
(ii) त्रिशष्टिशलाका पुरिस चरित्र, श्लोक 276 से 279
195. उत्तरपुराण, 48/34-40
196. वही, 48/42
197. वही, 48/43-48
198. वही, 48/53
199. वही, 48/69-78
200. वही, 48/14-19
201. त्रिशष्टि शलाका पुरिस चारित्र, श्लोक 281 व 282
202. उत्तरपुराण, 49/41
203. वही, 49/43-48
204. वही, 49/55-56
205. (i) वही, 50/16, 50/19, 50/26-29
(ii) त्रिशष्टि शलाका पुरिस चरित्र, श्लोक 283 से 284
206. उत्तरपुराण, 50/29
207. वही, 50/45, 50/52-53
208. वही, 50/55-56
209. वही, 50/57-63
210. वही, 50/66
211. वही, 51/19-24
212. (i) त्रिशष्टि शलाका पुरिस चारित्र, श्लोक 285-286
(ii) उत्तरपुराण, 51/25-26
213. वही, 51/55, 51/68-71, 51/75
214. वही, 51/76-81
215. (i) त्रिशष्टि शलाका पुरिस चरित्र, श्लोक 287-288

(ii) उत्तरपुराण, 52/18, 52/21, 52/26-27, 52/34-35
216. वही, 52/36, 52, 56-57
217. वही, 52/58-64
218. उत्तरपुराण, 52/67
219. (i) त्रिशष्टि शलाका पुरिस चरित्र, श्लोक 289-290
(ii) उत्तरपुराण, 53/18-25
220. वही, 53/26, 37, 41-42, 44-45
221. वही, 53/46-51
222. वही, 53/53-54
223. वही, 54/163, 170
224. त्रिशष्टि शलाका पुरिस चरित्र, श्लोक 291-292
225. उत्तरपुराण, 54/195
226. वही, 54/213-216
227. वही, 54/223, 229-235
228. वही, 54/243-248
229. वही, 54/269-272
230. (i) वही, 55/28
(ii) सुविधि: पुष्पदन्तश्चेत्यभिधनद्वयं विभो: । त्रिशष्टि शलाका पुरिस चरित्र, 3/7/50
231. उत्तरपुरण, 55/23-28
232. त्रिशष्टि शलाका पुरिस चरित्र, श्लोक 293-294
233. उत्तरपुराण, 55/30, 36-46
234. वही, 55/49-50
235. वही, 55/52-57
236. वही, 55/58-59
237. वही, 56/23-28
238. त्रिशष्टि शलाका पुरिस चरित्र 295-296
239. उत्तरपुराण, 56/32-45
240. वही, 56/48-49
241. वही, 56/50-55
242. वही, 56/56-58
243. वही, 57/17-34
244. त्रिशष्टि शलाका पुरिस चरित्र, श्लोक 297-299
245. उत्तरपुराण, 57/38, 43-48
246. वही, 57/51-52
247. वही, 57/54-59
248. वही, 57/60-62

249. वही, 58/17-22
250. त्रिशष्टि शलाका पुरिस चरित्र, श्लोक 300-301
251. उत्तरपुराण, 58/30, 37-39
252. वही, 58/41-42
253. वही, 58/44-49
254. वही, 58/50-53
255. वही, 59/14-22
256. त्रिशष्टि शलाका पुरिस चरित्र, श्लोक 302-303
257. उत्तरपुराण, 59/25, 31-32, 40-41
258. वही, 59/44-45
259. वही, 59/48-53, 63
260. वही, 59/54-56
261. वही, 60/16-21
262. त्रिशष्टि शलाका पुरिस चरित्र, श्लोक 304-305
263. उत्तरपुराण 60/25-26, 30-32
264. वही, 60/35-36
265. वही, 60/37-42
266. वही, 60/44-45
267. वही, 61/13-19
268. त्रिशष्टि शलाका पुरिस चरित्र, श्लोक 306-307
269. उत्तरपुराण, 61/23, 30, 37-40
270. वही, 61/42-43
271. वही, 61/44-49, 59
272. वही, 61/51-52
273. वसुदेवहिण्डी, लम्भक 21
274. त्रिशष्टि शलाका पुरिस चरित्र, श्लोक 514
275. उत्तरपुराण, 63/255-260
276. वही, 63/386-387, 398, 406
277. त्रिशष्टि शलाका पुरिस चरित्र, श्लोक 308-309
278. उत्तरपुराण, 63/445-463, 468-473
279. वही, 63/481-487
280. वही, 63/489-495
281. वही, 63/497-499
282. वही, 64/12-24
283. त्रिशष्टि शलाका पुरिस चरित्र, श्लोक 310-311
284. उत्तरपुराण, 64/27-40

285. वही, 64/41-43
286. वही, 64/44-50
287. वही, 64/51-53
288. वही, 65/14-22
289. त्रिशष्टि शलाका पुरिस चरित्र, श्लोक 312-313
290. उत्तरपुराण, 65/29-34
291. वही, 65/36-38
292. वही, 65/39-44, 174
293. वही, 65/45-47
294. अंगुत्तरनिकाय, भाग 3, पृष्ठ 256-257, सं० भिक्षु जगदीश कस्सपो, पालि प्रकाशन मण्डल, बिहार।
295. अंगुत्तर निकाय, अरक सुत्त, भाग 3, पृष्ठ 257, सम्पादक प्रकाशक वही
296. उत्तरपुराण, 66/20-34
297. त्रिशष्टि शलाका पुरिस चरित्र, श्लोक 314-315
298. उत्तरपुराण 66/38-48
299. ज्ञाताधर्मकथा सूत्र, अ० 8
300. वही, अ० 8
301. वही, अ० 8
302. उत्तरपुराण, 66/51-52
303. ज्ञाताधर्मकथा, अ० 8
304. उत्तरपुराण, 66/54-59, 102
305. वही, 66/60-62
306. वही, 67/20-28
307. तीर्थंकरों का लेखा, पृ० 1, प्र० अखिल भारतीय साधुमार्गी संघ, सैलाना
308. त्रिशष्टि शलाका पुरिस चरित्र, श्लोक -316-317
309. उत्तरपुराण, 67/30-43
310. वही, 67/46-47
311. वही, 67/49-52
312. वही, 67/54-57
313. वही, 68 पर्व के अन्त में
314. वही, 69/18-19, 25-31
315. त्रिशष्टि शलाका पुरिस चरित्र, श्लोक 318-319
316. उत्तरपुराण, 69/35, 52-55
317. वही, 69/57-59
318. वही, 69/60-65
319. वही, 69/66-68

320. जैन पत्र वर्ष 35, अंक 9, ता॰ 3/1/37
321. ऋग्वेद, 1/14/89/6, 1/24/180/40, 3/4/53/7, 10/12/118/1
322. यजुर्वेद, 15/18
323. वही, 19/50
324. सामवेद पूर्वार्चिक, 1/10/4, 1/10/2, 3/11/1,
सामवेद उत्तरार्चिक, 1/2/2, 6/2/3, 20/5/2, 5/3/2, 17/3/3, 5/5/2, 25/19
325. अथर्ववेद, 12/3/3/44-45
326. महाभारत का शान्ति पर्व, 288/4, 5, 6
327. सगर चक्रवर्ती से अन्य कोई सगर राजा होना चाहिये।
328. हरिवंश, 1/34/1, 2, 3, 11, 15, 16
329. वही, 1/34/17, 18, 21, 22, 23, 35/17
330. उत्तरपुराण, 71/29-32, 37, 38, 46
331. त्रिशष्टि शलाका पुरिस चरित्र, श्लोक 320-321
332. उत्तरपुराण, 71/137-170
333. वही, 71/179-181
334. वही, 71/182-187
335. वही, 72/272-274
336. The Sacred Books of the East, Vol. XLV; Introduction Page 21: 'That parsva was a historical person, is now addmited by all as very probable.....'.
337. Indian philosophy : Vol. I, Page 287; S. Radhakrishnan.
338. The wonder that was India : Page 287&288, A.L. Basham, B.A., Ph.D., F.R.A.S., Reprinted 1956.
339. N.C. Raychodhary : Political History of Ancient India, Page 52
340. Dr. S. Radhakrishnan : The Princiapl of Upnishadas, P. 22
341. History of the Sanskrit Literature, p. 226
342. भगवान पार्श्व : एक अनुशीलन, पृ॰ 18
343. संस्कृति के चार अध्याय, पृ॰ 125, रामधारी सिंह दिनकर
344. प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एच्छ्रेयोयेऽभिनन्दन्ति मूढ़ा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥ मुण्डकोपनिषद्, 1/2/7
345. (i) छान्दोग्य उपनिषद्, 5/3/1-7
(ii) वृहदारण्यक उपनिषद्, 6/2/8
346. (i) मज्झिम निकाय - महासिंहनाद सुत्त, 1/1/2
(ii) भगवान बुद्ध - धर्मानन्द कौशाम्बी, पृ॰ 68-69
347. Mrs. Rhys Davids : Gautama The Man, p. 22-25
348. उत्तराध्ययन, 23

349. (i) व्याख्याप्रज्ञप्ति, 1/9/76,
(ii) सूत्रकृतांग, 2
(iii) उत्तराध्ययन, 23
350. संस्कृति के अंचल में, पृ० 33-34 देवेन्द्र मुनि शास्त्री
351. पार्श्वनाथ चरित्र, सकलकीर्ति, 23-18,19
352. समवायांग सूत्र, समवाय 38
353. उत्तरपुराण, 73/74-92
354. त्रिशष्टि शलाका पुरिस चरित्र, श्लोक 322-323
355. उत्तरपुराण, 73/95-103
356. वही, 73/124-130
357. वही, 73/134-144
358. भगवान पार्श्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन- देवेन्द्रमुनि शास्त्र, पृ० 8
359. उत्तरपुराण, 73/149-154
360. वही, 73/155-159
361. वही, 74/251-278
362. आचारांग सूत्र, श्रु० 2, अ० 15
363. त्रिशष्टि शलाका पुरिस चरित्र, श्लोक 324-325
364. उत्तरपुराण, 74-290--295
365. वही, 74/302-304
366. जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भा० 1- आ० श्री हस्तीमलजी म०, पृ० 565, प्र० जैन इतिहास समिति, लाल भवन, चौड़ा रास्ता।
367. उत्तरपुराण, 74/348-352
368. वही, 74/372-384
369. वही, 76/509-512
370. यजुर्वेद, 15/18, 10/21, 44, 45
371. इतिहास समुच्चय - भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र, पृ० 18
372. वही, पृ० 6
373. सर्व तंत्रस्वतंत्र सत्संप्रदायाचार्य स्वामी राममिश्र शास्त्री-उपदेश
374. श्री वरदकान्त मुखोपाध्य के बंगला लेख के हिन्दी अनुवाद से उद्धृत-नाथूराम प्रेमी द्वारा
375. स्टडीज इन इण्डियन पेंटिंग्स - मेहता, पृ० 2
हेमचन्द्र व अन्य परम्पराओं के अनुसार भी जैन धर्म आज के भारत की सीमाओं में सीमित नहीं था। हेमचन्द्र - परिशिष्ट पर्व - पृ० 69, 282
376. आउटलाइन्स ऑफ जैनिज्म - जैनी पृ० 3
377. विल्सन ग्रन्थावली भाग-1 - श्री विल्सन, पृ० 334
378. वही, पृ० 347
379. इण्डिया एण्ड इट्स प्रॉब्लम्स - लिले, पृ० 144

380. रिलीजन्स ऑफ इण्डिया, डॉ० हॉप्कींस, पृ० 296, 297
381. जैन गजट, भाग 23, शाह, पृ० 105
382. ब्रह्मसूत्राज - बैलवल्कर, पृ० 120-121
383. दी हार्ट ऑफ जैनीज्म - श्रीमती स्टीवेन्सन, पृ० 19
384. इण्डियन एण्टीक्वेरी, प्रस्त० 9, पृष्ठ 158
385. जैन सत्य प्रकाश, वर्ष 5, अंक 21
386. वही, वर्ष 6, अंक 6
387. साप्ताहिक हिन्दूस्तान, 23 जून 1959
388. जैन सत्य प्रकाश, वर्ष 4, अंक 3 (सं० 1994)
389. वृहत् सामायिक पाठ और वृहत्प्रतिक्रमण, पृ० 164 -- मूलचन्द किशनदास कापड़िया
390. मध्य एशिया का इतिहास, राहुल सांकृत्यायन, पृ० 57
391. प्राचीन भारत - ओम प्रकाश प्रसाद, पृ० 53
392. जैन मन्दिरों की प्राचीनता और मथुरा का कंकाली टीला - श्री ज्ञानसुन्दर जी म., पृष्ठ 11-13, प्र० श्री रत्नप्रभाकर ज्ञान पुष्पमाला।
393. वही, पृष्ठ 19-22
394. इंडस सिविलाइजेशन एंड हिन्दू कल्चर - पी० आर० देशमुख
395. प्राचीन भारत - आर० एस० शर्मा, पृष्ठ 41
396. प्राचीन भारत, ओमप्रकाश प्रसाद, पृष्ठ 62
397. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि - डॉ० ज्योति प्रसाद जैन, पृष्ठ 29, प्र० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
398. पंचाल : के०डी० वाजपेयी, प्र० पंचाल शोध संस्थान, कानपुर, पृ० 126
399. मॉर्डन रिव्यू, जून 1932, में श्री चन्दा के लेख से
400. प्राकृत विद्या (जनवरी-जून 2003 का अंक)-प्राच्य भारतीय अभिलेख प्राकृत भाषा, ले० डॉ० शशि प्रभा जैन, पृष्ठ 63
401. जैन मन्दिरों की प्राचीनता और मथुरा का कंकाली टीला, पृष्ठ 11, 14, 15, 23 - मुनि ज्ञानसुन्दर जी म., प्र० श्री रत्नप्रभाकर ज्ञान पुष्पमाला, फलौदी।
402. विविध तीर्थकल्प -- ले० जिन प्रभसूरि, सं० जिनविजय, 1934, शांतिनिकेतन, पृष्ठ 17
403. वही, पृष्ठ 85
404. जैन मन्दिरों की प्राचीनता और मथुरा का कंकाली टीला, ले० मुनि ज्ञानसुन्दर जी म., पृष्ठ 5
405. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, फरग्यूसन, भाग 2, पृष्ठ 24
406. हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धीज्म, भाग 1 - इलियट, पृष्ठ 121
407. जैन मन्दिरों की प्राचीनता और मथुरा का कंकाली टीला, ले० मुनि ज्ञानसुन्दर जी म., पृष्ठ 23
408. दी जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टीक्वि टीज ऑफ मथुरा-स्मिथ, पृष्ठ 3-19
409. भारतीय इतिहास एक दृष्टि - ले० ज्योति प्रसाद जैन, पृष्ठ 26

मथुरा का कंकाली टीला: 2200 वर्षों की तीर्थंकरों की प्राचीन मूर्त्तियाँ

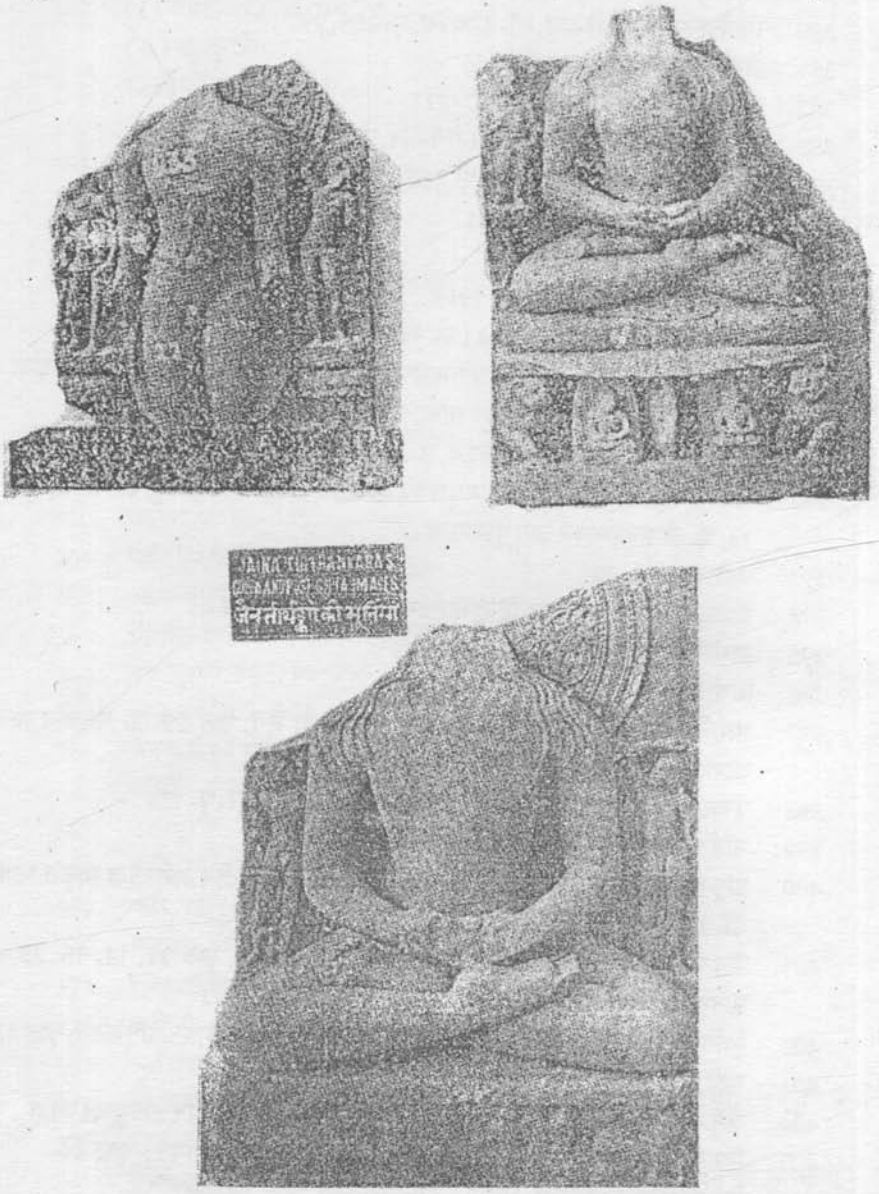

मथुरा के कंकाली टीला के खुदाई का काम करते समय जैन तीर्थंकरों की अनेक मूर्त्तियाँ मिलीं जिनमें यह दो मूर्त्ति भी हैं। लखनऊ के म्यूजियम में विद्यमान है। इनका समय गुप्तकाल अर्थात् वि.पू. दो सौ वर्ष का बतलाया जाता है। इस समय के पूर्व भी जैन धर्म में मूर्त्ति पूजा प्रचलित थी जिसका यह एक आकट्य प्रमाण है। क्या अब भी मूत्ति पूजा धर्म का एक अंग मानने में कोई भी सभ्य पुरुष शंका कर सकता है ? नहीं।

मथुरा का कंकाली टीला: 2200 वर्षों की तीर्थंकरों की प्राचीन मूर्त्तियाँ

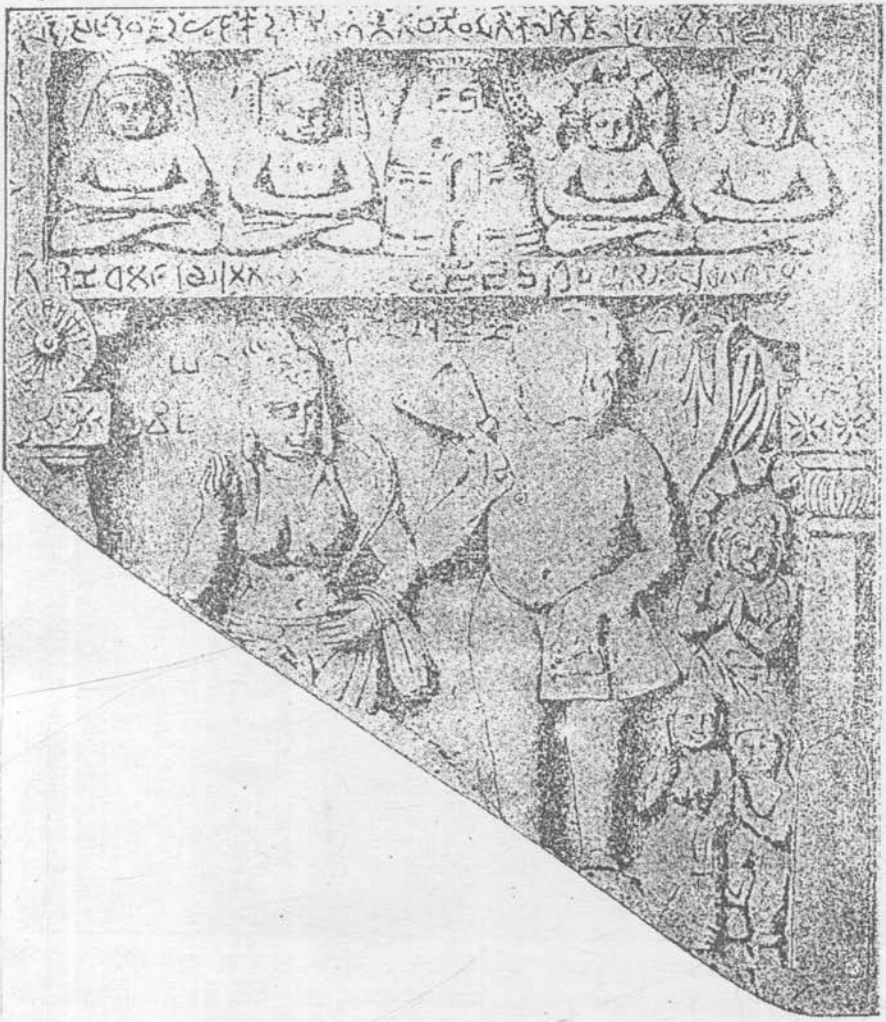

मथुरा के कंकाली टीला के खुदाई का काम करते समय पत्थर का ध्वंश विशेष मिला है। जो चित्र ऊपर दिया गया है इसमें ऊपर के भाग में समवसरण के दोनों बाजु तीर्थंकरों की मूर्त्तियां हैं। नीचे जैन श्रमण कृष्णार्षि की मूर्त्ति है जिसके एक हाथ में रजोहरण और दूसरे हाथ में मुखवस्त्रिक है। विद्वानों का मत है कि यह वि.सं. के पूर्व दो शताब्दियों जितना प्राचीन है। इस प्राचीनता से सिद्ध है कि जैन साधु मुँहपत्ती कदीम से हाथ में ही रखते थे।

मथुरा का कंकाली टीला: 2200 वर्षों की तीर्थंकरों की प्राचीन मूर्त्तियाँ

ऊपर का आयागपट्ट मथुरा के कंकालीटीला के खुदाई का काम करते समय भूमि से प्राप्त हुआ है। इसके लिये भारतीय विद्वान् पुरातत्वज्ञ श्रीमान् राखलदास वेनर्जी का मत है कि 'साधारण रीते चार मत्स्य पूच्छना केन्द्र स्थले एक गोलाकार स्थानने विषय एक बेठी जैन मूर्त्ति होय छे वि.सं. ना प्रारम्भ पूर्व बे सौ वर्ष उपर सिंहक वणिकना पुत्र अने कौसिकी गौत्रीय मात्ताना संतान सिंहनादि के मथुरा मां जे आयागपट्टनी प्रतिष्ठा करीहती तेगां उपरोक्त विवस्था जोवामा आवे छै'

क्या मूर्त्ति पूजा की प्राचीनता में अभी भी किसी को शंका है ? नहीं।

यह मूर्त्ति भगवान महावीर की है आष्ट्रीय देश के बुद्धप्रेस्त नगर के एक किसान के खेत में खुदाई का करते भूगर्भ से मिली है इसकी प्राचीनता सम्राट चन्द्रगुप्त या सम्प्रति के समय की बतलाई जाती है जिसको आज 2200 वर्ष से अधिक हुए हैं।

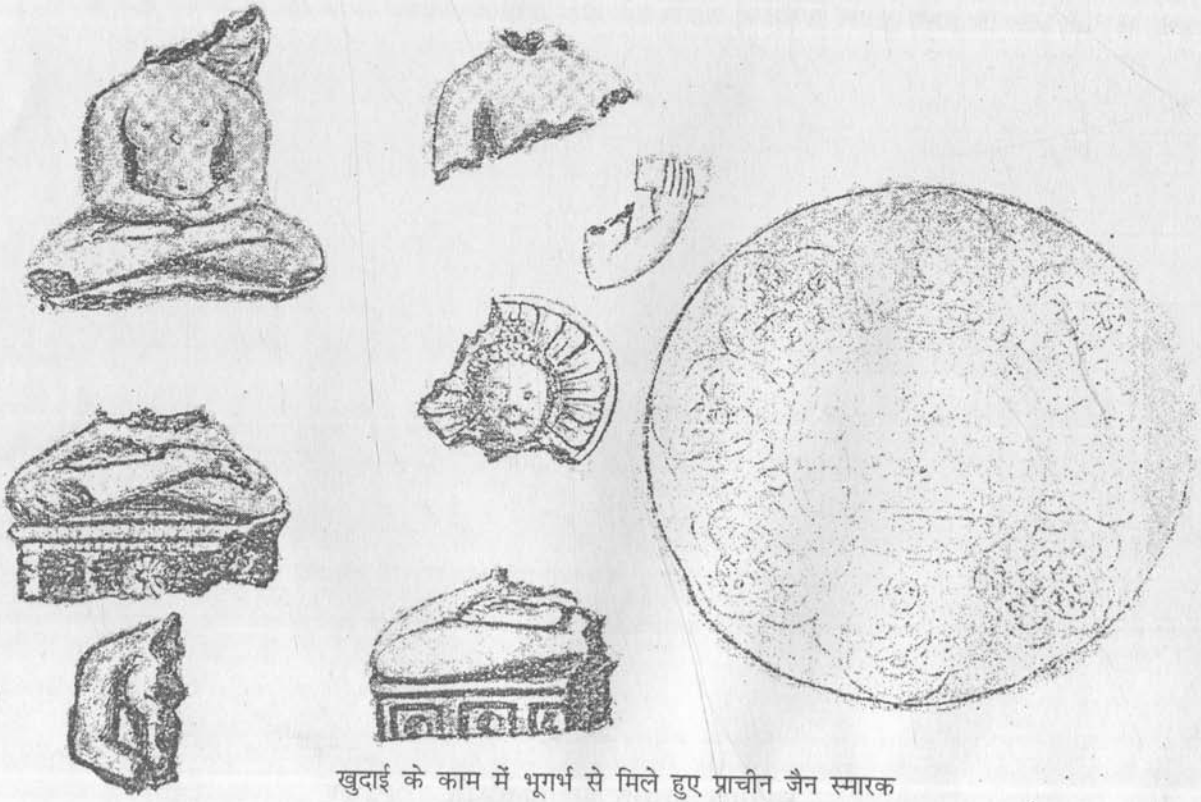

खुदाई के काम में भूगर्भ से मिले हुए प्राचीन जैन स्मारक

सामाजिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक विकास पर प्रभाव

सामाजिक विकास में जैन दर्शन का योगदान

जैन दर्शन की मनुष्य के व्यक्तित्व एवं समाज निर्माण की प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। व्यक्ति की वैयक्तिक स्थिति समाज के बिना सम्भव नहीं है। व्यक्ति की वैयक्तिकता का अर्थ इतना ही है, कि प्रत्येक व्यक्ति अपने आचरण और क्रिया व्यापारों को परिष्कृत करें। समाज पारिवारिक जीवन से प्रारम्भ होता है। भोग-भूमि के जीवन में भी अनुभूति वैयक्तिक होते हुए भी उसका विकास युगल के मध्य ही होता है। संस्कृति और सामाजिकता का विकास इसी युगल परिवार से होता है।

भोग-भूमि की समाप्ति के पश्चात् कर्म-भूमि के साथ ही सामाजिक जीवन का प्रारम्भ हुआ। यह सर्वमान्य तथ्य है, कि कर्मभूमि में अकेला व्यक्ति कुछ नहीं कर सकता है। लोक जीवन का प्रतिपादन करने से सामाजिक जीवन का ढाँचा तो निर्मित होता ही है, साथ ही व्यापक प्रसार का भी अवसर मिलता है। सामाजिक चेतना के अभाव में कर्म का मार्ग संकीर्ण हो जाता है। आजीविका, विवाह, व्यापार-व्यवसाय आदि के लिए सामाजिक सहयोग की नितान्त आवश्यकता है। कोई भी धर्म-दर्शन आध्यात्मिक चेतना के बल से लोकप्रिय नहीं बन सकता है, अतः सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति सामाजिक संस्थाओं के बिना संभव नहीं है। आदिपुराण में निम्नलिखित संस्थाओं का वर्णन किया गया है-

1. कुलकर संस्था, 2. समवशरण संस्था, 3. चतुर्विधसंघ-संस्था, 4. वर्णजाति संस्था, 5. आश्रम संस्था, 6. विवाह संस्था, 7. कुल संस्था, 8. संस्कार संस्था, 9. परिवार संस्था, 10. पुरुषार्थ संस्था, 11. चैत्यालय संस्था।

1. कुलकर संस्था : कुलकर संस्था एक प्रकार की समाज व्यवस्था को सम्पादित करने वाली संस्था है। भोग और त्याग का सम्पृक्त जीवन किस प्रकार निर्भ्रान्त व्यतीत किया जाता है, इसका सम्यक् परिज्ञान कुलकरों द्वारा प्रतिपादित किया गया है। कुलकरों ने जीवन मूल्यों को नियमबद्ध कर एकता और नियमितता प्रदान करके मनुष्य के नैतिक कर्मों का निर्देशन किया। अपराध या भूलों का परिमार्जन दण्डव्यवस्था के बिना संभव नहीं है, अतः कार्यों और क्रियाव्यापारों को नियन्त्रित करने के लिए अनुशासन की स्थापना की जाती है। इस कुलकर संस्था का विकसित रूप ही राज्य संस्था है, जिसमें समाज और राजनीति दोनों के तत्त्व विद्यमान हैं।

कुलकर संस्था द्वारा सामान्यतः निम्नलिखित कार्यों का सम्पादन हुआ है -

1. समाज के सदस्यों के बीच सम्बन्धों का संस्थापन।
2. सम्बन्धों की अवहेलना करने वालों के लिए दण्ड व्यवस्था का निर्धारण।
3. स्वाभाविक व्यवहारों के सम्पादनार्थ कार्य-प्रणाली का प्रतिपादन।
4. आजीविका, रीति-रिवाज एवं सामाजिक अर्हाओं की प्राप्ति की व्याख्या का निरूपण।
5. सांस्कृतिक उपकरणों द्वारा स्वस्थ वैयक्तिक जीवन निर्माण के साथ सामाजिक जीवन में शान्ति और सन्तुलन स्थापनार्थ विषय सुख की अवधारणाओं में परिमार्जन।
6. समाज संगठन एवं विभिन्न प्रवृत्तियों का स्थापन।
7. सामूहिक क्रियाओं का नियन्त्रण एवं समाज-हित प्रतिपादन।
8. आदिपुराण में आचार्य जिनसेन ने लिखा है, कि जीवन वृत्ति एवं मनुष्यों को कुल की तरह इकट्ठे रहने का उपदेश देने के कारण ये कुलकर कहलाये। कुलकरों के कार्यों का वर्णन करते हुए बताया गया है. कि प्रतिश्रुत ने कर्मभूमि के प्रारम्भ में चन्द्रमा के देखने से भयभीत हुए मनुष्य के भय को दूर किया। तारागणों से युक्त नभमण्डल को देखकर भयभीत हुए मनुष्यों के भय को सन्मति ने दूर किया। क्षेमंकर ने प्रजाक्षेम-कल्याण और सुव्यवस्था का प्रचार किया। क्षेमंधर ने कल्याणकारी कार्यों का उपदेश दिया। सीमंकर ने आर्य पुरुषों की सीमाएँ नियत की। सीमन्धर ने सम्पत्ति का बँटवारा करना बतलाया तथा कल्पवृक्षों की सीमा निश्चित की। विमलवाहन ने गज, अश्व, रथ आदि वाहनों पर सवारी करना सिखलाया। चक्षु ध्यान ने पुत्र पालन की परम्परा बतलायी, अभिचन्द्र ने बालकों को क्रीड़ा-विनोद करना और मरुदेवी ने पारिवारिक सम्बन्धों की स्थापना करना सिखलाया। प्रसेनजीत ने गर्भ के ऊपर रहने वाले जरायु के हटाने का कार्य और नाभिराज ने नाल काटने का कार्य सिखलाया। ऋषभदेव ने समाज को कृषि करना, वाणिज्य व्यवसाय करना, नौकरी करना, शिल्पकार्य सम्पादन करना, कला कौशल का निर्माण करना सिखलाया। समाज व्यवस्था में इनका बहुत बड़ा योगदान है। ग्राम, नगर, नदी, सरोवर आदि के उपयोग करने की प्रक्रिया भी इन्होंने बतलायी थी। इस प्रकार कुलकरों ने समाज व्यवस्था के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

2. समवशरण-संस्था : समवशरण ऐसी संस्था है, जो समाज को स्वस्थ और प्रबुद्ध बनाने के साथ कर्तव्य दायित्व का विवेक सिखलाती है। जैन धर्म के प्रतिपादक तीर्थंकरों को जब केवलज्ञान हो जाता है, तो समवशरण की रचना होती है। समवशरण

तीर्थंकर की ऐसी उपदेश सभा है, जिसमें पशु-पक्षी, देव-मनुष्य, उच्च-नीच, धनी-गरीब, मित्र-अमित्र, पापी-पुण्यात्मा सभी एक साथ बैठ आत्मकल्याणकारी उपदेश सुनते हैं। समवशरण ऐसी सामाजिक संस्था है, जिसकी शरण में सभी प्रकार के लौकिक नेता पहुँचते हैं। वास्तव में धर्मनेता ऐसा लोकनायक होता है, जो निःस्वार्थ और निष्काम भावना से जनहित का उपदेश देता है। शील, संयम, सदाचार, व्यवस्था, मानमर्यादा एवं सहयोग सेवा की भावना ही सामाजिकता का निर्वाह करने में समर्थ होती है। उच्च आदर्शों की स्थापना एवं वैयक्तिक जीवन में विकार-संशोधन भी इसी प्रकार की संस्थाओं द्वारा संभव है।

समवशरण में प्रसारित होने वाली दिव्यध्वनि व्यक्ति के व्यक्तित्व का उत्थान करती है, उसे मानवोचित गुणों से परिचित कराती है और समाज का सहयोगी सिद्ध करती है। आत्मप्रशंसा और परनिन्दा ऐसी दुष्प्रवृत्तियाँ हैं, जिनके कारण समाज की शान्ति और व्यवस्था टूटती है तथा पारस्परिक संघर्ष उत्पन्न होता है, अतः समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से कोई भी विचारक नेता मानव की मूल प्रवृत्तियों में सामंजस्य उत्पन्न करता है, संवेग और इच्छाओं को नियंत्रित करता है और स्वस्थ सामाजिक आदतों को प्रादुर्भूत करता है। शत्रुता, शोक, ईर्ष्या, राग, द्वेष, असंयम आदि ऐसे कीटाणु हैं, जो समाज को शनैः-शनैः क्षीण करते जाते हैं, जिससे अन्त में समाज रूपी वृक्ष धराशायी हो जाता है। वस्तुतः यह संस्था मानव मात्र को धर्मसाधना का समान अधिकार प्रदान करती है, प्रत्येक व्यक्ति समत्व को प्राप्त होता है।

समवशरण संस्था धार्मिक संस्था होने पर भी इसमें सामाजिक संस्था के गुण भी पाये जाते हैं। सामाजिक दर्शन (Social Philosophy) और सामाजिक नियोजन (Social Planning) ये दोनों गुण इस संस्था में समाहित हैं। संक्षेप में इस संस्था में निम्नलिखित समाजशास्त्रीय गुण-महत्त्व प्रकट होते हैं --

1. धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में मनुष्य मात्र के समान अधिकार की घोषणा करना।
2. सद्गुणों के विकास का सभी को समान अवसर प्राप्त करने की स्वतन्त्रता का रहना।
3. विरोधी विचारों को सुनकर घबड़ाना नहीं अपने विचारों के समान अन्य के विचारों का भी आदर करना।
4. संचयशील वृत्ति का त्याग कर अधिकार लिप्सा और प्रभुत्वबुद्धि की भावना का दमन करना।
5. निर्भय और निर्वैर होकर शान्ति के साथ जीना और दूसरों को जीवित रहने देना।
6. दूसरों के अधिकार और अपने कर्त्तव्यपालन के लिए सदा जागरूक रहना।

7. अहिंसा और संयम के समन्वय द्वारा अपनी विशाल और उदार दृष्टि से विश्व में भ्रातृत्व भावना का प्रचार करना।

3. चतुर्विध संघ-संस्था : चतुर्विध संघ में श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका इन चारों के समवाय की गणना की जाती है। इन्हें दो संस्थाओं में विभक्त कर सकते हैं - 1. साधु संस्था, 2. गृहस्थ संस्था।

साधु संस्था : साधु-संस्था के अपने संहिता नियम हैं, जिनके आधार पर इस संस्था का संचालन होता है। इस संस्था का नायक 'आचार्य' कहलाता है, जिसके तत्त्वावधान में साधु अपने नियमों का पालन करते हैं। प्रत्येक साधु के संहिता नियम थे, जिनका पालन वे कठोरतापूर्वक करते थे। यह संस्था मुनि, उपाध्याय, क्षुल्लक-ऐलक और क्षुल्लिकाएँ एवं आर्यिकाएँ इन चार रूपों में विभक्त थी। आचार्य की अनुज्ञा के बिना कोई भी साधु अकेला विहार नहीं करता था। प्रायश्चित, स्वाध्याय, विनय, वैयावृत्य और ध्यान की ओर साधुवर्ग का ध्यान विशेष रूप से दिलाया जाता था, क्योंकि इन नियमों का समाजशास्त्र के साथ गहरा सम्बन्ध है। प्रायश्चित आत्मशुद्धि और समाजशुद्धि का कारण है। आचरण में किसी भूल या त्रुटि हो जाने पर उसके सुधार के लिए गुरु के समक्ष उसे निवेदित करना और उसके लिए उचित दण्ड ग्रहण करना प्रयश्चित है। इससे साधु समाज में कोई दोष नहीं आ पाता, वह संयमी बना रहता है।

स्वाध्याय स्व और पर की अनुभूति एवं शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। स्वाध्याय से ही तत्त्वों तथा अधिगम के उपायों को जाना जा सकता है। अधिगम उपायों में प्रमाण, नय और निक्षेप माने गये हैं। प्रमाण वस्तु के पूर्ण रूप को ग्रहण करता है और नय प्रमाण द्वारा गृहित वस्तु के एक अंश को जानता है। आशय यह है, कि ज्ञाता का अभिप्राय विशेष नय है, जो प्रमाण के द्वारा जानी गयी वस्तु के एक अंश का स्पर्श करता है। प्रमाण ज्ञान अनन्त धर्मात्मक वस्तु को समग्र भाव से ग्रहण करता है, अंश विभाजन करने की ओर उसकी प्रवृत्ति नहीं होती।

अनन्तधर्मात्मक पदार्थ के व्यवहार में निक्षेप की आवश्यकता है। जगत् में व्यवहार तीन प्रकार से चलते हैं - ज्ञान, शब्द और अर्थ द्वारा। अनन्त धर्मात्मक वस्तु को उपर्युक्त तीनों व्यवहारों में बाँटना निक्षेप है। निक्षेप का शाब्दिक अर्थ है-रखना। वस्तु के विवक्षित अंश को समझने के लिए उसकी शाब्दिक, आर्थिक, सांकल्पिक, आरोपित, भूत, भविष्य, वर्तमान आदि अवस्थाओं को सामने रखकर प्रस्तुति की ओर दृष्टि देना निक्षेप का लक्ष्य है। जैनागम में पदार्थ वर्णन की एक पद्धति है, कि एक-एक शब्द को नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव, काल और क्षेत्र की दृष्टि से विश्लेषण कर वस्तु का विवेचन करना और तदन्तर विवक्षित अर्थ को बतलाना। इस प्रकार स्वाध्याय द्वारा वस्तु अधिगमों एवं स्याद्वाद आदि सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त कर साधु समाज

आत्मोत्थान के साथ लोकमान्यता भी प्राप्त करता है, अतः सामाजिक दृष्टि से स्वाध्याय का बहुत महत्त्व है।

स्वाध्याय के पश्चात् सेवा सुश्रुषा और वैयावृत्य का स्थान आता है। जो रोगी, असमर्थ या वृद्ध साधु हैं, उनकी देखभाल भी संघ के साधुओं को करनी चाहिये। वैयावृत्य-सेवा को इसीलिए तप कहा गया है, कि इसका सामाजिक दृष्टि से अत्यधिक मूल्य है। साधुओं में भी सहयोग और सहकारिता की भावना वैयावृत्य से ही आती है। सेवा करने वाला छोटा नहीं हो सकता, उसकी आत्मा में अपूर्व सामर्थ्य होती है।

साधुओं के लिए आत्मोत्थान हेतु विषय-कषाय चिन्तन सम्बन्धी आर्त और रौद्र ध्यान का त्यागकर धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। आशय यह है, कि समस्त चिन्ताओं, संकल्प-विकल्पों को रोककर मन को स्थिर करना, आत्म स्वरूप का चिन्तन करते हुए पुद्गल द्रव्य से आत्मा को भिन्न विचारना और आत्मस्वरूप में स्थिर होना। विशुद्ध ध्यान के द्वारा ही कर्म रूपी ईंधन को भस्म कर चिदानन्द परमात्म स्वरूप आत्मतत्त्व को प्राप्त किया जा सकता है। ध्यान करने से मन, वचन और शरीर की शुद्धि होती है। अतः सामाजिक दृष्टि से व्यक्तित्व शुद्धि के लिए ध्यान आवश्यक है।

दिगम्बर साधु 28 मूल गुणों का पालन करते हैं - पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पंचेन्द्रिय जय, षट् आवश्यक, स्नानत्याग, दन्तधावन त्याग, पृथ्वी पर शयन, खड़े होकर दिन में एक बार भोजन ग्रहण करना, नग्नत्व और केशलुञ्चन करना। वे बड़ी शान्ति और धैर्य से क्षुधा, तृषा को सहते हैं। वे दूसरों के द्वारा कष्ट दिये जाने पर भी विचलित नहीं होते, सुमेरु के समान अपने व्रत और चारित्र में अटल रहते हैं। उनके लिए शत्रु-मित्र, कंचन-काँच, निन्दा-स्तुति सब समान हैं। समस्त परिग्रह के त्यागी रहने के कारण उनकी आवश्यकताएँ बहुत ही सीमित होती हैं।

उपाध्याय साधु संघ में अध्यापक का कार्य करते हैं। समस्त संघ के मुनियों को ग्यारह अंग और चौदह पूर्व की शिक्षा देते हैं। साधु एकान्त में साध्वियों से वार्तालाप नहीं करते, रात्रि के समय संघ की साध्वियाँ साधुओं के निवास स्थान से पृथक स्थान पर निवास करती हैं। साध्वियों को भी आदरणीय स्थान प्राप्त हैं। साधु निःस्वार्थ भाव से जनकल्याणकारी उपदेश देने में प्रवृत्त रहते हैं। इस संस्था का समाज निर्माण में महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा।

गृहस्थ संस्था : साधु संस्था और गृहस्थ संस्था दोनों ही परस्पर एक-दूसरे से नियन्त्रित और प्रभावित थीं। गृहस्थ कदाचारी साधुओं की स्वच्छन्दचारिता पर नियन्त्रण रखते थे। इधर गृहस्थों की धार्मिक मर्यादाएँ साधुओं द्वारा प्रतिपादित की जाती थीं।

गृहस्थ को आपस में स्नेह और प्रेमपूर्वक निवास करने का उपदेश दिया गया है। जिस प्रकार गाय अपने बछड़े से प्रेम करती है, उसी प्रकार साधर्मी बन्धुओं के प्रति प्रेमभाव रहना चाहिए। सामाजिकता के विकास के लिए धर्मात्मा गुणी पुरुष से कोई भूल हो जाने पर इस अपराध या दोष को सभा के समक्ष प्रकट न करना और जहाँ तक सम्भव हो दोष को छिपाना आवश्यक है। सर्वसाधारण के समक्ष दोष के प्रकट हो जाने से व्यक्ति के मानस में हीनता की भावना उत्पन्न हो जाती है, जिससे उसके व्यक्तित्व का विकास अवरुद्ध हो जाता है। जिस प्रकार आत्म प्रशंसा और पर की निन्दा समाज के विकास में बाधक हैं। सामाजिकता के विकास के लिए आचार्य जिनसेन ने गृहस्थ के निम्नलिखित गुणों का निर्देश किया है।

दानं पूजां च शीलं च दिने पर्वण्युपोषितम्।
धर्मश्चतुर्विधः सोऽयं आम्नातो गृहमेधिनाम्॥

– आदिपुराण 41/104

दान देना, पूजा करना, शील का पालन करना और पर्व के दिनों में उपवास करना यह चार प्रकार का गृहस्थों का धर्म माना गया है।

वास्तव में विश्वमैत्री, गुणी-समादर, दुखित जीवों पर दया और दुर्जन उपेक्ष गृहस्थ-संस्था के लिए अत्यन्त उपादेय धर्म हैं। दान द्वारा समाज में सहयोग की भावना समृद्ध होती है और विश्वमैत्री द्वारा प्रेम का वातावरण प्रकट होता है सामाजिक संगठन के तत्त्वों में प्रेम और त्याग दोनों ही आवश्यक गुण माने गये हैं। दान देने से व्यक्ति की ममता घटती है और सामाजिक ममता विकसित होती है। करुणा, दया और सहानुभूति गुण भी विश्वमैत्री के साधन हैं। गुणियों का आदर करने से समाज में सौहार्द उत्पन्न होता और मनुष्य के व्यवहार एवं सम्बन्धों का बोध प्राप्त होता है।

गृहस्थ चारित्र की दृष्टि से तीन प्रकार के होते हैं – 1. पाक्षिक, 2. नैष्ठिक और 3. साधक। पाक्षिक श्रावक को सच्ची और दृढ़ आस्था तो रहती है, पर किसी श्रेणी का आचरण नहीं होता। यह 1. जुआ खेलना, 2. मांस खाना, 3. मदिरा पान, 4 शिकार खेलना, 5. वैश्यागमन करना, 6. चोरी करना व 7. परस्त्री सेवन करना इन व्यसनों का त्यागी होता है। रात्रि भोजन न करना, जल छानकर पीना एवं अष्ट मूलगुणों को धारण करना भी श्रावक के गुणों में परिगणित विश्वास उत्पन्न करता है।

यह आचरण व्यक्ति तथा समाज में सच्चाई, अहिंसा, श्रद्धा और पारस्परिक विश्वास उत्पन्न करता है। नैष्ठिक श्रावक एकादश प्रतिमाओं का पालन करता है और इसके अनन्तर आत्मा की साधना करने वाला साधक होता है और साधु संस्था में प्रविष्ट होकर मुनिपद धारण करता है। इस प्रकार चतुर्विध संघ-संस्था सामाजिक रीति-रिवाजों और मूल प्रवृत्तियों की स्वच्छन्दता का नियन्त्रण करती है।

4. वर्ण और जाति संस्था : वर्ण और जाति दोनों भिन्नार्थक शब्द हैं। आदि पुराण के अनुसार जाति और वर्ण में अन्तर माना गया है। एक ही वर्ण के अन्तर्गत कई जातियाँ एवं उपजातियाँ पायी जाती है। अतः वर्ण व्याप्य है और जाति व्यापक।[1] यों तो आदिपुराण में वर्ण और जाति सामान्यतः एकार्थक हैं, किन्तु सामाजिक दृष्टि से वर्ण का आधार आजीविका है और जाति का आधार विवाह आदि सामान्य मान्यताएँ हैं। आदि पुराण में चार वर्ण मानकर उन्हीं को जाति रूप में प्रतिपादित किया है। जाति नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुई मनुष्य जाति एक ही है, पर आजीविका के भेद से होने वाले भेद के कारण जाति चार प्रकार की होती है।[2] व्रत संस्कार से ब्राह्मण, शस्त्र धारण से क्षत्रिय, न्यायपूर्वक धनार्जन से वैश्य और सेवावृत्ति अथवा नीचवृत्ति का आश्रय लेने से शूद्र कहलाता है।[3]

आदि ब्रह्मा ऋषभदेव ने तीन वर्णों की स्थापना की थी। भरत ने व्रतसंस्कार की अपेक्षा ग्रहण कर ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की।

ब्राह्मण : आदिपुराण के अनुसार तप और शास्त्र ज्ञान को धारण करने वाले ही ब्राह्मण होते हैं।[4] जो इन दोनों से रहित है, वह केवल जाति ब्राह्मण कहलाता है। वस्तुतः व्रत संस्कारों से ही व्यक्ति ब्राह्मण कहा जाता है। शास्त्र ज्ञान के माध्यम से ही ब्राह्मण अपनी आजीविका चलाता है।

क्षत्रिय : शस्त्रधारण कर आजीविका चलाने वाले क्षत्रिय कहलाते हैं। आदिपुराण में बताया गया है, कि दुःखी प्रजा की रक्षा करना क्षत्रियों का धर्म है। क्षत्रियों के पाँच धर्म बताये गये हैं[5] –

1. **कुल पालन** : कुलाम्नाय की रक्षा करना और कुल के योग्य आचरण करना।
2. **बुद्धिपालन** : तत्त्वज्ञान के अनुसार प्रवृत्ति करना और विवेकबुद्धि धारण करना।
3. **आत्मरक्षा** : रक्षण में उद्यत व्यक्ति ही स्वरक्षा करता है।
4. **प्रजारक्षा** : प्रजा की रक्षा करने वाला ही क्षत्रिय कहलाता है।
5. **समञ्जत्व** : दुष्ट पुरुषों का निग्रह और शिष्ट पुरुषों का पालन करना। पक्षपात रहित हो प्रजा का रक्षण करना।

भरत चक्रवर्ती ने क्षात्र धर्म का उपदेश देते हुए बताया है, कि प्रजा के लिए न्यायपूर्वक वृत्ति रखना ही क्षत्रियों का योग्य आचरण है। धर्म का उल्लंघन न कर धन कमाना, रक्षा करना, बढ़ाना और योग्य पात्र को दान देना ही क्षत्रियों का न्याय है। क्षत्रिय वर्ण के व्यक्तियों को अपने वंश की शुद्धि के लिए स्वधर्म में रत रहना चाहिये, अन्य धर्मावलम्बियों के शेषाक्षत भी नहीं ग्रहण करने चाहिये।

भरत के क्षात्र धर्म का सार यह है, कि क्षत्रिय समस्त वर्णों में उत्तम और उन्नत

वर्ण है। वह रत्नत्रय के सद्भाव के कारण सर्वोत्कृष्ट धर्माधिकारी है। ब्राह्मण आदि वर्ण वाले व्यक्ति सम्यग्दर्शन धारण कर क्षत्रिय धर्म में दीक्षित हो सकते हैं। रत्नत्रयधारी मुनिराज भी क्षत्रिय माने जा सकते हैं।

वैश्य : कृषि, व्यापार तथा पशुपालन आदि के द्वारा अपनी आजीविका चलाने वाले वैश्य कहलाते हैं। समाज का यह अंग सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। किसी भी राज्य या समाज का आर्थिक आधार यही जाति है। यह जाति समाज की रीढ़ है। क्योंकि किसी भी समाज का विकास उसकी औद्योगिक उन्नति एवं आर्थिक विकास पर ही निर्भर करता है।

शूद्र : जो सेवा-शुश्रुषा करते थे, वे शूद्र कहलाये। आदिपुराण में आचार्य जिनसेन ने दो प्रकार के शूद्र बताये हैं – कारु और अकारु। धोबी आदि शूद्र कारू कहलाते थे और उनसे भिन्न अकारु। कारु शूद्र भी स्पृश्य और अस्पृश्य के भेद से दो प्रकार के हैं। इनमें जो समाज से बाहर रहते हैं, उन्हें अस्पृश्य कहते हैं और समाज के अन्दर रहते हैं, वे स्पृश्य कहलाते हैं, जैसे नाई, सुवर्णकार आदि।[1]

आदिपुराण के अनुसार इस जाति या वर्ण व्यवस्था के द्वारा निम्नलिखित कार्यों को सम्पादित किया गया है -

1. **धार्मिक भावनाओं की सुरक्षा** : जाति या वर्ण व्यवस्था के कारण धार्मिक चेतना वर्ग विशेष में केन्द्रित रहती है।
2. **संस्कृति की रक्षा** : वर्ग विशेष में कला, शिल्प एवं अन्य सांस्कृतिक उपकरणों का विकास सरलतापूर्वक होता है।
3. **सामाजिक सुदृढ़ता** : सीमित वर्ग में अधिक संगठन पाया जाता है।
4. **समाज के विकास और संरक्षण में सहायता** : जाति व्यवस्था द्वारा सामाजिक संरक्षण होता है।
5. **राजनैतिक स्थिरता** : आजीविका पर आधारित जाति व्यवस्था राजनीति को स्थिरता प्रदान करती है, समूह विशेष की संगठनात्मक प्रवृत्ति राज्य व्यवस्था में सहायक होती है। राज्य संगठन इसी प्रवृत्ति से सबल होते हैं तथा सम्प्रभुता प्राप्त शक्ति के विकास का आधार भी जाति व्यवस्था ही है। यद्यपि प्रारम्भ में ऋषभदेव भगवान के समय जाति व्यवस्था आजीविका के आधार पर व्यवस्थित थी, किन्तु कालान्तर में इसने जन्मना वर्णव्यवस्था का अर्थात् पैतृक रूप गृहण कर लिया। इस जाति व्यवस्था में भौगोलिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और आर्थिक कारणों की अन्तर्क्रियाएँ प्रतिफलित होती है। स्टेलर ने अपनी पुस्तक 'ड्रेविडियन इन इण्डियन कल्चर' में लिखा है, कि ''जाति व्यवस्था दक्षिण भारत में अधिक शक्तिशाली है।'' इससे स्पष्ट है, कि आर्यों के आने के पूर्व

द्रविड़ों में जाति व्यवस्था थी। यह जाति व्यवस्था भिन्न-भिन्न उद्योगों के कारण प्रारम्भ हुई।

6. **श्रम विभाजन की व्यवस्था** : आर्थिक जीवन के विकास के लिए श्रम विभाजन परमावश्यक है। उद्योग-धन्धों का विकास भी श्रमचातुर्य से ही होता है।
7. **शिक्षा व्यवस्था** : जाति या धर्म विशेष के आधार पर शिक्षादान में प्रगति देखी जाती है। किसी जाति विशेष के व्यक्ति अपनी जाति के सुधार या कल्याणार्थ शिक्षा संस्थाओं की स्थापना करते हैं।
8. **विवाह सम्बन्ध की व्यवस्था** : जाति व्यवस्था ने विवाह-सम्बन्धों के सम्पादन में सौकर्य प्रदान किया है। वर्ग विशेष के बीच में सहयोग, संघर्ष, स्पर्धा आदि के अवसर अधिक प्राप्त होते हैं। अतः विवाह या अन्य प्रकार के सम्बन्ध-निर्वाह जाति व्यवस्था के कारण सरल हो जाते हैं।
9. **समानता** : जाति व्यवस्था रक्तशुद्धि में सहायक होती है। यह जाति व्यवस्था धार्मिक और सामाजिक संस्था के रूप में है। इसने दीक्षा, व्रत एवं आत्मोत्थान के लिए सीमाएँ निर्धारित की तो सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था के लिए भी प्रयास किया। इस मान्यता से धनिक, शिक्षित, दरिद्र, मूर्ख आदि समस्त सदस्यों को समान सामाजिक वातावरण उपलब्ध होता है।

इस प्रकार जाति व्यवस्था लौकिक उत्थान की दृष्टि से पर्याप्त उपादेय है। किंतु पारलौकिक दृष्टि से व्यक्ति को वर्णानुसार धर्माधिकारी मानना अनुचित है, जो कि कालान्तर में प्रचलित हो गया। ऋषभदेवजी द्वारा प्रतिपादित वर्ण-व्यवस्था कर्मानुसार थी और कर्मानुसार ही व्यक्ति धर्माधिकारी एवं मोक्ष का अधिकारी था। जाति व्यवस्था पैतृक होने के पश्चात् उच्चवर्गों ने शूद्रों को धर्म एवं मोक्ष का अधिकारी मानने से इन्कार कर दिया। जैन दर्शन में अब भी उपस्कार शुद्धि, आचार शुद्धि और शरीर शुद्धि के होने पर शूद्र वर्ण को भी धर्म एवं मोक्ष मार्ग का समान अधिकारी स्वीकार किया है।

5. **आश्रम संस्था** : जीवन के मर्म को जानने के लिए आश्रम संस्था की व्यवस्था की गयी है। जीवन विकास को चार भागों में बाँटकर ही आश्रम के रूप में व्यवस्थित किया है। 1. ब्रह्मचर्य, 2. गृहस्थ, 3. वानप्रस्थ एवं 4. सन्यास। ये चार आश्रम जीवन के विरामस्थल उत्तरोत्तर अधिक विशुद्धि प्राप्त होने से प्रतिपादित किये गये हैं।

1. **ब्रह्मचर्य** : ब्रह्मचर्य आश्रम में मुख्यतः ज्ञान की उपासना की जाती है। आठ वर्ष की अवस्था में बालक को जिनालय में ले जाकर अर्हन्तदेव की पूजा, भक्ति

सम्पन्न कराके व्रत देना चाहिये। अनन्तर मौजी बन्धन के पश्चात् श्वेत धोती और दुपट्टाधारी, अविकारी वेशवाला वह बालक व्रतचिह्न से विभूषित होकर ब्रह्मचारी कहलाता है। इस अवस्था में उसके चोटी भी रहती है। व्रत चिह्नों में सात लरका यज्ञोपवीत प्रधान रूप से रहता है। ब्रह्मचारी भिक्षावृत्ति से निर्वाह करता है। भिक्षा में जो कुछ प्राप्त हो, उसका कुछ हिस्सा देव को अर्पण कर शेष बचे हुए योग्य अन्न का स्वयं भोजन करता है। सिर के बालों का मुण्डन कराना भी आवश्यक है, इससे मन, वचन और काय पवित्र रहते हैं।[10]

विद्याध्ययन करते समय ब्रह्मचारी को वृक्ष की दातौन करना, ताम्बूल सेवन करना, अंजन लगाना, उबटन लगाकर स्नान करना, पलंग पर शयन करना, दूसरे के शरीर से अपने शरीर को रगड़ना आदि कार्यों का त्याग करना चाहिये। प्रतिदिन स्नान करना, शरीर को शुद्ध रखना तथा पृथ्वी पर शयन करना आवश्यक है। जब तक विद्या समाप्त न हो जाए ब्रह्मचर्य, संयम एवं व्रत धारण करना आवश्यक है।

विद्यारम्भ करते समय सर्वप्रथम ब्रह्मचारी को गुरुमुख से श्रावकाचार का अध्ययन करना और तदनन्तर विनय पूर्वक आध्यात्मशास्त्र पढ़ना आवश्यक है। आचार एवं आध्यात्मशास्त्र का ज्ञान प्राप्त होने पर विद्वता और पाण्डित्य की प्राप्ति के लिए व्याकरण शास्त्र, अर्थशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, छन्दशास्त्र, शकुनशास्त्र और गणितशास्त्र आदि विषय और शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिये।[11] ब्रह्मचर्य आश्रम विद्यार्जन के लिए नियत है। संसार की समस्त कामनाओं और इच्छाओं का त्यागकर ज्ञानी बनना और श्रम करने की प्रवृत्ति ग्रहण करना इस आश्रम का ध्येय है।

ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति के पश्चात् अध्ययन के समय ग्रहण किये गये व्रतों का त्याग हो जाता है, किंतु जीवन के लिए उपादेय व्रत बने रहते हैं। आदि पुराण में कहा गया है, कि मधु, मांस, पंच उदुम्बर फलों एवं हिंसादि पाँच स्थूल पापों का त्याग जीवन पर्यन्त के लिए कर देना चाहिये।[12]

2. गृहस्थः ब्रह्मचर्य आश्रम के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया जाता है। जिन माल्याम्बर, आभूषण, पुष्प, ताम्बूल आदि पदार्थों के सेवन का त्याग किया गया था, उन पदार्थों को अब गुरु की आज्ञापूर्वक ग्रहण किया जा सकता है। विवाह हो जाने पर गृहस्थ अतिथि सत्कार, दान, पूजा, परोपकार आदि कार्यों को उत्साहपूर्वक सम्पन्न करता है। गृहस्थाश्रम को समाज-सेवा का साधन माना गया है। लौकिक दृष्टि से इसी आश्रम पर अन्य तीनों आश्रमों का अस्तित्व निर्भर करता है। मुनि, क्षुल्लक, ऐलक, आर्यिका, प्रभृति त्यागी वर्ग श्रावकों के ही ऊपर अवलम्बित है। श्रावक को अपना आचार-व्यवहार इतना परिष्कृत कर लेना पड़ता है, कि वह समय आने पर सन्यासी बन सके। अर्थात् सांसारिक भोगों का सेवन करते हुए भी इन्द्रिय संयम की आवश्यकता है।

3. वानप्रस्थ: वानप्रस्थ आश्रम, नैष्ठिक आश्रम का साधक वाला रूप है, जिसमें घर छोड़कर क्षुल्लक और ऐलक व्रतों द्वारा अपनी आत्मा की शुद्धि की जाती है। देश संयम की प्राप्ति हो जाने से प्रबुद्ध वानप्रस्थ अपनी आत्म साधना में संलग्न रहता है।

4. सन्यास: चतुर्थ सन्यास आश्रम है। इसमें मुनि दीक्षा सम्पन्न होती है और सांसारिक बन्धनों के साथ कर्म बन्धन को तोड़ने के लिए पूर्ण संयम का पालन किया जाता है। सामाजिक दृष्टि से यह संस्था निम्न प्रकार से उपयोगी है -

1. प्रेम और सौहार्द का प्रसारण होता है।
2. सामाजिक अर्हाओं और नैतिकता की प्रतिष्ठा होती है।
3. समाज नियंत्रण-वैयक्तिक कर्तव्य और दायित्व की भावना से ही समाज नियंत्रित होता है।
4. भौगोलिक और सांस्कृतिक वातावरण की प्रतिष्ठा होती है।

6. विवाह-संस्था : परिवार का संचालन विवाह संस्था के बिना संभव नहीं है। विवाह चिर मर्यादित समाज संस्था है। जीवन में धर्म, अर्थ, काम आदि पुरुषार्थों का सेवन विवाह संस्था के बिना असंभव है। गृहस्थ जीवन का वास्तविक उद्देश्य दान देना, देवपूजा करना एवं मुनिधर्म के संचालन में सहयोग देना है। साधु-मुनियों को दान देने की क्रिया गृहस्थ-जीवन के बिना सम्पन्न नहीं हो सकती है। स्त्री के बिना पुरुष और पुरुष के बिना अकेली स्त्री दानादि क्रिया सम्पादित करने में असमर्थ है। अतः चतुर्विध संघ के संरक्षण की दृष्टि से और कुल परम्परा का निर्वाह करने की दृष्टि से विवाह-संस्था की परम आवश्यकता है। सामाजिक दृष्टि से विवाह के निम्नलिखित उद्देश्य हैं --

1. धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन।
2. सन्तान प्राप्ति।
3. परिवार के प्रति दायित्व एवं कर्त्तव्यों का निर्वाह।
4. समाज के प्रति दायित्व एवं कर्त्तव्यों का निर्वाह।
5. व्यक्ति का विकास।
6. गृहस्थ धर्म की आहार दानादि क्रियाओं का निर्वाह।
7. स्त्री पुरुष के यौन सम्बन्ध का नियंत्रण और वैधीकरण।

शास्त्रकारों ने विवाह की परिभाषा करते हुए लिखा है - "सद्वेद्यस्य चारित्रमोहस्य चोदयाद् विवहनं कन्यावरणं विवाह इत्याख्यायते।" अर्थात् सातावेदनीय और चारित्रमोहनीय के उदय से विवहन-कन्यावरण करना विवाह कहा जाता है।[3] अग्नि, देव और द्विज की साक्षी पूर्वक पाणिग्रहण क्रिया का सम्पन्न होना विवाह है।[4] जैनों में विवाह संस्कार को धार्मिक दृष्टि से अधिक आवश्यक नहीं बताया गया है, न

ही धार्मिक ग्रन्थों में जैन विवाह विधि का कोई विवेचन है। वरन् सामाजिक व्यवहार एवं कर्तव्यों के समुचित निर्वाह एवं मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही विवाह संस्था को महत्त्वपूर्ण माना गया है।

7. संस्कार संस्था : संस्कार शब्द व्यक्ति के दैहिक मानसिक और बौद्धिक परिष्कार के लिए किये जाने वाले अनुष्ठानों से सम्बद्ध है। जिस प्रकार आत्मा की पवित्रता के लिए विकार शोधन की गुणस्थान प्रणाली मान्य है, उसी प्रकार देह शुद्धि और पात्रत्व विकास के लिए संस्कार भी अपेक्षित है। संस्कार शब्द धार्मिक क्रियाओं के लिए प्रयुक्त हुआ है।

जन्म दो प्रकार का माना गया है - शरीर जन्म और संस्कार जन्म। शरीर की प्राप्ति रूप शरीर जन्म है और संस्कारों द्वारा अपने को पवित्र करना संस्कार जन्म है। संस्कार द्वारा मिथ्यात्व दूर किया जाता है, जिससे व्यक्ति वास्तव में समाज के लिए उपयोगी बनता है। व्रती व्यक्ति ही ब्राह्मण है, परमेष्ठी ब्रह्मा कहे जाते हैं। आदिपुराण में जीव के गर्भाधान संस्कार से लेकर निर्वाण पर्यन्त विविध 53 क्रिया संस्कारों का विवेचन किया गया है। जैसे बालक का नामकर्म संस्कार, निषधा (आसन पर बैठना) संस्कार, व्युष्टि संस्कार (जन्मदिन), लिपि संख्यान संस्कार आदि।

क्रियाओं और मन्त्रों से सुसंस्कार को प्राप्त हुआ व्यक्ति अत्यन्त उत्कर्ष को प्राप्त करता है। ये संस्कार ज्ञान से उत्पन्न होते हैं और सबसे उत्कृष्ट ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, जिसे यह प्राप्त हो जाता है, वह अपनी आत्मा का उद्धार करने में समर्थ हो जाता है। स्वाध्याय, पूजन, अतिथि सत्कार एवं ज्ञान का प्रचार-प्रसार करने से स्व-पर कल्याण होता है। आदिपुराण में ज्ञात कर्म,[15] अन्न प्राशन, चौल और उपनयन संस्कार का विशेष रूप से उल्लेख आया है।[16]

8. कुल संस्था : पिता की वंशशुद्धि को कुल कहते हैं। कुलाचार का योग्य रीति से पालन करते हुए पुत्र-पौत्रादि सन्तति में एकरूपता बना रहना कुलशुद्धि है। आदि पुराण में बताया गया है -

"कुलावधिः कुलाचाररक्षणं स्यात् द्विजन्मनः।
तस्मिन्न सत्यसौ नष्टक्रियोऽन्यकुलतां भजेत्॥"[17]

अपने कुल की रक्षा करना द्विजों की कुलावधि क्रिया कहलाती है। कुल के आचार की रक्षा न होने पर पुरुष की समस्त क्रियाएं नष्ट हो जाती है और वह अन्य कुल को प्राप्त हो जाता है।

जिसका कुल और गौत्र शुद्ध है, वही द्विज दीक्षा ग्रहण कर सकता है। उपनयन संस्कार से पवित्र, शुद्ध कुल और असि, मसि, कृषि एवं वाणिज्य आदि क्रियाओं द्वारा आजीविका चलाने वाले निरामिष भोजी, संकल्पी, हिंसा का त्यागी एवं अभक्ष्य और अपेय सेवन का त्यागी, व्रतपूत व्रतचर्या विधि का अधिकारी है। कुल स्त्री का सेवन

करने वाला द्विज शुद्ध कुल कहलाता है। कुलाचार का पालन करना क्षत्रियों के लिए भी आवश्यक माना गया है। सामाजिक दृष्टि से भी यह संस्था पर्याप्त महत्व की है-

1. पारिवारिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाये रखने एवं समाज को अनाचार से बचाने के लिए कुलाचार का पालन करना आवश्यक है।
2. विवाह संस्था की शुद्धि कुलाचार द्वारा ही संभव है।
3. रक्त सम्बन्ध की शुद्धि भी कुलाचार पर ही आधारित है।
4. परिवार की सर्वव्यापकता का कारण कुलाचार है।
5. वैयक्तिक जीवन के साथ सामाजिक जीवन को भी नियन्त्रित करता है और सामाजिक एवं आर्थिक शक्तियों को कुलाचार एक सामान्य सूत्र में निबद्ध करता है।
6. कला साहित्य, संगीत, नृत्य, मूर्ति एवं चित्रकला सम्बन्धि सौन्दर्य चेतना को कुल के बीच उद्‌भूत करना है।
7. रीति-रिवाजों की सुव्यवस्था के साथ कुलाचार एक पक्षीय परिवारों का एक वास्तविक संगठन उत्पन्न करता है, जो सामुदायिक भावना के साथ उद्योग और व्यवसाय विषयक विधि-निषेधों का प्रवर्तन करता है।

9. परिवार संस्था : परिवार सार्वभौमिक समाज संस्था है। इसे समाज का आधारभूत माना गया है। यह संस्था काम की स्वाभाविक वृत्ति को लक्ष्य में रखकर यौन सम्बन्ध और सन्तानोत्पत्ति की क्रियाओं को नियन्त्रित करती है, यह भावनात्मक घनिष्ठता का वातावरण तैयार कर बालकों के समुचित पोषण और सामाजिक विकास के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि का निर्माण करती है। इस प्रकार व्यक्ति के सामाजीकरण एवं सांस्कृतीकरण की प्रक्रिया में परिवार का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। साभाजिक दृष्टि से परिवार के निम्नलिखित कार्य हैं :-

1. स्त्री और पुरुष के यौन संबंध को विहित और नियन्त्रित करना।
2. वंशवर्धन के लिए सन्तान की उत्पत्ति, संरक्षण और पालन करना, मानव जाति के क्रम को आगे बढ़ाना।
3. गृहस्थी में स्त्री पुरुष का सहवास और नियोजन।
4. जीवन को सहयोग एवं सहकारिता के आधार पर सुखी और समृद्ध बनाना।
5. व्यावसायिक ज्ञान, औद्योगिक कौशल के हस्तान्तरण का नियमन एवं वृद्ध, असहाय एवं बच्चों की रक्षा का प्रबन्ध सम्पादन।
6. मानसिक विकास, संकेत (Suggestion), अनुकरण (Imetation), एवं सहानुभूति (Sympathy) द्वारा बच्चों के मानसिक विकास का वातावरण प्रस्तुत करना।

7. ऐहिक उन्नति के साथ पारलौकिक या आध्यात्मिक उन्नति करना।
8. जातीय जीवन के सातत्य को दृढ़ रखते हुए धर्म कार्य सम्पन्न करना।
9. प्रेम, सेवा, सहयोग, सहिष्णुता, शिक्षा, अनुशासन आदि मानव के महत्त्वपूर्ण नागरिक एवं सामाजिक गुणों का विकास करना।
10. आर्थिक स्थायित्व के लिए उचित आय का सम्पादन करना।
11. विकास और सुदृढ़ता के लिए आमोद-प्रमोद एवं मनोरंजन सम्बन्धी कार्यों का प्रबन्धन करना।

मातृस्नेह, पितृस्नेह, दाम्पत्य आसक्ति, अपत्यप्रीति और सहवर्तिका परिवार के मुख्य आधार हैं। इन आधारों पर ही परिवार का प्रासाद निर्मित हुआ है। जैन समाज में व्यापारी वर्ग अधिक है, अतः संयुक्त परिवार प्रणाली का अधिक प्रचलन है।

10. **पुरुषार्थ संस्था** : पुरुषार्थ का अर्थ है, वह वस्तु जिसे मनुष्य अपने प्रयत्नों द्वारा प्राप्त करना चाहता है। मानव जीवन के वास्तविक स्वरूप, महत्त्व और लक्ष्य का निर्धारण पुरुषार्थ द्वारा ही होता है। भारतीय दर्शन में चार पुरुषार्थ माने गए हैं – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। अतः प्रत्येक व्यक्ति को इनकी प्राप्ति का प्रयास करना चाहिये। इन चारों पुरुषार्थों में मोक्ष परम लक्ष्य है। अर्थ और काम उस लक्ष्य तक पहुँचने के साधन हैं और इन साधनों का समुचित प्रयोग करने की विधि धर्म है। धर्म मनुष्य की पाशविक और दैविक प्रकृति के बीच की शृंखला है। यही अर्थ और काम को नियन्त्रित करता है।

जैन दर्शन में पुरुषार्थ का विवेचन करते हुए बताया है, कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र रूप मार्ग, मोक्ष रूप इसका फल तथा धर्म, अर्थ और काम रूप इसका विस्तार है। आदिपुराण में इसका विवेचन करते हुए लिखा है, कि धर्म एक वृक्ष है, अर्थ इसका फल है और काम उसके फलों का रस है।[16] धर्म, अर्थ और काम को त्रिवर्ग कहते हैं। इनमें धर्म ही अर्थ और काम की उत्पत्ति का स्थान है। धर्म कामधेनु, चिन्तामणि रत्न और कल्पवृक्ष है।[17] स्वयं शान्तिपूर्वक जीवन यापन करना और अन्य लोगों को शान्तिपूर्वक जीवन यापन करने देना धर्म का ही कार्य है। क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य रूप धर्म सार्वभौमिक धर्म का रूप है।

धर्म सामाजिक व्यवस्था में अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली अवधारणा है। यह जीवन को सुसंस्कृत और परिमार्जित करता है। धर्म वह है, जो जीवन की विविधताओं, भिन्नताओं, अभिलाषाओं, लालसाओं, भोग, त्याग, मानवीय आदर्श एवं मूल्यों को नियमबद्ध कर नियमितता प्रदान करता है। यह मनुष्य के नैतिक कर्तव्यों की ओर संकेत करता है।

धर्म के दो रूप हैं - वैयक्तिक शोधक-नियन्त्रक और सार्वजनीन शोधक-

नियन्त्रक। वैयक्तिक धर्म सामायिक, स्वाध्याय, आत्मचिन्तन, विकार नियन्त्रण संयम एवं रागद्वेष त्याग रूप है। व्यावहारिक धर्म के रूप में देवपूजा, दान, सेवा, परोपकार, अतिथिसत्कार एवं अहिंसक आचार आदि को ग्रहण किया जा सकता है। वैयक्तिक धर्म साधना द्वारा व्यक्ति अपने जीवन को परिष्कृत कर समाजोपयोगी जीवन यापन करने के लिए अपने को तैयार करता है। अतः वैयक्तिक धर्म को सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से साधन माना जा सकता है।

शास्त्राभ्यास से मनुष्य की धार्मिक प्रवृत्ति वृद्धिगत होती है, जिससे वह सम्पत्ति और काम इन दोनों वर्गों को नियन्त्रित कर सन्मार्ग में प्रवृत्त होता है। अर्थ मनुष्य की आवश्यकता है। न्याय-नीतिपूर्वक अर्थोपार्जन करना गृहस्थ का आवश्यक कर्तव्य है। अर्थ लौकिक जीवन की समस्त आवश्यकताओं का साधन है। अर्थ पुरुषार्थ से तात्पर्य भौतिक सुखों और आवश्यकताओं की पूर्ति से है। समस्त भौतिक उन्नति के साधन इसी पुरुषार्थ से समवेत किए जाते हैं। धर्म निरपेक्ष अर्थ सुखों का साधन नहीं हो सकता है और न इसके द्वारा समाज का आर्थिक उन्नयन ही सम्भव है। अतएव धनार्जन करते समय धार्मिक नियमों का पालन करना परम आवश्यक है। इसी प्रकार एन्द्रिक विषयों के सेवन के समय भी धार्मिक दृष्टि बनाये रखना जीवन नियन्त्रण का साधन है।

11. चैत्यालय संस्था : चैत्यालय प्राचीन समय से संस्कृति और समाजोत्थान के केन्द्र रहे हैं। उनका अस्तित्व एक सामाजिक संस्था के रूप मे पाया जाता है। कलाकारों ने अपनी सर्वोत्तम कृतियाँ समर्पित कीं, कवियों ने अपनी कविताएँ और संगीतज्ञों ने अपने गीत पहले-पहल चैत्यालयों में ही गाये। सुन्दरता, पवित्रता, ज्ञानाभ्यास, यति-निवास एवं मनोरंजन की एक साथ प्राप्ति चैत्यालयों में होती थी। धार्मिक और सामाजिक पंचायतें, शास्त्र सभाएँ, संगीत-वाद्य का आयोजन चैत्यालयों में होता था। चैत्यालय निम्नलिखित प्रकार से उपयोगी होते थे -

1. चैत्यालय में चतुर्विध संघ निवास करता था, प्रधानतः मुनि या त्यागी वर्ग चैत्यालय में आकर ठहरता था।
2. मुनि और त्यागी वर्ग स्तोत्र पाठ करते थे।
3. शास्त्रागार भी मन्दिरों में रहते थे। स्वाध्याय शाला में बैठकर दर्शनार्थी स्वाध्याय करते थे। मुनियों का धर्मोपदेश भी श्रवण करते थे।
4. चित्रशाला भी चैत्यालयों में रहती थी, इस चित्रशाला में पुराने चित्रों के साथ नवीन चित्र भी संकलित किये जाते थे। दर्शनार्थी भगवान् के दर्शन के पश्चात् चित्रशाला में भी जाते थे और नवीन चित्रों पर अपनी सम्मति प्रकट करते थे।
5. संगीत और नाट्यशाला का प्रबन्ध भी चैत्यालय में रहता था। भगवान के

दर्शन, पूजन के अनन्तर संगीत द्वारा दर्शनार्थी अपना मनोरंजन भी करते थे। भगवान के समक्ष नृत्य-गान करने वाले भी रहते थे।

6. चैत्यालय कई कक्षों में विभक्त रहता था, जिन कक्षों में कई प्रकार की सामाजिक प्रवृत्तियाँ सम्पन्न की जाती थीं।
7. चैत्यालय में सामाजिक विषयों की चर्चा एवं सामाजिक समस्याओं के निर्णय भी किये जाते थे।

चैत्यालय धार्मिक संस्था के साथ सामाजिक संस्था भी था। इस पर वैयक्तिक स्वत्व न होकर सामाजिक स्वत्व माना जाता था। व्यक्ति विशेष द्वारा चैत्यालय का निर्माण कराये जाने पर भी स्वत्व सामाजिक ही रहता था।

मानव जीवन के परिष्कार के लिए उक्त सामाजिक संस्थाओं का प्रतिपादन किया गया है। इन संस्थाओं द्वारा जीवन की कुत्सित वृत्तियों का निषेधकर सुसंस्कारों एवं सामाजिक दायित्व और कर्तव्यों का भी परिज्ञान कराया गया है।

जैन संस्कृति में नारी की सामाजिक स्थिति :

नारी को स्वतन्त्र रूप से विकसित और पल्लवित होने की पूर्ण सुविधाएँ प्राप्त थीं। स्वयं वह अपने भाग्य की विधायिका थीं। वह जीवन में पुरुष की अनुगामिनी थी, दासी नहीं। उसका अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता था। ब्राह्मी और सुन्दरी जैसी नारियाँ आजन्म ब्रह्मचारिणी रहकर समाज का और स्वयं का उद्धार करती थीं। मुस्लिम काल के समान नारी अन्तःपुर में केवल केलि-क्रिडा का साधन ही नहीं थी, वरन् अनेक सपत्नियों के बीच रहकर भी समय प्राप्त कर आत्मोत्थान में प्रवृत्त होने के लिए सदैव तत्पर रहती थी। उसके कल्याण में कोई भी बाधक नहीं बनता था।

समाज में कन्या की स्थिति वर्तमान काल की अपेक्षा अच्छी थी। माता-पिता कन्या जन्म को अभिशाप नहीं मानते थे। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने अपनी पुत्रियों का पालन पुत्रों के समान किया था। अर्थात् पुत्रों एवं पुत्रियों दोनों के लालन-पालन में कोई भेदभाव नहीं रखा था। ऋषभदेव ने अपनी पुत्रियों को उद्बोधित किया कि, इस लोक में विद्यमान व्यक्ति पण्डितों के द्वारा भी सम्मान को प्राप्त होता है और विद्यावती स्त्री भी सर्वश्रेष्ठ पद को प्राप्त होती है। विद्या ही मनुष्यों का बन्धु है, विद्या ही मित्र है। विद्या ही कल्याण करने वाली है, विद्या ही साथ-साथ जाने वाला धन है और विद्या ही सब प्रयोजनों को सिद्ध करने वाली है।[२]

अतः हे पुत्रियों! तुम दोनों विद्या ग्रहण करने में प्रयत्न करो, क्योंकि विद्या ग्रहण करने का यही काल है।

इस प्रकार उपदेश देकर श्रुतदेवता के पूजन पूर्वक स्वर्ण के विस्तृत पट्ट पर वर्णमाला को लिखकर आदिदेव ने अपनी कन्याओं को वर्णमाला की शिक्षा दी।[३] आदि तीर्थंकर ने पुत्रों की अपेक्षा कन्याओं की शिक्षा का प्रबन्ध सबसे पहले किया

था। माता-पिता को केवल कन्या के विवाह की ही चिन्ता नहीं रहती थी, अपितु वे उसे पूर्ण विदुषी और कला प्रवीणा बनाते थे। यद्यपि कन्याओं की शिक्षा, पुत्रों की शिक्षा से भिन्न प्रकार की होती थी।

शिक्षा के पश्चात् विवाह के अवसर पर कन्याओं को वर-वरण की स्वतन्त्रता प्राप्त थी। किन्तु विवाह करना परमावश्यक नहीं माना जाता था। कन्याएँ आजीवन अविवाहिता रहकर समाज सेवा करते हुए आत्म कल्याण कर सकती थी, जैसे ब्राह्मी व सुन्दरी ने किया। इसके अतिरिक्त कन्या का विवाह के पूर्व तक ही पैतृक सम्पत्ति में अधिकार होता था।

विवाह के पश्चात् वधु गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट गृहिणी-पद प्राप्त करती थी। विवाहित स्त्री अपने परिवार की सब प्रकार से व्यवस्था करती थी। गृहिणी गृहपति की सेवा सुश्रुषा तो करती ही थी, पर उसके कार्यों में भी सहयोग देती थी। विवाहिता नारी को घूमने-फिरने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। ये अपने पतियों के साथ वन विहार, जलविहार के लिए जाती थी। विवाहिता नारियाँ व्रत उपवास अत्यधिक करती थीं। बड़े-बड़े व्रतों को किया करती थी-यथा पंचकल्याणक व्रत, सोलह कारण व्रत, जिनेन्द्र गुण सम्पत्तिव्रत करने की प्रथा प्रचलित थी। परिवार में धर्मात्मा और विदुषी गृहिणियों का अधिक सम्मान होता था। स्त्रियों का अपमान समाज में महान् अपराध माना जाता था। पति स्त्री के भरण-पोषण के साथ उसका संरक्षण भी करता था।

जननी रूप में नारी को बड़े आदर की दृष्टि से देखा गया है। ऋषभदेव की माता मरुदेवी की स्तुति में कहा गया है, जो माता तीर्थंकर और चक्रवर्ती को जन्म देती है, उस माता के महत्त्व का मूल्यांकन कौन कर सकता है। गृहस्थावस्था में जिस जननी का तीर्थंकर ने पादवन्दन किया है, उसकी पवित्रता वचानातीत है। माता बनने के पूर्व गर्भवती स्त्री का विशेष ध्यान रखा जाता है तथा उसके दोहद को पूर्ण करना प्रत्येक पति का परम कर्तव्य होता है।[1]

नारी की उन्नत सामाजिक स्थिति का तो हमने अवलोकन किया है, किन्तु इसका दूसरा पक्ष भी है। इस संस्कृति के दूसरे पलड़े में कुछ ऐसे तत्त्व भी थे, जिन्होंने नारी की स्थिति को हीन किया था। समाज में प्रचलित बहुविवाह एवं बाल-विवाह ये दोनों ऐसी प्रथाएँ थी जिन्होंने नारी की स्थिति को हीन किया था। जैन संस्कृति में नारी को स्वभावतः चंचल, कपटी, क्रोधी और मायाचारिणी बताते हुए पुरुषों को उनसे सावधान रहने का उपदेश दिया गया है। गृहिणी रूप में नारी वासना और आसक्ति का केन्द्र मानी गयी है, पर इतना स्पष्ट है, कि आत्मोत्थान करने वाली नारी को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी।

समाज में विधवा नारीयों की स्थिति कभी भी अधिक सम्मानजनक नहीं रही। विधवा को अनाथ और बलहीन समझा जाता था। विधवाएँ अपना जीवन समाज-

सेवा, व्रत-उपवास एवं धर्म साधना में लगाकर, आत्मकल्याण में प्रवृत्त होकर बिताती थीं। विधवाओं को दुर्भाग्यशाली समझा जाता था।

इन उपर्युक्त कुप्रथाओं के कारण स्त्रियाँ अपने उत्थान के लिए पुरुषों की शक्ति पर निर्भर नहीं रहती थी। स्त्री ही स्त्री का विपत्ति से उद्धार करती थी। उस समय स्त्रियों में सहयोग और सहकारिता की भावना सर्वाधिक थी। नारी को नारी पर अटूट विश्वास था।

विभिन्न धार्मिक ग्रन्थों में नारी के सम्बन्ध में विविध प्रकार के वृतान्त दिए गए हैं। कहीं उसकी अपार प्रशंसा की गई है, तो कई स्थलों पर उसे अधम निरुपित करते हुए धार्मिक कृत्यों से वंचित किया गया है। वैदिक ऋचाओं के वाचन का उसे अधिकारी नहीं माना गया है। अन्यत्र उसे सन्यास लेने का भी निषेध किया गया है। अतः इसी तारतम्य में अब जैन धर्म में नारी की स्थिति का विवेचन प्रस्तुत करना समीचीन प्रतीत होता है।

जैन दर्शन में नारी सम्बन्धी प्राचीन मूल्यों के स्थान पर उसको पुरुषों की भाँति ही आर्थिक अधिकार प्रदान किए गए। जहाँ भगवान बुद्ध ने संशय की स्थिति के उपरान्त 5 वर्ष बाद नारी को दीक्षित किया, वहीं भगवान महावीर ने कैवल्य प्राप्ति के बाद जब गौतम को दीक्षित किया वहीं चन्दनबाला को भी दीक्षित कर श्रमणी संघ की प्रवर्तिनी नियुक्त किया। श्रावक और श्राविकाओं के लिए समान 12 व्रतों का विधान किया गया था।[3] जैसे कि मल्ली कुमारी ने तीर्थंकर पद को प्राप्त किया था तथा पुरुष तीर्थंकरों के समान ही मल्ली द्वारा दीक्षा ग्रहण की गई तथा अन्य तीर्थंकरों के समान मल्ली का चतुर्विध संघ था, जिसमें 28 गणधर, 40 हजार श्रमण, 55 हजार साध्वियाँ, 1 लाख 84 हजार श्रावक, 3 लाख 65 हजार श्राविकाएँ थीं।[4]

अतः मात्र जैन धर्म एक ऐसा धर्म था, जिसने नारी को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया इतना ही नहीं, उसके अधीन अनेक गणधर और श्रमण थे। मल्ली उन सबकी प्रमुख थी।

इस प्रकार नारी भी सिद्ध गति को प्राप्त कर सकती है।[5] जैन धर्म की अनेक प्रसिद्ध उपासिकाएँ थीं, जो धर्म निष्ठ और विद्वान् थीं। सुलसा, सुभद्रा, राजीमति, जयन्ती आदि। इन सभी ने त्यागमय जीवन व्यवतीत किया और मोक्ष प्राप्त किया। जो नारी शील की रक्षा के लिए त्याग करती थी उसे देवता भी वन्दन करते थे।[6] जैन धर्म में जहाँ नारी को पुरुष के समान अधिकार दिए गए हैं, वहीं अनेक ऐसे भी उदाहरण प्राप्त होते हैं जब उसकी निन्दा भी की गई है और उसे मोक्ष मार्ग में बाधक माना गया है। इसके विषय में यहाँ तक कहा गया है, कि स्त्री के विषय में मन में विचार मात्र से मलिनता का दोष उत्पन्न होता है।[7] नारी को प्रतीकात्मक दृष्टि से काम का रूप प्रतिपादित किया गया है। यह भी स्पष्ट किया गया है, कि नारी मोह से छुटकारा पाने

पर ही व्यक्ति कल्याण को प्राप्त होता है।[28]

नारी निन्दा के अनेक प्रसंग मिलते हैं, किंतु प्रसंगों को सम्यक् दृष्टि से देखने पर हम पाएँगे, कि नारी की यह आलोचना लोकोत्तर दृष्टि से की गई। मुनियों को निवृत्ति मार्ग पर स्थिर रखने के लिए और पुरुषों को संसार के जन्म-मरण से छुटकारा दिलाने के लिए है। किंतु साथ ही साध्वियों के लिए भी आध्यात्मिक साधना हेतु पुरुषों से दूर रहने का विधान किया गया है। अतः यह धर्म साधना की माँग है, कि स्त्री पुरुष पृथक् रहें, तभी वे मोह माया से अपने आपको बचा सकते हैं। पुरुष की साधना भंग होने में स्त्री अकेली दोषी नहीं होती वरन् पुरुष भी उतना ही दोषी होता है। लेकिन पुरुष अपनी कमजोरी से विचलित होकर जब मार्ग से च्युत हो जाता है और पुनः उसे अपनी भूल का अहसास होता है, तो वह अपनी सारी भड़ास स्त्री पर निकालता है और संपूर्ण रूप से उसे दोषी ठहराता हुआ नारी को सभी बुराइयों से युक्त कहता है। पुरुष अपनी कमजोरी को स्वीकार नहीं करना चाहता है। दूसरी और स्त्रीयों के साथ ऐसा हो भी जाए तो वे स्वयं की गलती का अहसास रखते हुए लज्जाशीलता के कारण एक शब्द भी पुरुष के विरोध में नहीं बोलती है। इसके अतिरिक्त स्त्री की संकल्पशक्ति अधिक दृढ़ होती है। दूसरे अधिकांश ग्रन्थों का आलेखन पुरुषों द्वारा ही किया जाता है। अतः स्त्री को दोषारोपित किया जाता है।

जहाँ नारी को नरक में ले जाने वाली कुंजी माना है, वहीं जैन धर्म में ऐसी भी सन्नारीयाँ हुई हैं, जिन्होंने ऐसे मुनि को भी धर्म आचरण में स्थिर किया है, जो अपने पथ से विचलित हो गए थे। जैसे राजीमति ने रथनेमि को प्रतिबोधित कर अपने आचार में स्थिर किया था। इस प्रकार नारी को माता, उपासिका और साध्वीरूप में हमेशा पूज्य माना है। जहाँ पुरुष से नारी की तुलना हुई है, वहाँ नारी को सदैव हीन ही रखा गया है, चाहे वह धार्मिक क्षेत्र हो अथवा सामाजिक। फिर भी जैन धर्म में नारी को आध्यात्मिक क्षेत्र में जितना अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है उतना प्राचीन संस्कृति में अन्यत्र नहीं मिलता है।

नारी युगीन संस्कृति की उर्जस्विनी अविरल धारा है, वही चेतना है, वही शील संपन्न है। पुरुष यदि ज्ञान शक्ति का प्रतीक है, तो नारी क्रिया शक्ति है।

सांस्कृतिक विकास :

संस्कृति का अर्थ : संस्कृत शब्द सम् उपसर्ग कृ धातु के सुर का आगम करके कृत प्रत्यय लगाकर बना है। जिसका अर्थ है, उत्तम बनाना, संशोधन करना, परिष्कार करना। अंग्रेजी में इसे Culture कहते हैं। जो लेटिन के Cultura से बना है, जिसका अर्थ सुधारना है। इस प्रकार संस्कृति का शाब्दिक अर्थ है व्यक्ति को परिष्कृत करना, उसको उत्तम बनाना तथा उसमें कोई कमी हो तो उसे सुधारना।

संस्कृति का कलेवर विशाल है, जिसमें सभी मानव निर्मित वस्तुओं के साथ-

साथ व्यक्ति के विश्वास, दृष्टिकोण, मूल्य, आदर्श सभी आ जाते हैं। मानव संसाधन तकनीकी ज्ञान व उसकी उपलब्धियाँ, धर्म, कानून कला-साहित्य सभी संस्कृति के घटक हैं। रूथ बेनेडिक्ट ने संस्कृति को विचार व क्रिया का बहुत कुछ सुस्थिर प्रतिमान बताया है।[15]

मानव शास्त्री डोरेथी संस्कृति को "Idias or Rules behind behaviors"[16] कहते हैं, क्योंकि संस्कृति मानव के व्यवहार को नियमित करती है, निर्देशित करती है, अनुशासित करती है।

संस्कृति की विशेषताएं :

1. संस्कृति शारीरिक क्षमताओं व योग्यताओं की तरह जन्म से प्राप्त नहीं होती वरन् उसे सीखना पड़ता है। जो सांस्कृतिक आदर्शों, दृष्टिकोणों, जीवन शैली आदि के रूप में व्यक्ति का जीवन नियंत्रित, निर्देशित करती है, वही संस्कृति है।
2. विभिन्न समाजों की संस्कृति उनकी भौगोलिक परिस्थितियों, रीति-रिवाजों, खान-पान, पर्व-त्यौहारों में भिन्नता होती है। अतः उनकी संस्कृति भी भिन्न-भिन्न होती है। जैसे - नदी किनारे के समाज, मरुस्थल के समाज व पर्वतीय समाज।
3. समूह की संस्कृति व्यक्ति के लिए आदर्श होती है। अपनी संस्कृति के प्रति व्यक्ति में सर्वोच्चता की भावना होती है, उसके प्रति अहं होता है।
4. संस्कृति में संगठन होता है, अन्तर्विरोध नहीं।
5. संस्कृति की व्यक्तित्व पर गहरी छाप होती है।
6. मानव संस्कृति का वाहक ही नहीं वरन् निर्माता भी है।
7. संस्कृति व्यक्ति को एक जीवन विधि प्रदान करती है।
8. धर्म और संस्कृति परस्पर गुंथे हुए हैं, अविच्छिन्न अंग है।[17] धर्म संस्कृति का केन्द्र है, उसकी धुरी है।

जब हम जैन संस्कृति का विवेचन करेंगे, तो हमारा तात्पर्य जैन धर्म की आचार संहिता, जीवन शैली, जीवों व प्रकृति के प्रति जैन धर्म के दृष्टिकोण से होगा। जैन संस्कृति जैन धर्म, दर्शन के मेरुदण्ड पर ही तो खड़ी है, जिसका आधार जिन उपदेश है।

चूंकि संस्कृति का केन्द्र धर्म-दर्शन होता है, अतः जिन धर्मों में प्राणी मात्र के प्रति आत्मवत् भाव है, वे संस्कृतियाँ तो सहज ही अनादिकाल तक रहेगी।

जैन संस्कृति :

जैन संस्कृति से तात्पर्य जैन दृष्टिकोण एवं जैन जीवन-विधि दोनों से है। जैनागमों या जैन धर्मशास्त्रों के अनुसार जैन जीवन का लक्ष्य या साध्य क्या है? उनकी

जीवन विधि क्या है? उनका खान-पान, रहन-सहन, व्यापार-कामकाज, दिनचर्या क्या है? अन्य जीवों के प्रति उनका दृष्टिकोण क्या है? जीवन के विकार भाव व प्रदूषण वे किसे मानते हैं? उनके पर्व त्यौहार क्या हैं? जैन संस्कृति का जीवन दर्शन क्या है?

जैन संस्कृति जैन धर्म से अनुपूरित जीवन शैली है। जैन दर्शन, साहित्य, जैन कला, वास्तुकला, मूर्तिकला आदि जैन परम्पराएँ व मूल्य, जैन त्यौहार व पर्व भी जैन संस्कृति के ही घटक हैं।

जैन संस्कृति = जैन धर्म + जैन दर्शन + जैन सिद्धांत + आत्म विद्या।

जिन देव द्वारा उपदिष्ट मार्ग ही जैन धर्म और उस मार्ग की अनुपालना करने वाले जैन हैं। वह मार्ग है - 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः॥'[32]

श्रमण संस्कृति का तात्पर्य है, जो श्रम करता है, तपस्या करता है, अपने पुरुषार्थ पर विश्वास करता है, वह ही श्रमण है।

''श्राम्यन्तीति श्रमणाः तपस्यन्ते इत्यर्थः।''

अपने पुरुषार्थ पर विश्वास करने वाले तथा पुरुषार्थ द्वारा आत्मसिद्धि करने वाले क्षत्रिय होते हैं। अतः कह सकते हैं, कि श्रमण संस्कृति पुरुषार्थ मूलक क्षत्रिय संस्कृति है।

''सन्तुष्टा, करवणा मैत्रा शान्ताः दान्ता स्तितिक्षवः।
आत्मारामाः समदृशः प्रायशः श्रमणा जनाः॥''

- भागवत स्कन्ध-12, अध्याय-3, श्लोक-9

अर्थात् सतयुग में श्रमण संतुष्ट, करुणाशील, मैत्री परायण, शान्त, इन्द्रियजयी, सहनशील, आत्मा में रहने वाले और समदृष्टि वाले होते हैं। ऐसा शुकदेव ने परीक्षित से कहा।

जैन धर्म को सरल शब्दों में परिभाषित करते हुए खूबचन्दजी जैन लिखते हैं-

'Jainism is the only man made religion that reduces everything to the iron laws of nature and agrees with modern science. It is perfectly true when the Jains say that the religion originated with man and that the first defied man of every cycle of time is the founder of religion whenever a Tirthankara arises, he reestablishers the scientific truth considering the nature of life and these truths are collectively termed religion on the present cycle of time. The religion was first preached by Tirthankar Rishabh. 'Religion it would be known, is a way of life which is not invented, it is rediscovered and this was what Tirthankar did. They explained the laws of nature that governs the Universe command and his conduct.'[33]

आचार में अहिंसा, विचार में अनेकान्तवाद, वाद में स्याद्वाद तथा समाज में अपरिग्रह ये चार स्तम्भ हैं, जिन पर जैन धर्म का सर्वोदयी प्रासाद खड़ा है।[34]

जैन संस्कृति के दो रूप हैं - बाह्य व आन्तरिक - बाह्य रूप में इसके शास्त्र, भाषा, स्थापत्य, मन्दिर, मूर्ति विधान, उपासना के प्रकार, उपकरण, समाज के खान-पान के नियम, उत्सव-त्यौहार आदि है। इन बाह्य अंगों में सभी कुछ है, हृदय नहीं, जिसके बिना ये सब निष्प्राण हैं। जैन संस्कृति का हृदय जैन समाज या जाति में ही सम्भव है, ऐसी बात नहीं है। जैन कहलाने वालों में भी जैन कहलाने की आंतरिक योग्यता नहीं हो सकती है और जैनेतर व्यक्तियों में भी यह संभव है। असल में संस्कृति की आत्मा इतनी व्यापक और स्वतंत्र होती है, कि उसे देश, काल, जाति-पाँति, भाषा व रीति-रिवाजों में सीमित नहीं कर सकते।

जैन संस्कृति का हृदय निवृत्ति मूलकता है। यही उसकी सच्ची धर्म चेतना है। इस आन्तरिक रूप का साक्षात आकलन तो सिर्फ उसी का होता है, जो उसे अपने जीवन में तन्मय कर ले, जो ऐसा जीवन बिताने वालों के व्यवहारों के प्रभावों या संगति से ही संभव है।

अहिंसा जीवन शैली में वैभव का वीभत्स प्रदर्शन व विलास का बाहुल्य एक असंगति है। अतः यह आवश्यक है, कि इस जैन संस्कृति के हृदय अपरिग्रह (निवृत्ति) व अहिंसा की अनुगूंज, उसके तीर्थों, मन्दिरों, धर्मशालाओं, शिक्षण संस्थाओं में भी होनी चाहिये।[35]

शिक्षा, साहित्य एवं कला के विकास में जैन दर्शन का योगदान :

शिक्षा व्यक्ति या समुदाय द्वारा परिचालित वह सामाजिक प्रक्रिया है, जो समाज को उसके द्वारा स्वीकृत मूल्यों और मान्यताओं की ओर अग्रसर करती है। सांस्कृतिक विरासत की उपलब्धि एवं जीवन में ज्ञान का अर्जन शिक्षा द्वारा ही होता है। जीवन समस्याओं की खोज, आध्यात्मिक तत्त्वों की छान-बीन एवं मानसिक क्षुधा की तृप्ति के साधन कला-कौशल का परिज्ञान शिक्षा द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। आचार और विचार का परिष्कार उत्क्रान्ति एवं शाश्वतिक सुख की उपलब्धि का प्रधान साधन शिक्षा को माना जा सकता है। शिक्षा वैयक्तिक जीवन में परिष्कार का कार्य तो करती ही है, साथ ही समाज को भी उन्नत बनाती है।

जैन दर्शन में शिक्षा का पर्याय विद्या, ज्ञान और श्रुत के रूप में हुआ है। आदितीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र एवं पुत्रियों को उन्होंने स्वयं ही शिक्षारम्भ करवाया। रूप -लावण्य एवं शील से समन्वित होने पर भी विद्या से विभूषित होना परमावश्यक है। आदिपुराण में कहा गया है, कि इस लोक में विद्वान् व्यक्ति ही सम्मान को प्राप्त होता है। विद्या ही मनुष्य को यश देने वाली है, विद्या ही आत्म कल्याण करने वाली है और अच्छी तरह से अभ्यास की गयी विद्या ही समस्त मनोरथों को पूर्ण करती है।[36]

शिक्षा का लक्ष्य आन्तरिक दैवी शक्तियों की अभिव्यक्ति करना है, अन्तर्निहित श्रेष्ठतम् उदात्त महनीय गुणों का विकास करना है तथा शरीर, मन और आत्मा को सबल बनाना है। त्याग, संयम, आचार-विचार और कर्तव्यनिष्ठा का बोध भी शिक्षा द्वारा प्राप्त होता है। सतत् स्वाध्याय से ही व्यक्ति की अन्तर्निहित शक्तियाँ प्रादुर्भूत हो जाती है, शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक शुचिता, बौद्धिक प्रखरता, आध्यात्मिक दृष्टि, नैतिकबल, कर्मठता एवं सहिष्णुता की प्राप्ति शिक्षा तथा स्वाध्याय द्वारा ही सम्भव है।

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने अपनी कन्याओं और पुत्रों को जो शिक्षा दी है, उससे शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य प्रतिपादित होते हैं -

1. आत्मोत्थान के लिए प्रयत्नशीलता।
2. जगत् और जीवन के सम्बन्धों का परिज्ञान।
3. आचार, दर्शन और विज्ञान के त्रिभुज की उपलब्धि।
4. प्रसुप्त शक्तियों का उद्‌बोधन।
5. सहिष्णुता की प्राप्ति।
6. कलात्मक जीवनयापन करने की प्रेरणा की प्राप्ति।
7. अनेकान्तात्मक दृष्टिकोण द्वारा भावात्मक अहिंसा की प्राप्ति।
8. व्यक्तित्व के विकास के लिए समुचित अवसरों की प्राप्ति।
9. कर्तव्यपालन के प्रति जागरुकता का बोध।
10. शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का उन्नयन।
11. विवेक दृष्टि की प्राप्ति।

शिक्षा प्राप्त करने की आयु और तत्सम्बन्धी संस्कार : विद्यारम्भ के समय जिन संस्कारों का विधान किया गया है, उन्हें श्रावकों की क्रिया भी कहा गया है। ये संस्कार निम्नलिखित हैं -

1. लिपि संस्कार।
2. उपनीति संस्कार।
3. व्रत चर्या।
4. दीक्षान्त या समवर्तन संस्कार - व्रतावरण।

1. लिपि संस्कार : जब बालक पाँच वर्ष का हो जाये, तब उसका विधिवत् अक्षरारम्भ करना चाहिये। इसे लिपि संस्कार कहते है। जैन दर्शन में लिपि संस्कार की विधि के बारे में बताया गया है, कि बालक के पिता को अपने वैभव के अनुरूप पूजन सामग्री लेकर श्रुत देवता का पूजन करना चाहिये। भगवान ऋषभदेव ने स्वयं अपनी पुत्रियों के लिपि संस्कार के समय सुवर्ण पट्ट पर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ आदि वर्णमाला लिखी थी और श्रुतदेवता की स्थापना की थी।

वर्णमाला लेखन एवं श्रुत पूजन के पश्चात् आचार्य बालक को आशीर्वाद देते

हैं। इसके पश्चात् बालक को स्वर, व्यञ्जन, संयुक्ताक्षर, योगवाह, महाप्राण, अल्पप्राण, घोष, अघोष आदि का अभ्यास करना होता है। वर्ण ज्ञान, अंकज्ञान एवं सामान्य गणित ज्ञान प्राप्त करने के लिए तीन वर्ष का कार्यकाल निश्चित है, तत्पश्चात उपनीति क्रिया सम्पादित की जाती है।

लिपि संख्यान प्रारम्भ करते समय "सिद्धं नमः" इस मंगलवाची मातृका मन्त्र का अवश्य उच्चारण करना चाहिये। क्योंकि मातृका अस्तित्व समस्त विद्याओं और शास्त्रों में विद्यमान है। इसी से अनेक संयुक्ताक्षरों की उत्पत्ति होती है, जो बीजाक्षरों में व्याप्त हैं। आकार से लेकर हकार पर्यन्त स्वर-व्यञ्जन, विसर्ग, अनुस्वार, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय सहित वर्णमाला का अभ्यास करना चाहिये।

2. उपनीति क्रिया : बालक जब आठवें वर्ष में प्रवेश करता है, तब उपनीति क्रिया सम्पन्न की जाती है। इस क्रिया में केशों का मुण्डन तथा मूंज की बनी मेखला का धारण करना विधेय माना गया है। वैदिक ग्रन्थ मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि में उपनयन संस्कार के बाद ही शिक्षा का प्रारम्भ करना बताया गया है। वास्तव में शास्त्रज्ञान तो इसी क्रिया के पश्चात् प्रारम्भ कराया जाता है।

उपनीति क्रिया के पश्चात् बालक तीन लर की मूंज की मेखला बाँधता है। सफेद धोती धारण करना, चोटी रखना और सात लर की यज्ञोपवीत पहनना ब्रह्मचारी के लिए आवश्यक है। जिनालय में पूजन करना, भिक्षावृत्ति करना और जब तक विद्या की समाप्ति न हो जाये तब तक के लिए ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना चाहिये। संयमपूर्वक अध्ययन के प्रति आस्था रखते हुए विद्या प्राप्ति के लिए श्रम करना चाहिये। गुरुओं के प्रति विनयपूर्वक व्यवहार करना चाहिये। शुद्ध जल से स्नान करना चाहिये। पृथ्वी पर शयन करना चाहिये तथा निद्रा कम लेनी चाहिये और अल्पाहारी होना चाहिये।

ब्रह्मचारी अध्ययनशील व्यक्ति के लिए वृक्ष की दातौन, ताम्बूल सेवन का, अंजन लगाने का, उबटन या तैल मर्दन का, शृंगारपूर्वक स्नान का, पलंग पर सोने का, अन्य के शरीर सम्पर्क का, मौखर्य वृत्ति का, नाटक-अभिनय आदि देखने का निषेध किया गया है।

3. व्रतचर्या : व्रतचर्या का अभिप्राय विद्याध्ययन के समय संयमित जीवन यापन करने में है। कर्तव्याकर्तव्य का विवेक प्राप्त कर ऐसा कोई भी कार्य नहीं करना चाहिये, जो विद्याध्ययन में बाधक हो। विद्यार्थी का एक ही लक्ष्य रहता है, विद्याध्ययन। वह अपनी इसी साधना को पूर्ण करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। सादा जीवन और ज्ञानाराधना ये ही दो उसके जीवन के लक्ष्य रहते हैं।

4. व्रतावरण क्रिया : यह क्रिया विद्याध्ययन की समाप्ति पर सम्पादित की जाती है। विद्याध्ययन से प्रौढ़ मस्तिष्क युवक गुरु या आचार्य के समक्ष जाकर श्रावक

के मूलगुण-मद्यत्याग, मांसत्याग, मधु त्याग एवं पाँच उदम्बर फलों का त्याग कर सदाचरण ग्रहण करता था तथा हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि पाँच पापों का त्यागकर सदाचारमयी प्रवृत्ति को अपनाता था। व्रतावरण क्रिया का उद्देश्य व्यक्तित्व का विकास करना है। जिसने श्रुत के अभ्यास द्वारा अपनी बुद्धि को निर्मल बना लिया है, ऐसा व्यक्ति मूलगुण और उत्तरगुणों के द्वारा अपनी आत्मा को निर्मल बनाकर समाज का योग्य सदस्य बनता है। वह अन्याय से धनार्जन नहीं करता और न्याय पूर्वक आजीविका का सम्पादन करता हुआ सांसारिक कार्यों को सम्पन्न करता है। ब्रह्मचर्य धारण करते समय जिन शारीरिक वस्त्राभूषणों एवं पदार्थों का त्याग किया था, उनका गुरु आज्ञा से पुनः सेवन प्रारम्भ कर दिया जाता था।

शिष्य, शिक्षक एवं उनका पारस्परिक सम्बन्ध : विद्याध्ययन के लिए शिष्य का योग्य होना एवं शिक्षक का विद्वान् होना आवश्यक है। अपात्र को शिक्षा देने का कितना ही प्रयास किया जाए सब व्यर्थ है। क्षयोपशमजन्य प्रतिभा के साथ अध्यवसाय भी आवश्यक है। प्रतिभाशाली छात्र भी यदि आलस्य और विलासिता में डूबा रहे, तो वह कदापि विद्वान् नहीं बन सकता है। विद्यार्थी जीवन में इस प्रकार का अभ्यास करना चाहिये, जिससे शेष जीवन भी सुखी हो सके। परिश्रम, लगन और उत्साह के साथ प्रतिभा का होना भी आवश्यक है। जैन शास्त्रों में विद्यार्थी की निम्नलिखित मौलिक योग्यताओं का प्रतिपादन किया गया है।

1. जिज्ञासावृत्ति।
2. श्रद्धा - अध्ययन एवं अध्यापक दोनों के प्रति आस्था।
3. विनयशीलता।
4. श्रवण -पाठ श्रवण के प्रति सतर्कता एवं जागरुकता।
5. शुश्रुषा - गुरुजनों के प्रति सेवाभावी होना।
6. ग्रहण - गुरु द्वारा अध्यापन किये गये विषय को ग्रहण करने की अर्हता।
7. धारण -पठित विषय को सदैव स्मरण रखने की क्षमता।
8. स्मृति - स्मरण शक्ति।
9. ऊह - तर्कणाशक्ति।
10. अपोह - पठित ज्ञान के आधार पर विचार शक्ति का प्राबल्य व अकरणीय का त्याग।
11. निर्णीती-युक्तिपूर्वक विचार करने की क्षमता।
12. संयम।
13. प्रमाद का अभाव।
14. क्षयोपशम शक्ति-सहज प्रतिभा।
15. अध्यवसाय -अध्ययन के लिए प्रयास।

शिक्षक - गुरु की अर्हताएँ : शिष्य की योग्यता के साथ गुरु में भी निम्न लिखित गुणों का होना आवश्यक बताया है :-

1. सदाचारी।
2. स्थिरबुद्धि।
3. जितेन्द्रिय।
4. सौम्य- अन्तरंग एवं बाह्य दोनों सौम्यता।
5. व्याख्यान शक्ति की प्रवीणता।
6. सुबोध व्याख्या शक्ति।
7. प्रत्युत्पन्नमतित्व।
8. तार्किक।
9. दयालु।
10. विषयों का पाण्डित्य।
11. शिष्य के अभिप्राय को जानने की क्षमता।
12. अध्ययन शीलता।
13. विद्वता।
14. वाङ्मय के प्रतिपादन की क्षमता।
15. गम्भीर।
16. स्नेहशील।
17. उदार एवं विचार समन्वय की शक्ति।
18. सत्यवादी।
19. सत्कुलोत्पन्न।
20. अप्रमत्तता।
21. परहित साधन तत्परता।

शिष्य और गुरु के सम्बन्ध का सांकेतिक ज्ञान आदितीर्थंकर ऋषभदेव के द्वारा अपने बालकों को दी गयी शिक्षा से प्राप्त होता है। अध्यापक सवर्ग का व्यक्ति ही होता था। पिता अपनी सन्तान को स्वयं ही सुयोग्य बनाता था तथा अपनी देख-रेख में सकल शास्त्रों की शिक्षा का प्रबन्ध करता था। धार्मिक शिक्षा मुनियों के आश्रम में सम्पादित की जाती थी। कन्याएँ आर्यिकाओं के द्वारा शिक्षा ग्रहण करती थीं। अतएव यह स्पष्ट है, कि गुरु-शिष्य का सम्बन्ध पिता-पुत्र के तुल्य था। परिवार में ही प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था की जाती थी। उच्च शिक्षा के लिए गुरुकुलों में छात्र अध्ययनार्थ जाते थे। उत्तराध्ययन सूत्र में गुरु-शिष्य के सम्बन्ध में अच्छा विवेचन किया गया है। छात्र गुरु के समक्ष अत्यन्त विनयी रहता था तथा गुरु की सेवा-भक्ति भी करता था।

शिक्षा विधि : प्राचीन काल में ही जैन दर्शन द्वारा कई प्रकार की शिक्षा-विधियों का प्रतिपादन किया गया है, जो निम्नलिखित है –

1. पाठ विधि
2. प्रश्नोत्तर विधि
3. शास्त्रार्थ विधि
4. उपदेश विधि
5. नय विधि
6. उपक्रम या उपोद्घात विधि
7. पंचांग विधि।

पाठ विधि : गुरु या शिक्षक शिष्यों को पाठ-विधि द्वारा अंक और अक्षर ज्ञान की शिक्षा देता है। वह किसी काष्ठ पट्टिका पर अंक या अक्षर देता है। शिष्य उन अक्षर या अंकों का अनुकरण करता है। बार-बार उन्हें लिखकर कण्ठस्थ करता है। इस विधि का प्रारम्भ आदितीर्थंकर ऋषभदेव ने किया। उन्होंने अपनी कन्याओं को इस पाठ-विधि द्वारा ही शिक्षा दी थी।

यह शिक्षा विधि सामान्य बुद्धि वाले अल्पवयस्क विद्यार्थीयों के लिए उपयोगी है। इसमें अभ्यास का भाव भी अन्तर्निहित है। इस विधि में मूलतः तीन शिक्षा तत्त्व पाये जाते हैं।

1. उच्चारण की स्पष्टता : शिक्षा ग्रन्थों में अक्षरों व शब्दों के लिए जिस उच्चारण विधि का निरुपण आता है, इस विधि के अनुसार वर्णों का उच्चारण शिष्यों को सिखाया जाता है।
2. लेखन कला का अभ्यास हो जाता है।
3. तर्कात्मक संख्या प्रणाली : वस्तुओं के गिनने के रूप में अंकविद्या का प्रारम्भ हुआ। इस तीसरी पाठ शैली द्वारा परिकर्माष्टक - योग, गुणा, घटाव, भाग, वर्गमूल, वर्ग, धन, धनमूल इन आठ क्रियाओं का परिज्ञान कराया जाता है।[28]

प्रश्नोत्तर विधि : शिक्षा शास्त्र की दृष्टि से यह प्रौढ़ शैली है। इसका प्रयोग वयस्क एवं प्रतिभाशाली छात्रों के लिए ही किया जाता है। इस विधि के अन्तर्गत शिष्य गुरु से प्रश्न पूछता है तथा गुरु चमत्कार पूर्ण उत्तर देकर शिष्य को संतुष्ट करते हैं। इस प्रणाली द्वारा विषयों को हृदयंगम करने में विशेष सुविधा होती है। गूढ़ और दुरुह विषय भी सरलतापूर्वक समझ में आ जाते हैं।

प्रश्नोत्तर दोनों ही ओर से किए जाते हैं। शिष्य भी प्रश्न करता है गुरु से। शिष्य द्वारा दिए गए उत्तर से यह ज्ञात होता है, कि वह गुरु द्वारा दिए गए ज्ञान को किस सीमा तक एवं किस रूप में ग्रहण कर पाता है। गुरु प्रश्नों का तर्कपूर्ण उत्तर देकर शास्त्रीय ज्ञान का संवर्द्धन करता है। इस विधि से व्यक्ति का बौद्धिक विकास भी होता है। जैसे-महावीर उत्तरदाता गुरु तथा गौतमस्वामी प्रश्नकर्ता शिष्य थे। इसी प्रकार ऋषभदेव उत्तरदाता गुरु एवं उनके भरतादि पुत्र प्रश्नकर्ता शिष्य थे।

शास्त्रार्थ विधि : शास्त्रार्थ विधि प्राचीन शिक्षा पद्धति की एक प्रमुख विधा है। इस विधि में पूर्व और उत्तर पक्ष की स्थापना पूर्वक विषयों की जानकारी प्राप्त की जाती है। एक ही तथ्य की उपलब्धि विभिन्न प्रकार के तर्कों, विकल्पों और बौद्धिक प्रयोगों द्वारा की जाती है। जैन न्याय के समस्त ग्रन्थों में शास्त्रार्थ विधि का वर्णन पाया जाता है। प्रमाण नय निक्षेप द्वारा वस्तु का स्वरूप प्रतिपादन शास्त्रार्थ प्रणाली के द्वारा ही किया गया है।

इस विधि में गुरु शिष्य में शास्त्रार्थ करने की पद्धति द्वारा तत्काल उत्तर-प्रत्युत्तर देने की शक्ति का विकास करता है। इस शास्त्रार्थ विधि में स्वपक्ष सिद्धि और पर पक्ष में दूषणोद्भावना की प्रक्रिया का विवेचन किया गया है। शास्त्रों का सम्यग्चारित्र परिज्ञान इसी विधि द्वारा प्राप्त किया जाता था।

उपदेश विधि : उपदेश विधि का प्रमुख रूप उपदेश रूप में शिक्षा देना है। इसका वास्तविक रहस्य गुरु द्वारा भाषण के रूप में विषय का प्रतिपादन करना है। इस विधि का उपयोग उसी समय किया जाता है, जब शिष्य प्रौढ़ हो जाता है और उसका मस्तिष्क विकसित हो प्रमुख विषयों को ग्रहण करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है।

उपक्रम या उपोद्घात विधि : वर्णनीय विषय को शिष्य के मस्तिष्क में पूर्णतया प्रविष्ट कर देना उपक्रम पाठ विधि है, इसी का दूसरा नाम उपोद्घात भी है। आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, अभिधेय और अर्थाधिकार ये उपक्रम के पाँच भेद हैं। आदि क्रम, मध्यक्रम और अन्त्यक्रम द्वारा वस्तुओं का प्रतिपादन करना अनुपूर्वी है। क्रमपूर्वक विषयों का परिज्ञान कराना भी अनुपूर्वी में परिगणित है।

नामविधि में विस्तारपूर्वक वस्तुओं के नामों का प्रतिपादन किया जाता है। एक प्रकार से इसकी गणना निक्षेप विधि में की जा सकती है।

प्रमाण विधि में वस्तु का सर्वांगीण निरुपण और नयविधि में एक-एक अंश का विवेचन किया जाता है।

अभिधेय में अर्थ का विभिन्न दृष्टिकोणों द्वारा कथन किया जाता है। द्रव्य और भावपूर्वक पदों की व्याख्या प्रस्तुत कर विविध भंगावलियों की स्थापना की जाती है। एक ही विषय या वस्तु को अनेक रूपों में प्रतिपादित कर पाठ्य विषयों को सरल और बोधगम्य बनाया जाता है।

पंचांग विधि : पञ्चांग विधि के स्वाध्याय सम्बन्धी पाँच अंग हैं। इन पाँचों अंगों द्वारा विषय के मर्म को समझा जाता है। विद्यार्थी सर्वप्रथम वाचना का प्रयोग करते है। वाचना का अर्थ पढ़ना है। तदनन्तर पृच्छना-पूछकर विषय के मर्म को प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। अधिगत विषय को बार-बार अभ्यास द्वारा स्मरण रखने का प्रयास अनुप्रेक्षा है। मनन और चिन्तन किये गये विषय की धारणा बनाये रखने के लिए घोख-घोखकर याद करना घोष स्वाध्याय है। उपदेश के रूप में विषय

को समझना या समझाना उपेदश स्वाध्याय है। पञ्चांग विधि द्वारा विषय की व्याख्या एवं उसे समझने का पूर्ण प्रयास किया जाता है। जिस प्रकार समुद्र की गहराई शनैः-शनैः बढ़ती जाती है, उसी प्रकार पञ्चांग विधि द्वारा शिक्षा का उत्तरोत्तर विस्तार होता जाता है। शास्त्रों का पाठ उसकी व्याख्या और भाष्यों को हृदयंगम करना इस पाठ शैली के अन्तर्गत है।

अध्ययनीय विषय या पाठ्य ग्रन्थ :

शिक्षा के लिए उसके अध्ययनीय विषयों को जानना परम आवश्यक है। शिक्षा के विषयों का विभाजन विद्यार्थीयों के बौद्धिक विकास पर अवलम्बित था। पाँच वर्ष के बालक-बालिकाओं को लिपिज्ञान, अंक विद्या एवं सामान्य भाषा विज्ञान कराया जाता है। आठ वर्ष की आयु तक बालक घर पर ही रहकर पढ़ना-लिखना और हिसाब बनाना सीखता है। यह एक प्रकार से प्राथमिक शिक्षा थी। इतनी शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य थी। आठ वर्ष की आयु के पश्चात् शास्त्रीय शिक्षा प्रारम्भ होती थी, यह सम्भ्रान्त परिवारों के व्यक्तियों को ही दी जाती थी।

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने अपने पुत्र एवं पुत्रियों को जो शिक्षा प्रदान की है, उसमें शिक्षा के पाठ्य विषयों पर बहुत ही सुन्दर प्रकाश पड़ता है। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को अर्थशास्त्र, संग्रह प्रकरण और नृत्यशास्त्र की शिक्षा दी थी। वृषभसेन को गान्धर्वविद्या की शिक्षा, अनन्तविषय को चित्रकला, वास्तुकला और आयुर्वेद की शिक्षा तथा बाहुबली को कामनीति, स्त्री पुरुष लक्षण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, अश्वलक्षण, गजलक्षण, रत्नपरीक्षण एवं मन्त्र-तन्त्र की शिक्षा दी गयी थी।[5] अध्ययनीय वाङ्मय के अन्तर्गत व्याकरण शास्त्र, छन्द शास्त्र और अलंकार शास्त्र का ग्रहण किया गया था। नवयुवकों को उक्त तीनों विषयों के अतिरिक्त ज्योतिष, आयुर्वेद, शस्त्र संचालन, अश्व, गज आदि के संचालन की शिक्षा दी जाती थी।

आदि पुराण में 14 विद्याएँ[6] पाठ्यक्रम के अन्तर्गत बतायी गयी है, जो निम्नलिखित हैं -

1-4. चार वेदों - ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद का अध्ययन।
5. शिक्षा - उच्चारणविधि का परिज्ञान।
6. कल्प।
7. व्याकरण - नाम, आख्यात, निपात और अव्यय शब्दों का परिज्ञान।
8. छन्द।
9. ज्योतिष - ग्रह, नक्षत्र, ग्रहों की गति, स्थिति एवं अवस्थाओं की जानकारी।
10. निरुक्त - शब्दों की व्युत्पत्तियाँ।
11. इतिहास - पुरावृत का परिज्ञान।

12. पुराण - आख्यानात्मक धार्मिक ग्रन्थ।
13. मीमांसा - विधि या क्रिया प्रतिपादक शास्त्र।
14. न्याय शास्त्र - द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य आदि सात पदार्थों का ज्ञान।

पाठ्यक्रम के अन्य विषय :

1. काम नीति - कामशास्त्र का ज्ञान।
2. हस्तितन्त्र - गजशास्त्र, गज संचालन एवं मदोन्मत गज का वशीकरण।
3. अश्वतन्त्र - अश्वशास्त्र।
4. आयुर्वेद - चिकित्साशास्त्र और रोग विज्ञान।
5. निमित्त शास्त्र - निमित्तों द्वारा शुभाशुभ का ज्ञान।
6. शकुन शास्त्र - विभिन्न प्रकार के शकुनों द्वारा शुभाशुभ प्रतिपादक शास्त्र।
7. तन्त्र शास्त्र।
8. मन्त्र शास्त्र - मन्यते ज्ञायते आत्मादेशोऽतेन इति मन्त्रः-मन्+ष्ट्रन।
9. पुरुषलक्षणशास्त्र।
10. कलाशास्त्र - विविध कलाओं का प्रतिपादक शास्त्र।
11. राजनीति विज्ञान शास्त्र।
12. धर्मशास्त्र - क्रियाकाण्ड, विश्वास एवं परम्पराओं का बोधक शास्त्र।

गृह विरक्त मुनियों, क्षुल्लकों और ऐलकों के लिए लौकिक शिक्षा के अतिरिक्त पारलौकिक शिक्षा का भी प्रबन्ध था। जिनसेनाचार्य ने स्वाध्याय के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए बतलाया है - स्वाध्याय करने से मन का निरोध होता है, मन का निरोध होने से इन्द्रियों का निग्रह होता है। अतः स्वाध्याय करने वाला व्यक्ति स्वतः संयमी और जितेन्द्रिय बन जाता है।[47]

1. **पुराण** : पुरातन पुराणम्।[48] प्राचीन होने से पुराण कहा जाता है। महापुरुषों के उदात्त चरित्र का निरुपण करना ही पुराण का लक्ष्य है। पुराण के दो भेद हैं- पुराण और महापुराण। जिसमें एक शलाका पुरुष का चरित्र वर्णित रहता है, वह पुराण है और जिसमें त्रेसठ शलाका पुरुषों का चरित्र वर्णित रहता है, वह महापुराण कहलाता है। धर्म तत्त्व का निरुपण करने के कारण पुराण धर्मशास्त्र भी कहलाता है। जो पुराण का अर्थ है, वह धर्म है, यह पुराण पाँच प्रकार का है - क्षेत्र, काल, तीर्थ, सत्पुरुष और सत्पुरुष का चरित्र।
2. **व्याकरण** : व्याकरण शब्द की व्युत्पत्ति - **"व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते साध्यन्ते शब्दाः अनेन"** अर्थात् जिसके द्वारा शब्दों की व्युत्पत्ति बतलायी जाय, वह व्याकरण शास्त्र है। व्याकरण का उद्देश्य भाषा का विश्लेषण करना है। सूत्र, वृत्ति, प्रक्रिया और उदाहरणों द्वारा शब्दों का बोध करना

व्याकरण में सम्मिलित है। धातु पाठ, गणपाठ, उणादि, लिंगानुशासन एवं सूत्रपाठ रूप पञ्चांग व्याकरण अध्ययनीय माना गया है।

आदि तीर्थंकर ने अपनी दोनों पुत्रियों को पद ज्ञान रूपी दीपिका से प्रकाशित हुई समस्त विद्याओं की शिक्षा दी थी। अतएव स्पष्ट है, कि पदज्ञान से ही अन्य शास्त्रों का बोध प्राप्त होता है।

3. **छन्दशास्त्र** : अक्षर, अक्षरों की संख्या एवं क्रम, मात्रा, मात्रागणना तथा यतिगति आदि से सम्बन्धित विशिष्ट एवं नियमों से नियोजित पद्य रचना छन्द कहलाती है। छन्दों की उत्पत्ति, परम्परा, भेद-प्रभेद, जाति, लक्षण, उदाहरण, रचनाविधि, विस्तार संख्या, वर्गीकरण आदि छन्द सम्बन्धी विविध पक्षों का निरुपण करने वाला शास्त्र छन्दशास्त्र कहलाता है। छन्द को वेदांग कहा गया है, इसकी व्यवस्थित परम्परा पिंगलाचार्य के 'छन्दसूत्र' से उपलब्ध होती है।

भगवान ऋषभदेव ने प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट के साथ मात्राओं के लघु-गुरु भेद, छन्दों के विभिन्न रूप यति-विराम के नियम एवं अध्वयोग आदि का वर्णन किया है।[5] काव्य और वांङ्मय को समझाने के लिए छन्द ज्ञान आवश्यक था।

4. **ज्योतिष शास्त्र** : शुभकार्यों के लिए तिथि, नक्षत्र और लग्नशुद्धि का विचार ज्योतिष के अन्तर्गत किया जाता है। यथा विवाह, दृष्टि निर्माण, यात्रा आदि के लिए मुहुर्त शुद्धि। ज्योतिष चक्र, संक्रांति, तारावल, चन्द्रबल, उदय, अस्त, स्वोच्च जन्मकुण्डली में स्थित ग्रहों का फलादेश, ग्रह और राशियों के स्वरूप ज्योतिष शास्त्र में ही आते हैं।

अनुयोग रूप साहित्य : वर्ण्य विषय वर्ग और स्थापत्य की दृष्टि से आचार्यों ने समस्त श्रुत को चार अनुयोगों में विभक्त किया है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग।

जिस साहित्य में सत्पुरुषों का चरित्र वर्णित रहता है, वह प्रथमानुयोग कहलाता है। करणानुयोग में तीनों लोकों का विस्तार, आयाम, क्षेत्रफल रचना एवं अन्य समस्त बातों का वर्णन रहता है। गणित और ज्योतिष सम्बन्धी रचनाएँ भी करणानुयोग में सम्मिलित हैं। चरणानुयोग में श्रावकाचार और मुनि आचार रूप धर्म का विस्तार पूर्वक निरुपण पाया जाता है। द्रव्यानुयोग में द्रव्य, गुण, पर्याय, अस्तिकाय, तत्त्व, कर्मसिद्धान्त प्रभृति का स्वरूप और भेद-प्रभेद अंकित है। इस प्रकार वर्ण्य विषय और शैली की दृष्टि से अनुयोगों में वाङ्मय का विभाजन किया गया है। ग्यारह अंग और चौदह पूर्व रूप साहित्य का उल्लेख भी आता है।

जैन कला का उद्गम और उसकी आत्मा :

जैन धर्म का उद्देश्य है, मनुष्य की परिपूर्णता अर्थात् संसारी आत्मा की स्वयं परमात्मत्व में परिणति। व्यक्ति में जो अन्तर्निहित दिव्यत्व है। उसे स्वात्मानुभूति द्वारा अभिव्यक्ति करने के लिए यह धर्म प्रेरणा देता है और सहायक होता है। सामान्यतः इस मार्ग में कठोर अनुशासन, आत्म संयम, त्याग और तपस्या की प्रधानता है। किन्तु एक प्रकार से कला भी दिव्यत्व की प्राप्ति का और उसके साथ एकाकार हो जाने का पवित्रतम साधन है और कदाचित यह कहना भी अतिशयोक्ति न होगा, कि धर्म के यथार्थ शब्द की उपलब्धि में यथार्थ कलाबोध जितना अधिक सहायक है, उतना अन्य कुछ नहीं। संभवतया यही कारण है, कि जैनों ने सदैव ललित कलाओं के विभिन्न रूपों और शैलियों को प्रश्रय एवं प्रोत्साहन दिया। कलाएँ निःसंदेह मूलतः धर्म की अनुगामिनी रहीं, किन्तु उन्होंने इसकी साधना की कठोरता को मृदुल बनाने में भी सहायता की। धर्म के भावनात्मक, भक्ति-परक एवं लोकप्रिय रूपों के पल्लवन के लिए भी कला और स्थापत्य की विविध कृतियों के निर्माण की आवश्यकता हुई, अतः उन्हें वस्तुतः सुन्दर बनाने में श्रम और धन की कोई कमी नहीं की गयी। जैन धर्म की आत्मा उसकी कला में स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित है, वह यद्यपि बहुत विविधतापूर्ण और वैभवशाली है, परन्तु उसमें जो शृंगारिकता, अश्लीलता या सतहीपन का अभाव है, वह अलग ही स्पष्ट हो जाता है। वह सौंदर्य बोध के आनन्द की सृष्टि करती है, पर उससे कहीं अधिक संतुलित, सशक्त, उत्प्रेरक और उत्साहवर्धक है और आत्मोत्सर्ग, शांति और समत्व की भावनाओं को उभारती है। उसके साथ जो एक प्रकार की अलौकिकता जुड़ी है, वह आध्यात्मिक चिंतन एवं उच्च आत्मानुभूति प्राप्त करने में निमित्त होती है।

विभिन्न शैलियों और युगों की कला एवं स्थापत्य की कृतियाँ समूचे देश में बिखरी हैं, परन्तु जैन तीर्थ स्थल विशेष रूप से, सही अर्थों में कला के भण्डार हैं और एक जैन मुमुक्षु का आदर्श ठीक वही है, जो तीर्थयात्री शब्द से व्यक्त होता है, जिसका अर्थ है, ऐसा प्राणी जो सांसारिक जीवन में अजनबी की भाँति यात्रा करता रहता है। वह सांसारिक जीवन जीता है, अपने कर्तव्यों का पालन और दायित्वों का निर्वाह सावधानी पूर्वक करता है, तथापि उसकी मनोवृत्ति एक अजनबी दृष्टा या पर्यवेक्षक की बनी रहती है। वह बाह्य दृश्यों से अपना एकत्व नहीं जोड़ता और न ही सांसारिक संबंधों और पदार्थों में अपने आप को मोहग्रस्त होने देता है। वह एक ऐसा यात्री है, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के त्रिविध मार्ग का अवलम्बन लेकर अपनी जीवन यात्रा करता है और अपनी आध्यात्मिक प्रगति के पथ पर तब तक बढ़ता चला जाता है, जब तक वह अपने लक्ष्य अर्थात् निर्वाण की प्राप्ति नहीं कर लेता। वास्तव में जैन धर्म में पूजनीय या पवित्र स्थान को तीर्थ कहते हैं, क्योंकि वह

दुःखों और कष्टों से पूर्ण संसार को पार करने में मुमुक्षु के लिए सहायक होता है और निरंतर जन्म मरण के उस भ्रमण से मुक्त होने में भी सहायता देता है, जो इस सहायता के बिना कभी मिट नहीं सकता। यही कारण है, कि जैन तीर्थ यात्रा का वास्तविक उद्देश्य आत्मोत्कर्ष है। कदाचित इसीलिए जैनों ने अपने तीर्थक्षेत्रों के लिए जिन स्थानों को चुना वे पर्वतों की चोटियों पर या निर्जन घाटियों में हैं, जो जनपदों और भौतिकता से ग्रसित सांसारिक जीवन की आपाधापी से दूर, हरे-भरे प्राकृतिक दृश्यों तथा शांत मैदानों के मध्य स्थित हैं और जो एकाग्र ध्यान और आत्मिक चिंतन में सहायक एवं उत्प्रेरक होते हैं। ऐसे स्थान के निरंतर पुनीत संसर्ग से एक अतिरिक्त निर्मलता का संचार होता है और वातावरण आध्यात्मिकता, अलौकिकता, पवित्रता और लोकोत्तर शांति से पुनर्जीवित हो उठता है। वहाँ वस्तु स्मारकों (मंदिर व देवालयों) की स्थापत्य कला और सबसे अधिक मूर्तिमान तीर्थंकर प्रतिमाएँ अपनी अनन्त शांति वीतरागता और एकाग्रता से भक्त तीर्थयात्री को स्वयं 'परमात्मत्व' के सन्निधान की अनुभूति करा देती है। आश्चर्य नहीं यदि वह पारमार्थिक भावातिरेक में फूट पड़ता है : ''चला जा रहा तीर्थ क्षेत्र में अपनाए भगवान को सुन्दरता की खोज में, मैं अपनाए भगवान को।''

तीर्थक्षेत्रों की यात्रा भक्त जीवन की एक अभिलाषा है। ये स्थान कलात्मक मंदिर, मूर्तियाँ आदि जीवंत स्मारक हैं- मुक्तात्माओं के, महापुरुषों के, धार्मिक तथा स्मरणीय घटनाओं के। इनकी यात्रा पुण्यवर्धक और आत्मशोधक होती है। यह एक ऐसी सच्चाई है, जिसका समर्थन तीर्थ यात्रियों द्वारा वहाँ बिताये जीवन से होता है। नियम, संयम, उपवास, पूजन, ध्यान, शास्त्र-स्वाध्याय, धार्मिक प्रवचनों का श्रवण, भजन-कीर्तन, दान और आहार दान आदि विविध धार्मिक कृत्यों में ही उनका अधिकांश समय व्यतीत होता है। विभिन्न व्यवसायों और देश के विभिन्न प्रदेशों से आये आबाल-वृद्ध नर-नारी वहाँ पूर्ण शांति और वात्सल्य से पुनीत विचारों में मग्न रहते हैं।

यह एक तथ्य है, कि भारत की सांस्कृतिक धरोहर को समृद्ध करने वालों में जैन अग्रणी रहे हैं। देश के सांस्कृतिक भण्डार को उन्होंने कला और स्थापत्य की अगणित विविध कृतियों से सम्पन्न किया, जिनमें से अनेकों की भव्यता और कला गरिमा इतनी उत्कृष्ट बन पड़ी है, कि उनकी उपमा नहीं मिलती और उन पर ईर्ष्या की जा सकती है।

यह भी एक तथ्य है, कि जैन कला प्रधानतः धर्मोन्मुख रही और जैन जीवन के प्रायः प्रत्येक पहलू की भाँति कला स्थापत्य के क्षेत्र में भी उनकी विश्लेषणात्मक दृष्टि और यहाँ तक कि वैराग्य की भावना भी इतनी अधिक परिलक्षित है, कि परम्परागत जैन कला में नीतिपरक अंकन अन्य अंकनों पर छा गया दिखता है, इसीलिए किसी-किसी को कभी यह खटक सकता है, कि जैन कला में उसके विकास के साधक

विशुद्ध सौंदर्य को उभारने वाले तत्त्वों का अभाव है। उदाहरणार्थ - मानसार आदि ग्रन्थों में ऐसी सूक्ष्म व्याख्याएँ मिलती हैं, जिनमें मूर्ति, शिल्प और भवन-निर्माण की एक रूढ़ पद्धति दीख पड़ती है और कलाकार से उसी का कठोरता से पालन करने की अपेक्षा की जाती थी। किन्तु, यही बात बौद्ध और ब्राह्मण धर्मों की कला में भी विद्यमान है, यदि कोई अन्तर है, तो वह श्रेणी का है।

जैन मूर्तियों में जिनों या तीर्थंकरों की मूर्तियाँ निस्संदेह सर्वाधिक हैं और इस कारण यह आलोचना तर्क संगत लगती है, कि उनके प्रायः एक जैसी होने के कारण कलाकार को अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन का अवसर कम मिल सका। पर इनमें भी अनेक मूर्तियाँ अद्वितीय बन पड़ी हैं, यथा कर्नाटक के श्रवणबेलगाला की विश्वविख्यात विशालाकार गोम्मट-प्रतिमा, जिसके विषय में हैनरिस जिम्मर ने लिखा है, "वह आकार-प्रकार में मानवीय है, किन्तु हिमखण्ड के सदृश मानवोत्तर भी, तभी तो वह जन्म-मरण के चक्र, शारीरिक चिंताओं, व्यक्तिगत नियति, वासनाओं, कष्टों और होनी-अनहोनी के सफल परित्याग की भावना को भली-भाँति चरितार्थ करती है।"

एक अन्य तीर्थंकर मूर्ति की प्रशंसा में वह कहता है, कि मुक्त पुरुष की मूर्ति न सजीव लगती है न निर्जीव वह तो अपूर्व अनन्त शान्ति से ओतप्रोत लगती है। एक अन्य दृष्टा कायोत्सर्ग तीर्थंकर मूर्ति के विषय में कहता है, कि अपराजित बल और अक्षय शक्ति मानो जीवंत हो उठे हैं, वह शालवृक्ष (शाल-प्रांशु) की भाँति उन्नत और विशाल है। अन्य प्रशंसकों के शब्द हैं 'विशालकाय शांति', 'सहज भव्यता' या परिपूर्ण काय निरोध की सूचक कायोत्सर्ग मुद्रा जिससे ऐसे महापुरुष का संकेत मिलता है, जो अनन्त, अद्वितीय केवलज्ञान गम्य सुख का अनुभव करता है और ऐसे अनुभव से वह उसी प्रकार अविचलित रहता है, जिस प्रकार वायु-विहीन स्थान में अचंचल दीप-शिखा। इससे ज्ञात होता है, कि तीर्थंकर मूर्तियाँ उन विजेताओं की प्रतिबिम्ब हैं, जो जिम्मर के शब्दों में लोकाग्र में सर्वोच्च स्थान पर स्थिर हैं और क्योंकि वे रागभाव से अतीत हैं, अतः संभावना नहीं, कि उस सर्वोच्च और प्रकाशमय स्थान से स्खलित होकर उनका सहयोग मानवीय गतिविधियों के इस मेघाच्छन्न वातावरण में आ पड़ेगा। तीर्थ-सेतु के कर्त्ता विश्व की घटनाओं और जैविक समस्याओं से भी निर्लिप्त हैं, वे अतीन्द्रिय, निश्चल, सर्वज्ञ, निष्कर्म और शाश्वत शांत है।[4] यह तो एक आदर्श है, जिसकी उपासना की जाये, प्राप्ति की जाये, यह कोई देवता नहीं, जिसे प्रसन्न किया जाये, तृप्त या संतुष्ट किया जाये। स्वभावतः इसी भावना से जैन कला और स्थापत्य की विषय-वस्तु ओत-प्रोत है।

दूसरी ओर इन्द्र और इन्द्राणी, तीर्थंकरों के अनुचर यक्ष और यक्षी, देवी सरस्वती, नवग्रह, क्षेत्रपाल और सामान्य भक्त नर-नारी, जैन देव-निकाय के

अपेक्षाकृत कम महत्त्व के देवताओं या देवतुल्य मनुष्यों के मूर्तन में, तीर्थंकरों और अतीत के अन्य सुविख्यात पुरुषों के जीवन चरित्र के दृश्यांकनों में और विविध अलंकरण प्रतीकों के प्रयोग में कलाकार किन्हीं कठोर सिद्धांतों से बँधा न था, वरन् उसे अधिकतर स्वतंत्रता थी।

इसके अतिरिक्त भी कलाकार को अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन का पर्याप्त अवसर था, प्राकृतिक दृश्यों तथा समकालीन जीवन की धर्म-निरपेक्ष गतिविधियों के शिल्पांकन या चित्रांकन द्वारा जो कभी-कभी विलक्षण बन पड़े, जिनसे विपुल ज्ञातव्य तत्त्व प्राप्त होते हैं और जिनमें कलात्मक सौंदर्य समाया हुआ है। पर इन सब में भी कलाकार को जैन धर्म की शुद्धाचार नीति को ध्यान में रखना था, इसीलिए उसे शृंगार, अश्लीलता और अनैतिक दृश्यों की उपेक्षा करनी पड़ी।

मंदिर-स्थापत्य-कला का विकास प्रत्यक्षतः मूर्ति-पूजा के परिणाम स्वरूप हुआ, जो जैनों में कम से कम इतिहास-काल के प्रारंभ से प्रचलित रही है। अपने मंदिरों के निर्माण में जैनों ने विभिन्न क्षेत्रों और कालों की प्रचलित शैलियों को तो अपनाया, किन्तु उन्होंने अपनी स्वयं की संस्कृति और सिद्धान्तों की दृष्टि से कुछ लाक्षणिक विशेषताओं को भी प्रस्तुत किया, जिनके कारण जैन कला को एक अलग ही स्वरूप मिल गया। कुछ स्थानों पर उन्होंने समूचे 'मंदिर-नगर' ही खड़े कर दिए।

मानवीय मूर्तियों के अतिरिक्त, अलंकारिक मूर्तियों के निर्माण में भी जैनों ने अपनी ही शैली अपनायी और स्थापत्य के क्षेत्र में अपनी विशेष रुचि के अनुरूप स्तंभाधारित भवनों के निर्माण में उच्च कोटि का कौशल प्रदर्शित किया। इनमें से कुछ कला-समृद्ध भवनों की विख्यात कला मर्मज्ञों ने प्राचीन और आरंभिक मध्यकालीन भारतीय स्थापत्य की सुन्दरतम् कृतियों में गणना की है। बहुत बार उत्कीर्ण और तक्षित कलाकृतियों में मानव तत्त्व इतना उभर आया है, कि विशाल निर्ग्रंथ दिगम्बर जैन मूर्तियों में जो कठोर संयम साकार हो उठा लगता है, उसका प्रत्यावर्तन हो गया। कला-कृतियों की अधिकता और विविधता के कारण उत्तरकालीन जैन कला ने इस धर्म की भावनात्मकता को अभिव्यक्त किया है।

जैन मंदिरों और वसदियों के सामने विशेषतः दक्षिण भारत में स्वतंत्र खड़े स्तंभ जैनों का एक अन्य योगदान है। मानस्तंभ कहलाने वाला यह स्तंभ उस स्तंभ का प्रतीक है, जो तीर्थंकर के समवसरण (सभागार) के प्रवेश द्वारों के भीतर स्थित कहा जाता है। स्वयं जिन मन्दिर समवसरण का प्रतीक है।

जैन स्थापत्य कला के आद्य रूपों में स्तूप एक रूप था। इसका प्रमाण मथुरा के कंकाली टीले के उत्खनन से प्राप्त हुआ है। वहाँ एक ऐसा स्तूप था, जिसके विषय में ईसवी सन् के प्रारंभ तक यह मान्यता थी, कि उसका निर्माण सातवें तीर्थंकर के समय में देवों द्वारा हुआ था और पुनर्निर्माण तेइसवें तीर्थंकर के समय में किया गया था। यह

स्तूप कदाचित् मध्यकाल के प्रारंभ तक विद्यमान रहा। किन्तु, गुप्त काल की समाप्ति के समय तक जैनों की रुचि स्तूप के निर्माण में नहीं रह गई।

एक बार और जैसा, कि लाँग हर्स्ट का कहना है - 'स्थापत्य पर वातावरण के प्रभाव का यथोचित महत्त्व समझते हुए हिन्दूओं की अपेक्षा जैनों ने अपने मन्दिरों के निर्माण के लिए सदैव प्राकृतिक स्थान को ही चुना।'[45] उन्होंने जिन अन्य ललित कलाओं का उत्साह पूर्वक सृजन किया, उनमें सुलेखन, अलंकरण, लघुचित्र और भित्ति चित्र, संगीत और नृत्य है। उन्होंने सैद्धान्तिक पक्ष का भी ध्यान रखा और कला, स्थापत्य, संगीत एवं छंदशास्त्र पर मूल्यवान ग्रंथों की रचना की।

कहने की आवश्यकता नहीं, कि जैन कला और स्थापत्य में जैन धर्म और जैन संस्कृति के सैद्धांतिक और भावनात्मक आदर्श अत्यधिक प्रतिफलित हुए हैं, जैसा कि होना भी चाहिये।

तीर्थंकरों एवं आचार्यों की गुरु-शिष्य परम्परा :

शिक्षा के प्रचार-प्रसार एवं पल्लवन विकास में गुरु का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। अनादिकाल से वर्तमान तक शिक्षा, धर्म-दर्शन, विज्ञान एवं अन्य जितना भी सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक व्यवस्था का विविध आयामी विकास हुआ है, इस संपूर्ण विकास के पीछे गुरु-शिष्य परम्परा का बहुत बड़ा योगदान रहा है। प्रत्येक दार्शनिक या संत ने अपने अनुभव अथवा ज्ञान को अपने शिष्यों को दिया। वैज्ञानिकों ने अपनी खोजों को दुनिया को बताया तो आने वाले विज्ञान के विद्यार्थियों ने उससे आगे शोध किया। इसी प्रकार राजाओं, अर्थशास्त्रियों एवं समाजशास्त्रियों ने समय समय पर परिस्थितिनुरूप राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक व्यवस्थाओं को समाज में कायम किया और आगे आने वाले व्यक्तियों ने परिस्थितिनुरूप उनमें परिवर्तन किए, विकास किया।

इस प्रकार जगत के सम्पूर्ण विकास में किसी न किसी रूप में गुरु-शिष्य परम्परा का योगदान रहा है। शिक्षा के क्षेत्र में यह परम्परा अधिक स्पष्ट रूप में जीवंत रही है। कई धर्म-दर्शन अपने प्रारंभिक जन्म से आज तक सिर्फ इसी परम्परा के माध्यम से जीवित है। विश्व के समस्त धर्म-दर्शनों का अस्तीत्व इसी परम्परा के आधार पर कायम है। पाश्चात्य देशों में दार्शनिकों द्वारा अपने विचारों के लेखन की परम्परा प्रचलित थी। अतः वहाँ ज्ञान के एक स्तर को जीवित रखने के लिए इस परम्परा का इतना महत्त्व नहीं रहा, वरन् शिष्य अपने गुरु की अपेक्षा विकसित विचार भी प्रस्तुत कर सकता था। वहाँ दर्शन मानसिक चिन्तन की परिणति थी, आत्मिक जागृति का परिणाम नहीं था। तथापि धार्मिक आचारों के सन्दर्भ में वहाँ भी गुरु-शिष्य परम्परा ने अपना वर्चस्व बनाए रखा है।

भारतीय परिवेश में धर्म दर्शन एक दूसरे से सम्बद्ध होने के कारण धर्म तथा

दर्शन दोनों ही गुरु-शिष्य परम्परा के द्वारा ही आज तक जीवित हैं। लेखन कला यद्यपि बहुत प्राचीन काल से विकसित थी, फिर भी धार्मिक क्षेत्र में ज्ञान की पवित्रता एवं पात्रता के अनुरूप प्रदत्तता की विधा के प्रचलन के कारण लेखन पर बल नहीं दिया गया। गुरु अपने योग्य पात्रता रखने वाले शिष्य को अपना संपूर्ण ज्ञान मौखिक वाचना के रूप में प्रदान करता था। गुरु अपने स्वानुभूत ज्ञान को सूत्र रूप से शिष्यों को कण्ठस्थ कराता था तथा यही क्रम परम्परा से निरंतर चलता रहा। एक अति दीर्घकाल तक यही मौखिक ज्ञान प्रदान करने की पद्धति द्वारा ज्ञान की परम्परा जीवित रही। उसी परम्परा के कारण कुछ अद्वितीय ज्ञान काल के गर्भ में ही समा गया। अतः बाद में धर्म-दर्शन के क्षेत्र में लेखन का प्रयोग करके बचे हुए ज्ञान को सुरक्षित रखने का प्रयास किया गया।

भारत में मुख्य रूप से दो सांस्कृतिक परम्पराओं का ही विकास हुआ। एक श्रमण परम्परा तथा दूसरी ब्राह्मण परम्परा। ब्राह्मण परम्परा के अन्तर्गत ब्राह्मण जाति के वर्ग तक ही ज्ञान की सीमा थी। ब्राह्मण वर्ग के लोग ही धर्म के अधिकारी होते थे तथा प्रत्येक ब्राह्मण के लिए ब्राह्मण धर्म के मुख्य शास्त्र वेदों का अध्ययन आवश्यक था। यहाँ तक कि अध्ययन-अध्यापन ही उनकी जीविका का साधन भी होता था। चूँकि वैदिक धर्म में धर्म एक जीविका का साधन बन गया था। अतः ब्राह्मणों का संपूर्ण वर्ग वैदिक धर्म की सुरक्षा का प्रहरी बन गया था। वैदिक धर्म गुरु-शिष्य परम्परा के साथ-साथ पिता-पुत्र विरासत रूप से भी सुरक्षित रहा। क्योंकि पिता अपने पुत्र को संपूर्ण वेदों का ज्ञान कण्ठस्थ कराता था, ताकि वह क्षत्रियों एवं वेश्यों का धार्मिक मार्गदर्शन करके अपनी आजीविका चला सके। इस प्रकार धर्म के लिए अलग से एक जाति समुदाय को अधिकृत करने से गुरु-शिष्य परम्परा की अपेक्षा भी पिता-पुत्र विरासत की परम्परा से वैदिक ज्ञान अधिक सुरक्षित रह पाया। यद्यपि लेखन विद्या का प्रयोग ब्राह्मणों ने भी बहुत बाद में किया। अतः संभव है, कि स्मरण शक्ति के आधार पर और मानव की समझने की सीमाओं के अनुसार वैदिक ज्ञान के मौलिक स्वरूप में कुछ परिवर्तन हो गया हो, फिर भी वैदिक दर्शन अपनी प्राचीनता के साथ काफी विशद् रूप में सुरक्षित रूप से विद्यमान है।

श्रमण परम्परा में मुख्य रूप से जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन का उल्लेख आता है। बौद्ध दर्शन काफी अर्वाचीन है। यह भगवान महावीर के समकालीन हुए भगवान बुद्ध के द्वारा प्रतिपादित है तथा इस वक्त तक लेखन प्रणाली काफी प्रचलित हो गई थी। अतः बौद्ध दर्शन अपने मौलिक रूप में लिखित रूप से उपलब्ध हो जाता है। यद्यपि दो-तीन पीढ़ियों तक तो बौद्ध दर्शन भी केवल गुरु-शिष्य परम्परा से ही जीवित रहा। चूँकि श्रमण परम्परा में कोई जातिय वर्ग न होकर एक दीक्षित समुदाय होता है, अतः ज्ञान गुरु-शिष्य परम्परा से ही प्रदान किया जाता है।

इस प्रकार श्रमण परम्परा में गुरु-शिष्य परम्परा अधिक प्रभावी रूप से जीवित रही है। जैन दर्शन श्रमण संस्कृति का प्रथम प्रतिपादक है। प्रागैतिहासिक काल से ही प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने श्रमण संस्कृति का प्रतिपादन किया। उन्होंने सर्वप्रथम दीक्षा लेकर श्रमण जीवन का श्री गणेश किया और कैवल्य की प्राप्ति के पश्चात् उन्होंने अन्य लोगों को प्रतिबोधित किया। जिन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ उन्हें दीक्षा प्रदान करके गुरु-शिष्य परम्परा का श्री गणेश किया। उन्होंने स्वानुभव से प्राप्त आत्म ज्ञान का सामान्य जन के सही मार्गदर्शन हेतु उपदेश दिया। वे अपने शिष्यों में व्यावहारिक रूप से ज्ञान को उजागर करना चाहते थे। अतः उन्होंने अपने शिष्यों को लिखित रूप से सूत्रबद्ध करके आत्मज्ञान को कण्ठस्थ नहीं कराया वरन् उन्होंने अपने शिष्यों का मार्गदर्शन किया। आत्मज्ञान को स्वानुभव से किस प्रकार जाना जाए, इसका मार्ग प्रशस्त किया। अर्थात् भगवान ऋषभदेव ने भाषा के माध्यम से कोरे सैद्धान्तिक ज्ञान का प्रतिपादन करने की अपेक्षा व्यावहारिक रूप से जीवन में उतारने पर बल दिया। सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्दर्शन के साथ-साथ सम्यग्चारित्र धारण के माध्यम से आत्म उत्थान एवं आत्म जागृति को ही श्रेय माना। इस प्रकार भगवान ऋषभदेव के अनुसार संपूर्ण ज्ञान केवल स्वानुभव से ही प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकार जैन दर्शन में अति प्राचीन काल से ही गुरु-शिष्य परम्परा के द्वारा ही ज्ञान का उत्तरोत्तर प्रसार हो रहा है। जैन परम्परा में गुरु-शिष्य परम्परा अपेक्षाकृत अधिक सुदृढ़ रूप से चली आ रही है, क्योंकि गुरु केवल सैद्धान्तिक ज्ञान का प्रदाता ही नहीं रहा वरन् वह व्यावहारिक रूप से आचार (चारित्र) अंगीकार करके उसका सम्यक् प्रकार से निर्वाह करने में भी अपने शिष्यों का मार्ग प्रशस्त करता है।

जैन दर्शन में यद्यपि यह गुरु-शिष्य परम्परा भगवान ऋषभदेवजी के समय से ही प्रचलित रही है, तथापि वर्तमान समय में जो गुरु-शिष्य परम्परा अस्तीत्व में है, वह भगवान महावीर द्वारा प्रवर्तित है। समय के लम्बे अन्तराल के कारण जब गुरु-शिष्य की इस परम्परा के माध्यम से मौलिक ज्ञान का उत्तरोत्तर क्रमिक आदान विलुप्त प्रायः हो जाता, तब दूसरे तीर्थंकर पुनः नये सिरे से ज्ञान का प्रसार करने के लिए गुरु-शिष्य परम्परा का प्रवर्तन करते हैं। प्रत्येक तीर्थंकर नवीन धर्म का प्रवर्तन करते हैं। वे गुरु-शिष्य परम्परा से प्राप्त ज्ञान का उपदेश नहीं देते, वरन् स्वानुभूत आत्मज्ञान अपने शिष्यों को प्रदान करते हैं। चूंकि प्रत्येक तीर्थंकर केवलज्ञान के रूप में उच्चतम पराकाष्ठा तक ज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं। अतः उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म नवीन और मौलिक होते हुए भी पूर्व के सभी तीर्थंकरों के द्वारा प्रवर्तित ज्ञान की अनुकृति ही होता है, क्योंकि ज्ञान का सार्वभौमिक, सार्वकालिक स्वरूप सदैव एक सा ही होता है, चाहे उसे हम नये सिरे से जानें।

इस प्रकार जैन धर्म के उत्तरोत्तर प्रसार में गुरु-शिष्य परम्परा का महत्त्वपूर्ण

योगदान रहा है। लेकिन इसी गुरु-शिष्य परम्परा की एकाधिकारता के कारण ही वर्तमान समय में अधिकांश आगमिक श्रुतज्ञान का लोप हो गया, क्योंकि जैन दर्शन में गुरु अपने शिष्य को पात्रता के आधार पर वाचना के रूप में ज्ञान प्रदान करते हैं। प्रथम तो कठोर आचार चर्या पालन करने के लिए दीक्षित होने वाले संत कम होते हैं, उनमें भी पर्याप्त बौद्धिक एवं आत्मिक क्षमता को धारण करने वाले शिष्य तो बिरले ही मिलते हैं। ऐसी अवस्था में गुरु द्वारा दिया जाने वाला आगमिक ज्ञान धीरे-धीरे सीमित होने लगा। शिष्यों में ज्ञान धारण करने की पात्रता के अभाव में गुरु अपना आगत ज्ञान अपने तक ही सीमित रखने लगे। फलतः उनके साथ-साथ ज्यों-ज्यों ज्ञान का लोप हो गया।

लेखन कला का प्रचलन न होने से तीर्थंकरों द्वारा प्रवर्तित ज्ञान किसी भी रूप में अपने प्रारंभिक स्वरूप में तो लिखा ही नहीं गया। बहुत समय बाद जब बड़े आचार्यों को यह अहसास हुआ, कि आगमिक ज्ञान का धीरे-धीरे लोप होता जा रहा है, तब उन्होंने मिलकर अवशिष्ट उपलब्ध ज्ञान को लिखित रूप से संकलित एवं संग्रहित करने का प्रयास किया। उसी प्रयास की बदौलत आज तक कुछ आगमिक ज्ञान हमारे समक्ष उपलब्ध रह पाया है। लेखन की प्रक्रिया में भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। जैन दर्शन का प्रारंभिक एवं मौलिक लेखन मुख्य रूप से प्राकृत भाषा में हुआ। बाद में वैदिक शास्त्रों के संपर्क से उनकी अनुकृति करते हुए संस्कृत भाषा का प्रयोग किया जा रहा है।

राजनैतिक व्यवस्था एवं जैन दर्शन :

राज्य व्यवस्था का विकास : मानव सभ्यता के प्रारम्भ में कोई सुव्यवस्थित राज्य व्यवस्था नहीं थी। प्रारम्भ में कुलकर व्यवस्था थी। नाभिराज अन्तिम कुलकर थे। जब उनके नेतृत्व में धिक्कार नीति का उल्लंघन होने लगा, तब घबराकर युगलिक उनके पुत्र श्री ऋषभदेवजी के पास पहुँचे और उन्हें सारी स्थिति से अवगत कराया। ऋषभदेवजी ने कहा - जो मर्यादाओं का अतिक्रमण कर रहे हैं, उन्हें दण्ड मिलना चाहिये और यह व्यवस्था राजा ही कर सकता है, क्योंकि शक्ति के सारे स्रोत उनमें केन्द्रित होते हैं। समय के पारखी कुलकर नाभि ने युगलिकों की विनम्र प्रार्थना पर ऋषभदेवजी का राज्याभिषेक करके उन्हें राजा घोषित किया।[46] ऋषभदेवजी प्रथम राजा बने और शेष जनता प्रजा। इस प्रकार पूर्व से चली आ रही कुलकर व्यवस्था का स्थान नवीन राज्य व्यवस्था ने ले लिया।

राजा बनने के पश्चात् ऋषभदेवजी ने राज्य की सुव्यवस्था हेतु आरक्षक दल की स्थापना की, जिसके अधिकारी 'उग्र' कहलाए। मंत्रिमंडल बनाया, जिसके अधिकारी 'भोग' नाम से जाने गए। सम्राट के समीपस्थ जन जो परामर्श प्रदाता थे, वे 'राजन्य' के नाम से प्रसिद्ध हुए और अन्य कर्मचारी 'क्षत्रिय' नाम से विश्रुत हुए।[47]

राज्य के संरक्षणार्थ चार प्रकार की सेना व सेनापतियों का निर्माण किया।[48] साम, दाम, दण्ड व भेद नीति का प्रचलन किया। चार प्रकार की दण्ड व्यवस्था 1. परिभाष, 2. मण्डलबन्द, 3. चारक, 4. छविच्छेद का निर्माण किया।[49]

1. **परिभाष** : कुछ समय के लिए सापराधिक व्यक्ति को आक्रोश पूर्ण शब्दों के साथ नजर बन्द करने का दण्ड देना।
2. **मण्डलबन्द** : सीमित क्षेत्र में रहने का दण्ड देना।
3. **चारक** : बन्दीगृह में बन्द करने का दण्ड देना (कारावास)
4. **छविच्छेद** : हाथ-पैर आदि अंगोपांङ्गों के छेदन का दण्ड देना।

अधिकांश विद्वानों का मत है, कि प्रथम दो नीतियाँ ऋषभदेव के समय चली और दो महाराजा भरत के समय।[50] आचार्य भद्रबाहु[51] और आचार्य मलयगिरि[52] के अभिमतानुसार बन्ध (बेड़ी का प्रयोग) और घात (डण्डे का प्रयोग) ऋषभदेवजी के समय प्रारम्भ हो गया था। मृत्युदण्ड का आरम्भ भरत के समय में हुआ।

इस प्रकार भारत में जिस राज्य व्यवस्था का विकास हुआ, उसका कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत था। धर्म पालन, शान्ति व्यवस्था, सुरक्षा और न्याय प्रदान करना ही उसका उद्देश्य था। राजा कानून और व्यवस्था का रक्षक, धर्म और नैतिकता का प्रेरक, आध्यात्मिक और भौतिक कल्याण का सम्पादक, सर्वभूत हित तत्पर होता था। राज्य में आर्थिक समृद्धि के लिए कृषि-व्यापार, उद्योग-धन्धे आदि की प्रगति, राष्ट्रीय साधनों का विकास, खानों की खुदाई, वनों का संरक्षण, कृषि की सिंचाई आदि का प्रबन्ध भी सम्पन्न किया जाता था। राज्य के कार्यों का क्षेत्र जीवन के सभी पहलू-सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक तक विस्तृत था। प्रजा रंजन तथा प्रजा के योगक्षेम के लिए राजाओं द्वारा सभी प्रकार के प्रयत्न किये जाते थे।

प्राचीन काल में प्रभुशक्ति की हीनाधिकता के कारण राजाओं के निम्नलिखित भेद उपलब्ध होते थे -

1. चक्रवर्ती	2. अर्धचक्रवर्ती
3. मण्डलेश्वर	4. अर्धमण्डलेश्वर
5. महामाण्डलिक	6. अधिराज
7. राजा-नृपति	8. भूपाल

चक्रवर्ती षट्खण्ड का अधिपति और संप्रभुता सम्पन्न होता था। बत्तीस हजार राजा इसकी अधीनता स्वीकार करते थे।[53]

अर्धचक्रवर्ती के अधीन सोलह हजार राजा रहते थे और यह तीन खण्डों का अधिपति होता था। इसकी विभूति और वैभव चक्रवर्ती से आधा माना जाता था।

मण्डलेश्वर सम्राट जैसा पद होता था। इसका राज्य पर्याप्त विस्तृत होता था। अनेक सामन्त और छोटे-छोटे नृपति इसकी अधीनता में रहते थे।

अर्धमण्डलेश्वर के अधीन एक हजार राजा रहते थे और इसका वैभव मण्डलेश्वर की अपेक्षा आधा होता था।

महामाण्डलिक-चार हजार राजा इसकी अधीनता स्वीकार करते थे।

अधिराज की अधीनता में पाँच सौ राजा रहते थे। भूपाल का राज्य नृपति की अपेक्षा विस्तृत होता था। हाथी, घोड़े, रथ और पदाति इसके पास रहते थे।

नृपति (राजा) सामान्य राजा होता था। प्रत्येक जनपद में एक नृपति या राजा रहता था।

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के काल में उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती संप्रभुता संपन्न सम्राट हुए थे। वह प्रजा को सभी प्रकार की सुख-सुविधाएँ प्रदान करने के लिए प्रयत्नशील थे। उनके राज्य में अकृष्ट पच्या खेती होती थी। प्रजा सभी प्रकार से सुखी एवं सम्पन्न थी। पर जब चक्रवर्ती के समक्ष कोई समस्या उपस्थित होती, तो वह उस समस्या का समाधान प्राप्त करने के लिए उस समय के धर्म नेता आदितीर्थंकर की धर्म सभा में पहुँचता था और वहाँ अपनी समस्या का समाधान प्राप्त करता था। इस समाधान द्वारा ही वह राज कार्य में प्रवृत होता था। अतएव यह स्पष्ट है, कि प्रभुता सम्पन्न नृपति को भी अपनी सहायता के लिए एक धर्मनेता की आवश्यकता थी। धर्म नेता का स्थान राजनैतिक नेता से ऊँचा होता था तथा धर्म नेता ही वास्तव में लोकनेता का पथ प्रदर्शन करता था। यदि राजनैतिक नेता निरंकुश हो जाय और धर्मनेता का सम्बल उसे प्राप्त न हो, तो राज्य की व्यवस्था अच्छी नहीं हो सकती।

राजनैतिक व्यवस्था : राजा को शक्तिशाली होना चाहिये। शक्ति के तीन भेद बताए गए हैं। मन्त्रशक्ति को ज्ञानबल, प्रभुशक्ति को कोश और सेनाबल एवं उत्साहशक्ति को विक्रम बल कहते हैं। इन शक्तियों से युक्त राजा श्रेष्ठ होता है। राजा को सदैव अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिये। सैन्यशक्ति राज्य की सात प्रकृतियों में से एक है। सेना छः प्रकार की बतायी गयी है।

अपने राज्य विस्तार और प्रजा पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए चार उपायों का आश्रय लेना पड़ता है। इन चार उपायों में साम सर्वोत्तम, भेद मध्यम, दाम अधम और दण्ड कष्टतम है। बिना द्रव्य की हानि के उपाय रहित कार्य के सिद्ध हो जाने के कारण साम अत्यन्त उत्तम माना गया है। कुलीनों, कृतज्ञों, उदार चरित्रवालों एवं मेधावियों के साथ साम का व्यवहार करना चाहिये। साम का अर्थ है, वचन चातुर्य से अपने में वश करना। तुम्हारे समान मेरा कोई मित्र नहीं, यह मित्र विषयक साम है। हमें और तुम्हें मिलकर शत्रु का सामना करना है, एक दूसरे की सहायता करनी है, यह शत्रुविषयक साम है।

जो शत्रु साम उपाय के द्वारा वश न हो उसे भेद द्वारा वश में करना चाहिये। भेद का अर्थ है, शत्रु को किसी अन्य शत्रु से लड़ाकर उसकी शक्ति क्षीण कर देना। साम में

स्वयं मिलने का प्रयत्न किया जाता है, पर भेद में फूट डालकर आधीनता स्वीकार करानी पड़ती है।

तीसरा उपाय दान या दाम है। धन देकर या अन्य कोई भौतिक वस्तु देकर शत्रु को प्रसन्न करना दाम उपाय है। दाम उपाय द्वारा लोभी राजा सहज अधीन हो जाता है। अतः भूमि, द्रव्य, कन्या एवं अभय दान द्वारा शत्रु को अनुकूल बनाना दाम नामक उपाय है।

जहाँ साम, दाम और भेद ये तीनों उपाय निष्फल हो जाते हैं, वहाँ दण्ड उपाय व्यवहार में लाना पड़ता है। दण्ड उपाय का प्रयोग करने के पूर्व अपनी शक्ति और बल का विचार कर लेना आवश्यक है। दण्ड का प्रयोग शक्ति हीन पर ही किया जा सकता है, सबल पर नहीं। इस प्रकार उक्त चार उपायों द्वारा शत्रु और मित्रों को अपने अधीन बनाना चाहिये।

उपर्युक्त वर्णीत चारों उपाय प्राचीन काल से आज तक के समस्त राजनीति विशारदों के द्वारा अपने-अपने तरीके से अपनाये जाते रहे हैं।

राज्य की सत्ता बल पर निर्भर करती है। बल छः प्रकार के माने गये हैं -

1. शारीरिक बल
2. आत्मिक बल
3. सैन्य बल
4. अस्त्र बल
5. बुद्धि बल
6. आयु बल

जिस राजा के पास नीति और सैन्यबल होता है, उसके पास लक्ष्मी स्वयमेव चली आती है। उपर्युक्त छहों बलों में सैन्य बल सबसे महत्त्वपूर्ण है। शस्त्रों एवं अस्त्रों से सुसज्जित मनुष्यों के समुदाय को सेना कहा जाता है। सेना के मूलतः दो भाग हैं - स्वगमा और अन्यगमा। स्वगमा के अन्तर्गत पदातिसेना तथा अन्यगमा के अन्तर्गत रथ, अश्व एवं गज आदि वाहनों पर चलने वाली सेना आ जाती है। अधिकांशतः इस चतुरंगीणी सेना का ही उल्लेख मिलता है, किंतु भरत चक्रवर्ती की सेना को षड्ंग कहा है। इन षड्ंगों का वर्णन करते हुए लिखा है -

हस्तिसेना, अश्वसेना, रथसेना, पदाति सेना, देवसेना और विद्याधर सेना- ये छः प्रकार की चक्रवर्ती की सेना थी। सेना के आगे दण्डरत्न तथा उसके पीछे चक्ररत्न चलता था।[54] यह दण्ड रत्न आधुनिक टेंक है, जो मार्ग साफ करता हुआ सेना को आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करता था। मार्ग में आने वाली ऊबड़खाबड़ भूमि को समतल बनाता था तथा आने वाली विघ्नबाधाओं को दूर करता था। सैनिक सामग्री ढोने के लिए अश्वतर एवं उष्ट्र आदि अनेक वाहन रहते थे।

सेना की उपयोगिता युद्ध में ही होती है। अतः यह जानना आवश्यक है, कि प्रारम्भिक काल में जहाँ मानव अति सरल प्रकृति का था, क्या तब भी युद्ध होते थे और क्यों होते थे? युद्ध के मुख्य रूप से तीन कारण होते हैं -

1. साम्राज्य विस्तार की लालसा की पूर्ति हेतु।
2. आत्माभिमान की रक्षा हेतु।
3. नारी - स्वयंवर या अन्य किसी अवसर पर नारी के लिए युद्ध होना।

युद्ध चाहे किसी भी कारण से हो किंतु युद्ध में नियमों का उल्लंघन नहीं होता था। साम, दाम, दण्ड और भेद से किसी प्रकार युद्ध को टालने का प्रयास करते थे। युद्ध करने वाले विजिगीषुओं के लिए यह नियम प्रचलित था, कि शत्रु यदि शक्तिशाली न हो तो उसके साथ युद्ध छेड़ देना चाहिये। गुप्तचरों तथा दूतों के द्वारा विपक्षी राजा की शक्ति का पहले से पता लगा लिया जाता था, और उसी के अनुरूप मन्त्रिपरिषद् की सलाह से युद्ध करने अथवा न करने का निर्णय लिया जाता था। युद्ध की आचार संहिता पर भी जैन अहिंसा का प्रभाव था। इसी भावना से प्रेरित होकर कि सेना का अनावश्यक विनाश न हो, दोनों ही पक्ष वाले परस्पर में ही द्वन्द्व युद्ध करके विजय का निर्णय कर लेते थे। भरत और बाहुबलि ने सैन्ययुद्ध को रोककर आपस में ही मल्लयुद्ध, जलयुद्ध और दृष्टियुद्ध किया। इस प्रकार युद्ध की आचार संहिता धर्म नीति पर अवलम्बित थी।

आर्थिक विचार एवं आर्थिक समृद्धि : अर्थशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है, जिसमें मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं-उत्पादन, उपभोग, विनिमय और वितरण का अध्ययन किया जाता है। जिसे मुद्रारूप मापदण्ड में मापा जा सके अर्थात् अर्थशास्त्र में भौतिक कल्याण का अध्ययन किया जाता है। आदितीर्थंकर ऋषभदेव ने इसी अर्थशास्त्र की शिक्षा अपने पुत्र भरत को दी थी।

धन कमाना, अर्जित धन का रक्षण करना, पुनः उसका संवर्द्धन करना और योग्य पात्रों को दान देना आदि बातों को अर्थशास्त्र के अन्तर्गत रखा गया है। मनुष्य को दुर्लभता और अभाव का निरन्तर सामना करना पड़ता है। अर्जन के साधन भी सीमिति हैं, अतएव अनिवार्यता के आधार पर आवश्यकताओं की प्राथमिकता एवं उनकी पूर्ति के लिए सीमित साधनों का सन्तुलित रूप में प्रयोग करना आर्थिक सिद्धान्त है। साधनों की निर्दोषता एवं सदोषता से ही साध्य भी निर्दोष एवं सदोष होता है। अतएव आजीविका के लिए प्राप्त साधनों का निर्दोष रूप में व्यवहार करना भारत में श्रेयस्कर समझा गया है।

आर्थिक क्रियाओं का प्रारम्भ उपभोग या उपयोगिता से होता है और उनकी समाप्ति भी उन्हीं दोनों से होती है। मूलतः आर्थिक क्रियाओं का जन्म मनुष्य की आवश्यकताओं से होता है, जिनकी पूर्ति अत्यन्त आवश्यक है। आवश्यकताएँ शारीरिक एवं मानसिक वेदना उत्पन्न करती है, जिससे बैचेनी उत्पन्न होती है और बैचेनी के कारण मनुष्य का जीवन विशृंखलित हो जाता है। इसी कारण उपयोगिता महत्त्वपूर्ण है। यह उपयोगिता, उपभोग या उत्पादन की समानार्थक है। जब उपयोगिता पूर्ण हो जाती है तो सन्तुष्टि प्राप्त होती है। मनुष्य के दुःख का कारण भौतिकता के

प्रति मानसिक वृत्ति का अत्यधिक राग अथवा द्वैषयुक्त हो जाना है। ये राग और द्वेष जब सन्तुलन की स्थिति को प्राप्त होते हैं, तभी व्यक्ति को परम सन्तोष उपलब्ध होता है और परम शान्ति मिलती है।

इच्छाएँ अनन्त हैं और पूर्ति के साधन अत्यल्प। अतएव समस्त इच्छाओं की पूर्ति तो असम्भव है। ऐसी स्थिति में अधिक तीव्र आवश्यकताओं की पूर्ति ही न्यायोपात्त धन से करनी चाहिये। अर्थशास्त्र का नियम है, कि सीमित साधनों को विभिन्न आवश्यकताओं पर इस प्रकार व्यय करना चाहिये, जिससे अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो सके। आवश्यकताओं की तीव्रता ही उनकी प्राथमिकता का निर्धारण करती है। सामान्यतः आवश्यकताओं को पाँच भागों में बाँटा जा सकता है –

1. जीवन रक्षण आवश्यकताएँ।
2. निपुणता रक्षक आवश्यकताएँ।
3. प्रतिष्ठा रक्षक आवश्यकताएँ।
4. आराम सम्बन्धी आवश्यकताएँ।
5. विलासिता सम्बन्धी आवश्यकताएँ।

इस वर्गीकरण की प्रथम तीन आवश्यकताओं का अन्तर्भाव अनिवार्य आवश्यकताओं में किया जा सकता है।

आर्थिक सिद्धान्तों के अनुसार धर्म आर्थिक प्रगति में बाधक माना गया है। किंतु जैन दर्शन में अर्थ के साथ धर्म का समन्वय करने का निर्देश दिया गया है। जो व्यक्ति ऐसा करता है, वह आर्थिक समृद्धि के साथ आध्यात्मिक समृद्धि को भी प्राप्त कर लेता है। धर्मबुद्धि पूर्वक इष्टार्थ की पूर्ति-कामनाओं की पूर्ति करनी चाहिये। कामनाओं की पूर्ति का साधन अर्थ है और अर्थार्जन के लिए श्रम एवं पूंजी का विनिमय करना आवश्यक है।

धनार्जन करने वाले के लिए संसार में कोई भी अकरणीय कार्य नहीं है। जो उत्पादन में लगा हुआ है, वह व्यक्ति अपने समस्त साधनों का उपयोग कर पूरी शक्ति के साथ धनार्जन करता है। उत्पादक का विवेक अर्थशास्त्र की दृष्टि से यही है, कि वह उत्पत्ति के साधनों का अधिकाधिक उपभोग कर धन उपार्जन करे, लेकिन संचय न करे। इस सिद्धान्त के अनुसार अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने का संकेत प्राप्त होता है। इसमें सन्देह नहीं, कि लौकिक दृष्टि से आर्थिक समृद्धि अत्यधिक अपेक्षित है। जैन दर्शन में इस समृद्धि को सकलजन उपभोग्य बनाने के लिए अपरिग्रह एवं संयम के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। धर्म वृक्ष फल अर्थ को ही माना गया है। इच्छाओं की पूर्ति उस फल का रस है।

प्राचीन भारत में अर्थव्यवस्था की सुरक्षा के लिए संयुक्त परिवार प्रणाली प्रचलित थी। संयुक्त परिवार में माता-पिता, पुत्र-पौत्र, भाई-बन्धु आदि अनेक सदस्य निवास करते थे। परिवार के सबल, निर्बल, योग्य, अयोग्य, बच्चे, बूढ़े सभी सदस्यों

का भरण पोषण होता था। इस संयुक्त परिवार प्रणाली का फल यह था, कि अनेक स्थानों पर होने वाला व्यय भार एक ही जगह होता था, जिससे आर्थिक बचत होती थी। संयुक्त परिवार में श्रम विभाजन में भी सुविधा होती थी, जिससे परिवार की आर्थिक स्थिति तो सबल होती ही थी, सामाजिक सुरक्षा भी प्राप्त होती थी। कृषि के क्षेत्र में संयुक्त परिवार की अधिक उपयोगिता थी। आज जिस चकबन्दी की व्यवस्था के लिए प्रयास किया जा रहा है, वह चकबन्दी संयुक्त परिवार में स्वतः ही सम्पादित हो जाती थी। खेतों का इतना अधिक उपविभाजन नहीं हुआ था, जिससे कृषि व्यवस्था पर प्रभाव पड़े। एक व्यक्ति की प्रमुखता के कारण अनुशासन के साथ आर्थिक सुरक्षा एवं आर्थिक सबलता भी सम्पादित थी। सदस्यों में पारस्परिक असन्तोष और मनमुटाव न होने के कारण सहकारिता की भावना प्रमुख रूप में रहती थी, जिससे कृषि और उद्योग के कार्यों में सफलता प्राप्त होती थी।

प्रारम्भ से ही भारत का आर्थिक संगठन ग्रामों पर निर्भर था। बड़े गाँव में पाँच सौ और छोटे गाँव में कम से कम सौ घर होते थे। कृषक काफी समृद्ध होते थे। कृषकों के साथ दुकानदार, नाई, दर्जी, धोबी, लोहार, चमार, वैद्य, पण्डित आदि सभी प्रकार के व्यक्ति निवास करते थे। ये सभी पेशेवर व्यक्ति अपने-अपने पेशे के अनुसार कार्य कर गाँव की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। गाँवों में धान के खेत सदैव लहलहाते रहते थे। पशुओं के लिए घास और उनके पीने के लिए जल की भी कमी नहीं रहती थी। गाँव की प्रधान आवश्यकताएँ निम्नलिखित थी -

1. पेयजल।
2. अन्न उत्पादन।
3. घास और भूसे के उत्पादन।
4. *जीवनोपयोगी वस्त्र एवं गुड़, मसाला आदि उपयोगी पदार्थों के व्यवसाय।*
5. पशुपालन।

प्राचीन ग्राम्य व्यवस्था के सन्दर्भ में उल्लिखित है,[55] कि गाँवों में उपभोग योग्य ये समस्त वस्तुएँ उपलब्ध हो जाती थी। अतः ग्राम्य जीवन पर्याप्त सम्पन्न, आत्मनिर्भर, सहयोगी और जनतन्त्रीय था। उस समय गाँवों में आत्मनिर्भरता का एक प्रमुख कारण यह था कि उस काल में आवागमन के साधन अत्यधिक सीमित थे। ग्रामीण समस्याओं एवं कार्यों का प्रबन्धन ग्राम के प्रधान के द्वारा होता था।

पशुपालन की प्रथा होने से दूध दही आदि पदार्थ तो उपलब्ध होते ही थे और साथ ही ऊन की प्राप्ति भी होती थी, जिससे ऊनी कपड़े, कम्बल आदि गाँवों में तैयार किये जाते थे। कपास की खेती प्रायः प्रत्येक गाँव में होती थी, जिससे वस्त्र सम्बन्धी आत्म निर्भरता भी आदिपुराण के गाँवों में विद्यमान थी।

इक्षुरस का उपयोग कई रूपों में किया जाता था। गुड़, राब आदि स्वादिष्ट पदार्थ बनते ही थे, पर खीर भी इक्षुरस से बनायी जाती थी। अतः प्रत्येक गाँव का

कृषक जीवन समृद्ध और सम्पन्न था।

नागरिक जीवन की अर्थव्यवस्था भी समृद्ध थी। व्यवसाय का पूर्णतया प्रचार था, उन्नत अट्टालिकाएँ, नाना प्रकार के वस्त्राभूषण एवं विविध प्रकार के भोगोपभोग के पदार्थ जीवन में आनन्द और उमंग का सृजन करते थे। इससे स्पष्ट है, कि नगरों की अर्थव्यवस्था बहुत ही समृद्ध थी। तात्कालिक समृद्धि का वर्णन करते हुए उस समय लोगों द्वारा धारण किये जाने वाले आभूषणों एवं गमनागमन के लिए प्रयुक्त वाहनों आदि का उल्लेख किया गया है।[56] उस समय लोग मणिकुण्डल, मुद्रिका, हार यष्टि, कटक, केयूर, अंगद, तुलाकोटिक, कण्ठिका, चूड़ारत्न, मुक्तादाम, काञ्ची, उत्तंस, चूड़ामणि, मणिहार, रत्नकुण्डल, हारलता, कण्ठाभरण, नक्षत्र, मालहार, विजयछन्दहार, मकराकृति कुण्डल आदि अनेक प्रकार के आभूषण धारण करते थे। इन आभूषणों के अध्ययन से भारत की तात्कालिक समृद्धि का पूर्ण चित्र उपलब्ध होता है। वाहन के हेतु प्रयुक्त होने वाले गज, अश्व, रथ आदि भी समृद्ध जीवन का चित्र प्रस्तुत करते हैं।[57]

भरत चक्रवर्ती के सन्दर्भ में ऐसा उल्लेख मिलता है, कि उन्हें अष्टसिद्धियाँ एवं नवनिधियाँ प्राप्त थीं। अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्रकाम्य, ईशत्व, वशित्व आदि अष्ट सिद्धियाँ हैं। भौतिक दृष्टि से सुख समृद्धि के सभी साधन उन्हें उपलब्ध थे। भरत चक्रवर्ती को अष्ट सिद्धियों के साथ चौदह रत्न एवं नव निधियाँ भी प्राप्त थे।[58] चौदह रत्नों की सहायता से उन्हें सभी प्रकार की भोगोपभोग की सामग्री प्राप्त थी। निधियों का आधुनिक दृष्टि से अध्ययन करने पर ऐसा प्रतीत होता है, कि ये निधियाँ शिल्पशालाएँ (Factories) थीं। काल नामक निधि में ग्रन्थ मुद्रण या ग्रन्थ लेखन का कार्य होता था। साथ ही वाद्य भी इसी शिल्पशाला द्वारा उत्पन्न किये जाते थे। महाकाल निधि शिल्पशाला में विविध प्रकार के आयुद्ध तैयार किए जाते थे। नैसर्प्य निधि में शय्या, आसन एवं भवनों के उपकरण तैयार किये जाते थे। भवन बनाने का कार्य भी इसी शिल्पशाला द्वारा सम्पन्न होता था। विभिन्न प्रकार के धान्यों एवं रसों की उत्पत्ति पाण्डुका निधि उद्योग व्यवसाय द्वारा सम्पन्न होती थी। पद्म निधि नामक व्यवसाय केन्द्र से रेशमी एवं सूती वस्त्र तैयार होते थे। दिव्याभरण एवं धातु सम्बन्धी कार्य पिङ्गल नामक व्यवसाय केन्द्र में सम्पन्न किये जाते थे। माणव निधि उद्योग गृह से शस्त्रों की प्राप्ति होती थी। प्रदक्षिणावर्त नामक उद्योगशाला में सुवर्ण तैयार किया जाता था। शंख नामक उद्योगशाला में स्वर्ण की सफाई कर उसे शुद्ध रूप में उपस्थित किया जाता था। सर्वरत्न नामक उद्योगशाला में नील, पद्मराग, मरकतमणि, माणिक्य आदि विभिन्न प्रकार की मणियों को खान से निकालकर उन्हें सुसंस्कृत रूप में उपस्थित करने का कार्य करती थी। इस प्रकार भरत चक्रवर्ती के यहाँ नव प्रकार की उद्योगशालाएँ थीं। निधि का समाजशास्त्रीय अर्थ उद्योगशाला है, क्योंकि निधियों के जिन कार्यों का वर्णन हुआ है, वे सभी कार्य उद्योग शालाओं द्वारा ही सम्पन्न किये जा

सकते हैं।

इस प्रकार सुन्दरवेशभूषा, अलंकृत परिधान एवं गजाश्वादि वाहन आर्थिक सन्तुलन के परिचायक हैं। धन को मानव कल्याण का साधन माना गया है। कल्याण से सुख, आनन्द और सन्तुष्टि का बोध होता है। जिसका अनुभव मनुष्य को किसी वस्तु की प्राप्ति के बाद अथवा उसके उपभोग के अनन्तर मन और मस्तिष्क में होता है। धन से प्राप्त सुख अलौकिक या आध्यात्मिक नहीं है। इसको हम भौतिक सुख (Material Pleasure) अथवा कल्याण कह सकते हैं। समाज कल्याण की दृष्टि से धन को आवश्यक माना गया है।

संदर्भ सूची :

1. प्रजानां जीवनोपायमनान्मनवो मताः। आर्याणां कुलसंस्त्यायकृतेः कुलकरा इमे कुलानां धारणादेते मताः कुलधरा इति। युगादि पुरुषाः प्रोक्तायुगादौ प्रभाविष्णवः॥ - आदिपुराण, 3/211-212
2. आदिपुराण, 3/223-237
3. आदिपुराण, 16/186
4. वही, 38/45
5. वही, 38/46-47
6. आदिपुराण, 38/43
7. तत्त्राणे नियुक्तानां वृत्तं वः पञ्चधोदितम्। तच्चेदं कुलमत्यात्म प्रजानामनुपालनम्। समञ्जसत्वं चेत्यवमुद्दिष्टं पञ्चभेदभाक्॥ वही, 42/3-4
8. आदिपुराण पर्व, 16/184-186
9. डॉ० नेमिचन्द शास्त्री-आदिपुराण में भारत, प्र० श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, 1/128 डुमराव बाग, अस्सी, वाराणसी - 5, पृ0 150
10. आदिपुराण, 38/104-112
11. आदिपुराण, 38/117-120
12. वही, 38/122
13. तत्त्वार्थराजवार्तिक टीका, अ० 7, सूत्र 28, वार्तिक।
14. युक्तितो वरणविधानभग्निदेवद्विजसाक्षिकं च पाणिग्रहणं विवाहः। - नीति वाक्यामृत, विवाह समुद्देश, सूत्र 3
15. आदिपुराण, 26/4
16. वही, 15/164
17. वही, 17/181
18. आदिपुराण, 2/31, 32, 33
19. वही, 2/34, 35, 36, 37
20. आदिपुराण, 16/98
21. वही, 16/103-104

22. आदिपुराण, 15/137
23. भगवती सूत्र, 8/5/3
24. ज्ञाता धर्म कथा, 1/8/39
25. ज्ञाता धर्मकथांग 8/1869
26. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्याय 9, पृ. 273 आ॰ हस्तीमल जी
27. दशवैकालिक टीका 2, पृ॰ 117, उत्तरा, 8/18-19
28. वही अध्याय, 2
29. Patterns of Culture 1934 : Ruth Benedict, Page 46
30. Cultural Models in Language and Thoughts 1987, P. 4
31. लब्धिसार मूल, 6/64
32. तत्त्वार्थ सूत्र, 1/11
33. Peep into Jainism-Khubchand, Jain Page. 11
34. जैन दर्शन : चिंतन अनुचिंतन : राम जी सिंह, पृ॰ 137
35. वही, पृ॰ 170
36. आदिपुराण, 16/97-102
37. आदिपुराण 16/105-107
38. आदिपुराण, 16/108
39. आदिपुराण, 16/118-125
40. वही, 2/48
41. आदिपुराण, 34/134
42. वही, 1/21
43. वही, 16/114
44. जिम्मर (हैनरिसन) फिलासफीज़ ऑफ इण्डिया 1951, न्यूयार्क पृ॰ 181-182
45. लांग हार्स्ट (ए.एच.), हम्पीरुइन्स 1917 मद्रास, पृ॰ 27
46. आवश्यक निर्युक्ति : गाथा 194
47. वही, गाथा 198
48. त्रिषष्टि शलाका, पुरिस चरित, 1/2/925-932
49. स्थानांगवृत्ति, 7/3/557
50. स्थानांगवृत्ति, 7/3/557
51. आवश्यक निर्युक्ति : गाथा, 2/7
52. आवश्यक निर्युक्ति, मलयगिरि वृत्ति, 199/2
53. आदिपुराण, 6/196
54. आदिपुराण, 29/7
55. आदिपुराण, 16/168
56. आदिपुराण, 26/49
57. आदिपुराण, 38/198
58. आदिपुराण, 37/73-74

जैन दार्शनिक सिद्धान्त

विश्व की समस्त गतिविधियाँ विचारमूलक या विचार प्रेरित होती हैं। सभी कार्य चिन्तन से प्रसूत और फलित होते हैं। चिन्तन की परिष्कृतता और व्यापकता से दर्शन उद्‌भूत होते हैं। समीक्षित शृंखलाबद्ध विचारों को ही दर्शन कहते हैं। दर्शन विश्व के रहस्यों की तिजोरी को खोलने की कुंजी है। इस संसार के रहस्यों को जानने के लिए अनेक मनीषियों ने चिन्तन किया और करते हैं। उनके चिन्तन सरिता के प्रवाह से अनेक दर्शन उद्‌भूत हुए। प्रत्येक दर्शन की अपनी विशिष्ट मान्यताएँ, स्वतंत्र विचारणा तथा अपने अलग विधि-विधान होते हैं। उन्हीं विचारों के मन्थन के द्वारा निकले मक्खन को दार्शनिक सिद्धान्त कह सकते हैं, जो दर्शन की अपनी विचार दृष्टि के धरातल पर निर्मित होते हैं।

दार्शनिक सिद्धान्त प्रत्येक दर्शन का सार या आधार कहा जा सकता है। जैन दर्शन ने ऐसे दो प्रसून निपजाए हैं, जो मानव जीवन की बगिया को सुरभित करने के साथ-साथ उसे श्रेय बनाने वाले हैं। ये दो प्रसून जैन दर्शन के अनुपम, अनमोल दार्शनिक सिद्धान्त हैं - 1. कर्म सिद्धान्त और 2. अनेकान्तवाद।

जैन दर्शन वस्तुवादी है। यह अनुभव से प्रारम्भ करता है, फिर अनुभव के बौद्धिक विश्लेषण से निष्कर्ष निकलता है। तब उस बौद्धिक स्तर को साक्षात अनुभव या केवलज्ञान के स्तर तक ले जाता है। इस प्रकार सभी दार्शनिक समस्याओं का समाधान आत्म साक्षात्कार या केवलज्ञान के द्वारा ही विवेचित करता है। इसी साक्षात् अनुभव के द्वारा ही केवलज्ञानी तीर्थंकरों ने आत्मा को केन्द्र-बिन्दु बतलाया है और आत्म कर्तृत्ववाद का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। आध्यात्मिक धरातल पर श्रेय रूप में आत्मा की उच्चता को प्रतिष्ठित किया है। उसके कर्म-स्वातंत्र्य को स्वीकार करके अपने जीवन का निर्माता एवं विघटनकर्ता स्वयं आत्मा को ही माना है। जैन दर्शन ने सशक्त स्वर में आत्म-कर्तृत्व की स्वतंत्रता का प्रतिपादन करते हुए कर्म-सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया है। यह कर्म-सिद्धान्त सर्वथा मौलिक एवं वैज्ञानिक है। कर्म-सिद्धान्त को अन्य दर्शनों ने भी स्वीकार किया है, लेकिन उसे ईश्वराधीन मान लिया है। जिससे मानव में उदासीनता आती है तथा कर्म में सजगता नहीं रहती। जबकि जैन दर्शन में कहा गया है-

'अप्पा कत्ता विकत्ताय सुहाणय दुहाणय।"

अर्थात् आत्मा ही अपने सुख-दुःख की कर्त्ता एवं विकर्त्ता है। आत्मा स्वयं जो अच्छे-बुरे कर्म करती है, वह उन्हीं का फल भोगती है। कोई भी अन्य शक्ति उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकती। केवल मनुष्य ही नहीं, वरन् प्रत्येक जीव अपना भाग्य निर्माता स्वयं है।

इस प्रकार जैन धर्म ने जीव को अनेक कार्यों (कर्मों), सोच-विचार के लिए स्वतंत्र स्वीकार किया है। लेकिन यह स्वायत्तता अन्य जीवों की स्वतंत्रता को बाधित नहीं कर सकती। इसीलिए केवलज्ञानियों ने छद्मस्थ' जीवों को अन्य जीवों के विचारों को भी स्वीकारने व सम्मान देने को कहा है। इसके लिए जैन दर्शन ने अनेकान्तवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके समन्वय को प्रोत्साहन दिया है। वस्तु अनेक धर्मा है। एक द्रव्य में अनेक गुण होते हैं। छद्मस्थ जीव एक साथ वस्तु के सारे गुणों को नहीं जान सकते। अतः एक ही वस्तु के सन्दर्भ में अनेक विचार उत्पन्न होते हैं। सभी को अपने ज्ञान की सीमाओं तथा दूसरे के ज्ञान की संभावनाओं को स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि सभी का ज्ञान एकांगी होता है। अतः अनेकान्तवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके जैन दर्शन ने जीवों के ज्ञान की सीमाओं को प्रकट करके उनमें सत्यांश को स्वीकार किया है। चूँकि उनका ज्ञान एकांगी होता है, अतः पूर्ण सत्य तो हो नहीं सकता। पूर्णता का ज्ञान तो केवलज्ञानी को ही हो सकता है।

अतः अनेकान्तवाद व्यवहार का सिद्धान्त है, समन्वय और सत्य की विवक्षा का सिद्धान्त है। अतः यहाँ हम क्रम से कर्मसिद्धान्त और अनेकान्तवाद, इन दो दार्शनिक सिद्धान्तों को विस्तार से जानेंगे, जो विश्व को जैन दर्शन का अनमोल उपहार है।

कर्म सिद्धान्त : भारतीय दार्शनिक चिन्तन में कर्मवाद का महत्वपूर्ण स्थान है। सुख-दुःख एवं अन्य प्रकार के सांसारिक वैचित्र्य के कारण की खोज करते हुए भारतीय चिन्तकों ने कर्म-सिद्धान्त का अन्वेषण किया।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, ''कर्मफल का सिद्धान्त भारतवर्ष की अपनी विशेषता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त खोजने का प्रयत्न अन्यान्य देशों के मनीषियों में भी पाया जा सकता है, परन्तु ऐसा कर्मफल का सिद्धान्त और कहीं भी नहीं मिलता।''[2]

सुप्रसिद्ध प्राच्य-विद्या विशारद कीथ ने सन् 1909 की रॉयल एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका में एक बहुत ही विचारपूर्ण लेख लिखा था। उसमें वे लिखते हैं-''भारतीयों के कर्मबन्धन का सिद्धान्त निश्चय ही अद्वितीय है। संसार की समस्त जातियों से उन्हें यह सिद्धान्त अलग कर देता है। जो कोई भी भारतीय धर्म और साहित्य को जानना चाहता है, वह यह उक्त सिद्धान्त को जाने बिना अग्रसर नहीं हो सकता।''[3]

कर्म का स्वरूप : आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न दार्शनिकों की विभिन्न

धारणाएँ होने से कर्म के स्वरूप विवेचन में भी विभिन्नता होना स्वाभाविक है। तथापि कर्मवाद भारत की समस्त दार्शनिक एवं नैतिक विचारधाराओं में विद्यमान है। सभी दर्शनों में शब्दों का अन्तर होने पर भी उसके आधारभूत भाव में प्रायः समानता है।

जैन दार्शनिकों ने जिसे कर्मवाद कहा है, उसे वेदान्त दर्शन ने अविद्या, प्रकृति तथा माया कहा है। बौद्ध दर्शन ने उसे वासना और अविज्ञप्ति कहा है। सांख्य व योग दर्शन उसे आशय और क्लेश कहते हैं। न्याय और वैशेषिक दर्शन ने उसे धर्माधर्म संस्कार और अदृष्ट कहा है। मीमांसकों ने उसे अपूर्व कहा है।

कर्म के लिए विभिन्न विचारकों ने भिन्न-भिन्न नाम प्रयुक्त किये हैं, उसी प्रकार कर्म के स्वरूप के सम्बन्ध में भी सभी में मत-वैभिन्य है। बौद्ध दर्शन चित्तगत वासना को कर्म मानता है। वासना ही कार्य कारण भाव के रूप में सुख-दुःख का हेतु बनती है। भगवान बुद्ध ने कहा है-''कम्मा पुनब्भवो होती?''[5] कर्म से पुनर्भव होता है- जन्म-मरण की परम्परा चलती है। वैदिक धारणा में प्रतिपादित है-

'यादृशं क्रियते कर्म, तादृशं लभ्यते फलं-' जैसा कर्म किया जाता है, वैसा ही फल मिलता है। महाभारत में उल्लेख है, कि ''जैसे हजारों गायों में भी बछड़ा अपनी माँ के पास पहुँच जाता है, वैसे ही पूर्वकृत कर्म अपने कर्त्ता का अनुगमन करते हैं।''[6] राम चरितमानस में गोस्वामी तुलसीदास जी ने कर्म को ही सृष्टि का मौलिक तत्व माना है। उन्होंने कहा है-

'कर्म प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करहि तसु फल चाखा।'

न्याय दर्शन अदृष्ट (कर्म) को आत्मा का गुण मानता है और उसका फल ईश्वर के माध्यम से आत्मा को प्राप्त होता है। सांख्य दर्शन कर्म को प्रकृति का विकार मानता है। अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों का प्रकृति पर संस्कार पड़ता है, उस प्रकृतिगत संस्कार से ही कर्मों के फल प्राप्त होते हैं। मीमांसक यज्ञ आदि क्रियाओं को ही कर्म मानते हैं। पौराणिक मान्यतानुसार व्रत नियमादि धार्मिक अनुष्ठान कर्म है। वैयाकरणों की दृष्टि से कर्त्ता जिसे अपनी क्रिया के द्वारा प्राप्त करना चाहता है, वह कर्म है। गीता, उपनिषद् आदि ने अच्छे-बुरे कार्यों को कर्म कहा है। गीता में कहा है-

''तेरा कर्म करने मात्र में अधिकार होवे, फल में कभी नहीं। तू कर्मफल में आसक्त भी मत हो तथा तेरी कर्म न करने में भी प्रीति न होवे।''[7]

जैन दर्शन में कर्म की अवधारणा सबसे अलग है। जैन दर्शन के अनुसार कर्म संस्कार मात्र नहीं है, वरन् एक स्वतन्त्र तत्व है। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग से जीव के द्वारा जो किया जाता है, वह कर्म है। अर्थात् आत्मा की राग-द्वेषात्मक क्रिया से आकाश प्रदेशों में स्थित अनन्तानन्त कर्म योग्य सूक्ष्म पुद्गल चुम्बक की तरह आकृष्ट होकर आत्म प्रदेशों के साथ बद्ध हो जाते हैं, वे कर्म हैं। जैसे गर्म लोह पिण्ड पानी में रखने पर चारों ओर के पानी को खींचता है, वैसे ही

आत्मा भी राग-द्वेष के वशीभूत होकर कर्म वर्गणा को अपनी ओर खींचती है। कर्म वर्गणा एक प्रकार की सूक्ष्म रज है, जिसे सर्वज्ञ या अवधिज्ञानी ही जान सकते हैं।

इस प्रकार कर्मवाद किसी न किसी रूप में भारत की समस्त दार्शनिक एवं नैतिक विचारधाराओं में विद्यमान है, तथापि इसका जो सुविकसित रूप जैन परम्परा में उपलब्ध होता है, वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। कर्मवाद जैन विचारधारा एवं आचार परम्परा का अनुपम अविच्छेद्य अंग है। अतः यहाँ हम जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित 'कर्म सिद्धान्त' का सांगोपांग विवेचन करेंगे।

कर्म-सिद्धान्त : जैन दर्शन का कर्मवाद नितांत मौलिक है, साथ ही बड़ा वैज्ञानिक भी है। जैन वाङ्मय में कर्मवाद पर मार्मिक एवं विशद् विवेचन हुआ है। कर्म-स्वरूप, कर्म प्रकृति, कर्म स्थिति, कर्म शक्ति, कर्म-भेद, कर्म बन्ध के हेतु एवं कर्म मोक्ष की प्रक्रिया आदि पर अनेक स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे गये हैं।

भगवान महावीर के अभिमत में कर्म का अर्थ है-'आत्मा की सत्-असत् प्रकृति से आकृष्ट होकर कर्म रूप में परिणत होने वाला पुद्गल समूह।'[7] आत्मा के दो प्रकार हैं-मुक्त एवं बद्ध। जो आत्माएँ कर्मों से सर्वथा मुक्त हैं, वे स्वभाव में स्थित हैं। वे सर्वदा के लिए समस्त बन्धनों से मुक्त हो चुकी हैं। जन्म-मृत्यु के चक्र से बाहर निकल चुकी हैं। मुक्त आत्माओं में कोई भेद नहीं है। वे सब स्वरूपतः एक समान हैं। उनके कर्मों के समस्त आवरण हट चुके हैं, वे पूर्णतः निरावरण हैं। उनका कोई रूप-रंग नहीं है, न कोई लिंग है-''उन्हें कोई उपमा नहीं दी जा सकती है।''[8] वे एक अरूप सत्ता हैं।[9] उनके स्वरूप को कोई भाषा नहीं बता सकती। कोई शब्द उस विशालता को बांध नहीं सकते। वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते सब स्वर निःशब्द हो जाते हैं, व्यर्थ हो जाते हैं।[10] परम आत्माएं परिपूर्ण, निःसंग और निर्लेप हैं। अपने स्वभाव में निरत हैं। एकदम ज्योतिर्मय और शाश्वत सुख में अवस्थित हैं। वे अजर-अमर बन चुकी हैं। उनके लिए कुछ भी करणीय शेष नहीं रहा है। वे कृत-कृत्य हैं, सिद्ध हैं। हर आत्मा का साध्य उस सहजावस्था तक पहुँचना है।

कर्मबद्ध आत्माओं की स्थिति बड़ी विषम और दयनीय है। उन्हें चतुर्गति-रूप संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है। अनेक रूप-योनि के साथ अनुबन्ध करना होता है।[11] अनुकूल-प्रतिकूल नाना रूप स्पर्शों का प्रति संवेदन करना पड़ता है।[12] तरह-तरह के सुखों एवं दुःखों की अनुभूति करनी पड़ती है। कर्म के संयोग से जीव मूढ़, दुखी और बहुत वेदना वाले बन जाते हैं। उन्हें अपने कृत कर्मों से नरक और तिर्यंच योनियों में भारी कष्ट उठाने पड़ते हैं।[13]

जीव की विभिन्न परिणतियाँ कर्मों के आधार पर होती हैं। मौलिक रूप से जीव शुद्ध है, एक स्वरूप वाला है, चिन्मय है, किन्तु कर्म आवरण के कारण उसकी विविध दशाएँ हो जाती हैं। उसी से उसे अनेक कष्ट सहन करने पड़ते हैं। स्वर्ण दूसरे

अणुओं के साहचर्य से विकृत बन जाता है। अपने रूप को विस्मृत कर दूसरे ही रूप को धारण कर लेता है, उसी प्रकार कर्म के संयोग से आत्मा भी विचित्र बन जाती है, नट की तरह नये-नये रूप बनाती है। तरह-तरह के अभिनय करती है। लेकिन जब वह कर्म के कारागृह से मुक्त हो जाती है, तब उसका रूप अप्रतिम हो जाता है। आत्मा की जितनी अवस्थाएँ होती हैं, वे सब कर्मजन्य हैं। कर्मोदय और कर्मक्षयोपशम से ही उसे विभिन्न प्रकार की सामग्री मिलती है।

शुभ कर्म के उदय से जीव को सितारे के समान चमकता जीवन, मधु सा मधुर व्यक्तित्व मिलता है और अशुभ कर्म के उदय से नमक के समान कड़वा जीवन, पत्थर सा निस्तेज व्यक्तित्व मिलता है। कर्मों के आधार पर प्राणी विशाल वैभव और प्रचुर ऐश्वर्य का स्वामी बनता है, और कर्मों के आधार पर ही हीन, दीन, घर-घर भीख मांगने वाला भिखमंगा बनता है। कर्म से ही स्वस्थ, सुडौल, सुन्दर और आकर्षक शरीर प्राप्त होता है और उससे ही घृणास्पद तन की प्राप्ति होती है। विद्वता, वाग्मिता, गायकता, स्वभाव-मधुरता आदि सद्गुण कर्म-क्षयोपशम और कर्मोदय से मिलते हैं। वैसे ही मूढ़ता, मंदता और प्रकृति-चंडता भी कर्मों के द्वारा ही मिलती है। व्यक्ति सम्राट भी कर्म से बनता है और दास भी कर्म से ही बनता है।

जीव को समस्त सुख-दुःख उसके स्वयं के ही पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप मिलते हैं। जैन दर्शन का यह स्पष्ट उद्घोष है, कि जो भी सुख-दुःख प्राप्त हो रहा है, उसका निर्माता आत्मा स्वयं ही है। आत्मा जैसा कर्म करेगा, वैसा ही उसे फल भोगना पड़ेगा।[14] जीव ने जो कर्म बाँधा है उसे इस जन्म में अथवा आगामी जन्मों में भोगना ही पड़ता है।[15] आत्मा के साथ कर्म परमाणुओं का सम्बन्ध होना, नीर-क्षीरवत् एकमेक हो जाना कर्म-बन्ध है।[16] कर्म से बंधा हुआ जीव अपने कर्मानुसार ही जीवन प्राप्त करता है।

कर्म के भेद : जैन दर्शन में कर्म दो प्रकार के कहे गये हैं-1. द्रव्य कर्म और 2. भाव कर्म।

सांसारिक जीव का रागद्वेषमय वैभाविक परिणाम भावकर्म हैं और उन वैभाविक परिणामों से आत्मा में जो कार्मण वर्गणा के पुद्गल सर्वात्मना चिपकते हैं, वे द्रव्य कर्म हैं। दूसरे शब्दों में आत्म प्रकृति के द्वारा आकृष्ट परमाणु ग्रहण भाव कर्म है तथा जीव का आचरण द्रव्य कर्म है। आचरण के सम्बन्ध में भगवान महावीर ने कहा है-"मनुष्य जन्म से नहीं, कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से ही वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है।"[17] जैसे कि समता के आचरण से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य की साधना से ब्राह्मण होता है, ज्ञान की आराधना-मनन से मुनि होता है और तपश्चरण से तापस होता है।[18] जो मूल कर्म आचार से शून्य होता है और बाह्य क्रिया करता है, वह तद्वान नहीं हो पाता है। "सिर मूंड लेने से कोई

श्रमण नहीं होता, ऊँ का जाप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, केवल अरण्यवास से कोई मुनि और कुश का चीवर पहनने से कोई तापस नहीं होता।''[७] तात्पर्य यह है, कि भाव के बिना द्रव्य कर्म पाखण्ड होगा, महत्वहीन होगा।

द्रव्य कर्म और भाव कर्म में निमित्त-नैमित्तिक रूप द्विमुख कार्य कारण भाव सम्बन्ध है। द्रव्यकर्म कार्य है और भाव कर्म कारण है। यह कार्य कारण भाव मुर्गी और अण्डे के कार्य कारण भाव सदृश है। मुर्गी से अण्डा उत्पन्न होता है, अतः मुर्गी कारण है और अण्डा कार्य है। इसी प्रकार अण्डे से मुर्गी उत्पन्न होती है, अतएव अण्डा कारण और मुर्गी कार्य है। इस प्रकार दोनों कार्य और दोनों ही कारण है। अतः यह जिज्ञासा व्यक्त की जाए, कि पहले मुर्गी थी या अण्डा? तो इसका समाधान नहीं किया जा सकता; क्योंकि समुत्पन्न करती है। अतः दोनों में कार्य-कारण भाव स्पष्ट है। उनमें पौर्वोपर्य भाव नहीं बतलाया जा सकता। संतति की दृष्टि से उनका पारस्परिक कार्य कारण भाव अनादि है। वैसे ही द्रव्य और भाव कर्म का कार्य कारण भाव संबंध संतति की अपेक्षा से अनादि है। दोनों एक दूसरे के उत्पन्न होने में निमित्त है।

द्रष्टा और भाव कर्म का कार्य कारण भाव निमित्त-नैमित्तिक रूप है, न कि उपादानोपादेय रूप। जैसे मिट्टी का एक पिण्ड घड़े आदि का उपादान कारण है, किन्तु कुम्भकार रूपी निमित्त के अभाव में वह घट नहीं बनता, वैसे ही कार्मण वर्गणा के पुद्गलों में कर्मरूप में परिणत होने की शक्ति है, इसलिए पुद्गल द्रव्य कर्म का उपादान कारण है, किन्तु जीव में भाव कर्म की सत्ता का अभाव हो तो पुद्गल द्रव्य कर्म में परिणत नहीं हो सकता। अतः द्रव्य कर्म भाव कर्म का निमित्त कारण है और भाव कर्म भी द्रव्य कर्म का निमित्त कारण है। अन्यान्य दार्शनिकों ने भी द्रव्य और भाव कर्म को विविध नामों से स्वीकार किया है।

कर्म का अस्तित्व (प्रामाण्य) : कर्म के अस्तित्व का पुष्ट प्रमाण संसार की विचित्रता और विषमता है। लोक का वैचित्र्य और वैषम्य कर्म जनित है।[८] सब जीव स्वभावतः समान होने पर भी उनमें मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि के रूप में जो महान् अन्तर दिखाई पड़ता है, इसका क्या कारण है? केवल मानव जगत को ही लें, तो भी कोई निर्धन है, कोई धनवान है। कोई स्वस्थ है, कोई बीमार। कोई अज्ञ है, कोई विज्ञ है। कोई निर्बल तो कोई सबल है। कोई सुन्दर है, तो कोई कुरूप है। कोई सुखी है, कोई दुःखी है। कोई गगनचुम्बी अट्टालिकाओं में रहता है, तो कोई घास-फूस की टूटी-फूटी झोंपड़ियों में। कोई मेवे मिष्ठान्न खाता है, तो कोई भूख से तड़प रहा है। ये सब वैचित्र्य कर्म सत्ता को प्रमाणित करते हैं। कर्मों के अनुसार ही संयोग और वियोग का यह नाटक रंगीन खेल दिखता है।

विषमता और भेद की समस्या और भी अधिक प्रखर होकर आश्चर्यचकित तब

करती है, जब समान साधन और समान परिस्थिति होने पर भी फल में वैषम्य आता है। एक ही घर में एक ही माता के दो पुत्रों में से एक राजा बनता है, दूसरा चौकीदार बनता है। एक गुरु के समीप एक समान वातावरण में तुल्य-भाव और वात्सल्य में अध्ययन करने वाले शिष्यों में से एक तलस्पर्शी ज्ञानी बन जाता है और दूसरा मति मंद ही रह जाता है। सामान्य घर में जन्मा व्यक्ति वैभवशाली लक्ष्मीपति बन जाता है और सिंहासनारुढ़ शासक दीन-दरिद्र बन जाता है, जैसे सद्दाम हुसैन। इन सब परिवर्तनों, विषमताओं का मूल कारण क्या है? यह एक ज्वलंत प्रश्न है।

भारत के मननशील मनीषियों ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है-विषमता और विविधता का मूल कर्म है।[11] कर्म से ही विविधता और विषमता उत्पन्न होती है।[12] जैन दर्शन की तरह बौद्ध दर्शन, न्याय दर्शन, वेदान्त दर्शन प्रभृति भी कर्म को ही जीव की विविध अवस्थाओं का कारण मानते हैं। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है, कि जैसा बीज होगा, वैसा ही वृक्ष होगा। जैसा कि न्याय दर्शन के मत में कर्म को ही शरीर व इन्द्रियों की उत्पत्ति का कारण बताया है। परमाणु संयोग के कारण सृष्टि का कारण भी कर्म है।[13] सांख्य दर्शन के अनुसार कर्मों के कारण प्रकृति में विविधता आ जाती है, **"कर्म निमित्त योगाच्चं, कर्म वैचित्र्यात्सु सृष्टि वैचित्र्यम् चिदवसाना, भुक्तिस्ततकर्मोज तत्वात्।"**[14] अर्थात् चेतन द्वारा अर्जित कर्मों से भोगों की प्राप्ति और समाप्ति पर, आत्मा को कर्मों का कर्त्ता एवं कर्मों को भोगोत्पादक बताया है।

इस प्रकार सर्वत्र विश्व में व्याप्त विचित्रता एवं विविधता ही कर्म के अस्तित्व का प्रमाण है। सौ टंच स्वर्ण में कोई भेद नहीं होता, किन्तु विजातीय तत्वों के सम्मिश्रण के कारण उसमें भेद होता है। वैसे ही निश्चय दृष्टि से आत्माएँ एक हैं, किन्तु जो विविधता और भेद है, वह कर्म रूपी विजातीय तत्व के कारण से है।

कर्म की पौद्गलिकता : कर्म को कुछ दार्शनिक आत्मा का गुण मानते हैं, जैसे न्याय दर्शन। कुछ दार्शनिक कर्म को संस्कार और वासना रूप मानते हैं, जैसे सांख्य एवं बौद्ध दर्शन। जैन दर्शन इसके विपरीत कर्म को पौद्गलिक मानता है। कर्म आत्मा का गुण नहीं वरन् आत्मगुणों का विघातक है। परतंत्र बनाने वाला और दुःखों का कारण है। यह तथ्य है, कि 'जिस वस्तु का जो गुण है, वह उसका विघातक नहीं होता। कर्म आत्मा का विघातक है। अतः आत्मा का गुण नहीं हो सकता। कर्म पौद्गलिक न होता, तो वह आत्मा की पराधीनता का कारण नहीं हो सकता था।'

जैन दर्शन की दृष्टि से द्रव्य कर्म पौद्गलिक है।[15] पुद्गल मूर्त ही होता है। उसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श-ये चार गुण होते हैं। जिसका कारण पौद्गलिक होता है। जैसे कपास भौतिक है, तो उससे बनने वाला वस्त्र भी भौतिक ही होगा। जैसे कार्य से कारण का अनुमान किया जाता है, वैसे ही कारण से कार्य का अनुमान भी किया जा सकता है। शरीर आदि कार्य पौद्गलिक एवं मूर्त हैं, अतः उसका कारण

कर्म भी पौद्गलिक और मूर्त ही होना चाहिए।[26] भगवान महावीर ने तो कर्म की परिभाषा ही इस प्रकार दी है, "आत्म प्रवृत्याकृष्टा स्तत् प्रायोग्य पुद्गलाः कर्म"[27] अर्थात् आत्म परिणामों से व योगों की प्रवृत्ति से आकृष्ट आत्म सम्बद्ध पुद्गल समूह ही कर्म है। अतः स्पष्ट है, कि कर्म पौद्गलिक हैं।

मूर्त और अमूर्त का संबंध कैसे : आत्मा और कर्म दोनों अनादि हैं। कर्म संतति का आत्मा के साथ अनादि काल से संबंध है। यद्यपि कर्म मूर्त और जड़ता स्वभाव वाला है, आत्मा अमूर्त और चैतन्य स्वभावी है। फिर भी अनादि काल से इनका सम्बन्ध चला आ रहा है, जैसे स्वर्ण और मिट्टी का, तिल और तेल का तथा अरणी और आग का सम्बन्ध अनादिकालीन है। इनकी कोई आदि नहीं है, वैसे ही जीव के साथ परम्परा स्वरूप कर्मों के संबंध की भी कोई आदि नहीं है। प्रतिपल प्रतिक्षण संसारी जीव नवीन कर्म बाँधता रहता है। ये जितने कर्म-पुद्गल आत्मा से चिपकते हैं, वे सब अवधि सहित होते हैं। कोई भी एक कर्म अनादिकाल से आत्मा के साथ घुल-मिलकर नहीं रहता। सारांश यह है, कि आत्मा से कर्मों का सम्बन्ध प्रवाह रूप से अनादि और भिन्न-भिन्न व्यक्ति रूप से सादि है।

तर्क शास्त्र का यह एक नियम है, कि जो अनादि होता है उसका कभी अन्त नहीं होता। यह हम जानते हैं, कि आत्माएं अनादिकालीन कर्मबन्धन तोड़कर मुक्त होती है। यहाँ प्रश्न यह उठता है, कि अनादि सम्बन्ध का अन्त कैसे होता है? इसका समाधान इन शब्दों में ही हो चुका है, कि आत्मा और कर्म का सम्बन्ध प्रवाह रूप से अनादि है,[28] न कि व्यक्तिशः। अतः अनादिकालीन कर्मों का अन्त होता है। तप और संयम के द्वारा नये कर्मों का प्रवाह रुकता है, संचित कर्म नष्ट होते हैं और आत्मा मुक्त बन जाता है।[29]

अचेतन एवं रूपी कर्म पुद्गल चेतन एवं अरूपी आत्मा से कैसे संबंध करते हैं? इसका उत्तर है, कि मदिरा और क्लोरोफार्म का प्रभाव अमूर्त चेतना आदि गुणों पर प्रत्यक्ष देखा जाता है, वैसे ही अमूर्त आत्मा पर मूर्त कर्म का प्रभाव पड़ता है।[30]

इसका दूसरा समाधान यह है, कि अनन्तकाल से आत्मा कर्म से सम्बद्ध होने के कारण स्वभावतः अमूर्त होते हुए भी संसारी अवस्था में मूर्त भी मानी जाती है।[31] कर्म का सम्बन्ध इस कोटि की आत्माओं से ही होता है। जो आत्माएँ सर्वथा कर्ममुक्त हो जाती है, उनसे फिर कर्म सम्बद्ध नहीं हो सकते। पूर्वकर्म से बंधा हुआ जीव ही नये कर्मों का बंधन करता है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है, कि आत्मा के पहले-पहल कर्म कैसे लगे? किन्तु जब हम आत्मा और कर्म की पहल निकाल ही नहीं सकते क्योंकि उनका प्रारम्भ है ही नहीं तब उनका श्रीगणेश कैसे बताएँ? इसका समाधान यही है, कि आत्मा और कर्म का संबंध अपश्चानुपूर्वी है। अर्थात वह सम्बन्ध न तो पीछे है, न पहले।

यदि कर्मों से पहले आत्मा को मानें तो फिर उसके कर्म लगने का कोई कारण नहीं बनता। कर्मों को भी आत्मा से पहले नहीं मान सकते, क्योंकि वे कर्त्ता के बिना हो नहीं सकते। आत्मा के बिना उनका किया जाना सर्वथा असंभव है। इन दोनों का एक साथ उत्पन्न होना भी अयोक्तिक है। पहले तो इन्हें उत्पन्न करने वाला ही नहीं। दूसरे में कल्पना करें, कि यदि ईश्वर को इनका उत्पादक मान लें, तो भी यह समस्या नहीं सुलझती। प्रत्युत इतनी विकट समस्याएँ हमारे समक्ष आ खड़ी होती हैं, कि उनका हल नहीं निकाला जा सकता। सत् से असत् और असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। ईश्वर ने सत् का रूपान्तरण भी क्यों किया एवं क्या से क्या किया? पहले क्या था, बाद में क्या किया? इसका कोई भी सन्तोषजनक समाधान नहीं निकला। अतः इनका अनादि अपश्चानुपूर्वी सम्बन्ध ही संगत एवं युक्तियुक्त है।

यहाँ इसी प्रकार का एक प्रश्न और उठता है, कि आत्मा और कर्म इन दोनों में अधिक शक्ति सम्पन्न कौन है?

समाधान है- आत्मा भी बलवान है और कर्म भी बलवान है। आत्मा में भी अनन्त शक्ति है और कर्म में भी अनन्त शक्ति है। इनकी स्थिति शतरंज के खेल के समान है। कभी जीव काल आदि लब्धियों की अनुकूलता होने पर कर्मों को पछाड़ देता है और कभी कर्मों की बहुलता होने पर जीव उनसे दब जाता है।

कर्म बाह्य दृष्टि से बलवान प्रतीत होते हैं, किंतु अन्तर्दृष्टि से आत्मा ही बलवान है, क्योंकि कर्म का कर्त्ता आत्मा है, वह मकड़ी की तरह कर्मों का जाल बिछाकर स्वयं उसमें उलझता है। यह आत्मा की ही विभाव परिणति है। कर्म पुद्गल स्वयं कुछ नहीं कर सकते। जब तक आत्मा राग-द्वेषादि रूप से विभाव परिणमन न करे तो कर्म-पुद्गल आत्मा के साथ नहीं चिपकते। कर्म चाहे कितने भी शक्तिशाली हों, कैसी भी बाह्य वस्तुओं एवं परिस्थितियों का संयोग हो, लेकिन जब तक आत्मा में चंचलता नहीं हो, विभाव परिणमन न हो, तो उसे बांध नहीं सकते। अतः आत्मा अधिक शक्ति सम्पन्न है। वह चाहे तो बंधे हुए कर्मों को काट भी सकता है और नवीन कर्मों के आगमन को रोक भी सकता है।

जैसे लौकिक दृष्टि से पत्थर कठोर है, फिर भी तरल पानी पत्थर के भी टुकड़े-टुकड़े कर देता है। कठोर विशाल चट्टानों में भी छेद कर देता है। वैसे ही आत्मा की शक्ति कर्म से अधिक है। आत्मा को जब तक अपनी विराट चेतना शक्ति का ज्ञान नहीं होता, तब तक वह भी कर्मों को अपने से अधिक शक्तिमान समझकर उनसे दबा रहता है। ज्ञान होने पर उनसे मुक्त हो जाता है।

इस सम्बन्ध में पंचाध्यायी में कहा गया है - 'जीव और कर्म दोनों पृथक्-पृथक् हैं, इन दोनों को परस्पर बन्धनबद्ध करने वाली चुम्बक पत्थर द्वारा आकर्षित हो

जाने वाली लोहे की सूई की तरह विभाव भाव की शक्ति है। द्रव्य कर्म जीव के ज्ञानादि स्वभावों के विकार का कारण होता है और जीव का रागद्वेष कषायादि वैभाविक भाव द्रव्य कर्म के आस्रव का कारण होता है। आशय यह है, कि आत्मा के वैभाविक भावों के निमित्त से पृथक् भूत कार्मण-पुद्गल ज्ञानावरणीयादि कर्म रूप में परिणत हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में जीव (आत्मा) और कर्म-पुद्गल दोनों ही अशुद्ध हो जाते हैं, वे अपने शुद्ध रूप में नहीं रहते हैं।[22]

जब तक आत्मा में कर्मबन्ध का कारण विद्यमान रहता है, तब कार्मण शरीर के द्वारा कर्म पुद्गल आत्मा के साथ सम्बन्ध कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। यद्यपि मुक्त आत्माएँ भी पुद्गल व्याप्त आकाश में स्थित हैं, किन्तु उन आत्माओं में कर्मबन्ध के कारणों का अत्यन्ताभाव है, इसलिए पुद्गल वहाँ रहते हुए भी उन्मुक्त आत्माओं से सम्बन्ध नहीं कर सकते और बिना सम्बन्ध के वे आत्मा का कुछ भी नहीं कर सकते।

जो पुद्गल आत्म प्रवृत्ति द्वारा ग्रहण नहीं किए जाते, यों ही लोक में फैले हुए हैं, उनमें फलदान की शक्ति नहीं होती। संसारी आत्माओं में कर्मबन्ध का कारण विद्यमान होता है, अतः कर्म पुद्गल आत्मा के द्वारा ग्रहण किए जाते हैं तथा उन पुद्गलों के साथ आत्मा का एकी भाव होने से उनमें फल देने की शक्ति आ जाती है और वे यथा समय अपना फल देकर आत्मा से अलग हो जाते हैं। अतः आत्मा और कर्म के सम्बन्ध का हेतु आत्मा की तदनुकूल प्रवृति ही है।

जैन दर्शन जीव और कर्म के सम्बन्धों को प्रवाह रूप से अनादि मानता है। गोम्मटसार में कहा है - 'जिस प्रकार सुवर्ण और पाषाण यद्यपि भिन्न-भिन्न वस्तु है, तथापि इनका सम्बन्ध (प्रवाहरूप से) अनादि माना जाता है, ये नये नहीं मिले हैं। इसी प्रकार जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि है।'[23] पंचास्तिकाय में जीव और कर्म का अनादि संबंध 'जीव-पुद्गल-कर्मचक्र' द्वारा सिद्ध किया गया है - ''जो संसार में स्थित (जन्म-मरण के चक्र में पड़ा हुआ) जीव है, उसके रागद्वेष (कषाय) रूप परिणाम अवश्य होते हैं। उन परिणामों से नए कर्म बँधते हैं। उन कर्मों से नाना गतियों में जन्म लेना पड़ता है। जन्म से शरीर होता है। शरीर में इन्द्रियाँ होती है। इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण, विषयों के ग्रहणवश मनोज्ञ-अमनोज्ञ पर राग-द्वेष परिणाम होते हैं। इस प्रकार संसार चक्र में पड़े हुए जीव के भावों से कर्म और कर्म से भाव होते रहते हैं। यह प्रवाह अभव्य जीव की अपेक्षा से अनादि-अनन्त और भव्य जीव की अपेक्षा से अनादि-सान्त है।''[24]

इस प्रकार आत्मा के साथ कर्म का अनादि सम्बन्ध प्रवाह रूप से है, वैयक्तिक रूप से नहीं, क्योंकि सभी कर्म अवधि सहेतु होते हैं। कर्म-पुद्गलों में कोई एक भी ऐसा नहीं, जो अनादि काल से आत्मा के साथ लगा हुआ हो। कर्म सबसे उत्कृष्ट रूप से 70 कोड़ाकोड़ सागर तक आत्मा के साथ सम्बन्धित रह सकता है, उससे अधिक

नहीं।[144] इसलिए आत्मा की मुक्ति होने में कोई आपत्ति नहीं, यदि वह प्रयास करे।

कर्म और उसका फल : सांसारिक जीव जो विविध प्रकार के कर्मों का बन्धन करते हैं, उन्हें विपाक की दृष्टि से भारतीय चिन्तकों ने दो भागों में विभक्त किया है, शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप अथवा कुशल और अकुशल। इन दो भेदों का उल्लेख जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन, सांख्य दर्शन, योग दर्शन, न्याय दर्शन, वैशेषिक दर्शन और उपनिषद् आदि सभी ने किया है। जिस कर्म के फल को प्राणि अनुकूल अनुभव करता है, वह पुण्य है और जिस कर्म के फल को प्राणी प्रतिकूल अनुभव करता है, वह पाप है। पुण्य के फल की सभी इच्छा करते हैं, किंतु पाप के फल की कोई इच्छा नहीं करता। इच्छा न करने पर भी उसके विपाक से बचा नहीं जा सकता।

जीव ने जो कर्म बांधा है, उसे इस जन्म में या आगामी जन्मों में भोगना ही पड़ता है।[145] कृत कर्मों का फल भोगे बिना आत्मा का छुटकारा नहीं हो सकता।[146] भगवान महावीर के जीवन प्रसंगों से भी यह बात स्पष्ट है, कि उन्हें साधनाकाल में जो रोमांचकारी कष्ट सहने पड़े थे, उनका मूल कारण पूर्वकृत कर्म ही थे। जैन दर्शन का यह स्पष्ट उद्घोष है, कि जो भी सुख और दुःख प्राप्त हो रहा है, इसका निर्माता आत्मा स्वयं ही है। आत्मा जैसा कर्म करेगा वैसा ही उसे फल भोगना पड़ेगा।[147]

कर्म फल के इस विवेचन से यह प्रश्न उठता है, कि आत्मा स्वतन्त्र है या कर्म के आधीन? इसका समाधान जैन दर्शन इस प्रकार करता है, कि कर्म की मुख्यतः दो अवस्थाएँ बतायी गई हैं - बंध (ग्रहण) और उदय (फल)। कर्म को बाँधने में जीव स्वतंत्र है, फल भोग में कर्म के अधीन है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति वृक्ष पर चढ़ता है, वह चढ़ने में स्वतन्त्र है अपनी इच्छानुसार चढ़ सकता है, किन्तु असावधानीवश गिर जाए तो वह गिरने में स्वतंत्र नहीं है।[148] वह इच्छा से गिरना नहीं चाहता तथापि गिर जाता है, अतः गिरने में परतन्त्र है। इसी प्रकार भंग पीने में व्यक्ति स्वतंत्र है, किन्तु उसका परिणाम भोगने में परतन्त्र है। उसकी इच्छा न होते हुए भी भंग अपना चमत्कार दिखलाएगी ही। उसकी इच्छा का फिर कोई मूल्य नहीं। जैसा कि गीता में भी कहा गया है -

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेसु कदाचन
मा कर्म फल हेतुर्भुर्मा ते संगोऽस्त्व कर्मणि।"[149]

अर्थात् तेरा कर्म करने मात्र में अधिकार है, फल में कभी नहीं। तू कर्म फल में आसक्त मत हो, वह कर्मानुसार उसके कारण के अनुरूप ही प्राप्त होगा।

उपर्युक्त कथन का यह तात्पर्य नहीं है, कि बद्ध कर्मों के विपाक में आत्मा कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकता। जैसे भंग के नशे की विरोधी वस्तु के सेवन से भंग का नशा नहीं चढ़ता अथवा नाममात्र को चढ़ाता है। उसी प्रकार अध्यवसायों के द्वारा पूर्वबद्ध कर्म के विपाक को मन्द भी किया जा सकता है और नष्ट भी किया जा

सकता है। उस अवस्था में कर्म, प्रदेशों से उदित होकर ही निर्जीण हो जाते हैं। उसकी कालिक मर्यादा (स्थितिकाल) को कम करके शीघ्र उदय में भी लाया जा सकता है। नियत काल से पूर्व कर्मों को उदय में ले आना 'उदीरणा' कहलाता है।[1]

'पातंजल योग' भाष्य में भी अदृष्ट जन्य वेदनीय कर्म की तीन गतियाँ निरुपित की हैं। उनमें से एक गति यह है - "कई कर्म बिना फल दिए ही प्रायश्चित आदि के द्वारा नष्ट हो जाते हैं।" इसे जैन पारिभाषिक शब्दों में प्रदेशोदय कहा है।

कर्म बन्ध सहेतुक है। जब तक कर्म बन्ध का कारण विद्यमान रहता है, तब तक कर्म बंधता जाता है और अपना फल देने की अवधि पूर्ण होने पर अलग हो जाता है। जब आत्मा कर्म बन्ध का द्वार रोक देती है, कर्म बन्ध के कारण भूत आश्रव का निरोध कर देती है, उस समय कर्म बंध रूक जाता है।[2] जो कर्म पहले के बंधे हुए होते हैं, वे उदय में आकर नष्ट हो जाते हैं या उदीरणा से उदय में लाकर नष्ट कर दिये जाते हैं और तब आत्मा की मुक्ति हो जाती है।

इस प्रसंग में एक शंका उत्पन्न होती है, कि कर्म तो पौद्गलिक है, जड़ है, तब वे स्वयं यथोचित फल कैसे दे सकते हैं?

यह सही है, कि कर्म पुद्गल यह नहीं जानते हैं, कि अमुक आत्मा ने यह काम किया है, अतः उसे यह फल दिया जाए। परन्तु आत्मा की क्रिया के द्वारा जो शुभाशुभ पुद्गल आकृष्ट होते हैं, उसके संयोग से आत्मा की वैसी ही परिणति हो जाती है, जिससे आत्मा को उसके कर्मानुसार फल मिल जाता है। जैसे सैंकड़ों गायों के झुण्ड में बछड़ा अपनी माँ (गाय) को ढूँढ़ लेता है, वैसे कर्म पुद्गल भी अपने कर्ता आत्मा तक पहुँच ही जाते हैं।

आज पराकाष्ठा पर पहुँचे भौतिक विज्ञान के युग में तो इसे समझना बहुत ही सहज है। सब जड़ वस्तुओं का संचालन ऑटोमेटिक होता है, ठीक समय पर ठीक जगह पर बम फटते हैं। बिना चालक के वाहन बम बरसाकर वापस अपने स्थान पर निश्चित अवधि में पहुँच जाते हैं। अंतरिक्ष में आरोपित यंत्र अपने आप धरती पर सूचना भेजते हैं। जड़ पुद्गल जड़ पर तो स्वतः असर करते ही हैं, पर वे चैतन्य पर भी असर डालते हैं।

जड़ पुद्गल बड़ी क्षमता से चेतना को प्रभावित करते हैं। जैसे शराब का नशा होते ही चेतना अपना होश खो देती है। पूर्ण चेतना भी जब क्लोरोफॉर्म सूंघ लेता है, तो निश्चेतन सा बन जाता है। यहाँ विवेच्य विषय यह है, कि जड़ शराब यह नहीं जानती, कि उससे व्यक्ति बेहोश होता है और उसे किसे बेहोश करना है। लेकिन जो व्यक्ति उसका सेवन करता है, वह उसी को बेहोश करती है, किसी अन्य को नहीं, यद्यपि वह उस व्यक्ति को जानती नहीं है। इसी प्रकार कर्म भी जिस आत्मा द्वारा किए जाते हैं, उसी को फलित होते हैं, अन्य को नहीं। तात्पर्य यह है, कि जड़ में भी अपना

अर्थ-क्रिया-कारित्व होता है।

दूसरे शब्दों में ऐसा भी कहा जा सकता है, कि जैसे पथ्य भोजन आरोग्य देना नहीं जानता और दवा रोग मिटाना नहीं जानती, फिर भी पथ्य भोजन से स्वास्थ्य लाभ होता है और औषधि सेवन से रोग मिटता है। बाह्य रूप से ग्रहण किए हुए पुद्गलों का जब इतना असर होता है, तो आन्तरिक प्रवृत्ति से गृहित कर्म पुद्गलों का आत्मा पर असर होने में सन्देह कैसा? उचित साधनों के सहयोग से विष और औषधि के प्रभाव और शक्ति में परिवर्तन किया जा सकता है। वैसे ही तपस्या आदि साधनों से कर्म की फल देने की शक्ति में भी परिवर्तन किया जा सकता है। *अधिक स्थिति* के एवं तीव्र फल देने वाले कर्म में भी उनकी स्थिति और फल देने की शक्ति में अपवर्तना के द्वारा न्यूनता की जा सकती है।[45]

प्रत्येक आत्मा (जीव) सुख चाहता है, दुःख नहीं। तो फिर वह पाप का फल स्वयं क्यों भोगे?

इस पर इतना ही कहना पर्याप्त होगा, कि सुख-दुःख आत्मा के पुण्य-पाप के अनुसार ही मिलते हैं, न कि इच्छानुसार। यदि चाहने के अनुसार मिले तब तो कर्म कोई चीज नहीं। जो कुछ इच्छा की, वही मिल गया। ऐसी हालत में तो बस इच्छा ही सार है, चाहे उसे चिन्तामणी कहें, चाहे कल्पवृक्ष। यदि कर्म कोई वस्तु है, तो उसके अनुसार ही फल मिलेगा। अच्छे कर्म का अच्छा फल होगा, बुरे का बुरा।[46] बुद्धिः कर्मानुसारिणी - इस छोटे से वाक्य से यह विषय और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। जैसा कर्म होता है, वैसी ही बुद्धि हो जाती है। जैसी बुद्धि होती है, वैसा ही काम किया जाता है और वैसा ही फल मिलता है। अतएव कर्म का फल भोगने में किसी न्यायाधीश की जरुरत नहीं।

कर्म बन्ध के साथ ही फल दान के सामर्थ्य का भी बन्धन हो जाता है। कर्म-बन्ध के समय चार प्रकार के बन्ध होते हैं -

1. **प्रकृति बन्ध** : बद्ध कर्म आत्मा के कौन से गुण को आवृत करेगा।
2. **स्थिति बन्ध** : कितने समय तक उसका बन्धन रहेगा।
3. **अनुभाग बन्ध** : कर्म किस रूप में उदय आयेगा - सामान्य या विशिष्ट।
4. **प्रदेश बन्ध** : दल संचय सघन होगा या विरल।[47]

इन चार प्रकारों से कर्म की फलदान क्षमता भी बन्ध के साथ ही निश्चित हो जाती है। कर्म-बन्ध होने के उपरान्त अन्दर एक प्रक्रिया चलती रहती है, वह समय पर सब कुछ सम्पन्न कर देती है। बीज बोने के बाद ऊपर तो कुछ दिखाई नहीं पड़ता, किन्तु भीतर एक प्रवाह प्रवाहित होता है और समय पर सब आवरणों को हटाकर बीज अंकुरित हो जाता है। जिस प्रकार के कर्मों का बन्ध हुआ होता है, उनके अनुरूप ही उनका फल मिलता है।

ईश्वर और कर्मवाद : जैन दर्शन का स्पष्ट मन्तव्य है, कि जीव जैसा कर्म करता है, वैसा ही उसे फल प्राप्त होता है।[46] न्याय दर्शन[47] की तरह वह कर्मफल का नियन्ता ईश्वर को नहीं मानता। कर्म परमाणुओं में जीवात्मा के सम्बन्ध से एक विशिष्ट परिणाम समुत्पन्न होता है।[48] जिससे वह द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव, भव, गति, स्थिति, प्रभृति उदय के अनुकूल सामग्री से विपाक-प्रदर्शन में समर्थ होकर आत्मा के संस्कारों को मलीन करता है।[49] उससे उनका फलोपभोग होता है। जीव के किए गए पाप कर्मों का परिपाक पापकारी ही होता है तथा कल्याण कर्मों का विपाक कल्याणकारी ही होता है।

कम्प्यूटर या केल्कूलेटर जैसी गणित करने वाली मशीन जड़ होने पर भी अंक गिनने में भूल नहीं करती। वैसे ही कर्म भी जड़ होने पर भी फल देने में भूल नहीं करता, उसके लिए ईश्वर को नियन्ता मानने की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर वही फल प्रदान करेगा जैसे जीव के कर्म होंगे। कर्म के विपरीत वह कुछ भी देने में समर्थ नहीं होगा। इस प्रकार एक ओर ईश्वर को सर्वशक्तिमान मानना और दूसरी ओर उसे अणुमात्र भी परिवर्तन का अधिकार न देना, वस्तुतः ईश्वर की सत्ता का उपहास है। इससे यह भी सिद्ध होता है, कि कर्म की शक्ति ईश्वर से भी अधिक है और ईश्वर भी उसके अधिन ही कार्य करता है। दूसरी दृष्टि से कर्म में भी कुछ करने की शक्ति को अस्वीकार करना होगा। यदि वह ईश्वर के सहारे ही अपना फल दे सकता है। इस प्रकार दोनों एक दूसरे के अधिन हो जाएंगे। इससे तो यही श्रेष्ठ है, कि स्वयं कर्म को ही अपना फलदाता स्वीकार कर लिया जाए।

यदि प्रत्येक कार्य का संचालक ईश्वर हो, तो जीवों को सुख-दुःख देने में ईश्वर के ऊपर पक्षपाती होने का दोष आता है। जो जीव सुखी हैं, उन पर ईश्वर का प्रेम है और जो दुःखी हैं, उन पर ईश्वर का द्वेष है। ऐसे ईश्वर की आत्मा राग-द्वेष से मलिन है, अतः हम ऐसे ईश्वर को परमात्मा कैसे मानें?

यदि सृष्टि उत्पन्न करने वाली किसी शक्ति को मानें, तो उसका कर्त्ता अथवा स्वामी भी किसी को मानना पड़ेगा और फिर उसका स्वामी। इस प्रकार एक के बाद एक ऐसे स्वामियों की कतार लग जायेगी, जो अनन्त तक चली जाएगी, फिर भी स्वामी का अन्त नहीं दिखेगा। ईश्वर को कर्त्ता मान लेने से पुरुषार्थ के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। जैसी कर्त्ता के जची वैसी सृष्टि कर डाली। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा ही अपने कर्मों का कर्ता है और सुख-दुःख का भोक्ता है। परमात्मा रागद्वेष से रहित है, उसे संसार से मतलब ही क्या?

वैदिक दर्शनों का यह मन्तव्य है, कि आत्मा सर्वशक्तिमान ईश्वर के हाथ की कठपुतली है। उसमें स्वयं कुछ भी कार्य करने की क्षमता नहीं है। स्वर्ग और नरक में भेजने वाला, सुख और दुःख को देने वाला ईश्वर है। ईश्वर की प्रेरणा से ही जीव

स्वर्ग और नरक में जाता है।[50]

जैन दर्शन के कर्म-सिद्धान्त ने प्रस्तुत कथा का खण्डन करते हुए कहा है, कि ईश्वर किसी का उत्थान और पतन करने वाला नहीं है। वह तो वीतराग है। आत्मा ही अपना उत्थान और पतन करता है। जब आत्मा स्वभाव दशा में रमण करता है, तब उत्थान करता है और जब विभाव दशा में रमण करता है, तब उसका पतन होता है। विभाव दशा में रमण करने वाला आत्मा ही वैतरणी नदी और कूट शाल्मली वृक्ष है और स्वभाव दशा में रमण करने वाला आत्मा कामधेनु और नन्दन वन है।

जैन दर्शन का यह स्पष्ट उद्घोष है, कि जो भी सुख-दुःख प्राप्त हो रहा है, उसका निर्माता आत्मा स्वयं ही है। जैसा आत्मा कर्म करेगा वैसा ही उसे फल भोगना पड़ेगा।[51] वैदिक और बौद्ध दर्शन की भांति वह कर्म के संविभाग में विश्वास नहीं करता। विश्वास ही नहीं, अपितु उस विचारधारा का खण्डन करता है। एक व्यक्ति का कर्म दूसरे व्यक्ति से विभक्त नहीं किया जाएगा, तो पुरुषार्थ और साधना का मूल्य ही क्या है? पाप-पुण्य करेगा कोई और भोगेगा कोई और। यह सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं है।

कर्मवाद का सिद्धान्त जीवन में आशा, उत्साह और स्फूर्ति का संचार करता है। उस पर पूर्ण विश्वास होने के बाद निराशा, अनुत्साह और आलस्य तो रह नहीं सकते। सुख-दुःख के झोंके आत्मा को विचलित नहीं कर सकते। कर्मवाद के अनुसार विकास की चरम सीमा को प्राप्त आत्मा ही ईश्वर है, परमात्मा है। हमारी शक्तियाँ कर्मों से आवृत हैं, अविकसित हैं। लेकिन आत्मबल से अध्यवसाय से कर्म का आवरण दूर हो सकता है और इन शक्तियों का विकास किया जा सकता है। विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच कर हम परमात्मा स्वरूप को भी प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक भव्य आत्मा प्रयास करके परमात्मा बन सकती है।

कर्म बंध के कारण : जीव के साथ कर्म का प्रवाह रूप से अनादि सम्बन्ध है, किन्तु कर्म किन कारणों से बंधते हैं, यह एक सहज जिज्ञासा है। गौतम स्वामी ने प्रश्न किया - भगवान् जीव कर्म बन्ध कैसे करता है?

भगवान ने उत्तर दिया - गौतम! ज्ञानावरणीय कर्म के तीव्र उदय से दर्शनावरणीय कर्म का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरणीय कर्म के तीव्र उदय से दर्शन मोह का उदय होता है। दर्शन मोह के तीव्र उदय से मिथ्यात्व का उदय होता है। मिथ्यात्व के तीव्र उदय से जीव आठ प्रकार के कर्मों को बाँधता है।[52]

स्थानांग,[53] समवायांग[54] में तथा उमास्वाति[55] ने कर्म कर्मबन्ध के कारण पाँच आस्रवों को बताया है - मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। संक्षेप दृष्टि से कर्मबंध के दो कारण हैं - कषाय व योग।

कर्म बंध के चार भेद हैं - प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश।[56] इनमें प्रकृति

और प्रदेश का बंध योग से होता है। स्थिति व अनुभाग का बंध कषाय से होता है। संक्षेप में कषाय ही कर्म बंध का मुख्य हेतु है। कषाय के अभाव में साम्परायिक कर्म का बंध नहीं होता। दसवें गुणस्थान तक दोनों कारण रहते हैं, अतः वहाँ तक साम्परायिक बन्ध होता है। कषाय और योग से होने वाला बंध साम्परायिक बंध कहलाता है। गमनागमन आदि क्रियाओं से जो कर्म बंध होता है, वह ईर्यापथिक बंध कहलाता है।[57]

विस्तार से कषाय के चार भेद हैं - क्रोध, मान, माया व लोभ।[58] संक्षेप में कषाय के दो भेद हैं - राग और द्वेष।[59] राग और द्वेष में उन चारों का समावेश हो जाता है। राग में माया और लोभ तथा द्वेष में क्रोध और मान का समावेश होता है। राग और द्वेष के द्वारा ही अष्ट विध कर्मों का बन्धन होता है। अतः राग द्वेष को ही भाव कर्म माना है।[60] राग-द्वेष का मूल मोह ही है। कर्म बन्धन वस्तु और निमित्त से नहीं आत्म-अध्यवसाय से, रागद्वेषात्मक संकल्प से होता है।[61] भाव कर्म के बिना नये कर्मों का बंध नहीं होता। कर्मों का बन्धन मूलतः आत्म परिणमों के आधार पर होता है, पर वस्तु प्रत्ययिक अणु मात्र भी बन्धन नहीं होता।[62] दूसरे कितने भी निमित्त मिल जाएँ, आत्म भाव जब तक उत्तेजित नहीं होते कर्म बंध नहीं होता। आत्मभाव उन निमित्तों से प्रभावित होते हैं, राग-द्वेष उत्पन्न होता है, तभी बन्धन की क्रिया फलित होती है। निमित्तों में आत्मा निरपेक्ष रह जाए, किसी प्रकार की कोई चंचलता न हो तो उसके कर्म-बन्धन नहीं होता।

जैन दर्शन की तरह ही बौद्ध दर्शन ने भी कर्मबंधन का कारण मिथ्याज्ञान अथवा मोह माना है।[63] न्याय दर्शन का भी यही मन्तव्य है, कि मिथ्याज्ञान ही मोह है। प्रस्तुत मोह केवल तत्त्वज्ञान की अनुत्पत्ति रूप नहीं है, अपितु शरीर, इन्द्रिय, मन, वेदना, बुद्धि ये अनात्म होने पर भी इनमें "मैं ही हूँ" ऐसा ज्ञान मिथ्या ज्ञान और मोह है। यही कर्म बन्ध का कारण है।[64] वैशेषिक दर्शन भी प्रकृत कथन का समर्थन करता है।[65] सांख्य दर्शन भी बंध का कारण विपर्यास मानता है और विपर्यास ही मिथ्याज्ञान है।[66] योग दर्शन क्लेश को बंध का कारण मानता है और क्लेश का कारण अविद्या है।[67] उपनिषद्, भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र में भी अविद्या को ही बंध का कारण माना है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी 'समयसार' में वैदिक दर्शनों की तरह 'अज्ञान' को ही बन्ध का प्रधान एवं सबल कारण माना है। उन्होंने स्पष्ट कहा है, कि "ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है और अज्ञान ही बन्ध का हेतु है। इस जगत में प्रकृतियों के साथ यह (प्रगट) बन्ध होता है, वह वास्तव में अज्ञान की ही गहन महिमा स्फुरित होती है।"[68]

इस प्रकार जैन दर्शन तथा अन्य दर्शनों में कर्म बन्ध के कारणों में शब्द भेद तथा प्रक्रिया भेद होते हुए भी मुख्य रूप से मिथ्यात्व या अज्ञान को सभी ने स्वीकार

किया है।

कर्म का कार्य : कर्म का मुख्य कार्य है - आत्मा को संसार में आबद्ध रखना। जब तक कर्मबंध की परम्परा का प्रवाह प्रवाहमान रहता है, तब तक आत्मा मुक्त नहीं हो सकता। यह कर्म का सामान्य कर्म है। विशेष रूप से देखा जाए तो भिन्न-भिन्न कर्मों के भिन्न-भिन्न कार्य हैं, जितने कर्म हैं, उतने ही कार्य हैं। जैन कर्मशास्त्र की दृष्टि से कर्म की आठ मूल प्रकृतियाँ हैं, जो प्राणी को विभिन्न प्रकार के अनुकूल एवं प्रतिकूल फल प्रदान करती हैं। उनके नाम ये हैं - 1. ज्ञानावरण कर्म, 2. दर्शनावरण कर्म, 3. वेदनीय कर्म, 4. मोहनीय कर्म, 5. आयुकर्म, 6. नाम कर्म, 7. गोत्र कर्म व 8. अन्तराय कर्म।[69]

इन आठ कर्म प्रकृतियों के भी दो अवान्तर भेद हैं। इनमें चार घाती कर्म है और चार अघाती कर्म हैं। 1. ज्ञानावरण, 2. दर्शनावरण, 3. मोहनीय और 4. अन्तराय ये चार घाती कर्म हैं।[70] 1. वेदनीय, 2. आयु, 3. नाम और 4. गोत्र ये चार अघाती कर्म हैं।

जो कर्म आत्मा से बंधकर उसके स्वरूप का या उसके स्वाभाविक गुणों का घात करते हैं, वे घाती कर्म हैं।[71] इनकी अनुभाग शक्ति का सीधा प्रभाव आत्मा के ज्ञान आदि गुणों पर होता है। इनसे गुण विकास अवरुद्ध होता है, जैसे बादल सहस्र रश्मि सूर्य के चमचमाते प्रकाश को आच्छादित कर देता है, उसकी रश्मियों को बाहर नहीं आने देता वैसे ही घाती कर्म आत्मा के मुख्य गुण 1. अनन्त ज्ञान, 2. अनन्त दर्शन, 3. अनन्त सुख, 4. अनन्त वीर्य गुणों को प्रकट नहीं होने देता।[73] दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के अनन्त दर्शन शक्ति के प्रादुर्भाव को रोकता है। ज्ञानावरणीय कर्म जीव की अनन्त ज्ञान शक्ति को प्रकट नहीं होने देता। मोहनीय कर्म आत्मा के सम्यक् श्रद्धा और सम्यक् चारित्र गुण का अवरोध करता है, जिससे आत्मा को अनन्त सुख प्राप्त नहीं होता। अन्तराय कर्म आत्मा की अनन्तवीर्य शक्ति आदि का प्रतिघात करता है, जिससे आत्मा अपनी अनन्त विराट् शक्ति का विकास नहीं कर पाता। इस प्रकार घाती कर्म आत्मा के विभिन्न गुणों का घात करते हैं।

जो कर्म आत्मा के जिन गुण का घात नहीं करते वरन् केवल आत्मा के प्रति जीवी गुणों का घात करते हैं, वे अघाती कर्म हैं। अघाती कर्मों का सीधा सम्बन्ध पौद्गलिक द्रव्यों से होता है, इनकी अनुभाग शक्ति जीव के गुणों पर सीधा प्रभाव डालती है। अघाती कर्मों के उदय से आत्मा का पौद्गलिक द्रव्यों से संबंध जुड़ता है। जिससे आत्मा 'अमूर्तोपि मूर्त इव' रहती है। उसे शरीर के कारागृह में बद्ध रहना पड़ता है। जो आत्मा के गुण 1. अव्याबाधसुख, 2. अटल अवगाहना, 3. अमूर्तिकत्व तथा अगुरुलघुत्व भाव को प्रकट नहीं होने देते हैं।[74] नाम कर्म आत्मा की अरुपी अवस्था को आवृत करता है। वेदनीय कर्म आत्मा के अव्याबाध सुख को आच्छन्न

करता है। आयुष्य कर्म आत्मा की अटल अवगाहना शाश्वत स्थिरता को नहीं रहने देता। गोत्र कर्म आत्मा के अगुरु लघु भाव को रोकता है। इस प्रकार अघाती कर्म अपना प्रभाव दिखाते हैं।

जब घाती कर्म नष्ट हो जाते हैं, तब आत्मा केवलज्ञान केवल दर्शन का धारक अरिहन्त बन जाता है।[75] और जब अघाती कर्म नष्ट हो जाते हैं, तब विदेह, सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।[76]

कर्म-भेद (अष्ट कर्म) : शुभ और अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट और सम्बन्धित होकर जो पुद्गल आत्मा के स्वरूप को आवृत्त करते हैं, विकृत करते हैं और शुभाशुभ फल के कारण बनते हैं (शुभाशुभ रुप से उदय में आते हैं) आत्मा द्वारा गृहित उन पुद्गलों का नाम है-कर्म। यद्यपि ये पुद्गल एक रूप हैं, फिर भी ये जिस आत्मगुण को आवृत, विकृत या प्रभावित करते हैं, उसके अनुसार ही उन पुद्गलों का नाम हो जाता है।

आत्मा के गुण आठ हैं - 1. केवलज्ञान, 2. केवलदर्शन, 3. अनन्त सुख, 4. क्षायिक-सम्यक्त्व, 5. अटल अवगाहना, 6. अमूर्तिकपन, 7. अगुरुलघुपन और 8 लब्धि। अतः इन आठ आत्मगुणों को आवृत्त करने वाले कर्म भी आठ है।[77] आत्मा के मोक्ष (मुक्ति) के लिए इन अष्ट कर्मों को भलीभाँति समझना आवश्यक है।

1. **ज्ञानावरणीय कर्म** : जीव चैतन्यमय है। उपयोग उसका लक्षण है।[78] उपयोग शब्द ज्ञान और दर्शन का संग्राहक है।[79] ज्ञान साकारोपयोग है और दर्शन निराकारोपयोग है।[80] जिससे जाति गुण, क्रिया आदि विशेष धर्मों का बोध होता है, वह ज्ञानोपयोग है और जिससे सामान्य धर्म अर्थात् सत्ता मात्र का बोध होता है, वह दर्शनोपयोग है।[81] जिस कर्म के प्रभाव से ज्ञानोपयोग आच्छादित रहता है, वह ज्ञानावरण कर्म है। जैसे नेत्रों पर कपड़े की पट्टी लगा देने से नेत्रज्ञान अवरुद्ध हो जाता है, वैसे ही ज्ञानावरण कर्म के प्रभाव से आत्मा की समस्त पदार्थों को सम्यक् प्रकार से जानने की ज्योतिर्मय ज्ञान शक्ति आच्छादित हो जाती है।

ज्ञानावरणीयकर्म पाँच प्रकार के होते हैं - 1. मतिज्ञानावरण, 2. श्रुत ज्ञानावरण 3. अवधिज्ञानावरण, 4. मनः पर्याय ज्ञानावरण तथा 5. केवलज्ञानावरण।[82]

मतिज्ञानावरण कर्म इन्द्रियों तथा मन से होने वाले ज्ञान का निरोध करता है। श्रुत ज्ञानावरण कर्म शब्द और अर्थ की पर्यालोचना से होने वाले ज्ञान को आच्छादित करता है। अवधिज्ञानावरण कर्म इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना होने वाले रूपी पदार्थों के मर्यादित प्रत्यक्ष ज्ञान को अवरुद्ध करता है। मनः पर्यायज्ञानावरण कर्म इन्द्रिय तथा मन की सहायता के बिना संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जानने वाले ज्ञान को अच्छादित करता है। केवलज्ञानावरण कर्म सर्व द्रव्यों और पर्यायों को युगपत् प्रत्यक्ष जानने वाले ज्ञान को आवृत करता है।

ज्ञानावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ सर्वघाती और देशघाती रूप से दो प्रकार की हैं।[1] जो प्रकृति स्वाधात्य ज्ञानगुण का पूर्णतया घात करे वह सर्वघाति है तथा जो स्वधात्य ज्ञानगुण का आंशिक घात करे, वह देशघाती कर्म हैं। मतिज्ञानावरण, श्रुत ज्ञानावरण, अवधि ज्ञानावरण ये चार देश घाती कर्म हैं तथा केवलज्ञानावरण कर्म सर्वघाती है। सर्वघाती कहने का तात्पर्य प्रबलतम आवरण की अपेक्षा से है। केवलज्ञानावरणीय कर्म सर्वघाती होने पर भी आत्मा के ज्ञानगुण को सर्वथा आवृत नहीं करता, परन्तु केवलज्ञान का सर्वथा निरोध करता है। निगोदस्थ जीवों में उत्कट ज्ञानावरणीय कर्म का उदय रहता है। जैसे घनघोर घटाओं से सूर्य के पूर्णतः आच्छादित होने पर भी उसकी प्रभा का कुछ अंश अनावृत रहता है, जिससे दिन और रात का विभाग प्रतीत होता है, वैसे ही ज्ञान का अनन्तवां भाग नित्य अनावृत रहता है।[2] जैसे घनघोर घटाओं को विदिर्ण करके सूर्य की प्रभा भूमण्डल पर आती है, पर सभी मकानों पर उसकी प्रभा एक समान नहीं गिरती, मकानों की बनावट के अनुसार मन्द और मन्दतर और मन्दतम गिरती है, वैसे ही ज्ञान की प्रभा मतिज्ञानावरण आदि के उदय के तारतम्य के अनुसार मन्द, मन्दतर और मन्दतम होती है। ज्ञान पूर्ण रूप से तिरोहित कभी नहीं होता। यदि ऐसा हो जाए तो जीव अजीव हो जाए।

इस कर्म की स्थिति अधिकतम तीस कोटा-कोटि सागरोपम और न्यूनतम अन्तर्मुहूर्त की है।[3]

2. दर्शनावरण कर्म : पदार्थों की विशेषता को ग्रहण किए बिना केवल उनके सामान्य धर्म का बोध करना दर्शनोपयोग है।[4] जिस कर्म के प्रभाव से दर्शनोपयोग आच्छादित हो जाता है, वह दर्शनावरणीय कर्म है। दर्शन गुण के सीमित होने पर ज्ञानोपलब्धि का द्वार मन्द हो जाता है। इस कर्म की तुलना शासक के उस द्वारपाल से की गई है, जो शासक से किसी व्यक्ति को मिलने में बाधा उपस्थित करता है। द्वारपाल की आज्ञा के बिना व्यक्ति शासक से नहीं मिल सकता, वैसे ही दर्शनावरण कर्म वस्तुओं के सामान्यबोध को रोकता है। पदार्थों को देखने में बाधा डालता है।

दर्शनावरण कर्म की नौ उत्तर प्रकृतियाँ हैं - 1. चक्षु दर्शनावरण, 2. अचक्षु दर्शनावरण, 3. अवधि दर्शनावरण, 4. केवल दर्शनावरण, 5. निद्रा, 6. निद्रानिद्रा, 7. प्रचला, 8. प्रचला प्रचला व 9. स्त्यनर्द्धि।[5]

चक्षु दर्शनावरण कर्म नेत्रों द्वारा होने वाले सामान्य बोध को आवृत करता है। अवधि दर्शनावरण कर्म इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा को रूपी द्रव्यों का जो सामान्यबोध होता है, उसे आच्छादित करता है। केवल दर्शनावरण कर्म सर्वद्रव्य और पर्यायों के युगपत् होने वाले सामान्य अवबोध को आवृत करता है। निद्रा कर्म वह है, जिससे सुप्त प्राणी सुख से जाग सके, ऐसी हल्की निद्रा उत्पन्न हो। निद्रा-निद्रा कर्म से ऐसी नींद उत्पन्न होती है, जिससे सुप्त प्राणी कठिनाई से जाग

सके। प्रचला कर्म से ऐसी नींद उत्पन्न होती है, कि खड़े-खड़े और बैठे-बैठे आये। प्रचला प्रचला कर्म से चलते-चलते निद्रावस्था में सम्पन्न करे, वैसी प्रगाढ़तम नींद।

दर्शनावरण कर्म भी देशघाती और सर्वघाती रूप से दो प्रकार का है। चक्षु, अचक्षु, अवधिदर्शनावरण देश घाती हैं और शेष छह प्रकृतियाँ सर्वघाती है।[84] सर्वघाती प्रकृतियों में केवल दर्शनावरण प्रमुख है।

दर्शनावरण कर्म का पूर्ण क्षय होने पर जीव की अनन्त दर्शन शक्ति प्रकट होती है, वह केवल दर्शन का धारक बनता है। जब उसका क्षयोपशम होता है, तब चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन और अवधि दर्शन प्रकट होता है। दर्शनावरण कर्म की न्यूनतम स्थिति अन्तर्मुहूर्त की तथा उत्कृष्ट स्थिति तो कोटाकोटि सागरोपम की है।[85]

3. वेदनीय कर्म : आत्मा के अव्याबाध गुण को आवृत करने वाला कर्म वेदनीय कर्म है। वेदनीय कर्म से आत्मा को सुख-दुःख का अनुभव होता है। उसके दो भेद हैं - 1. साता वेदनीय और 2. असाता वेदनीय।[86] सातावेदनीय कर्म से जीव को भौतिक सुखों की उपलब्धि होती है तथा असाता वेदनीय कर्म से मानसिक या शारीरिक दुःख प्राप्त होता है।[87] वेदनीय कर्म मधु से लिप्त तलवार की धार के समान है। तलवार की धार पर लिप्त मधु को चाटने के समान सातावेदनीय है और जीभ कट जाने के समान असातावेदनीय है।

सातावेदनीय कर्म आठ प्रकार के होते हैं - मनोज्ञ शब्द, मनोज्ञ रूप, मनोज्ञ गन्ध, मनोज्ञ रस, मनोज्ञ स्पर्श, सुखित मन, सुखित वाणी, सुखित काय जिससे प्राप्त हो।[88] इनके विपरीत फल वाले असाता वेदनीय कर्म होते हैं।

वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति उत्तराध्ययन[89] और प्रज्ञापना[90] में अन्तमुर्हूर्त की बताई गई है। भगवती सूत्र[91] में दो समय की कही गई है। इन दोनों में विरोध नहीं समझना चाहिये क्योंकि मुर्हूर्त के अन्दर का समय अन्तमुर्हूर्त कहलाता है। दो समय को अन्तमुर्हूर्त कहने में कोई विसंगति नहीं है। वह जघन्य अन्तमुर्हूर्त है। किन्तु तत्त्वार्थ सूत्र[92] तथा अन्य कई ग्रन्थों में बारह मुर्हूर्त की प्रतिपादित की गई है। उत्कृष्ट स्थिति सर्वत्र बीस कोटाकोटि सागर की है।

4. मोहनीय कर्म : जो आत्मा में मूढ़ता उत्पन्न करे वह मोहनीय है। आठ कर्मों में यह सबसे अधिक शक्तिशाली है। यह आत्मा के वीतराग भाव-शुद्ध-स्वरूप को विकृत करता है, जिससे आत्मा राग द्वेष आदि विकारों से ग्रस्त होता है। मोहनीय कर्म के उदय से जीव को तत्त्व-अतत्त्व का भेद-विज्ञान नहीं हो पाता। वह संसार के विकारों में उलझ जाता है। इसे अपना स्वरूप ज्ञान भी नहीं रहता। जैसे मदिरापान से व्यक्ति परवश हो जाता है, उसे अपने तथा पर के स्वरूप का ज्ञान नहीं रहता, वह हिताहित के विवेक से विहिन हो जाता है, वैसी ही स्थिति मोहनीय कर्म के उदय से हो जाती है।

मोहनीय कर्म दो प्रकार का होता है –1. दर्शन मोहनीय और 2. चारित्र मोहनीय।[97]

यहाँ दर्शन का अर्थ तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप आत्म गुण है। जैसे मदिरापान से बुद्धि मूर्च्छित हो जाती है वैसे ही दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से आत्मा का विवेक लुप्त हो जाता है। वह धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म मानता है। दर्शन मोहनीय कर्म तीन प्रकार का है[98] –

1. **सम्यक्त्व मोहनीय** – जो कर्म सम्यक्त्व का प्रकट होना तो नहीं रोक सकता, लेकिन औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शन को उत्पन्न नहीं होने देता।
2. **मिथ्यात्व मोहनीय** – जो कर्म तत्त्व में श्रद्धा उत्पन्न नहीं होने देता और विपरीत श्रद्धा उत्पन्न करता है।
3. **मिश्र मोहनीय** – जो कर्म तत्त्व श्रद्धा में असमंजस की स्थिति उत्पन्न करता है।

इनमें मिथ्यात्व मोहनीय सर्वघाती है और शेष दो देशघाती हैं।

मोहनीय कर्म का द्वितीय भेद चारित्र मोहनीय है। यह कर्म आत्मा के चारित्रगुण को उत्पन्न नहीं होने देता है।[99] चारित्र मोहनीय के भी दो भेद हैं – 1. कषाय मोहनीय, 2. नोकषाय मोहनीय।[100] कषाय मोहनीय के 16 भेद हैं और नो कषाय मोहनीय के सात अथवा नौ भेद हैं।[101]

कषाय मोहनीय : कषाय शब्द कष और आय से बना है। कष-संसार, आय-लाभ, जिससे संसार अर्थात् भव भ्रमण की अभिवृद्धि हो वह कषाय है। क्रोध, मान, माया व लोभ के रूप में वह चार प्रकार का है। ये चार भी अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन ये चार-चार प्रकार के हैं। इस प्रकार कषाय मोहनीय के सोलह भेद हैं। इसके उदय से प्राणी में क्रोधादि कषाय उत्पन्न होते हैं। अनन्तानुबंधी चतुष्क के प्रभाव से जीव अनन्त काल तक संसार भ्रमण करता है। यह कषाय सम्यक्त्व का विघातक है। अप्रत्याख्यानी चतुष्क के प्रभाव से देशविरति रूप श्रावक धर्म की प्राप्ति नहीं होती। प्रत्याख्यानावरणीय चतुष्क के उदय से सर्वविरति रूप श्रमण धर्म की प्राप्ति नहीं होती। संज्वलन कषाय के प्रभाव से श्रमण यथाख्यात चारित्र प्राप्त नहीं कर सकता।[102]

अनन्तानुबन्धी चतुष्क की स्थिति यावज्जीवन की, अप्रत्याख्यानी चतुष्क की चार माह की और संज्वलन कषाय की स्थिति एक पक्ष की है।[103]

जिन का उदय कषायों के साथ होता है या जो कषायों को उत्तेजित करते हैं, वे नो कषाय है। इन्हें अकषाय भी कहते हैं। नो कषाय या अकषाय का तात्पर्य कषाय का अभाव नहीं, वरन् ईषत् कषाय है। नौ कषाय के नो भेद हैं – 1. हास्य, 2. रति,

3. अरति, 4. भय, 5. शोक, 6. जुगुप्सा, 7. स्त्रिवेद, 8. पुरुषवेद व 9. नपुंसकवेद।

इस प्रकार चारित्रमोहनीय की पच्चीस प्रकृतियों में से संज्वलन कषाय चतुष्क और नो कषाय ये अघाती हैं और शेष बारह प्रकृति सर्वघाती हैं।[104]

मोहनीय कर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट सत्तर कोटाकोटी सागर की है।[105]

5. आयुष कर्म : जीवों के जीवन अवधि का नियामक कर्म आयुष्य कर्म है। इस कर्म के अस्तीत्व से प्राणी जीवित रहता है और क्षय होने पर मृत्यु का आलिंगन करता है। आयुष्य कर्म का कार्य सुख-दःख देना नहीं है, अपितु नियत अवधि तक किसी एक भव में जीव को रोके रखना है।

आयु कर्म की चार प्रकृतियाँ हैं - 1. नरकायु, 2. तिर्यंञ्चायु, 3. मनुष्यायु, 4. देवायु।[106] आयु दो रूपों में उपलब्ध होती है अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय। बाह्य निमित्तों से आयु का कम होना अपवर्तन है।[107] लेकिन आयु कम हो जाने का अभिप्राय यह नहीं, कि आयु कर्म का कुछ भाग बिना भोगे ही नष्ट हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है, कि आयु कर्म के जो प्रदेश धीरे-धीरे बहुत समय में भोगे जाने वाले थे, वे सब अल्पकाल में अन्तमुहूर्त में ही भोग लिए जाते हैं। लोक व्यवहार में इसी को अकाल मृत्यु कहते हैं।

आयुकर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहुर्त की और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की है।[108] भगवती सूत्र में उत्कृष्ट स्थिति पूर्वकोटि त्रिभाग उपरान्त तेतीस सागरोपम वर्ष कही है।[109]

6. नाम कर्म : जिस कर्म से जीव गति आदि पर्यायों के अनुभव करने के लिए बाध्य हो, वह नाम कर्म है। अर्थात् जिस कर्म से जीव में गति आदि भेद उत्पन्न हो, देहादि की भिन्नता का कारण हो अथवा जिससे गत्यन्तर जैसे परिणमन हों, वह नाम कर्म है। यह कर्म शरीर, अंगोपांग, इन्द्रिय, आकृति, शरीर गठन, यश, अपयश आदि का निर्माता है।[110]

नामकर्म के भी मुख्य दो भेद हैं - शुभ और अशुभ।[111] अशुभ नाम पाप रूप है तथा शुभनाम पुण्य रूप हैं। नामकर्म की मध्यम रूप से बयालीस उत्तर प्रकृतियाँ भी होती हैं।[112] वे इस प्रकार हैं -

1. **गति नाम** : जन्म सम्बन्धी विविधता का निमित्त कर्म। इसके चार उपभेद हैं- (i) नरक गतिनाम, (ii) तिर्यञ्च गतिनाम, (iii) मनुष्य गतिनाम, (iv) देवगतिनाम।
2. **जातिनाम** : एकेन्द्रिय से लेकर पंचेद्रियत्व तक का अनुभव कराने वाला कर्म। इसके पाँच भेद हैं - (i) एकेन्द्रिय जातिनाम, (ii) द्विन्द्रिय जातिनाम, (iii) त्रिन्द्रिय जातिनाम, (iv) चतुरिन्द्रिय जातिनाम, (v)

पंचेन्द्रिय जातिनाम।

3. **शरीर नाम** : औदारिक शरीर आदि का निर्माण करने वाला कर्म। इसके पाँच भेद हैं - (i) औदारिक शरीरनाम, (ii) वैक्रियक शरीरनाम, (iii) तैजस शरीरनाम, (iv) कार्मण शरीरनाम।
4. **शरीर अंगोपांग नाम** : शरीर के अवयवों तथा प्रत्यवयवों का निमित्त भूत कर्म। इसके तीन भेद हैं - (i) औदारिक शरीर अंगोपांगनाम, (ii) वैक्रियक शरीर अंगोपांग नाम, (iii) आहारक शरीर अंगोपांग नाम। तैजस और कार्मण शरीर के अवयव नहीं होते।
5. **शरीर-बन्धन नाम** : पूर्व में ग्रहण किए हुए तथा वर्तमान में ग्रहण किए जाने वाले शरीर पुद्गलों के परस्पर सम्बन्ध का निमित्त भूत कर्म। इसके पाँच भेद हैं - (i) औदारिक शरीर बन्धन नाम, (ii) वैक्रिय शरीर बन्धन नाम, (iii) आहारक शरीर बन्धन नाम, (iv) तैजस शरीर बन्धन नाम, (v) कार्मण शरीर बन्धन नाम।
6. **शरीर संघातन नाम** : शरीर के द्वारा पूर्वगृहीत और ग्रह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था करने वाला कर्म। इसके पाँच भेद हैं - (i) औदारिक शरीर संघातन नाम, (ii) वैक्रिय शरीर संघातन नाम, (iii) आहारक शरीर संघातन नाम, (iv) तैजस शरीर संघातन नाम, (v) कार्मण शरीर संघातन नाम।
7. **संहनन नाम** : जिसके उदय से अस्थिबन्ध की विशिष्ट रचना हो। इसके छः भेद हैं- (i)वज्रऋषभनाराच संहनन नाम (ii) ऋषभनाराच संहनन नाम (iii) नाराच संहनन नाम (iv) अर्धनाराच संहनन नाम (v) कीलिका- संहनन नाम (vi) सेवार्त संहनन नाम।
8. **संस्थान नाम** : शरीर की विविध आकृतियों का जिसके उदय से निर्माण हो। इसके भी छः भेद हैं- (i) समचतुरस्त्र संस्थान (ii) न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान (iii) सादि संस्थान नाम (iv) वामन संस्थान नाम (v) कुब्ज संस्थान नाम (vi) हुण्ड संस्थान नाम।
9. **वर्ण नाम** : इस कर्म के उदय से शरीर में रंग का निर्माण होता है। इसके भी पाँच भेद हैं- (i)कृष्ण वर्ण नाम (ii) नील वर्ण नाम (iii) लोहित वर्ण नाम (iv) हारिद्र वर्ण नाम (v) श्वेत वर्ण नाम।
10. **गन्ध नाम** : इस कर्म के उदय से शरीर के गन्ध पर प्रभाव पड़ता हैं। इसके दो भेद हैं- (i) सुरभिगन्धनाम (ii) दुरभिगन्धनाम।
11. **रस नाम** : इस कर्म के उदय से शरीर के रस पर प्रभाव पड़ता है। इसके पाँच भेद हैं- (i) तिक्तरस नाम (ii) कटुरस नाम (iii) कषायरस नाम

(iv) अम्लरस नाम (v)मधुररस नाम।

12. **स्पर्श नाम** : इस कर्म के उदय से शरीर के स्पर्श पर प्रभाव पड़ता है। इसके आठ भेद हैं- (i) कर्कश स्पर्श नाम (ii) मृदु स्पर्श नाम (iii) गुरु स्पर्श नाम (iv) लघु स्पर्श नाम (v) स्निग्ध स्पर्श नाम (vi) रूक्ष स्पर्श नाम (vii) शीत स्पर्श नाम (viii)उष्ण स्पर्श नाम।
13. **अगुरु लघुनाम** : जिसके उदय से शरीर अत्यन्त गुरु या अत्यन्त लघु परिणाम को न पाकर अगुरुलघु रूप में परिणत होता हैं।
14. **उपघात नाम** : इस कर्म के उदय से जीव विकृत बने हुए अपने अवयवों से क्लेश पाता है। जैसे प्रति जिह्वा, चोरदन्त, रसौली आदि।
15. **पराघात नाम** : इस कर्म के उदय से जीव अपने दर्शन और वाणी से ही प्रतिपक्षी और प्रतिवादी को पराजित कर देता है।
16. **अनुपूर्वी नाम** : जन्मान्तर में जाते हुए जीव को आकाश प्रवेश की श्रेणी के अनुसार नियत स्थान तक गमन कराने वाला कर्म । इसके भी चार भेद हैं-(i) नरक अनुपूर्वी नाम (ii) तिर्यंच अनुपूर्वी नाम (iii) मनुष्य अनुपूर्वी नाम (iv) देव अनुपूर्वी नाम।
17. **उच्छवास नाम** : इसके उदय से जीव श्वासोच्छवास ग्रहण करता है।
18. **आतप नाम** : इस कर्म के उदय से अनुष्ण शरीर में से उष्ण प्रकाश निकलता है। इसका उदय सूर्यमण्डल के एकेन्द्रिय जीवों में होता है। उनका शरीर शीत होता है, लेकिन प्रकाश उष्ण होता है।
19. **उद्योत नाम** : इसके उदय से शरीर शीतप्रकाश मय होता है। देव के उत्तर वैक्रिय शरीर में से, लब्धिधारी मुनि के वैक्रिय शरीर से तथा चाँद, नक्षत्र, तारागणों में से निकलने वाला शीत प्रकाश।
20. **विहायोगति नाम** : इसके उदय से प्रशस्त और अप्रशस्त गति होती है। इसके दो भेद हैं - (i) प्रशस्त विहायोगति नाम, (ii) अप्रशस्त विहायोगति नाम। यहाँ गति का अर्थ चलना है।
21. **त्रस नाम** : जिस कर्म के उदय से गमन करने की शक्ति प्राप्त हो।
22. **स्थावर नाम** : जिस कर्म के उदय से इच्छापूर्वक गति न होकर स्थिरता प्राप्त होती है।
23. **सूक्ष्म नाम** : जिस कर्म के उदय से जीव को चर्म चक्षुओं से अगोचर सूक्ष्म शरीर प्राप्त हो।
24. **बादर नाम** : जिस कर्म के उदय से जीव को चर्म चक्षु गोचर स्थूल शरीर प्राप्त हो।
25. **पर्याप्त नाम** : जिस कर्म के उदय से जीव स्वयोग्य प्राप्तियाँ पूर्ण करे।

26. **अपर्याप्त नाम** : जिस कर्म के उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण न कर सके।
27. **साधारण शरीर नाम** : जिस कर्म के उदय से अनन्त जीवों को एक ही साधारण शरीर प्राप्त हो।
28. **प्रत्येक शरीर नाम** : जिस कर्म के उदय से जीवों को भिन्न-भिन्न शरीर प्राप्त होता है।
29. **स्थिर नाम** : जिस कर्म के उदय से हड्डी दाँत आदि स्थिर अवयवों की प्राप्ति हो।
30. **अस्थिर नाम** : जिस कर्म के उदय से जिह्वा आदि अस्थिर अवयव प्राप्त हो।
31. **शुभ नाम** - जिस कर्म के उदय होने से नाभि के ऊपर के अवयव प्रशस्त हो।
32. **अशुभ नाम** : जिस कर्म के उदय से नाभि के नीचे के अवयव अशुभ होते हैं।
33. **शुभग नाम** - जिस कर्म के उदय से किसी भी प्रकार का उपकार न करने पर भी और सम्बन्ध न होने पर भी जीव सबके मन को प्रिय लगे।
34. **दुर्भग नाम** : जिस कर्म के उदय से उपकार करने पर और सम्बन्ध होने पर भी अप्रिय लगे।
35. **सुस्वर नाम** : जिसके उदय से जीव का स्वर श्रोता के हृदय में प्रीति उत्पन्न करे।
36. **दुःसवर नाम** : जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर अप्रीतिकर हो।
37. **आदेय नाम** : जिस कर्म के उदय से जीव का वचन बहुमान्य हो।
38. **अनादेय नाम** : जिस कर्म के उदय से युक्तिपूर्ण वचन भी अमान्य हो।
39. **यशःकीर्तिनाम** : जिस कर्म के उदय से जीव को यश और कीर्ति प्राप्त हो।
40. **अयशःकीर्तिनाम** : जिस कर्म के उदय से जीव को अपयश और अपकीर्ति प्राप्त हो।
41. **निर्माण नाम** : जिस कर्म के उदय से शरीर के अंग-प्रत्यंग व्यवस्थित हो।
42. **तीर्थंकर नाम** : जिस कर्म के उदय से धर्म तीर्थ की स्थापना करने की शक्ति प्राप्त हो।

नाम कर्म की अल्पतम स्थिति आठ मुहुर्त तथा उत्कृष्ट स्थिति कोटाकोटी सागरोपम की है।[113]

7. **गोत्र कर्म** : जिस कर्म के उदय से जीव उच्चावच कहलाता है, वह गोत्रकर्म

हैं।[114] यह कर्म कुम्हार के घड़ों के समान है। कुम्हार अनेक प्रकार के घड़ों का निर्माण करता है। उनमें से कितने ही घड़े ऐसे होते हैं, जिन्हें लोग कलश बनाकर अक्षत, चन्दन आदि से सजाते हैं और कितने ही ऐसे होते हैं, जो मदिरा रखने के काम में आते हैं और इस कारण निम्न माने जाते हैं। उसी प्रकार जिस कर्म के कारण जीव का व्यक्तित्व उच्च अथवा निम्न बनता है, वह गोत्र कर्म कहलाता है। इस कर्म के दो मुख्य भेद हैं[115] -

1. **उच्च गोत्र कर्म** : जिस कर्म के उदय से प्राणी लोक प्रतिष्ठित कुल आदि में जन्म ग्रहण करता है। वह देश, जाति, कुल, स्थान, मान, सत्कार, ऐश्वर्य प्रभृति विषयक उत्कर्ष का कारण है।
2. **नीच गोत्र कर्म** : जिस कर्म के उदय से प्राणी का जन्म अप्रतिष्ठित एवं असंस्कारी कुल में होता है। यह कर्म चाण्डाल, नट, व्याध, पारिधि, मत्स्य बन्धक, दास आदि भावों का कारण है।

उच्च गोत्र कर्म के आठ उपभेद हैं[116] - (i) जाति उच्च गोत्र, (ii) कुल उच्च गोत्र, (iii) बल उच्च गोत्र, (iv) रुप उच्च गोत्र, (v) तप उच्चगोत्र, (vi) श्रुत उच्चगोत्र, (vii) लाभ उच्च गोत्र, (viii) ऐश्वर्य उच्च गोत्र यहाँ जानने योग्य है, कि मातृपक्ष को जाति तथा पितृ पक्ष को कुल कहा जाता है।

नीच गोत्र कर्म के भी आठ उपभेद हैं[117] -

(i) जाति नीचगोत्र - मातृ पक्षीय विशिष्टता के अभाव का कारण।
(ii) कुल नीच गोत्र - पितृ पक्षीय विशिष्टता के अभाव का कारण।
(iii) बल नीचगोत्र - बल विहीनता का कारण।
(iv) तप नीचगोत्र - तप विहीनता का कारण।
(v) रुप नीचगोत्र - रुप विहीनता का कारण।
(vi) श्रुत नीच गोत्र - श्रुत विहीनता का कारण।
(vii) लाभ नीच गोत्र - लाभ विहीनता का कारण।
(viii) ऐश्वर्य नीचगोत्र - ऐश्वर्य विहीनता का कारण।

गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मूहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटा-कोटी सागरोपम की है।[118]

8. अन्तराय कर्म : जिस कर्म के उदय से देने, लेने में तथा एक बार या अनेक बार भोगने और सामर्थ्य प्राप्त करने में अवरोध उपस्थित हो, वह अन्तराय कर्म है।[119] यह कर्म राजा के उस भण्डारी की भाँति है, जो राजाज्ञा के उपरान्त भी दान देने में आनाकानी करता है, विघ्न डालता है, वैसे ही यह कर्म दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में बाधा उपस्थित करता है। अन्तराय कर्म की पाँच उत्तर प्रकृतियाँ हैं -

(i) **दान-अन्तराय कर्म** : इस कर्म के उदय से जीवनदान नहीं दे सकता।

(ii) **लाभ अन्तराय कर्म** : इस कर्म के उदय से पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होने पर भी, जिसके कारण अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति न हो।

(iii) **भोग अन्तराय कर्म** : जो वस्तु एक बार भोगी जाए वह भोग है। जैसे खाद्य-पेय आदि। इस कर्म के उदय से भोग्य पदार्थ सामने होने पर भी भोगे नहीं जा सकते। जैसे-पेट खराब होने पर सरस भोजन तैयार होने पर भी खाया नहीं जा सकता।

(iv) **उपभोग अन्तराय कर्म** : जो वस्तु बार-बार भोगी जा सके वह उपभोग है, जैसे वस्त्राभूषण। इस कर्म के उदय से पर्याप्त उपभोग्य सामग्री उपलब्ध होने पर भी उन्हें भोगा नहीं जा सकता।

(v) **वीर्य अन्तराय कर्म** : जिसके उदय से सामर्थ्य का प्रयोग नहीं किया जा सके और जिसके प्रभाव से जीव के उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषाकार पराक्रम क्षीण होते हैं।

अन्तराय कर्म दो प्रकार का है -

1. **प्रत्युत्पन्न विनाशी अन्तराय कर्म** : जिसके उदय से प्राप्त वस्तु का विनाश होता है।
2. **विहित-आगामी पथ अन्तराय कर्म** : भविष्य में प्राप्त होने वाली वस्तु की प्राप्ति का अवरोधक।

अन्तरायकर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहुर्त और उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटी सागरोपम की है।[20]

जिस प्रकार तूम्बा स्वभावतः जल की सतह पर तैरता है, उसी प्रकार जीव स्वभावतः उर्ध्वगतिशील है, लेकिन मृतिकालिप्त तूँबा जैसे जल में नीचे जाता है, वैसे ही कर्मों से आबद्ध आत्मा की अधोगति होती है। वह भी नीचे जाती है।

कर्म-बन्ध के कारण - कर्मबन्ध मुख्य रुप से पाँच आस्रवों के कारण होता है। कर्मबन्धन से बचने के लिए इन्हें जानना अति आवश्यक है। ये पाँच आस्रव निम्नलिखित हैं-

1. **मिथ्यात्व** - **"तत्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं"** : विपरीत श्रद्धा करना मिथ्यात्व है। यह सम्यग्दर्शन के विपरीत या विरुद्ध अर्थ वाला होता है। अर्थात् यथार्थ रूप से पदार्थों के श्रद्धान , निश्चय करने की रुचि सम्यग्दर्शन है[21] एवं पदार्थों के अयथार्थ श्रद्धान को मिथ्यादर्शन कहते हैं।

यह अयथार्थ श्रद्धान दो प्रकार से होता है- 1. वस्तुविषयक यथार्थ श्रद्धान का अभाव और 2. वस्तु का अयथार्थ श्रद्धान। जैसे तीर्थंकरों द्वारा कथित सच्चे मोक्षमार्ग में श्रद्धा न होना या सुदेव, सद्गुरु व सुधर्म में श्रद्धा न होना मिथ्यात्व का प्रथम सोपान है। अज्ञानियों द्वारा कल्पित मोक्ष मार्ग में रुचि होना व कुदेव, कुगुरु व कुधर्म पर श्रद्धा

रखना मिथ्यात्व का द्वितीय सोपान है।

मिथ्यात्व आत्मा का सबसे बड़ा शत्रु है। मिथ्यात्वी जीव तो आस्रवमुक्त होने का पुरुषार्थ भी नहीं कर सकता है। क्योंकि उसका कोई भी प्रयास उसे गलत दिशा में ही ले जाएगा।

2. **अविरति** : **"हिंसनृतस्तेया ब्रह्म परिग्रहभ्यो विरतिर्व्रतम्"**[121] : अर्थात् हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह आदि से विरत होने को व्रत कहते हैं। इन पापों के त्याग की प्रतिज्ञा न हो, यह अविरति कहलाता है। कदाचित वर्तमान में हिंसादि पाप क्रिया नहीं की जा रही हो, फिर भी यदि यह न करने की प्रतिज्ञा न की हो, तो यह अविरति है। इससे कर्मबंध होता है। पाप का त्याग न करने का तात्पर्य है, कि पाप के प्रति अपेक्षा है, राग है।

3. **प्रमाद** : प्रमाद का अर्थ है- आत्मा को अपने चैतन्य स्वरूप की विस्मृति होना तथा आत्मशुद्धि के प्रति अनुत्साह होना। प्रमाद से आत्मा की जागरुकता समाप्त हो जाती है। आध्यात्मिक अकर्मण्यता एवं आलस्य की स्थिति बन जाती है। आचार में शिथिलता आ जाती है। मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा ये पाँच प्रमाद हैं। उसी प्रकार राग, द्वेष, अज्ञानता, शंका, भ्रम, विस्मरण, मन, वचन, काया का दुष्प्रणिधान और धर्म में अनादर, अनुत्साह ये भी आठ प्रमाद हैं। यदि ये प्रमाद छोड़ दें, तो जीव अप्रमत्त महामुनि बन जाता है।

4. **कषाय** : जो आत्मगुणों को कषे- नष्ट करे अथवा जो जन्ममरण रुपी संसार को बढ़ावें, उन्हें कषाय कहते हैं।[123] कषाय मुख्यतः चार हैं- क्रोध, मान, माया, लोभ।[124] इन कषायों को उत्तेजित या प्रेरित करने वाले तत्वों को नोकषाय कहा जाता है। ये नौ हैं- हास्य, रति, अरति, भय, शोक, दुगुंछा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद तथा नपुंसकवेद।

मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद ये तीनों कषाय के उदय से ही निष्पन्न होते हैं। इन तीनों आस्रवों के समाप्त हो जाने पर भी कषाय से कर्म परमाणुओं का आगमन होता रहता है। कषाय के समाप्त हो जाने पर केवल योग से पुण्यबन्ध होता रहता है।

5. **योग** : वाचस्पति ने योग की व्याख्या करते हुए लिखा है, कि "काय वाङ्मनः कर्मयोगः।"[125] अर्थात मन वचन काया के व्यापार प्रवृत्ति अर्थात् सक्रियता को योग कहते हैं। औदारिकादि वर्गण योग्य पुद्गलों के द्वारा प्रवर्तमान होने वाले योगों को काय योग कहते हैं। मतिज्ञानावर्ण, अक्षर- श्रुतवर्णादि कर्मों के क्षयोपशम से आन्तरिक (भाव) वाग्लब्ध उत्पन्न होते ही आत्मा के द्वारा वचनवर्गणा के माध्यम से जो भाषा प्रयुक्त होती है, उसे वचन योग कहते हैं। नौ इन्द्रिय जन्म मतिज्ञानावर्णी के क्षयोपशम से मन के परिणामों से आत्मा के जो प्रवृत्ति होती है, उसे मनयोग कहते हैं।[126]

ये तीनों योग आस्रव कहे गए हैं। क्योंकि इनसे कर्मबन्ध होता है। जैसे

जलाशय में पानी का आगमन नाली, झरने आदि किसी स्त्रोत से होता है, इसी प्रकार कर्मों का आगमन योग नैमित्तिक होने से इनको आस्रव कहते हैं। योग केवल द्रव्य कर्म है। योग के निमित्त से आगमित कर्म दो समय से अधिक नहीं रहते हैं। अतः जब तक अष्ट कर्मों का क्षय नहीं होता तब तक योग निमित्त से कर्म आते हैं, और दो समय से स्वतः ही चले जाती हैं। ये ईर्यापथिक कर्म कहलाते हैं। इनसे कर्मबन्ध नहीं होता। जब योग के साथ कषाय का संयोग होता है, तभी कर्मबन्ध होता है।

निष्कर्ष यह है, कि योग केवल कर्म पुद्गलों को लाने वाला संवाहक है, कषाय उन्हें उत्तेजित करके आत्मा के साथ बांध देते हैं। द्रव्यकर्म (योग) एक प्रकार का ईंधन है और भाव कर्म (कषाय) आग है। ईंधन एकत्र कर दिया जाए, लेकिन आग प्रज्वलित न हो तो ईंधन कुछ नहीं कर सकता। ईंधन तभी आग को बढ़ाता है, जबकि आग जल रही हो। अर्थात योग के साथ कषाय का संयोग हो तभी कर्मबन्ध होता है।[127]

इस प्रकार मिथ्यात्व से लेकर योग पर्यंत से पाँचों आस्रव समस्त कर्म-बन्धन के कारण हैं। जीवों की समस्त क्रियाओं को इनमें समाहित किया गया है। किंतु साधारण बुद्धिवाले व्यक्ति इन्हें हृदयंगम नहीं कर सकते। अतः ज्ञानावरणादि जो आठ कर्म हैं, उन समस्त कर्मों के बन्धन के पृथक-पृथक कारणों का विवेचन आगमों में किया गया है, जो इस प्रकार है-

1. ज्ञानावरणी कर्म बन्ध के कारण- ज्ञानावरणीय कर्म बन्ध के छः कारण तत्वार्थ सूत्र में बताए गए हैं-

''तत्प्रदोष निह्नव मात्सर्यमन्तरायासादनोपघाता ज्ञान दर्शनावरणयोः''

अर्थात् तत् प्रदोष, निन्हव, मत्सर, अन्तराय, आशातना और उपघात आस्रव ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्म के बन्ध हेतु हैं।[128]

(i) ज्ञान प्रदोष- सम्यग्ज्ञान अथवा ज्ञानी की निन्दा करना उनके दोष निकालना तथा उनसे प्रतिकूलता रखना।

(ii) ज्ञान निह्नव- ज्ञानी तथा ज्ञान के साधनों का अपलोपन करना। ज्ञानदाता गुरु के नाम को छुपाना, उनके विरुद्ध ज्ञान का प्रचार करना, ज्ञान के साधन पुस्तक आदि होते हुए भी कहना, कि नहीं है आदि।

(iii) ज्ञान-मात्सर्य - ज्ञान तथा ज्ञानी के प्रति ईर्ष्या-द्वेष रखना।

(iv) ज्ञान-अन्तराय - किसी के ज्ञान प्राप्ति में बाधा पहुँचाना, अन्तराय डालना, पुस्तक आदि ज्ञान के साधनों को छुपा देना।

(v) ज्ञान-आशातना - ज्ञानी या ज्ञान के साधनों की अवहेलना करना, अपमान करना, उनकी अविनय आशातना है। ज्ञानी को दुःखी करना, पुस्तकें जला देना, फाड़ देना, फैंक देना आदि चेष्टाएँ भी ज्ञानासादन हैं।

(vi) ज्ञान-विसंवाद (उपघात)- ज्ञान के साधनों को नष्ट करना। ज्ञानी के वचनों में विसंवाद करना या विरोध दिखाना। अपने मिथ्यामत को सत्य सिद्ध करने का प्रयास करना ज्ञान उपघात है।

2. दर्शनावरणीय कर्मबन्ध के कारण : दर्शनावरणीय कर्मबन्ध के भी ये छः कारण हैं-

(i) दर्शन-प्रदोष - सम्यग्दर्शन अथवा दर्शनी की निन्दा करना, दोष निकालना, और उनके दर्शन से प्रतिकूलता रखना।

(ii) दर्शन-निह्नव - दर्शन या सम्यग्दृष्टि का अपलोपन करना उनका नाम छुपाना और उनके विरुद्ध दर्शन का प्रचार करना।

(iii) दर्शन-मात्सर्य - सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्दृष्टि के प्रति ईर्ष्या द्वेष रखना।

(vi) दर्शनान्तराय- सम्यग्दृष्टि बनने में अन्तराय (बाधा) डालना।

(v) दर्शन-अशातन - सम्यग्दर्शनी व दर्शन की अवहेलना करना, अपमान करना।

(vi) दर्शन उपघात- सम्यग्दर्शन व दर्शन के वचनों का विरोध करना, विसंवाद करना तथा मिथ्यादर्शन को प्रतिष्ठित करने का प्रयास करना।

3. वेदनीय- कर्मबन्ध के कारण : वेदनीय कर्म दो प्रकार के होते हैं- 1.साता वेदनीय 2 असातावेदनीय। दोनों प्रकार के कर्म-बन्धन के छः-छः कारण बताए गए हैं-

1. सातावेदनीय कर्म-बन्ध के कारण-

"भूत-व्रत्यानुकम्पा-दानं सराग-संयमादि-योगःक्षान्तिः शोचमिति सद्वेद्यस्य।"[129]

अर्थात भूतानुकम्पा व्रती अनुकम्पा, दान, सराग संयम, क्षमा और शोच सातावेदनीय कर्मबन्ध के कारण हैं।

(i) भूतानुकम्पा- चारों गतियों के समस्त जीवों पर दया भाव रखना। जैसा कि भगवती सूत्र में लिखा है, कि प्राणियों पर अनुकम्पा रखने से भूतों (वनस्पति कायिक जीवों) पर अनुकम्पा करने से, जीवों (पंचेन्द्रिय जीवों) पर अनुकम्पा करने से तथा सत्वों (स्थावर जीवों) पर अनुकम्पा करने से और बहुत से प्राण भूत, जीवों, सत्वों को दुख न देने से, शोक न करने से, न रुलाने से, न मारने-पीटने से और न परितापित करने से जीव सातावेदनीय कर्मबन्ध करते हैं।[130]

(ii) व्रती- अनुकम्पा - जिन व्यक्तियों ने व्रत नियम आदि ग्रहण किए हैं- जो सर्वविरत साधुवर्ग हैं अथवा देश विरत श्रावक वर्ग हैं, उन्हें सहयोग देना, उनकी सेवा-सुश्रुषा करना, उनके प्रति श्रद्धाभाव रखना, उन्हें

आहारपानी की साता पहुँचाना, जिससे वे आत्मसाधना में दृढ़ रह सकें।

(iii) दान- निष्काम भाव से विनम्रता पूर्वक आहार दान, औषधदान, ज्ञानदान और अभय दान देना दान है।

(iv) सराग-संयमादि योग- इसके अन्तर्गत चार बातें समाविष्ट हैं-

1. सराग संयम- साधुवर्ग का रागभाव युक्त संयम।
2. संयमासंयम- श्रावक वर्ग का धर्म, जिसमें संयम और असंयम का मिलाजुला रुप हो।
3. अकाम निर्जरा- वह निर्जरा, जिसमें परवशता से अनिच्छा से, भयादि प्रेरित होकर तप, त्याग या कष्ट सहन किया जाए।
4. बाल तप - तत्वज्ञान से रहित मिथ्याज्ञान या अज्ञान से प्रेरित कायाकष्ट आदि तप। इन चारों का मन-वचन-काया के योग से सम्पृक्त होना।

(v) क्षान्ति- कषाय पर विजय प्राप्त करके क्षमा, सहनशीलता व सहिष्णुता को धारण करना।

(vi) शौच- पवित्रता अर्थात् निर्लोभ से आन्तरिक भावनात्मक शुद्धि।

उपर्युक्त कारणों के विपरीत कर्म से असातावेदनीय कर्म-बन्ध होते हैं ये भी छः हैं-

"दुःख-शोक-तापाक्रन्दन-वध-परिवेदनान्यत्म-परोभय-स्थान्यसद्वेद्यस्य।"[131]

1. दुःख -भय या पीड़ा का अनुभव होना।
2. शोक- इष्ट वस्तु या व्यक्ति के वियोग और अनिष्ट वस्तु या व्यक्ति के संयोग होने पर चिन्ता, क्षोभ, व्यग्रता होना।
3. ताप- निन्दा, अपमान आदि से मन में संताप होना।
4. आक्रन्दन- दुःख, भय, विपरीत परिस्थिति से पीड़ित होकर रोना, चिल्लना, विलाप करना।
5. वध- पर प्राण, भूत, जीव, सत्वों को पीड़ित करना, ताड़ना, मारना-पीटना, कटु-वचन बोलना, वध करना आदि।[132]
6. परिवेदन- गिड़गिड़ाना, दीनता प्रदर्शित करना, आंसू बहाकर अपनी हीनता प्रकट करना।

इन 6 कारणों से असाता वेदनीय कर्मबन्ध होता है, इन क्रियायों की तीव्रता मन्दता के अनुसार इनके 12 प्रकार हो जाते हैं।

4. मोहनीय कर्म-बन्ध के कारण : सामान्य तथा मोहनीय कर्मबन्ध छः कारणों से होता है- 1. तीव्र क्रोध 2. तीव्रमान, 3. तीव्रमाया, 4. तीव्रलोभ, 5. तीव्रदर्शन मोह (अविवेक) 6. तीव्र चारित्र मोह (अशुभाचरण), तीव्र मिथ्यात्व आदि

कषायों की प्रवृत्ति से मोहनीय कर्म बंधते हैं।[133] इसी प्रकार हास्य, रति-अरति आदि तीव्र नोकषाय भी मोहनीय कर्म-बन्ध के कारण हैं।

5. आयुष्य कर्मबन्ध के कारण : तत्वार्थ सूत्र में कहा गया है- शील और व्रतों से रहित होना चारों प्रकार के आयुष्य का सामान्य बन्ध हेतु है।[134] व्रत का अर्थ है- अहिंसा, सत्य आदि पाँच नियम तथा शील का अर्थ है- व्रतों की पुष्टि के लिए तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रतों का पालन। इसके अतिरिक्त स्थानांग सूत्र व तत्वार्थ सूत्र दोनों में ही देवआयु, मनुष्य आयु, तिर्यंच आयु एवं नरकायु के बन्ध होने के पृथक-पृथक कारणों का विवेचन किया है-

1. नरक आयु बन्ध के कारण- 1. महा आरम्भ, 2. महापरिग्रह, 3. पंचेन्द्रियवध और मांसाहार इन चार कारणों से नरक आयु का बन्ध होता है।
2. तिर्यंच आयु बन्ध के कारण- 1. माया करना, 2. गूढ़ माया करना, 3. असत्यवचन बोलना तथा 4. कूट माप तोल करना आदि कारणों से जीव तिर्यंच आयु का बन्ध करता है।
3. मनुष्य आयु बन्ध के कारण- 1. सरल प्रकृति होना 2. प्रकृति विनीत होना 3. दया के परिणाम 4. ईर्ष्या न करना आदि कारणों से मनुष्य आयु का बन्ध होता है।
4. देव आयु बन्ध के कारण- देव आयु का बन्ध भी चार कारणों से होता है-

1. **सराग संयम** : साधु द्वारा राग युक्त संयम का पालन करना।
2. **संयमा संयम** : श्रावक चर्या का पालन करना संयम और असंयम की मिश्रित अवस्था
3. **बाल तपस्या** : अज्ञानी या मिथ्यात्वी की तपस्या।
4. **अकाम निर्जरा तप** : मोक्ष की इच्छा के बिना की जाने वाली तपस्या।

6. नाम कर्म बन्ध के कारण : नाम कर्म बन्ध शुभ तथा अशुभ रूप से दो प्रकार से होता है। दोनों का बन्ध चार-चार कारणों से होता है -

शुभ नाम कर्म बन्ध के कारण :

1. **काया की सरलता** : शरीर के द्वारा कोई कपट पूर्ण प्रवृत्ति न करना।
2. **भाव की सरलता** : मनोभावों को छल-कपट से दूर रखना।
3. **भाषा की सरलता** : बोलते समय कपट का आश्रय न लेना।
4. **अविसंवादन योग** : मन-वचन-काया के व्यापारों में एकरूपता होना।[135]

उपर्युक्त कारणों से शुभ नाम कर्म का बन्ध होता है। इसके विपरीत काया, भाव व भाषा की कुटिलता से तथा विसंवादन योग से अशुभ नाम कर्म का बन्ध होता है।

तीर्थंकर नाम कर्म बन्ध के कारण : तीर्थंकर नामकर्म बन्ध के 20 कारण

बताए गए हैं -

1-7 अरिहन्त, सिद्ध, प्रवचन, गुरु, स्थविर, बहुश्रुत और तपस्वी, इन सबकी भक्ति, गुणगान तथा सेवा करना।

8. निरन्तर ज्ञान में उपयोग रखना।

9. निरतिचार सम्यक्त्व की आराधना करना।

10. अतिचार दोष रहित ज्ञानादि विनय का सेवन करना।

11. निर्दोष आवश्यक क्रियाएँ करना।

12. मूलगुण तथा उत्तर गुणों में अतिचार न लगाना।

13. सदा संवेग भाव और शुभ ध्यान में लगे रहना।

14. तपस्या करना।

15. सुपात्रदान देना।

16. दशविध वैयावृत्य (सेवा) करना।

17. गुरुदेव को समाधि प्राप्त हो, ऐसे कार्य करना।

18. नया-नया ज्ञान सीखना।

19. श्रुत की भक्ति बहुमान करना।

20. प्रवचन की प्रभावना करना।[136]

7. गोत्र कर्म बन्ध के कारण : गोत्र कर्म बन्ध के आठ कारण हैं - 1. जाति, 2. कुल, 3. बल, 4. रुप, 5. तप, 6. श्रुत (ज्ञान), 7. लाभ, 8. ऐश्वर्य इनका मद-अहंकार करना नीच गोत्र बन्ध के कारण है।[137] इस प्रकार गोत्र कर्मबन्ध का मूल कारण निरहंकारता एवं अहंकारता है। इसके अतिरिक्त तत्वार्थ सूत्र में परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, दूसरे के सद्गुणों का आच्छादन और स्वयं के सद्गुणों का प्रकाशन नीच गोत्र के बन्ध हेतु हैं तथा इसके विपरीत चारों गुण उच्चगोत्र बन्ध के कारण हैं।[138]

8. अन्तराय कर्म बन्ध के कारण : अन्तराय कर्म बन्ध के मुख्यतः पाँच कारण बताए गए हैं - 1. दान, 2. लाभ, 3. भोग, 4. उपभोग, 5. वीर्य (उत्साह या सामर्थ्य) इन सबमें बाधा डालने से अन्तराय कर्म का बन्ध होता है।[139] 'विघ्नकरणमन्तरायस्य' अर्थात् शुभ कार्यों में विघ्न डालना। अन्तराय कर्म बन्ध का कारण है।[140]

इस प्रकार से जिन कर्मों का आत्मा ने बन्ध कर लिया है, वे अवश्य ही उदय में आते हैं और अपना फल देते हैं। किन्तु अनुकूल निमित्त कारण न हो तो बहुत से कर्म- प्रदेशों से ही उदय में आकर फल दिये बिना ही पृथक् हो जाते हैं। जब तक फल देने का समय नहीं आता तब तक बद्ध कर्मों के फल की अनुभूति नहीं होती। कर्मों के उदय में आने पर ही उनके फल का अनुभव होता है। बन्ध और उदय के बीच का काल अबाधा काल कहलाता है। बंधे हुए कर्म यदि शुभ होते हैं, तो उन

कर्मों का विपाक सुखमय होता है। बंधे हुए कर्म यदि अशुभ होते हैं, तो उदय में आने पर उन कर्मों का विपाक दुःखमय होता है। गणधर गौतम ने महावीर से पूछा- भगवन अन्य यूथिक इस प्रकार कहते हैं, कि 'सब जीव एवंभूत वेदना (जैसा कर्म बांधा है, वैसे ही) भोगते हैं'- यह किस प्रकार है? महावीर ने कहा- गौतम अन्य यूथिक जो इस प्रकार कहते हैं, वह मिथ्या है। मैं इस प्रकार कहता हूँ, कि कई जीव एवंभूत वेदना भोगते हैं, और कई अनएवंभूत वेदना भी भोगते हैं।[142]

स्थानांग में चतुर्भंगी हैं - 1. एक कर्म शुभ है और उसका विपाक भी शुभ है, 2. एक कर्म शुभ है, किन्तु विपाक अशुभ है, 3. एक कर्म अशुभ है, किन्तु उसका विपाक शुभ है, 4. एक कर्म अशुभ है और उसका विपाक भी अशुभ है।[143]

जिज्ञासा होती है, कि उसका मूल कारण क्या है? जैन कर्म सिद्धांत इसका समाधान करता है, कि इसका कारण कर्म की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। मुख्य रूप से इन्हें ग्यारह भेदों में विभक्त किया जा सकता है - 1. बन्ध, 2. सत्ता, 3. उद्वर्तन-उत्कर्ष, 4. अपवर्तन-अपकर्ष, 5. संक्रमण, 6. उदय, 7. उदीरणा, 8. उपशमन, 9. निधत्ति, 10. निकाचित व 11. अबाधाकाल।

1. बन्ध : आत्मा के साथ कर्म पुद्गलों का सम्बन्ध होना, नीर-क्षीरवत् एक मेक हो जाना बन्ध है।[144] गोम्मटसार में भी कर्मों के सम्बन्ध को बन्ध कहा गया है।[145] षट्दर्शन समुच्चय में भी इसी आशय से मिलता-जुलता लक्षण दिया गया है - शुभ-अशुभकर्मों का ग्रहण करना ही कर्मों का बन्ध इष्ट है।[146]

निष्कर्ष यह है, कि जब आत्मा के प्रदेशों से पुद्गलद्रव्य के कर्म योग्य परमाणु मिल जाते हैं, तब आत्मा का अपना स्वरूप और शक्ति विकृत हो जाती है। वह अपनी शक्ति के अनुरूप कार्य करने में स्वतंत्र नहीं रहती, यही उसका बन्ध है। जीव के असंख्य प्रदेश हैं। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त से जीव के असंख्यात प्रदेशों में कम्पन पैदा होता है। इस कम्पन के फलस्वरूप जिस क्षेत्र में आत्म प्रदेश हैं, उस क्षेत्र में विद्यमान अनन्तानन्त कर्मयोग्य पुद्गल जीव के एक-एक प्रदेश के साथ चिपक जाते हैं। सकषाय होने से जीव प्रदेशों के साथ इन कर्म पुद्गलों का इस प्रकार चिपक जाना (बन्ध जाना) ही बन्ध कहलाता है।[147] इस प्रकार आत्म-प्रदेशों के साथ बन्ध को प्राप्त कार्मण वर्गणा के पुद्गल ही कर्म कहलाते हैं। इस संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ कर्म वर्गणा के पुद्गल न हो। प्राणी कायिक, मानसिक एवं वाचिक प्रवृत्ति करता है और कषाय के उत्ताप से उत्तप्त होता है। अतः वह कर्मयोग्य पुद्गलों को सर्वदिशाओं से ग्रहण करता है। जीव के कर्मबन्ध चार प्रकार से होता है - 1. प्रकृति, 2. स्थिति, 3. अनुभव एवं 4. प्रदेश।[148]

1. प्रकृति-बंध : योगों की प्रवृत्ति द्वारा ग्रहण किए गए कर्म परमाणु ज्ञान को आवृत करना, दर्शन को आच्छन्न करना, सुख-दुःख का अनुभव कराना आदि विभिन्न

अष्ट कर्म प्रवृतियों के रूप में परिणत होते हैं। इसे ही प्रकृति बंध कहते हैं। आत्मा के साथ बद्ध होने से पूर्व कार्मण वर्गणा के जो पुद्गल एकरूप थे, बद्ध होने के साथ ही उनमें नाना प्रकार के स्वभाव उत्पन्न हो जाते हैं। अर्थात् कर्मों की विविध प्रकृतियों ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र, अन्तराय आदि की उत्पत्ति को आगमिक भाषा में प्रकृति बन्ध कहते हैं।[149]

2. **प्रदेश बन्ध** : आत्मा के असंख्यात प्रदेश होते हैं, उन असंख्य प्रदेशों में से एक-एक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म प्रदेशों का बन्ध होना प्रदेश बन्ध है। प्रदेश बन्ध योगों की चंचलता में तरतमता अनुसार न्यूनाधिक होता है। योगों की प्रवृत्ति मन्द होगी तो परमाणुओं की संख्या भी कम होगी तथा योगों की प्रवृत्ति तीव्र होगी तो जीव द्वारा ग्रहण किए जाने वाले कर्म पुद्गलों की संख्या भी अधिक होगी। अर्थात् कर्म बंध अधिक प्रबल होगा। इस प्रकार आत्म प्रदेशों और कर्म पुद्गलों के प्रदेशों का सम्बन्ध प्रदेश बन्ध है।[150]

3. **स्थिति बंध** : प्रकृति बंध तथा प्रदेश बंध ये दोनों केवल योगों की प्रवृति से ही होते हैं। किन्तु योगों के साथ कषाय की जो प्रवृत्ति होती है, उससे आत्मा के साथ बंधे कर्म पुद्गलों में कालिक मर्यादा निर्मित होती है। यह काल मर्यादा ही आगमिक भाषा में स्थिति बंध कहलाता है। दूसरे शब्दों में आत्मा के द्वारा ग्रहण की गई ज्ञानावरण आदि कर्म पुद्गलों की राशि कितने काल तक आत्म प्रदेशों में रहेगी पश्चात उदय में आयेगी और अपना फल देगी, उसकी यह मर्यादा स्थिति बन्ध है।[151] सामान्य रूप से वह स्थिति दो प्रकार बतायी गयी है - उत्कृष्ट स्थिति और जघन्य स्थिति। उत्कृष्ट स्थिति का अर्थ है - प्राप्त शरीर या भव में स्थित रहने का अधिकतम काल। जघन्य स्थिति का अर्थ है कम से कम काल तक शरीर या भव में अवस्थित रहना।

सभी आठ कर्मों की उत्कृष्ट एवं जघन्य स्थिति उनके साथ संयुक्त कषायों की न्यूनाधिकता के आधार पर निर्धारित होती है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क तथा संज्वलन कषाय चतुष्क इन चारों कषाय चतुष्कों में से जिनका कर्म के साथ संयोग होता है, उसी प्रकार से कर्म का स्थिति बंध होता है। अनन्तानुबंधी चतुष्क की स्थिति यावज्जीवन की, अप्रत्याख्यानी चतुष्क की एक वर्ष की, प्रत्याख्यानी चतुष्क की चार माह की और संज्वलन कषाय की स्थिति एक पक्ष की है।[152]

4. **अनुभाग बंध** : अनुभाग का अर्थ है फलदान शक्ति। **'विपाकोऽनुभावः, स यथानाम।'**[153]

नियमसार में इस प्रकार विवेचन किया गया है, कि शुभाशुभ कर्म की निर्जरा के समय सुख-दुःख रूप फल देने की शक्ति वाला बन्ध अनुभाग बन्ध है।[154] मूलाचार

में कहा है-ज्ञानावरणीयादि कर्मों का जो कषायादि-परिणाम जनित शुभ अथवा अशुभ रस है, वह अनुभाग बन्ध है।[154]

अनुभाग बन्ध दो प्रकार के होते हैं - तीव्र तथा मन्द। ये दोनों प्रकार के अनुभाग बन्ध शुभ प्रकृतियों में भी होते हैं और अशुभ प्रकृतियों में भी। संक्लेश-परिणामों से अशुभ प्रकृतियों में तीव्र अनुभाग बन्ध होता है तथा शुभ भावों से शुभ प्रकृतियों में तीव्र अनुभाग बन्ध होता है। इसी प्रकार शुभ भावों से अशुभ प्रकृतियों में मन्द अनुभाग बन्ध होता है और संक्लेशभावों से शुभ प्रकृतियों में मन्द अनुभाग बन्ध होता है।[155] इस प्रकार कषायों की तरतमता से विपाक निर्धारित होता है।

स्थिति बंध तथा अनुभाग बंध में योगों के साथ कषाय की प्रवृत्ति होने से ये संसार अभिवृद्धि के कारण हैं।

2. सत्ता : आबद्ध कर्म अपना फल प्रदान करके जब तक आत्मा से पृथक् नहीं हो जाते, तब तक वे आत्मा से ही सम्बद्ध रहते हैं। आत्मा में कर्म की सत्ता का विद्यमान होना ही सत्ता कहा जाता है। अर्थात् कर्म का बन्ध होने से फलोदय तक वे आत्मा में विद्यमान रहते हैं, उसे ही जैन दार्शनिक सत्ता कहते हैं।

3. उद्वर्तन-उत्कर्ष : आत्मा के साथ आबद्ध कर्म की स्थिति और अनुभाग बंध तत्कालीन परिणामों में प्रवाहमान कषाय की तीव्र एवं मंद धारा के अनुरूप होता है। उसके पश्चात् की स्थिति विशेष के कारण उस स्थिति एवं रस में वृद्धि होना उद्वर्तन-उत्कर्ष है। अर्थात् बद्ध कर्म के मर्यादा काल एवं फल में वृद्धि होना।

4. अपवर्तन अपकर्ष : पूर्वबद्ध कर्म की स्थिति और अनुभाग को कालान्तर में नवीन कर्मबन्ध करते समय न्यून कर देना अपवर्तन-अपकर्ष हैं। अर्थात् बद्ध कर्म की काल मर्यादा व फल को कम कर देना। इस प्रकार उद्वर्तन उत्कर्ष से अपवर्तन-अपकर्ष, बिल्कुल विपरीत है।

उद्वर्तन और अपवर्तन के नियम यह प्रतिपादित करते हैं, कि आबद्ध कर्म की स्थिति और अनुभाग एकान्ततः नियत नहीं है, उनमें अध्यवसायों की प्रबलता से परिवर्तन भी हो सकता है। कभी-कभी ऐसा होता है, कि प्राणी अशुभ कर्म का बंध करके शुभ कार्य में प्रवृत्त हो जाता है। उसका असर पूर्वबद्ध अशुभ कर्मों पर पड़ता है, जिससे उस लम्बी काल मर्यादा और विपाक शक्ति में न्यूनता हो जाती है। इसी प्रकार पूर्व में श्रेष्ठ कार्य करके पश्चात् निकृष्ट कार्य करने से पूर्वबद्ध पुण्य कर्म की स्थिति एवं अनुभाग में मन्दता आ जाती है। सारांश यह है कि, संसार को घटाने बढ़ाने का आधार पूर्वकृत कर्म की अपेक्षा वर्तमान अध्यवसायों पर विशेष निर्भर करता है।

5. संक्रमण : एक प्रकार के कर्म-परमाणुओं की स्थिति का किसी दूसरे प्रकार के कर्म-परमाणुओं की स्थिति के रूप में परिवर्तित हो जाने की प्रक्रिया को संक्रमण कहते हैं। संक्रमण के चार प्रकार हैं- 1. प्रकृति संक्रमण 2. स्थिति संक्रमण

3. अनुभाग संक्रमण 4. प्रदेश संक्रमण।

इस प्रकार के संक्रमण की कुछ निश्चित मर्यादाएँ हैं। उदय में आने पर प्रत्येक कर्म अपनी मूल प्रकृति के अनुसार ही फल प्रदान करते हैं। उनकी मूल प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं होता है। किन्तु उत्तर प्रकृतियाँ परिवर्तनीय होती हैं। एक कर्म की उत्तर प्रकृति उसी कर्म की अन्य उत्तर प्रकृति के रूप में परिवर्तित हो सकती है। जैसे मतिज्ञानावरण कर्म श्रुतज्ञानावरण कर्म के रुप में परिणत हो सकता है। फिर उसका फल भी श्रुत-ज्ञानावरण के रुप में ही होगा। किन्तु उत्तर प्रकृतियों में भी कितनी ही प्रकृतियाँ ऐसी हैं, जो सजातीय होते हुए भी संक्रमण नहीं करती जैसे- दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शनमोहनीय चारित्रमोहनीय के रुप में तथा चारित्र मोहनीय दर्शन मोहनीय के रुप में संक्रमण नहीं करते। इसी प्रकार सम्यक्त्व वेदनीय और मिथ्यात्व वेदनीय उत्तर प्रकृतियों का भी परस्पर संक्रमण नहीं होता। आयुष्य की उत्तर प्रकृतियों का भी परस्पर संक्रमण नहीं होता। जैसे नारक आयुष्य तिर्यंच आयुष्य के रुप में या अन्य आयुष्य के रुप में नहीं बदल सकती। इसी प्रकार अन्य आयुष्य भी।

6. उदय : बद्ध कर्म का फलदान उदय है। यदि कर्म अपना फल देकर निर्जीर्ण हो जाए तो फलोदय कहते हैं। और फल को दिए बिना ही नष्ट हो जाए तो प्रदेशोदय कहा जाता है।

7. उदीरणा : नियत समय से पूर्व कर्म का उदय में आना उदीरणा है। जैसे समय के पूर्व ही प्रयत्न से आम आदि फल पकाये जाते हैं, वैसे ही साधना से आबद्ध कर्म का नियत समय से पूर्व भोग कर क्षय किया जा सकता है। सामान्यतः यह नियम है, कि जिस कर्म का उदय होता है, उसी के सजातीय कर्म की उदीरणा होती है।

8. उपशमन : कर्मों के विद्यमान रहते हुए भी उदय में आने के लिए उन्हें अक्षम बना देना उपशम है। अर्थात् कर्म की वह अवस्था, जिसमें उदय अथवा उदीरणा संभव नहीं, किंतु उर्द्वतन, अपवर्तन और संक्रमण की संभावना हो वह उपशमन है। जैसे अंगारे को राख से इस प्रकार आच्छादित कर देना, जिससे वह अपना कार्य न कर सके। वैसे ही उपशमन क्रिया से कर्म को इस प्रकार दबा देना, जिससे वह अपना फल नहीं दे सके। किन्तु जैसे आवरण के हटते ही अंगारे जलाने लगते हैं, वैसे ही उपशम भाव के दूर होते ही उपशान्त कर्म उदय में आकर अपना फल देना प्रारम्भ कर देते हैं।

9. निधत्ति : जिसमें कर्मों का उदय व संक्रमण न हो सके किन्तु उद्ववर्तन अपवर्तन की संभावना हो वह निधत्ति है। जो कर्मबन्धन गाढ़ा हो, जिसे तोड़ने में तीव्र तप तीव्र शुद्ध परिणाम, प्रायश्चित आदि का पुरुषार्थ करना पड़े, उसे निधत्त कर्मबन्ध समझना चाहिए। यह चार प्रकार के हैं। 1. प्रकृति निधत्त 2. स्थिति निधत्त 3. अनुभाग निधत्त तथा 4. प्रदेश निधत्त।

10. निकाचित : जिसमें उद्वर्तन-अपवर्तन, संक्रमण एवं उदीरणा इन चारों अवस्थाओं का अभाव हो वह निकाचित कर्म है। निधत्त किए हुए नये कर्मों का ऐसा सुदृढ़ बन्ध हो जाना जिससे वे एक-दूसरे से पृथक् न हो सकें, जिसमें कोई कारण कुछ भी परिवर्तन न कर सके अर्थात् कर्म जिस रूप में बंधे हैं, उन्हें उसी रूप में भोगने पड़ें, ऐसे कर्म को 'निकाचित' कहते हैं।[156] निकाचित कर्मों की निर्जरा भोगे बिना नहीं होती। यह भी 1. प्रकृति, 2. स्थिति, 3. अनुभाग एवं 4. प्रदेश रूप से चार प्रकार के हैं।

11. अबाधाकाल : कर्म बंधने के पश्चात् एक निश्चित समय तक किसी प्रकार फल न देने की अवस्था का नाम अबाधा काल है। आबाधाकाल को जानने की विधि इस प्रकार है, कि जिस कर्म की स्थिति जितने सागरोपम की है, उतने ही सौ वर्ष का उसका अबाधाकाल होता है। जैसे ज्ञानावरणीय कर्म की स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम की है, तो आबाधाकाल तीस सौ (तीन हजार) वर्ष का है। भगवती सूत्र में अष्ट कर्म प्रकृतियों का अबाधाकाल बताया है।[157] तथा प्रज्ञापना में अष्ट कर्म की उत्तर प्रकृतियों का भी अबाधाकाल बताया गया है।[158]

जैन कर्म साहित्य में इन कर्मों की अवस्थाओं एवं प्रक्रियाओं का जैसा विश्लेषण है, वैसा अन्य दार्शनिकों के साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होता। हाँ, योग-दर्शन में नियत विपाकी, अनियत विपाकी और आवापगमन के रूप में कर्म की त्रिविधा दशा का उल्लेख किया गया है। नियत विपाकी कर्म का अर्थ है-जो नियत समय पर अपना फल प्रदान करके नष्ट हो जाता है। अनियत विपाकी कर्म का अर्थ है - जो कर्म बिना फल दिए ही आत्मा से पृथक् हो जाते हैं और आवापगमन कर्म का अर्थ है - एक कर्म का दूसरे में मिल जाना।[159] योगदर्शन की इन त्रिविध अवस्थाओं की तुलना क्रमशः निकाचित, प्रदेशोदय और संक्रमण के साथ की जा सकती है।

कर्म-विपाक के आधार : जैन दर्शन में किसी भी कार्य की उत्पत्ति के लिए कर्म और उद्योग ये दो ही नहीं, अपितु पाँच कारण माने गये हैं - 1. काल, 2. स्वभाव, 3. कर्म, 4. पुरुषार्थ और 5. नियति। चूँकि जीवन का प्रत्येक कार्य जीव के अपने ही पूर्वकृत कर्मों का फल होता है। किंतु कर्म-फल की प्राप्ति स्वतः नहीं होती, वरन् अन्य तत्त्वों के सहयोग से ही कर्म अपना फल प्रदान करते हैं। अतः ये पाँचों तत्त्व (कारण) जानने योग्य हैं-

1. काल : पुरुषार्थ, भाग्य या स्वभाव कोई भी काल के बिना कार्य नहीं कर सकता। शुभाशुभ कर्मों का फल तुरन्त ही नहीं मिलता, अपितु कालांतर में नियत समय पर ही मिलता है। एक नवजात शिशु को बोलना या चलना सिखाने के लिए चाहे कितना ही प्रयत्न किया जाए, वह जन्मते ही बोलना व चलना नहीं सीख सकता। वह काल या समय पाकर ही सीखेगा। रोगी को दवा पीते ही आराम नहीं मिलता,

समय लगता है। आम की गुठली में महावृक्ष के रूप में परिणत होने तथा हजारों आम उत्पन्न करने का स्वभाव है, परन्तु फिर भी उसे बोने के साथ ही फल नहीं लगते, एक निश्चित काल पाकर ही वृक्ष विकसित होकर फल प्रदान करता है।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु को उत्पन्न करने वाला, स्थिर करने वाला, संहार करने वाला, संयोग में वियोग और वियोग में संयोग करने वाला काल ही है।

2. स्वभाव : प्रत्येक वस्तु का अपना-अपना स्वभाव होता है। उसी के अनुरूप उसमें परिणमन होता है। सतर्क का शुभ फल मिलता है, बुरे कर्म का बुरा फल मिलता है। यह कर्म के स्वभाव पर निर्भर करता है। आम की गुठली में अंकुरित होकर वृक्ष बनने का स्वभाव है। अतः माली का पुरुषार्थ काम आता है, मालिक का भाग्य फल देता है और काल के बल से अंकुर आदि बनते हैं। बबूल कभी आम उत्पन्न नहीं कर सकता है।

3. कर्म : प्रत्येक जीव का जीवन स्वयं उसी के कर्मों द्वारा निर्मित होता है। एक ही मां के दो बच्चे हैं -एक सुन्दर व बुद्धिमान तथा दूसरा कुरुप एवं मूर्ख। ऐसा क्यों? काल, पुरुषार्थ, स्वभाव ये दोनों में थे, फिर भेद क्यों? एक ही माँ-बाप का रज और वीर्य एक ही गर्भ से उत्पन्न एक ही वातावरण, फिर अन्तर कैसा? यह सब कर्म का प्रभाव है। जिस जीव ने पूर्व जन्म में अच्छे कर्म किए, उसको अच्छे संयोग प्राप्त हुए और जिसने बुरे कर्म किए उसको प्रतिकूल संयोग मिले।

4. पुरुषार्थ : संसार में परिभ्रमण कराने वाला कर्म है, किन्तु मुक्त कराने की सामर्थ्य कर्म में नहीं है। मुक्ति प्राप्त करने में पुरुषार्थ की सत्ता चलती है। पूर्व जन्म के अच्छे उद्योग और शुभ कर्मों का बन्ध होने पर भी वर्तमान के उद्योग के बिना पूर्व संचित शुभ कर्म भी इष्ट फल नहीं दे सकते। उसके लिए पुरुषार्थ आवश्यक है। आटा, पानी और आग सब तैयार होने पर भी भाग्य-भरोसे बैठे रहने से भोजन नहीं बनता। परोसा हुआ भोजन भी बिना हाथ चलाए मुँह में नहीं जाएगा। वर्तमान में पुरुषार्थ किए बिना कोई काम नहीं हो सकता है।

नियति का निर्माता भी पुरुषार्थ ही है, किंतु निर्माण के पश्चात् वह पूर्ण स्वतंत्र है। फिर पुरुषार्थ का उस पर बिल्कुल भी जोर नहीं चलता।

5. नियति : निकाचित बन्ध वाले कर्म समूह नियति है। जो कर्म आवश्यक रूप से भोगना पड़े, जिसकी स्थिति अथवा विपाक में कुछ भी परिवर्तन नहीं किया जा सके। उस कर्म के बन्धन को निकाचित बंध कहते हैं। जिस कार्य का फल तदनुकूल पुरुषार्थ से विपरीत दिशा में जाए, उसको नियति का कार्य मानना चाहिये। पुरुषार्थ सिर्फ नियति के समक्ष निष्फल होता है।

इस प्रकार किसी भी कर्म का फल प्राप्त करने के लिए इन पाँच कारणों की आवश्यकता होती है।

कर्म बन्धन से मुक्ति का उपाय : भारतीय दर्शन में कर्म बंध और उसके कारणों के विवेचन के साथ ही उन कर्मों से मुक्त होने के साधनों का प्रतिपादन भी किया गया है। आत्मा नित्य नवीन कर्मों का बन्धन करता है तथा पुराने कर्मों को भोग कर नष्ट करता है। ऐसा कोई समय नहीं है, जबकि जीव कर्म न बाँधता हो। तब प्रश्न उठता है, कि वह कर्मों से मुक्त कैसे होगा? उत्तर है - तप और साधना से। जैसे खान में सोना और मिट्टी दोनों एकमेक होते हैं, किन्तु ताप आदि के द्वारा जैसे उन्हें अलग-अलग कर दिया जाता है, वैसे ही आत्मा और कर्मों को भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप रत्नत्रय से पृथक् किया जा सकता है।

जैन दर्शन ने न्याय-वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त, महायान (बौद्ध) की भांति एकान्तरूप से ज्ञान को प्रमुखता नहीं दी है और न एकान्तरूप से मीमांसक दर्शन की तरह क्रिया-काण्ड पर ही बल दिया है। किन्तु ज्ञान और क्रिया इन दोनों के समन्वय को ही मोक्ष मार्ग माना है। चारित्रयुक्त अल्पज्ञान ही मोक्ष का हेतु है और विराट् ज्ञान भी यदि चारित्र रहित है, तो मोक्ष का कारण नहीं है। अर्थात् सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्चारित्र मोक्ष के हेतु हैं। जहाँ ये दोनों हैं वहाँ सम्यग्दर्शन अवश्य होता है। जैन आगमों में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को मोक्ष मार्ग के रूप में स्वीकार किया है।[60] जैन दर्शन में इसी मोक्षमार्ग को रत्नत्रय भी कहा है।

बद्ध कर्मों से मुक्त होने के लिए सर्वप्रथम साधक संवर की साधना से नवीन कर्मों के आगमन को रोकता है। आचार्य हेमचन्द्र के शब्दों में - 'जिस प्रकार चौराहे पर स्थित बहुद्वार वाले गृह में द्वार बंद न होने पर निश्चय ही रज प्रविष्ट होती है और चिकनाई के योग से वहीं चिपक जाती है। यदि द्वार बंद हो तो रज प्रविष्ट नहीं होती और न चिपकती है, वैसे ही योगादि आस्रवों को सर्वतः अवरुद्ध कर देने पर संवृत जीव के प्रदेशों में कर्म द्रव्य का प्रवेश नहीं होता।'

जिस प्रकार तालाब में सर्वद्वारों से जल का प्रवेश होता है, पर द्वारों को प्रतिरुद्ध कर देने पर थोड़ा भी जल प्रविष्ट नहीं होता, वैसे ही योगादि आस्रवों को सर्वतः अवरुद्ध कर देने पर संवृत्त जीव के प्रदेशों में कर्म द्रव्य का प्रवेश नहीं होता।

जिस प्रकार नौका में छिद्रों से जल प्रवेश पाता है और छिद्रों को रोक देने पर थोड़ा भी जल प्रविष्ट नहीं होता। वैसे ही योगादि आस्रवों को सर्वतः अवरुद्ध कर देने पर संवृत जीव के प्रदेशों में कर्म द्रव्य का प्रवेश नहीं होता।[61]

इस प्रकार साधक संवर के द्वारा आगन्तुक कर्मों को रोकने के साथ-साथ निर्जरा की साधना से पूर्व संचित कर्मों का क्षय करता है। कर्मों का एक देश से आत्मा से छूटना निर्जरा है।[62] जब आत्मा सम्पूर्ण कर्मों को सर्वतो भावेन नष्ट कर देता है, तब वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है। जब आत्मा एक बार पूर्ण रूप से कर्मों से विमुक्त हो जाता है, तो फिर वह कभी कर्मबद्ध नहीं होता। क्योंकि उस अवस्था में

कर्म बन्ध के कारणों का सर्वथा अभाव हो जाता है। जैसे बीज जल जाने पर उससे पुनः अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती, वैसे ही कर्म रूपी बीज के सम्पूर्ण जल जाने पर संसार रूपी अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती। इससे स्पष्ट है, कि जो आत्मा कर्मों से बंधा हो वह उनसे मुक्त भी हो सकता है।

कर्मवाद एक अपूर्व देन : कर्मवाद का सिद्धान्त भारतीय दर्शन की और विशेष रूप से जैन दर्शन की विश्व को एक अपूर्व और अलौकिक देन है। मानव जीवन विघ्न-बाधा, दुःख और विपत्तियों से भरा हुआ है। इनसे मन चंचल हो जाता है, मानव घबरा जाता है। व्यक्ति बाह्य निमित्त कारणों को दुःख का प्रधान कारण समझकर उन्हीं को कोसता है। ऐसी जटिल परिस्थिति में कर्मवाद का सिद्धान्त ही उनका सही मार्ग प्रशस्त कर सकता है। उसका प्रथम घोष है – आत्मा अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है। सुख-दुःख उसी के किए हुए कर्मों का फल है। कोई भी बाहरी शक्ति किसी भी जीव को सुख दुःख नहीं दे सकती। वह तो सिर्फ निमित्त मात्र बन सकती है। इस विश्वास के दृढ़ होने पर आत्मा दुःख और विपत्ति के समय घबराती नहीं वरन् धैर्यपूर्वक सामना करती है। इस प्रकार कर्मवाद हमें निराशा से बचाता है, दुःख सहने की शक्ति देता है और मन को शांत एवं स्थिर रखकर प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करने की शक्ति प्रदान करता है।

इस सिद्धान्त ने मानव को अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति में दीपक की लौ की तरह नहीं, अपितु ध्रुव की तरह अटल रहने की प्रेरणा दी है। जन-जन के मन में से श्वानवृत्ति को हटाकर सिंहवृत्ति जागृत की है। कर्मवाद की महत्ता के सम्बन्ध में डॉक्टर मेक्समूलर ने कहा है -

'यह तो निश्चित है, कि कर्म मत का असर मनुष्य जीवन पर बेहद हुआ है। यदि किसी मनुष्य को यह मालूम पड़े, कि वर्तमान अपराध के सिवाय भी मुझको जो कुछ भोगना पड़ता है, वह मेरे पूर्व जन्म के कर्म का ही फल है, तो वह पुराने कर्ज को चुकाने वाले मनुष्य की तरह शान्त भाव से उस कष्ट को सहन कर लेगा और वह मनुष्य इतना भी जानता हो, कि सहनशीलता से पुराना कर्ज चुकाया जा सकता है तथा उसी से भविष्य के लिए निधि की समृद्धि एकत्र की जा सकती है, तो उसको भलाई के रास्ते पर चलने की प्रेरणा अपने आप ही होगी। अच्छा या बुरा कोई भी कर्म नष्ट नहीं होता, यह नीतिशास्त्र का मत और पदार्थ शास्त्र का बलसंरक्षण सम्बन्धी मत समान ही है। दोनों मतों का आशय इतना ही है, कि किसी का नाश नहीं होता। किसी भी नीतिशिक्षा के अस्तीत्व के सम्बन्ध में कितनी ही शंका क्यों न हो पर यह निर्विवाद सिद्ध है, कि कर्ममत सबसे अधिक जगह माना जाता है। उससे लाखों मनुष्यों के कष्ट कम हुए हैं और उसी मत से मनुष्यों को वर्तमान संकट झेलने की शक्ति पैदा करने तथा भविष्य जीवन को सुधारने में उत्तेजन मिला है।'[163]

इस प्रकार जैन दर्शन का कर्मवाद का सिद्धान्त अद्भूत, अनन्य और अपराजेय है। इस वैज्ञानिक युग में भी यह एक चिरन्तन ज्योति के रूप में मानव-मात्र के पथ को आलोकित कर सकता है।

अनेकान्तवाद : दार्शनिक जगत् को जैन दर्शन की मौलिक एवं असाधारण देन है, उसमें अनेकान्तवाद का सिद्धान्त सर्वोपरि है। अनेकान्तवाद जैन दर्शन की एक विलक्षण सूझ है, जो वास्तविक सत्य का साक्षात्कार करने में सहायक है। यह जैन दर्शन की चिंतन धारा का मूल स्रोत है, जैन दर्शन का हृदय है। जैन वाङ्मय का एक भी वाक्य ऐसा नहीं, जिसमें अनेकान्तवाद का प्राण तत्त्व न रहा हो। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने अपने सन्मति प्रकरण ग्रन्थ में अनेकान्तवाद को नमस्कार करते हुए उसे त्रिभुवन का, अखिल ब्रह्माण्ड का गुरु कहा है। अनेकान्त के बिना संसार का कोई भी व्यवहार कभी ठीक रूप से सिद्ध नहीं हो सकता है।[64]

सांख्य दर्शन का पूर्ण विकास प्रकृति और पुरुषवाद में हुआ है। वेदान्त दर्शन का उत्कृष्ट विकास चिद् अद्वैत में हुआ है। बौद्ध दर्शन का महान् विकास विज्ञानवाद में हुआ है। वैसे ही जैन दर्शन का चरम विकास अनेकान्तवाद एवं स्यादवाद में हुआ है। अनेकान्त का प्रतिपादक वाद स्याद्वाद कहलाता है।

स्याद्वाद पद में दो शब्द हैं - स्यात् और वाद। 'स्यात्' शब्द तिङन्त पद जैसा प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में यह एक अव्यय है, जो 'कथंचित, किसी अपेक्षा से, अमुक दृष्टि से' इस अर्थ का द्योतक है।[65] वाद शब्द का अर्थ सिद्धान्त, मत या प्रतिपादन करना होता है।

इस प्रकार स्यादवाद पद का अर्थ हुआ सापेक्ष-सिद्धान्त, अपेक्षावाद, कथंचित्वाद या वह सिद्धान्त जो विविध दृष्टि बिन्दुओं से वस्तुतत्त्व का निरीक्षण-परीक्षण करता है।

यह सर्वविदित सत्य है, कि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, उसके असंख्य पहलू हैं। ऐसी परिस्थिति में किसी एक शब्द द्वारा किसी एक धर्म के कथन से वस्तु का समग्र स्वरूप प्रतिपादित नहीं होता। तब समग्र स्वरूप के प्रामाणिक प्रतिपादन के लिए एक ही मार्ग है, कि वस्तु के किसी एक धर्म को मुख्य रूप से कहा जाये और शेष धर्मों को गौण रूप में स्वीकार किया जाए। वस्तुतः अनेकान्त दृष्टि विराट् वस्तु तत्त्व को जानने का यही मार्ग अपनाती है, जो विवक्षित धर्म को जानकर भी अन्य धर्मों का निषेध नहीं करती, वरन् उन्हें गौण या अविवक्षित कर देती है। इस प्रकार अनेकान्त द्वारा वस्तु का कोई भी अंश नहीं छूटता है, मुख्य-गौण भाव से वस्तु का संपूर्ण विवेचन हो जाता है।

सामान्यतया अनेकान्तवाद और स्याद्वाद को पर्यायवाची मान लिया जाता है। किंतु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है, कि दोनों में प्रतिपाद्य

प्रतिपादक संबंध है। इस विराट् अनन्त धर्मात्मक वस्तु को स्वयं जानने की पद्धति- अनेकान्त दृष्टि है। इसी ज्ञान को दूसरों को समझाने की शब्द-प्रयोग की प्रणाली स्याद्वाद है। अर्थात् अनेकान्तात्मक वस्तु को भाषा द्वारा प्रतिपादित करने वाला सिद्धांत स्याद्वाद कहलाता है।[166] इस प्रकार स्यादवाद श्रुत है और अनेकान्तवाद वस्तुगत तत्त्व है।

आचार्य समन्त भद्र ने उसे स्पष्ट किया है - 'स्याद्वाद और केवल ज्ञान दोनों ही वस्तुतत्त्व के प्रकाशक हैं। भेद इतना ही है, कि केवलज्ञान वस्तु का साक्षात् ज्ञान कराता है, जबकि स्याद्वाद श्रुत होने से असाक्षात् ज्ञान कराता है।'[167]

पदार्थ में व्याप्त विविध गुण, धर्मों को जानना उतना कठिन नहीं है, जितना कि शब्दों के द्वारा उनका कथन करना, क्योंकि एक ज्ञान अनेक धर्मों को एक साथ जान तो सकता है, किन्तु एक शब्द एक समय में उन सभी धर्मों का कथन नहीं कर सकता है। वह एक समय में वस्तु के किसी एक ही धर्म का आंशिक कथन करेगा। इस प्रकार जिस धर्म की वचन प्रयोग के समय विवक्षा होती है, वह धर्म मुख्य और दूसरे धर्म गौण कहलाते हैं। वक्ता के वचन व्यवहार के दृष्टिकोणों को समझने में श्रोता को कोई विपर्यास न हो, यही स्याद्वाद का आशय है। अर्थात् स्याद्वाद भाषा की ऐसी शैली है, जो वस्तु के स्वरूप को निर्दोष रूप से विवेचित करती है।

स्व तथा पर के विचारों, मन्तव्यों, वचनों तथा कार्यों में तन्मूलक विभिन्न अपेक्षाओं या दृष्टिकोणों का ध्यान रखते हुए वस्तु का अपेक्षा विशेष से कथन करने की पद्धति स्याद्वाद है। आचार्य हेमचन्द्र ने इसे बहुत अच्छी तरह समझाया है।[168]

स्यादवाद दृष्टि विविध अपेक्षाओं से एक ही वस्तु में नित्यता, अनित्यता, सदृशता, विसदृशता, वाच्यता, अवाच्यता, सत्ता, असत्ता आदि परस्पर विरुद्ध से प्रतीत होने वाले धर्मों का अविरोध प्रतिपादन करके उनका सुन्दर एवं बुद्धि संगत समन्वय प्रस्तुत करती है।

स्याद्वाद विशिष्ट भाषा पद्धति : स्याद्वाद सुनय का निरूपण करने वाली विशिष्ट भाषा पद्धति है। 'स्यात्' शब्द यह निश्चित रूप से बताता है, कि 'वस्तु केवल इसी धर्म वाली ही नहीं है, उसमें इसके अतिरिक्त भी अनेक धर्म समान है।' वस्तु के अविवक्षित गुणधर्मों के अस्तित्व की रक्षा 'स्यात्' शब्द करता है। 'रुपवान घटः' में स्यात् शब्द 'रुपवान' के साथ नहीं जुटता, क्योंकि रूप के अस्तीत्व की सूचना तो 'रुपवान' शब्द स्वयं ही दे रहा है, किन्तु अन्य अविवक्षित शेष धर्मों के साथ उसका अन्वय है। वह 'रुपवान' को पूरे घड़े पर अधिकार जमाने से रोकता है और साफ कह देता है, कि घड़ा बहुत बड़ा है, इसमें अनन्त धर्म है। रूप भी उसमें से एक है। यद्यपि रूप की विवक्षा होने से अभी रूप हमारी दृष्टि में मुख्य है और वही शब्द के द्वारा वाच्य बन रहा है। लेकिन रस की विवक्षा होने पर वह गौण स्थान पर

आ जायेगा और रस प्रधान बन जाएगा। इस प्रकार समस्त शब्द गौण मुख्य भाव से अनेकान्त अर्थ के प्रतिपादक हैं। इसी सत्य का उद्‌घाटन 'स्यात्' शब्द सदैव करता रहता है।

'स्यात्' एक सजग प्रहरी है, जो उच्चरित धर्म को इधर-उधर नहीं जाने देता। वह अविवक्षित धर्मों के अधिकार का संरक्षक है। इसलिए जो लोग स्यात् का रुपवान के साथ अन्वय करके और उसका शायद, संभवतः अथवा कदाचित अर्थ करके घड़े में रुप की स्थिति को भी संदिग्ध बनाना चाहते हैं, वे वस्तुतः प्रमाद भ्रम में हैं। इसी प्रकार 'स्यादस्ति घटः' वाक्य में 'अस्ति' यह अस्तित्व अंश घट में सुनिश्चित रूप से विद्यमान है। 'स्यात्' शब्द उस अस्तित्व की स्थिति कमजोर नहीं बनाता। वरन् उसकी वास्तविक आंशिक स्थिति की सूचना देकर अन्य नास्ति आदि धर्मों के गौण सद्‌भाव का प्रतिनिधित्व करता है। उसे डर है, कि कहीं अस्ति नाम का धर्म, जिसे शब्द से उच्चारित होने के कारण प्रमुखता मिली है, पूरी वस्तु पर ही अधिकार न कर ले, अन्य नास्ति आदि धर्मों का स्थान समाप्त ही न कर दे। इस भय का कारण है, कि प्राचीन काल से 'नित्य ही है' 'अनित्य ही है' आदि आधिकारिक प्रकृति के अंशवाक्यों ने वस्तु पर पूर्ण अधिकार जमाकर अनधिकार चेष्टा की है और जगत में अनेक प्रकार से वितण्डा और संघर्ष उत्पन्न किये हैं। इसके फलस्वरूप पदार्थ के साथ तो अन्याय हुआ ही है। साथ ही इस वाद-प्रतिवाद ने अनेक कुमतवादों की सृष्टि करके अहंकार, हिंसा, संघर्ष, अनुदारता, असहिष्णुता आदि से विश्व को अशान्त और संघर्षपूर्ण हिंसा ज्वाला में पटक दिया है। 'स्यात्' शब्द वाक्य के उस जहर को निकाल देता है, जिससे अहंकार का सृजन होता है।

'स्यात्' शब्द एक ओर एक निश्चित अपेक्षा से जहाँ अस्तित्व धर्म की स्थिति सुदृढ़ और सहेतुक बनाता है, वहाँ वह उसकी उस सर्वहारा प्रवृत्ति को भी नष्ट करता है, जिससे वह किसी वस्तु का संपूर्ण स्वरूप बनने का दावा करे। 'स्यात्' शब्द एक ऐसी अंजन शलाका है, जो दृष्टाओं की दृष्टि को विकृत नहीं होने देती, वह उसे पूर्णदर्शी तथा निर्मल बनाती है। इस अविवक्षित संरक्षक, दृष्टिविषापहारी, सचेतक प्रहरी, अहिंसा और सत्य के प्रतीक, जीवन्त न्यायरूप, शब्द को सुधामय करने वाले तथा सुनिश्चित अपेक्षाद्योतक 'स्यात्' शब्द के स्वरूप के साथ हमारे दार्शनिकों ने न्याय तो किया ही नहीं, किन्तु उसके स्वरूप का 'शायद, सम्भव और कदाचित्' जैसे भ्रष्ट पर्यायों से विकृत करने का अशोभन प्रयास किया है और आज तक किया जा रहा है।

विरोध-परिहार : सर्वाधिक थोथा तर्क तो यह दिया जाता है, कि घड़ा जब अस्ति है, तो नास्ति कैसे हो सकता है? यह तो प्रत्यक्ष विरोध है। लेकिन थोड़ा सा गहराई से सोचने पर स्पष्ट हो जाता है, कि घड़ा केवल घड़ा ही तो है, कपड़ा तो नहीं, टेबल तो नहीं। तात्पर्य यह है, कि वह घट से भिन्न अनन्त पदार्थों रूप नहीं है।

तो यह कथन गलत कैसे हो सकता है, कि घड़ा अपने स्वरूप से अस्ति है तथा स्वभिन्न पररूपों से नास्ति है। इस प्रकार घड़े में अनन्त पर रूप की अपेक्षा से नास्तित्व है, अन्यथा दुनिया में कोई शक्ति ऐसी नहीं जो घड़े को कपड़ा बनने से रोक सकती। यह नास्तित्व धर्म ही घड़े को घड़े के रूप में कायम रखता है। इसी नास्ति धर्म की सूचना 'अस्ति' के प्रयोग काल में 'स्यात' शब्द देता है। इसी प्रकार 'घड़ा समग्र भाव से एक होकर भी अपने रूप रस, गन्ध, स्पर्श, छोटा, बड़ा, हलका, भारी आदि अनन्त गुण और धर्मों की दृष्टि से अनेक रूपों में दिखाई देता है या नहीं?' यदि अनेक रूप में दिखाई देता है, तो यह कथन गलत कैसे हो सकता है, कि घड़ा द्रव्य रूप से एक होकर भी अपने गुण धर्म और शक्ति आदि की दृष्टि से अनेक है।

इस प्रकार जब प्रत्यक्ष से वस्तु में अनेक विरोधी धर्मों का स्पष्ट प्रतिभास होता है। वस्तु स्वयं अनन्त विरोधी धर्मों का अविरोधी क्रीड़ा स्थल है। तब मनुष्य को अपनी दृष्टि और बुद्धि की सीमाओं को स्वीकार करते हुए, वस्तु के स्वरूप को विकृत रूप में देखने तथा संशय और विरोध उत्पन्न करने की धृष्टता नहीं करनी चाहिये। इसके लिए उस महान् 'स्यात्' शब्द को, जो वस्तु के इस पूर्ण रूप की झाँकी सापेक्ष भाव से बताता है, उसे स्वीकार कर लेना चाहिये। यही एक साधन है, जो जीव की दृष्टि को निर्मल और विशाल बनाकर अनन्त धर्मात्मक विश्व को समझाने में सक्षम है।

एकान्तवाद की स्थिति : किसी भी वस्तु के किसी एक ही पक्ष से उसके स्वरूप के विषय में निर्णय करना एकान्तवाद है। अन्य दर्शनकारों ने अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक-एक धर्म को पकड़कर उसे ही समग्र वस्तु मान लेने की भूल की है। जैसे बौद्ध दर्शन वस्तु की क्षणिक पर्याय को ही समग्र वस्तु मान लेता है और वस्तु के द्रव्यात्मक नित्य पक्ष को सर्वथा अस्वीकार करता है। वेदान्त एवं सांख्य दर्शन वस्तु को सर्वथा नित्य-कूटस्थ मानकर उसकी क्षणिक पर्यायों का सर्वथा निषेध करते हैं। न्याय-वैशेषिक दर्शन यद्यपि वस्तु में नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों को मानते हैं, तथापि वे किसी वस्तु को सर्वथा नित्य तथा किसी वस्तु को सर्वथा अनित्य मानते हैं। साथ ही वे पदार्थ के नित्यत्व और अनित्यत्व को पदार्थ से भिन्न मानते हैं। जबकि वह वस्तु का तादात्म्य स्वरूप है। ये दर्शनकार परस्पर विरोधी एवं एकांगी मत लेकर परस्पर विवाद करते हैं। उनका यह विवाद अन्धगज न्याय की भाँति है।

सात अन्धे व्यक्तियों ने हाथी के पैर, पूँछ, सूँड, पेट आदि एक-एक अवयव को पकड़कर उसके अनुसार ही हाथी का अलग-अलग रूप से प्रतिपादन किया है। एक कहने लगा हाथी मूसल जैसा है, कोई कहने लगा हाथी खंभे जैसा है, कोई कहने लगा रस्सी जैसा है, कोई कहने लगा ढ़ोल जैसा है। कोई भी दूसरे की बात को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हुआ। सब अपनी-अपनी बात पर अड़े रहे-झगड़ते

रहे और अपने आपको ही सही मानते रहे। एक नेत्र वाले व्यक्ति ने उन सबकी बातें सुनी और बोला भाइयों आप सबने हाथी के एक-एक अवयव को पकड़कर वैसा ही हाथी समझ लिया है। अर्थात् आप सबका ज्ञान आंशिक सत्य है। वास्तव में हाथी का सही स्वरूप तब बनता है, जबकि आप सबकी बातों को जोड़ दिया जाए और आप सब एक दूसरे की बात से सहमत हों। एक-एक अवयव अलग-अलग रहकर शरीर नहीं कहा जा सकता। पूरे अवयव संयुक्त रहकर ही शरीर की संज्ञा पाते हैं। वैसे ही आप सब लोगों का संयुक्त कथन ही हाथी का सही रूप है। पृथक्-पृथक् रूप से सभी कथन मिथ्या हैं। अलग-अलग अंश वस्तु का समग्र स्वरूप नहीं है, अपितु अंशों का समन्वित स्वरूप ही वस्तु है। यह समन्वित दृष्टि ही अनेकान्त अथवा स्याद्वाद है। इस दृष्टि से देखने पर खण्डित और एकांगी वस्तु के स्थान पर हमें सर्वांगीण परिपूर्ण वस्तु दृष्टिगोचर होने लगती है। अनेकान्त दृष्टि विरोध का शमन करने वाली है, इसी कारण वह पूर्ण सत्य तक ले जाती है।

अनेकान्तवाद की इस विशिष्टता को हृदयंगम करके ही जैन दार्शनिकों ने उसे अपने विचार का मूलाधार बनाया है। जैनाचार्यों ने अपनी समन्वयात्मक उदार भावना का परिचय देते हुए कहा है – एकान्त वस्तुगत धर्म नहीं, वरन् बुद्धिगत कल्पना है। जब बुद्धि शुद्ध होती है, तो एकान्त का नाम-निशान नहीं रहता। दार्शनिकों की भी समस्त दृष्टियाँ अनेकान्त दृष्टि में उसी प्रकार विलीन हो जाती है, जैसे विभिन्न दिशाओं से आने वाली सरिताएँ सागर में एकाकार हो जाती हैं।[169]

प्रसिद्ध विद्वान् उपाध्याय यशोविजयजी के शब्दों में कहा जा सकता है – 'सच्चा अनेकान्तवादी किसी भी दर्शन से द्वेष नहीं कर सकता। वह एकनयात्मक दर्शनों को इस प्रकार वात्सल्य की दृष्टि से देखता है, जैसे कोई पिता अपने पुत्रों को देखता है। अनेकान्तवादी न किसी को न्यून और न किसी को अधिक समझता है-उसका सबके प्रति समभाव होता है। वास्तव में सच्चा शास्त्रज्ञ कहलाने का अधिकारी वही है, जो अनेकान्तवाद का अवलम्बन लेकर समस्त दर्शनों पर समभाव रखता हो। मध्यस्थभाव रहने पर शास्त्र के एक पद का ज्ञान भी सफल है, अन्यथा कोटि-कोटि शास्त्रों को पढ़ लेने पर भी कोई लाभ नहीं।'[170]

अतएव एकान्त के गन्दले पोखर से दूर रहकर अनेकान्त के शीतल स्वच्छ सरोवर में अवगाहन करना ही उचित है। स्याद्वाद का उदार दृष्टिकोण अपनाने से समस्त दर्शनों का सहज ही समन्वय साधा जा सकता है।

अन्य दर्शनों पर अनेकान्त का प्रभाव : अनेकान्तवाद सत्य का पर्यायवाची दर्शन है। यद्यपि कतिपय भारतीय दार्शनिकों ने अपनी एकान्त विचारधारा का समर्थन करते हुए अनेकान्तवाद का विरोध भी किया है। फिर भी यह निःसन्देह कहा जा सकता है, कि सभी भारतीय दर्शनों पर उसकी छाप न्यूनाधिक रूप में अंकित हुई है।

वास्तव में यह इतना तर्कयुक्त और बुद्धि संगत सिद्धान्त है, कि इसकी सर्वथा उपेक्षा संभव ही नहीं है। सैद्धान्तिक रूप में इसे स्वीकार न करने वाले भी व्यवहार में इससे अछूते नहीं रह सके।

सर्वप्रथम तो ऋग्वेद के नासादीय सूक्त में स्याद्वाद आभासित होता है। उक्त सूक्त के ऋषि के समक्ष दो मत थे। कोई जगत के आदि कारण को सत् कहते थे, तो दूसरे असत्। इस प्रकार ऋषि के सामने जब समन्वय की सामग्री उपस्थित हुई तो उन्होंने कह दिया वह सत् भी नहीं असत् भी नहीं। उनका यह निषेध-मुख उत्तर भी एक पक्ष में परिणत हो गया। इस प्रकार सत्, असत् और अनुभय ये तीन पक्ष तो ऋग्वेद जितने प्राचीन सिद्ध होते हैं।

उपनिषदों में आत्मा या ब्रह्म को ही परम तत्व मान करके आन्तर-बाह्य सभी वस्तुओं को उसी का प्रपंच मानने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। अर्थात् अनेक विरोधों की भूमि ब्रह्म या आत्मा ही बनी। फलस्परुप आत्मा, ब्रह्म, अथवा ब्रह्मरुप विश्व को ऋषियों ने अनेक विरोधी धर्मों से अलंकृत किया। किन्तु जब उन विरोधों के तार्किक समन्वय में भी उन्हें पूर्ण संतोष न हुआ, तब उसे वचनागोचर, अवक्तव्य, अव्यदेश्य बताकर अनुभवअगम्य कह दिया। ''अणोरणीयान् महतोमहीयान् '' (कठो॰ 1.2.20. श्वेता॰ 3.20) ''संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।'' अनीशश्चात्मा (श्वेता॰ 1.8) सदसद्वरेण्यम् (मुण्डको॰ 2.2.1) इत्यादि उपनिषदवाक्यों में दो विरोधी धर्मों का स्वीकार किसी एक ही धर्मी में अपेक्षा भेद से किया गया है, यह स्पष्ट हो जाता है।

इसी प्रकार ईशावास्योपनिषद में आत्मा के सम्बन्ध में कहा गया है- तदे जति तन्नै जति तद् दूरे, तदन्तिके तदन्तरस्य सर्वस्य तद् सर्वस्यास्य बाह्यः ।[27] अर्थात् आत्मा चलती भी है और नहीं भी चलती है, दूर भी है और समीप भी है, वह सबके अन्तर्गत भी है, बाहर भी है।

ये उद्‌गार स्याद्‌वाद से ही प्रभावित हैं। शंकराचार्य एवं रामानुजाचार्य भले ही एक वस्तु में अनेक धर्मों का अस्तीत्व असम्भव कहकर स्याद्वाद का विरोध करते हैं, किन्तु जब वे अपने मन्तव्य का निरुपण करते हैं, तो उन्हें भी अनन्यगत्या स्याद्वाद का आधार लेना ही पड़ता है। ब्रह्म के पर और साथ ही अपर रुप की कल्पना में अनेकान्त का प्रभाव स्पष्ट है। उन्होंने सत्य की परमार्थ सत्य, व्यवहार सत्य और प्रतिभास सत्य के रुप में जो व्याख्या की है, उससे अनेकान्त की ही पुष्टि होती है। वे कहते हैं- दृष्टं किमपि लोकेऽस्मिन न निर्दोषं न निर्गुणम्। अर्थात इस लोक में दिखाई देने वाली कोई भी वस्तु न निर्दोष है और न निर्गुण है। तात्पर्य यह है, कि प्रत्येक वस्तु में किसी अपेक्षा से दोष है, तो किसी अपेक्षा से गुण भी हैं। यह अपेक्षावाद अनेकान्तवाद का रुप नहीं तो क्या है?

स्वामी दयानन्द सरस्वती से पूछा गया- आप विद्वान हैं या अविद्वान? स्वामी जी ने कहा- 'दार्शनिक क्षेत्र में विद्वान और व्यापारिक क्षेत्र में अविद्वान।' यह अनेकान्तवाद नहीं, तो क्या है?

बुद्ध का विभज्यवाद भी तो एक प्रकार का अनेकान्त ही है। उनका मध्यम मार्ग भी अनेकान्त से प्रतिफलित वाद ही है।

सांख्य एक ही प्रकृति को सतोगुण, तमोगुण तथा रजोगुणमयी मानकर अनेकान्त को ही अंगीकार करते हैं।

पाश्चात्य दार्शनिक प्लेटो आदि ने समस्त विश्ववर्ती पदार्थों को सत् और असत् इन दो में समाविष्ट करके समन्वय की महत्ता बतलाते हुए जगत की विविधता सिद्ध की है।

आइन्स्टीन का सापेक्ष सिद्धान्त स्याद्वाद की विचारधारा का अनुसरण करता है।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है, कि अनेकान्तवाद एक ऐसा व्यापक दृष्टिकोण है, कि दार्शनिक जगत में उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। किसी न किसी रुप में प्रत्येक दर्शन को उसका आश्रय लेना ही पड़ता है।

एकान्तवाद बनाम अनेकान्तवाद : अन्यान्य एकांतिक विचार और उनके लिए रुढ़ कदाग्रह, दुराग्रह आदि विभिन्न दार्शनिकों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों से प्रस्तुत किए हैं। वे अपने दृष्टिकोणों को अपनी-अपनी समर्थ युक्तियों, प्रमाणों द्वारा स्पष्ट भी करते हैं। किंतु दूसरे के दृष्टिकोणों को समझने और उनका समन्वय करने का प्रयास नहीं कर पाते हैं। लेकिन स्याद्वाद इन एकान्तिक दृष्टिकोणों को समझने का प्रयत्न कराने के साथ-साथ समन्वय का मार्ग भी दर्शाता है। स्याद्वाद ने अपनी 'सप्तभंगात्मक' कथन प्रणाली के माध्यम से एक ऐसी अभिनव विचार एवं वाग् व्यवहार की शैली व्यक्त की है, कि प्रामाणिकता का स्तर भी निर्धारित हो जाता है।

'वस्तु अनेकान्त रुप है' यह बात थोड़ा गम्भीर विचार करते ही अनुभव में आ जाती है, और यह भी प्रतिभासित होने लगता है, कि हमारे क्षुद्रज्ञान ने वस्तु के विराट् स्वरूप के साथ खिलवाड़ किया है। पदार्थ भावरुप भी और अभावरुप भी है। यदि सर्वथा भावरुप माना जाए तो प्राग्भाव प्रध्वंसाभाव, अन्योन्या भाव और अत्यन्ताभाव इन चार अभावों का लोप हो जाने से पर्यायें भी अनादि, अनन्त और सर्वसंकर रुप हो जायेंगी। तथा एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रुप होकर प्रतिनियत द्रव्य व्यवस्था को ही समाप्त कर देगा। प्राग्भाव न मानने पर वस्तु अनादि, प्रध्वंसाभाव न मानने पर अनन्त, अन्योन्या भाव न मानने पर सर्वात्मक और अत्यन्ताभाव को स्वीकार न करने पर स्वरुपहीन हो जाएगी। अतः ये अभाव सर्वथा भावात्मक वस्तु में न होकर वस्तु को कथंचित् भाषा भावात्मक मानने पर ही सिद्ध हो सकते हैं। वस्तु में इनकी सिद्धि इस

प्रकार हो सकती है-

1. प्राग्भाव : कोई भी कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व 'असत्' होता है। वह अपने योग्य कारणों से उत्पन्न होता है। कार्य का उत्पत्ति के पहले न होना ही प्राग्भाव कहलाता है। यह अभाव भावान्तर रुप पर्याय से पर्यायान्तर रुप होता है। यह तो निश्चित ही है, किसी प्रकार द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती है। द्रव्य तो अनादि, अनन्त है। उनकी संख्या न कम होती है और न अधिक। उत्पाद द्रव्य का न होकर पर्याय का होता है। द्रव्य अपने द्रव्य रुप से कारण होता है और पर्याय रुप से कार्य। जो पर्याय उत्पन्न होने जा रहा है, वह उत्पत्ति के पहले पर्याय रूप में तो नहीं है, अतः उसका जो यह अभाव है वही प्राग्भाव है। यह प्राग्भाव पूर्ण पर्याय रूप में होता है, अतः घड़ा पर्याय जब तक उत्पन्न नहीं हुआ, तब तक वह असत् है, और जिस मिट्टी द्रव्य से वह उत्पन्न होने वाली है, उस द्रव्य की घट से पहले की पर्याय घट का प्राग्भाव कही जाती है। यानि वही पर्याय नष्ट होकर घट बनती है। अतः वह पर्याय घट का प्राग्भाव है। इस प्रकार पूर्व पर्याय ही उत्तर पर्याय का प्राग्भाव है। सन्तान परम्परा से यह प्राग्भाव अनादि भी कहा जा सकता है। जैसे पूर्व पर्याय का प्राग्भाव तत्पूर्व पर्याय है तथा तत्पूर्व पर्याय का प्राग्भाव उससे भी पूर्व की पर्याय होगा। इस प्रकार संततिक्रम की दृष्टि से यह अनादि होता है।

प्राग्भाव कार्य-पर्याय का माना जाता है। यदि कार्य पर्याय का प्राग्भाव न माना जाये तो कार्य पर्याय (वर्तमान पर्याय) मानना अनादि हो जाएगा और द्रव्य में त्रिकालवर्ती सभी पर्यायों का एक काल में प्रकट सद्भाव मानना होगा, जो सर्वथा अनुभव-विरुद्ध है।

2. प्रध्वंसाभाव : द्रव्य का विनाश नहीं होता है, वरन् पर्याय का होता है। अतः कारण पर्याय का नाश कार्य पर्यायरुप में होता है। कारण नष्ट होकर कार्य बनता है। कोई भी विनाश सर्वथा भाव रुप न होकर उत्तर पर्याय रूप होता है। जैसे घट पर्याय नष्ट होकर कपाल-पर्याय रुप बनती है, अतः घट का विनाश कपाल रुप ही फलित होता है। इसका अर्थ यह हुआ, कि पूर्व पर्याय का विनाश उत्तर पर्याय की उत्पत्ति रूप होता है। यदि प्रध्वंसाभाव न माना जाए तो सभी पर्यायें अनन्त हो जाएगी, यानी वर्तमान क्षण में अनादि काल से अब तक हुई सभी पर्यायों का सद्भाव अनुभव में आना चाहिए, जो कि असंभव है। वर्तमान में तो एक ही पर्याय अनुभव में आती है।

यह शंका भी निर्मूल है, कि 'घट' का विनाश यदि कपाल रुप है, तो कपाल का विनाश होने पर यानी घड़े के विनाश का नाश होने पर फिर से घड़े की उत्पत्ति हो जानी चाहिए। क्योंकि विनाश का विनाश तो सद्भाव रुप होता है। इसका हेतु यह है, कि कारण का उपमर्दन करके तो कार्य उत्पन्न होता है, परन्तु कार्य का उपमर्दन होने पर उपादेय की उत्पत्ति ही सर्वजन सिद्ध है।

प्राग्भाव व प्रध्वंसाभाव में अंतर : प्राग्भाव और प्रध्वंसाभाव में उपादान-उपादेय भाव है। अर्थात् प्राग्भाव पूर्व पर्याय है और प्रध्वंसाभाव उत्तरपर्याय। प्राग्भाव का नाश करके प्रध्वंस उत्पन्न होता है, पर प्रध्वंस का नाश करके प्राग्भाव पुनरुज्जीवित नहीं हो सकता। जो नष्ट हुआ, वह नष्ट हुआ। नाश अनन्त है। जो पर्याय गयी वह अनन्तकाल के लिए गई, फिर वह वापस नहीं आ सकती है। 'यदतीतमतीतमेव तत्' यह ध्रुव नियम है। यदि प्रध्वंसाभाव नहीं माना जाता है, तो कोई भी पर्याय नष्ट नहीं होगी, सभी पर्यायें अनन्त हो जाएगी, अतः प्रध्वंसाभाव प्रतिनियत पदार्थ-व्यवस्था के लिए नितान्त आवश्यक है।

3. **इतरेतराभाव (अन्योन्याभाव)** : एक पर्याय का दूसरी पर्याय में जो अभाव है, वह इतरेतराभाव है। इसे अन्योन्याभाव भी कहते हैं। स्वभावान्तर से स्वभाव की व्यावृत्ति को अन्योन्याभाव कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ के अपने-अपने स्वभाव निश्चित हैं। एक स्वभाव दूसरे स्वभाव रूप नहीं होता। यह तो स्वभावों की प्रतिनियतता है, वही अन्योन्याभाव है। इसमें एक द्रव्य की पर्यायों का परस्पर में जो अभाव है, वही अन्योन्याभाव फलित होता है। जैसे घट का पट में और पट का घट में वर्तमान कालिक अभाव। कालान्तर में घट के परमाणु मिट्टी, कपास और तन्तु बनकर पट पर्याय को धारण कर सकते हैं। पर वर्तमान में तो घट पट नहीं हो सकता है। यह जो वर्तमान कालीन परस्पर व्यावृत्ति है, यही अन्योन्या भाव है।

प्राग्भाव और प्रध्वंसाभाव से अन्योन्याभाव का कार्य नहीं चलाया जा सकता है, क्योंकि जिसके अभाव में नियम से कार्य की उत्पत्ति हो, वह प्राग्भाव और जिसके होने पर नियम से कारण का नाश होता है, वह प्रध्वंसाभाव कहलाता है। लेकिन अन्योन्याभाव के अभाव या भाव से कार्योत्पत्ति या विनाश का कोई सम्बन्ध नहीं है। वह तो वर्तमान पर्यायों के प्रतिनियत स्वरूप की व्यवस्था करता है, कि वे एक दूसरे रूप नहीं है। यदि यह अन्योन्याभाव नहीं माना जाता तो कोई भी प्रतिनियत पर्याय सर्वात्मक हो जाएगी, यानी सब सर्वात्मक हो जाएँगे।

प्राग्भाव, प्रध्वंसाभाव तथा अन्योन्याभाव इन तीनों अभावों का निर्माण एक द्रव्यगत पर्यायों के आधार पर होता है अर्थात् ये अभाव एक द्रव्य की वर्तमान कालीन पर्यायों के आधार पर घटित होता है। जबकि अत्यन्ताभाव दो द्रव्यों के बीच घटित होता है।

4. **अत्यन्ताभाव** : एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में जो त्रैकालिक अभाव है, उसे अत्यन्ताभाव कहते हैं। जैसे ज्ञान का आत्मा में समवाय है, उसका समवाय कभी भी पुद्गल में नहीं हो सकता यह अत्यन्ताभाव कहलाता है। अन्योन्याभाव वर्तमानकालीन होता है और एक स्वभाव को दूसरे स्वभाव से आवृत्त करना ही उसका लक्ष्य होता है। लेकिन अत्यन्ताभाव न माना जाए तो किसी भी द्रव्य का कोई असाधारण स्वरूप नहीं

रह जाएगा। सभी द्रव्य सर्वरूप हो जाएंगे अर्थात् एकरूप हो जाएंगे। अत्यंताभाव के कारण ही एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप नहीं हो पाता है। द्रव्य चाहे सजातीय है या विजातीय उनका अपना-अपना अखण्ड स्वरूप होता है। एक द्रव्य दूसरे में कभी भी ऐसा विलीन नहीं होता, जिससे उसकी सत्ता ही समाप्त हो जाए।

इस प्रकार ये प्रागभाव आदि चार अभाव भी अन्य धर्मों की भाँति ही वस्तुगत अन्य धर्म हैं। अतः प्रकारान्तर से वस्तु के गुण होने से ये भाव रूप ही हैं। इनका लोप होने पर अर्थात् पदार्थों को सर्वथा भावात्मक मानने पर वस्तु में उपर्युक्त दोष आ जाते हैं। अतः वस्तु भावरूप भी है तथा अभावरूप भी। वस्तु को भावात्मक मानने पर ही इन अभावों का यथार्थ आशय फलित होता है। अतः वस्तु भावाभावात्मक है।

अभाव वस्तु का एक अंश है। लेकिन एकान्त वादी दृष्टिकोण से यदि वस्तु को सर्वथा अभावात्मक ही माना जाए तो सर्वथा शून्य होगा। तब अभाव के साधक ज्ञान और वचन रूप प्रमाण का भी अभाव होने से 'अभावात्मक तत्त्व' की स्वयं कैसे प्रतीति होगी? तथा पर को कैसे समझाया जाएगा? स्वप्रतिपत्ति का साधन है, बोध तथा पर प्रतिपत्ति का उपाय है, वचन। इन दोनों के अभाव में स्वपक्ष का साधन और पर पक्ष का दूषण कैसे हो सकेगा? अतएव सर्वथा अभाव मानना तो एकान्तवादियों के लिए भी संभव नहीं है और अवाच्यैकान्त तो अवाच्य होने से ही अयुक्त है।

इस प्रकार विचार करने पर लोक का प्रत्येक पदार्थ भावात्मक प्रतीत होता है। प्रत्येक वस्तु कथंचित स्वद्रव्य क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से अस्तीत्व-भाव रूप है और कथंचित् पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से अभावरूप है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में अपेक्षा भेद से विधि-निषेध दोनों धर्म विद्यमान हैं। अतः स्वरूप की अपेक्षा से भाववादी का कथन, कि वस्तु भावात्मक है, सत्य है और पर रूप की अपेक्षा से अभाववादी का कथन, कि वस्तु अभावात्मक है-सत्य होगा। किंतु यह आवश्यक है, कि दोनों अपना-अपना एकान्ताग्रह छोड़कर परस्पर एक दूसरे का दृष्टिकोण समझें और स्वीकार करें तभी पूर्ण सत्य बनता है।

इस प्रकार स्वरूपमय होना ही पदार्थ मात्र की अनेकान्तात्मकता को सिद्ध कर देता है। यहाँ तक तो पदार्थ की सामान्य स्थिति का विवेचन हुआ। अब प्रत्येक द्रव्य की दृष्टि से देखें, तो पदार्थ में सत्-असत्, नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष, एक-अनेक, भेद-अभेद आदि अनन्त गुण हैं। इनके आधार पर पृथक्-पृथक् रूप से पदार्थ के स्याद्वाद रूप का परीक्षण करेंगे।

1. **सदसदात्मक तत्त्व** : प्रत्येक द्रव्य का अपना असाधारण स्वरूप होता है। किसी भी द्रव्य को नितान्त सत् अथवा नितान्त असत् नहीं कहा जा सकता। स्याद्वाद दृष्टि के अनुसार प्रत्येक पदार्थ सदसदात्मक है।

'द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये चारों चतुष्टय कहलाते हैं। प्रत्येक वस्तु

स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्तित्ववान है और परचतुष्टय की अपेक्षा नास्तिरूप है।[172] जैसे घट स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव से सत् है, अस्तित्ववान है, किन्तु वह उसमें पट रूप परद्रव्य-क्षेत्र काल-भाव से असत् है अर्थात् उसमें पट का नास्तिरूप धर्म है। यदि ऐसा न माना जाए तो एक ही वस्तु विश्वरूप हो जाएगी। जिस वस्तु में जिस धर्म का अभाव नहीं होता वह वस्तु तद्रूप होती है। यदि घट में पट का अभाव न माना जाए तो घट पट रूप हो जाएगा। यदि स्वरूप चतुष्टय की भाँति पररूप चतुष्टय से भी सत मान लिया जाए तो स्व पर में भेद न रहकर सबको सर्वात्मकता प्राप्त हो जाएगी। इसी प्रकार यदि पर रूप के समान स्वरूप से भी वह असत् हो तो अभावात्मकता का प्रसंग प्राप्त होता है। अतः प्रत्येक वस्तु में अस्तित्व और नास्तित्व सहज ही घटित होते है।

जो लोग अस्तित्व और नास्तित्व को विरोधी धर्म मानकर एक ही वस्तु में दोनों का समन्वय असंभव मानते हैं, वे यह भूल जाते हैं, कि एक ही अपेक्षा से अस्तित्व और नास्तित्व का विधान किया जाए, तभी उनमें विरोध होता है। विभिन्न अपेक्षाओं से विधान करने में कोई विरोध नहीं होता। किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में यह कहना, कि यह भारतीय है,पाश्चात्य नहीं है, विद्वान है, मूर्ख नहीं है। यह अस्ति-नास्ति सूचक होते हुए भी परस्पर विरुद्ध नहीं है। यह विधान न केवल तर्क संगत है, अपितु व्यवहार संगत भी है। हम प्रतिदिन इसी प्रकार का व्यवहार करते हैं। इसके बिना किसी वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान नहीं हो सकता। 'यह पुस्तक है' ऐसा निश्चय तो तभी संभव है जब हम यह जान लें, कि यह पुस्तक के अतिरिक्त कुछ नहीं है। अतः लोक व्यवस्था के लिए प्रत्येक पदार्थ को स्वरूप से सत् और पररूप से असत् मानना ही उचित है। संसार का कोई भी पदार्थ इस सदसदात्मक नियम का अपवाद नहीं हो सकता।

2. **नित्यानित्यता** : अनेकान्तवादी दृष्टिकोण से प्रत्येक वस्तु नित्यानित्य है। द्रव्य और पर्याय मिलकर ही वस्तु कहलाते हैं। पर्यायों के अभाव में द्रव्य का और द्रव्य के अभाव में पर्याय का कोई अस्तीत्व संभव नहीं है। चूंकि द्रव्य नित्य और पर्याय अनित्य अथवा परिवर्तनशील होती है। अतः प्रत्येक वस्तु नित्यानित्य है। यहाँ द्रव्य और पर्याय पृथक्-पृथक् दो वस्तुएँ नहीं है। उनमें वस्तुगत कोई भेद नहीं है, केवल विवक्षा भेद है। अनेकान्त दर्शन के अनुसार प्रत्येक सत् पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है अर्थात् पर्याय से उत्पन्न और विनष्ट होता हुआ भी द्रव्य से ध्रुव है। कोई भी वस्तु इसका अपवाद नहीं है।[173]

द्रव्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में परिणामवाद, आरम्भवाद और समूहवाद आदि अनेक विचार हैं। उसके विनाश के सम्बन्ध में भी रूपान्तरवाद, विच्छेदवाद आदि अनेक अभिमत हैं। सांख्य दर्शन परिणामवादी है, वह कार्य को अपने कारण में सत्

मानता है। इनके सत्कार्यवाद के अनुसार जो असत् है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती और जो सत् है, उसका विनाश नहीं होता, अपितु केवल रूपान्तर होता है। उत्पत्ति का तात्पर्य है - सत् की अभिव्यक्ति और विनाश का तात्पर्य है-सत् की अव्यक्ति। न्याय-वैशेषिक दर्शन आरम्भवादी है। वह कार्य को अपने कारण में सत् नहीं मानता। इनके असत्कार्यवाद के अनुसार असत् की उत्पत्ति होती है और सत् का विनाश होता है। इसलिए नैयायिक ईश्वर को कूटस्थ नित्य और दीपक को सर्वथा अनित्य मानते हैं। बौद्धदर्शन के अनुसार स्थूल द्रव्य सूक्ष्म अवयवों का समूह है तथा द्रव्य क्षणविनश्वर है। उनके विचारानुसार कुछ भी स्थिति नहीं है। जो दर्शन एकान्त नित्यवाद को मानते हैं, वे भी जो हमारे प्रत्यक्ष हैं, उस परिवर्तन की अपेक्षा नहीं कर सकते और जो दर्शन एकान्त अनित्यवाद को मानते हैं, वे भी जो हमारे प्रत्यक्ष हैं, उस स्थिति की अपेक्षा नहीं कर सकते। इसीलिए ही नैयायिकों ने दृश्य वस्तुओं को अनित्य मानकर उनके परिवर्तन की विवक्षा की और बौद्धों ने सन्तति मानकर उनके प्रवाह की विवेचना की।

आधुनिक वैज्ञानिक रूपान्तरवाद के सिद्धान्त को एक मत से स्वीकार करते हैं। जैसे एक मोमबत्ती है, जलाने पर कुछ ही क्षणों में उसका पूर्ण नाश हो जाता है। प्रयोगों के द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि मोमबत्ती के नाश होने पर अन्य वस्तुओं की उत्पत्ति होती है।[4]

वैज्ञानिक अनुसंधान के द्वारा यह सिद्ध हो चुका है, कि पुद्गल शक्ति में और शक्ति पुद्गल में परिवर्तित हो सकती है। सापेक्षवाद की दृष्टि से पुद्गल के स्थायित्व के नियम व शक्ति के स्थायित्व के नियम को एक ही नियम में समाविष्ट कर देना चाहिये। उसकी संज्ञा पुद्गल और शक्ति के स्थायित्व का नियम इस प्रकार कर देना चाहिये।

स्यादवाद की दृष्टि से सत् कभी विनष्ट नहीं होता और असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती। ऐसी कोई स्थिति नहीं जिसके साथ उत्पाद और विनाश न रहा हो अर्थात् जिनकी पृष्ठभूमि में स्थिति है, उनका उत्पाद और विनाश अवश्य होता है। सभी द्रव्य उभय-स्वभावी हैं। उनके स्वभाव की विवेचना एक ही प्रकार से नहीं हो सकती। असत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत् का कभी नाश नहीं होता। इस द्रव्य नयात्मक सिद्धान्त से द्रव्यों की ही विवेचना हो सकती है, पर्यायों की नहीं। उनकी विवेचना- असत् की उत्पत्ति और सत् का विनाश होता है - इस पर्यायनयात्मक सिद्धान्त के द्वारा ही की जा सकती है। इन दोनों को एक शब्द में परिणामी नित्यवाद अथवा नित्यानित्यवाद कहा जा सकता है। इसमें स्थायित्व और परिवर्तन की सापेक्ष रूप से विवेचना है।

इस विश्व में ऐसा द्रव्य नहीं है, जो सर्वथा ध्रुव हो और ऐसा भी द्रव्य नहीं है, जो सर्वथा परिवर्तनशील ही हो। यदि द्रव्य को सर्वथा नित्य माना जाता है, तो उसमें

किसी भी प्रकार के परिणमन की संभावना नहीं होने से कोई अर्थक्रिया नहीं हो सकेगी और अर्थक्रियाशून्य होने से पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष, लेन-देन आदि समस्त व्यवस्थाएँ नष्ट हो जाएगी। यदि पदार्थ एक जैसा कूटस्थ नित्य रहता है, तो जग के प्रतिक्षण के परिवर्तन असंभव हो जाएंगे और यदि पदार्थ को सर्वथा विनाशी माना जाता है, तो पूर्व पर्याय का उत्तर पर्याय के साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध न होने के कारण लेन-देन, बन्ध-मोक्ष, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदि व्यवहार उच्छिन्न हो जायेंगे। जो कर्ता है, उसके भोगने का क्रम ही नहीं रहेगा। नित्य पक्ष में कर्तृत्व नहीं बनता,तो अनित्य पक्ष में करने वाला कोई और भोगने वाला कोई और होगा। उपादान-उपादेयभाव मूलक कार्यकारण भाव भी इस पक्ष में नहीं बन सकता। अतः समस्त लोक-परलोक तथा कार्यकारण भाव आदि की सुव्यवस्था के लिए पदार्थों में परिवर्तन के साथ ही साथ उसकी मौलिकता और अनादि अनन्त रूप द्रव्यत्व का आधारभूत ध्रुवत्व भी स्वीकार करना ही चाहिये।

ध्रुवत्व को स्वीकार किए बिना द्रव्य की मौलिकता सुरक्षित नहीं रह सकती। अतः प्रत्येक द्रव्य अपनी अनादि-अनन्त धारा में प्रतिक्षण सदृश, विसदृश, अल्पसदृश, अर्द्धसदृश, आदि अनेक रुप परिणमन करता हुआ भी कभी समाप्त नहीं होता, उसका समूल उच्छेद या विनाश नहीं होता। आत्मा को मोक्ष हो जाने पर भी उसका विनाश नहीं होता वरन् वह अपने शुद्धतम स्वरुप में स्थिर हो जाता है। उस समय उसमें वैभाविक परिणमन नहीं होकर द्रव्यगत उत्पाद-व्यय स्वरुप के कारण स्वभावभूत सदृश परिणमन सदैव होता रहता है। कभी भी यह परिणमन चक्र रुकता नहीं है और न कभी कोई द्रव्य समाप्त हो सकता है। अर्थात् परिवर्तन स्थायी में होता है और स्थायी वही हो सकता है, जिसमें परिवर्तन हो।

सारांश यह है, कि निष्क्रियता और सक्रियता, स्थिरता और गतिशीलता का जो सहज समन्वित रुप है, उसे ही द्रव्य कहा गया है। जैसा कि वैज्ञानिकों के अनुसार अणु की रचना तीन प्रकार के कणों से होती है- 1. प्रोटोन, 2. इलेक्ट्रोन, 3. न्यूट्रोन। धनात्मक कण प्रोटोन है, यह परमाणु का मध्यबिन्दु होता है। ऋणात्मक कण इलेक्ट्रोन है। यह धनाणु के चारों ओर परिक्रमा करते हैं। उदासीन कण न्यूट्रोन है। इसी प्रकार अपने केन्द्र में प्रत्येक द्रव्य ध्रुव, स्थिर और निष्क्रिय है। उसके चारों ओर पर्याय परिवर्तन की एक शृंखला है। हर समय कोई एक पर्याय उसकी होगी ही। वर्तमान में जो पर्याय है, वह अतीत की पर्याय का विनाश करके अस्तित्व में आई है और उत्तर पर्याय को उत्पन्न करके स्वयं नष्ट हो जाएगी। वस्तुतः पूर्व का विनाश और उत्तर का उत्पाद दो चीजें नहीं है, वरन् एक ही करण से उत्पन्न होने के कारण पूर्व विनाश ही उत्तरोत्पाद हैं। 'जो नष्ट होता है, वही उत्पन्न होता है और वही ध्रुव है।' यह कथन सुनने में तो प्रकट विरोध लगता है, किंतु वस्तु स्थिति यही है जैसे, कि हम स्वयं

अपनी बाल, युवा, वृद्ध आदि अवस्थाओं में परिवर्तित हो रहे हैं, फिर भी हमारा एक ऐसा अस्तीत्व तो है ही जो इन सब परिवर्तनों में हमारी एकरूपता रखता है। अर्थात् व्यक्ति का स्थायी अस्तीत्व ही उसमें अवस्था परिवर्तन को धारण करता है। अतएव यह पूर्णतया सिद्ध है, कि प्रत्येक सचेतन-अचेतन पदार्थ परिणामी नित्य है, प्रतिक्षण नित्यानित्यात्मक है, उत्पाद-व्यय-ध्रोव्यात्मक रूप त्रिलक्षण वाला है।

3. **भेदाभेदात्मक तत्त्व** : स्याद्वाद के अनुसार द्रव्य और पर्याय, गुण और गुणी, अवयव और अवयवी, कार्य और कारण, कर्ता और क्रिया, वाच्य और वाचक आदि में न तो सर्वथा भेद है और न सर्वथा अभेद ही। ये परस्पर कथंचित भिन्न है और कथंचित अभिन्न। इनमें सर्वथा भेद मानने से गुण-गुणीभाव आदि नहीं बन सकते। सर्वथा अभेद मानने पर भी यह गुण है और यह गुणी, यह व्यवहार नहीं हो सकता। यदि गुण गुणी से सर्वथा भिन्न है, तो अमुक गुण का अमुक गुणी से ही नियत सम्बन्ध कैसे किया जा सकता है? अवयवी आदि अवयवों से सर्वथा भिन्न है, तो एक अवयवी अपने अवयवों में सर्वात्मना रहता है या एक देश से? यदि पूर्ण रूप से तो जितने अवयव हैं, उतने ही अवयवी मानना होगा। यदि एक देश से तो जितने अवयव हैं, उतने प्रदेश उस अवयवी के स्वीकार करने होंगे। इस प्रकार सर्वथा भेद और अभेद मानने पर अनेक दोष उपस्थित होते हैं। अतः तत्त्व को कथंचित भेदाभेदात्मक ही मानना चाहिये।

जो द्रव्य है, वही अभेद है और जो गुण और पर्याय है, वही भेद। दो पृथक् सिद्ध द्रव्यों में जिस प्रकार अभेद काल्पनिक हैं, उसी प्रकार एक द्रव्य का अपने गुण पर्यायों से भेद मानना भी सिर्फ समझने और समझाने के लिए है। प्रत्येक अखण्ड तत्त्व या द्रव्य को व्यवहार में उतारने के लिए उसका अनेक धर्मों के आकार के रूप में वर्णन किया जाता है। उस द्रव्य को छोड़कर धर्मों की स्वतंत्र सत्ता नहीं है। तथा गुण, पर्याय को छोड़कर द्रव्य का भी कोई स्वतन्त्र अस्तीत्व नहीं है।

इस प्रकार द्रव्य सामान्य के अपने गुण-पर्यायों के साथ भेदाभेदात्मकता की व्याख्या करने के पश्चात् दो भिन्न द्रव्यों के संबंध में हम इस स्यादवाद दृष्टि का परिक्षण करेंगे। जैन दर्शन ने छः द्रव्य माने हैं, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें से धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य तो सदैव स्वरूप परिणमन ही करते हैं। अतः परस्पर संबंध का प्रश्न ही नहीं उठता है। किंतु जीव तथा पुद्गल द्रव्य स्वरूप परिणमन भी करते हैं, किंतु इनमें विभाव परिणमन भी होता है। अतः आत्मा और शरीर के संबंध में यह प्रश्न उठता है, कि ये परस्पर भिन्न हैं अथवा अभिन्न। इस संबंध में विविध मन्तव्य हमारे समक्ष हैं। चार्वाक दर्शन आत्मा को शरीर से भिन्न स्वीकार नहीं करता है। वह जड़ से ही चेतन की उत्पत्ति मानता है और शरीर का विनाश होने पर आत्मा का भी विनाश हो जाना स्वीकार करता है। अनेक दर्शन

आत्मा का शरीर से एकान्त भिन्नत्व भी स्वीकार करते हैं।

जैन दर्शन इस समस्या का समाधान भी अपनी स्याद्वाद दृष्टि से ही करता है। उनके अनुसार आत्मा कथंचित शरीर से भिन्न भी है और अभिन्न भी है। आत्मा को शरीर से भिन्न तत्त्व न माना जाए और दोनों का एकत्व स्वीकार किया जाए तो शरीर के नाश के साथ आत्मा का भी नाश मानना होगा और उस स्थिति में पुनर्जन्म एवं मुक्ति की कल्पना निराधार हो जाएगी। किन्तु युक्ति और आगम आदि प्रमाणों से पुनर्जन्म आदि की सिद्धि होती है, अतः आत्मा को शरीर से पृथक् मानना समीचीन है। साथ ही अनादि काल से जीव शरीर के साथ ही रहा हुआ है और वह कर्म शरीर के माध्यम से ही करता है तथा कृतकर्मों का फलोपभोग भी शरीर के द्वारा ही होता है। शरीर पर प्रहार होता है, तो दुःख की अनुभूति आत्मा को होती है। जैसे देवदत्त पर प्रहार किया जाए तो जिनदत्त को दुःखानुभव नहीं होता, क्योंकि देवदत्त के शरीर से जिनदत्त की आत्मा भिन्न है। इसी प्रकार यदि देवदत्त की आत्मा देवदत्त के शरीर से भी सर्वथा भिन्न हो तो उसे भी दुःख का अनुभव नहीं होना चाहिये। इससे स्पष्ट हो जाता है, कि जैसे देवदत्त के शरीर और जिनदत्त की आत्मा में भेद है, वैसा भेद देवदत्त के शरीर और देवदत्त की आत्मा में नहीं है। यही देह और आत्मा का अभेद है। अर्थात् आत्मा और शरीर में भी भेदाभेदात्मक संबंध है।

4. **एकानेकात्मक तत्त्व** : सत्ता एक है या अनेक? इसके सन्दर्भ में भी स्याद्वाद का मन्तव्य समन्वयात्मक ही है। अर्थात् वस्तु या सत्ता एक भी है और अनेक भी है। समस्त पदार्थ सत् सामान्य की दृष्टि से तो एक ही है और द्रव्यों के पृथक्-पृथक् स्वरूप भेद से अनेक रूप है। यदि इन सबको एक (अद्वैत) मान लिया जाए, तो प्रत्यक्ष दृष्ट कार्यकारण का भेद लुप्त हो जाएगा, क्योंकि एक ही स्वयं उत्पाद्य और उत्पादक दोनों ही बन सकता है। उत्पाद्य और उत्पादक दोनों अलग-अलग होते हैं। इसी प्रकार यदि वस्तु सर्वथा एक हो तो पर्यायों और गुणों का उनमें अनुस्यूत रहने वाले एक द्रव्य के समुदाय के रूप में साधर्म्य और प्रत्यवभाव आदि कुछ नहीं बन सकेंगे। अतएव दोनों एकान्तों का समुच्चय ही वस्तु है।

वस्तु को सर्वथा एक या अनेक मानना संभव ही नहीं है। दो द्रव्य व्यवहार के लिए ही एक कहे जा सकते हैं, किन्तु वस्तुतः दो पृथक् स्वतंत्र सिद्ध द्रव्य एक सत्ता वाले नहीं हो सकते। पुद्गल द्रव्य के अनेक अणु जब स्कन्ध अवस्था को प्राप्त होते हैं, तब उनका ऐसा रासायनिक मिश्रण होता है, जिससे ये एक निश्चित काल तक एक सत्ताक जैसे हो जाते हैं। ऐसी दशा में हमें प्रत्येक द्रव्य का विचार करते समय द्रव्य दृष्टि से उसे एक मानना होगा और गुण तथा पर्यायों की दृष्टि से अनेक। एक ही मनुष्य जीव अपनी बाल, युवा, वृद्ध आदि अवस्थाओं की दृष्टि से अनेक रूप से अनुभव में आता है। द्रव्य अपनी गुण और पर्यायों से, संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन

आदि की अपेक्षा भिन्न होकर भी चूंकि द्रव्य से पृथक् गुण और पर्यायों की सत्ता नहीं पाई जाती या प्रयत्न करने पर भी हम द्रव्य से गुण पर्यायों का विवेचन-पृथक्करण नहीं कर सकते, अतः वे अभिन्न सत् सामान्य की दृष्टि से समस्त द्रव्यों को एक कहा जा सकता है और अपने-अपने व्यक्तित्व की दृष्टि से पृथक् अर्थात् अनेक। इस प्रकार समग्र विश्व अनेकात्मक होते हुए भी व्यवहारार्थ संग्रहनय की दृष्टि से एक कहा जाता है। एक द्रव्य अपने गुण और पर्यायों की दृष्टि से अनेकात्मक है। एक ही आत्मा हर्ष-विषाद, सुख-दुःख, ज्ञान आदि अनेक रूपों से अनुभव में आता है। द्रव्य का लक्षण अन्वयरूप है, जबकि पर्याय व्यतिरेकरूप होती है। द्रव्य की संख्या एक है और पर्यायों की अनेक। द्रव्य का प्रयोजन अन्वय ज्ञान है और पर्याय का प्रयोजन है, व्यतिरेक ज्ञान। पर्यायें प्रतिक्षण उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं और द्रव्य अनादि अनन्त है। इस प्रकार एक होकर भी द्रव्य अनेक रूपों में प्रतीतिसिद्ध है, तब उसमें विरोध, संशय आदि दूषणों को अवकाश नहीं है। उस प्रकार द्रव्यार्थिक नय से पदार्थ का एकत्व सिद्ध है और पर्यायार्थिक नय से पदार्थ अनेक रूप भी है।

5. सामान्य-विशेष : सामान्य और विशेष पदार्थ के धर्म हैं। धर्म धर्मी को छोड़कर नहीं रहते और धर्मी धर्मों के बिना नहीं रहता। जैन दर्शन इस संबंध में भी स्याद्वाद दृष्टि के अनुरूप ही पदार्थ को सामान्य-विशेषात्मक मानता है। जब हम 'गो' शब्द का उच्चारण करते हैं, तो उससे गोत्व सामान्य का बोध होता है साथ ही काली-पीली आदि विशेष धर्मयुक्त गौओं का भी बोध होता है। सामान्य और विशेष पदार्थ में तादात्म्य रूप से विद्यमान रहते हैं। ये पदार्थ के गुण हैं, परस्पर सापेक्ष हैं, अर्थात् सामान्य को छोड़कर विशेष तथा विशेष को छोड़कर सामान्य कहीं नहीं पाया जाता है। ये दोनों ही पृथक् पृथक् आकाशकुसुम की तरह असत् हैं।

बौद्ध दर्शन विशेष को ही स्वीकार करता है। वह सामान्य तत्व का सर्वथा अपलाप करता है। वह कहता है, कि विशेष ही कार्यकारी होता है, विशेष ही पदार्थ का स्वरुप है। गौ की अलग-अलग पर्यायों के अतिरिक्त गौत्व सामान्य अलग कोई वस्तु नहीं हैं। गोत्व दूध नहीं देता या भार वहन नहीं करता। अर्थ क्रियाकारित्व विशेष धर्म में ही पाया जाता है, अतएव वही वास्तविक है।

सामान्यवादी वेदान्त और सांख्य विशेष का तिरस्कार करते हुए सामान्य को ही तात्विक मानते हैं। उनका मन्तव्य है, कि जगत में दृष्टिगोचर होने वाले विविध पदार्थों में एक ही तत्व रहा हुआ है। जैसे बर्तनों की विविध आकृतियों में मिट्टी तत्व एक ही है। जैसे बुलबुला, तरंग, हिमकण, ओस आदि जल की अलग-अलग पर्यायें होते हुए भी उसमें जल तत्व एक ही है। जगत् में प्रतीत होने वाले घट-पटादि पदार्थ सब एक ही परब्रह्म की पर्याय हैं- ब्रह्म ही परमतत्व है, अन्य कुछ भी नहीं है। यह अद्वैत वादियों का मत है। सांख्य दर्शन विश्व को प्रकृति रुप मानकर सामान्य तत्व को ही

स्वीकार करता है। नैयायिक-वैशेषिक सामान्य विशेष दोनों तत्वों को स्वीकार करते हैं, परन्तु वे पदार्थ से इनको सर्वथा भिन्न मानते हैं और समवाय सम्बन्ध से पदार्थ में संबंधित होना मानते हैं।

उपर्युक्त तीनों दृष्टिकोण एकान्तवादी हैं। यदि हम वस्तु में किसी एक धर्म को ही स्वीकार करें, तो व्यवहारिक जीवन में ही वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाएगा। यदि हम वस्तु में सामान्य धर्म को न मानकर विशेष को ही मानें तो गाय को गाय और हाथी को हाथी के रुप में पृथक्-पृथक् कैसे जानेंगे? यदि गाय में गोत्व और हस्ति में हस्तित्व को स्वीकार न करें तो दोनों को एकरुप ही मानना होगा जो, कि नहीं है। इसी प्रकार यदि विशेष को न माने और केवल सामान्य को ही मानें, तब भी वस्तु का यथार्थ ज्ञान संभव नहीं है। जैसे-मनुष्यत्व, सामान्य के आधार पर हम मनुष्य को देखकर यह तो जान सकते हैं, कि यह मनुष्य है, लेकिन यह जानना संभव नहीं कि यह राम है, अथवा श्याम? जैसा कि दो हमशक्ल व्यक्तियों के संदर्भ में अधिकांशतः हो जाता है। व्यक्ति को व्यक्तिशः पहचानने के लिए उसके गोरे, काले, छोटे, लम्बे आदि विशेष धर्मों को भी स्वीकार करना आवश्यक है। अतः स्याद्वाद समन्वयात्मक दृष्टिकोण को अपनाते हुए वस्तु को सामान्य विशेषात्मक मानता है और यही युक्ति युक्त भी है।

इस प्रकार स्याद्वाद के अनुसार अन्यान्य एकान्तिक दृष्टिकोणों के लिए भी उसी प्रकार समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाना चाहिये। एकान्तवादियों को अपने एकान्तिक आग्रहों को छोड़कर दूसरे की दृष्टि को भी समझना व अपनाना चाहिये। स्याद्वाद ने अपनी स्यातमूलक कथन प्रणाली के द्वारा उन सभी उपस्थित संघर्षों का शमन किया है, जो समन्वय के अभाव में परस्पर विरोधी बनकर विषाक्त चिंतन का वातावरण निर्मित कर रहे थे। एकान्तिक विचारधाराओं के सन्दर्भ में स्याद्वाद का स्पष्ट कथन है, कि भाव-अभाव, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, सत्-असत् आदि जो भी दृष्टि भेद अथवा वैचारिक संघर्ष है, वे सर्वथा मानने से दुष्ट या विरोधी होते हैं और स्यात्, कथंचित, अपेक्षा विशेष से मानने पर पुष्ट होते हैं- वस्तु स्वरुप एवं सद्विचारों का पोषण करते हैं, अतएव जैन दर्शन में इन एकांतिक दृष्टियों का तिरस्कार नहीं किया गया है, वरन् उन्हें नय के रुप में स्वीकार किया है। जो अपने दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए भी दूसरे की दृष्टि की उपेक्षा नहीं करते हैं। इसके लिए ही स्यात् शब्द का प्रयोग करते हैं। स्याद्वाद निरपेक्ष नय प्रणाली को मिथ्या और सापेक्षनयों को सम्यक् बताता है। अर्थात् इसे सापेक्षता का सिद्धान्त भी कह सकते हैं। इसी सापेक्षता को वचन प्रणाली में व्यक्त करने के लिए जैन दर्शन में सप्त भंगीनय का प्रतिपादन किया गया है, जिससे वस्तु में प्रत्येक धर्म की संगति एकदम निर्विवाद हो सके।

सप्त भंगीनय : अनन्त धर्मात्मक वस्तु को सम्यक् भाषा में स्याद्वाद के द्वारा ही प्रतिपादित किया जा सकता है। स्याद्वाद का प्रयोजन यह प्रतिपादित करना है, कि प्रत्येक धर्म अपने विरोधी धर्म के साथ वस्तु में रहता है। सत्-असत् और एक-अनेक परस्पर अविनाभावी है, यह स्थापित करने के लिए प्रमाणाविरोधी विधि-प्रतिषेध की कल्पना करना सप्तभंगीनय है। एक प्रकार से स्याद्वाद का प्रायोगिक स्वरूप ही सप्तभंगीनय है। प्रसिद्ध तार्किक वादिदेव सूरि ने सप्त भंगीनय की परिभाषा इस प्रकार की है-

"एकत्र वस्तुन्येकैक धर्म पर्येनुयोगवशाद विरोधेन व्यस्तयोः समस्तयोश्च। विधिनिषेधयोः कल्पना स्यात्कारांकितः सप्तधावाक्य प्रयोगः सप्तभङ्गी॥"[75]

अर्थात् एक ही वस्तु में किसी एक नियत धर्म-सम्बन्धी प्रश्न को लेकर अविरुद्ध रुप से अलग या सम्मिलित विधि-निषेध की कल्पना द्वारा 'स्यात्' पद से युक्त सात प्रकार का वचन प्रयोग 'सप्तभंगी' है।

इस भारतभूमि में विश्व के सम्बन्ध से सत्, असत्, उभय और अनुभय ये चार पक्ष वैदिककाल से विचार कोटि में रहे हैं। "सदैव सोम्येदमग्र आसीत, असदेवेदमग्र आसीत्।" आदि वाक्य जगत् के सम्बन्ध में सत् और असत् रुप से परस्पर विरोधी दो कल्पनाओं को स्पष्ट उपस्थित कर रहे हैं। तो वहीं सत् और असत् इस उभयरुपता का तथा इन अव्यक्तवाद और संजय के अज्ञानवाद में इन्ही चार पक्षों के दर्शन होते हैं। उस समय का वातावरण ही ऐसा था, कि प्रत्येक वस्तु का स्वरुप सत्, असत्, उभय और अनुभय इन चार कोटियों से विचारा जाता था। जैन तत्वदृष्टाओं ने वस्तु के विराट रुप को देखा और बताया, कि वस्तु के अनन्त धर्ममय स्वरुपसागर में ये चार कोटियाँ तो क्या, ऐसी अनन्त कोटियाँ लहरा रही हैं।

अपुनरुक्त भंग सात हैं : जैन दर्शन के द्वारा अपने स्याद्वाद सिद्धान्त को प्रायोगिक वचन-शैली सप्त भंगीनय के रूप में प्रतिपादित किया गया है। यहाँ अनेक विद्वानों को आपत्ति होती है, कि भंग सात ही क्यों होते हैं? इस प्रश्न का एक समाधान तो यह, कि तीन वस्तुओं के गणित के नियम के अनुसार अपुनरुक्त भंग सात ही हो सकते हैं। दूसरा समाधान है, कि प्रश्न सात प्रकार के होते हैं। प्रश्न सात प्रकार के क्यों होते हैं? इसका उत्तर है, कि जिज्ञासा सात प्रकार की होती है। जिज्ञासा सात प्रकार की क्यों होती है? इसका उत्तर है, कि संशय सात प्रकार के ही होते हैं। संशय सात प्रकार के क्यों होते हैं? इसका जवाब है, कि वस्तु के धर्म ही सात प्रकार के हैं। तात्पर्य यह है, कि सप्त भंगीनय में मनुष्य-स्वभाव की तर्क मूलक प्रवृत्ति का गहराई से अन्वेषण करके वैज्ञानिक आधार से यह निश्चय किया गया है, कि आज जो 'सत्, असत्, उभय और अनुभय' आदि चार कोटियाँ तत्त्व विचार के क्षेत्र में प्रचलित हैं, उनका अधिक से अधिक विकास सात रूप में ही सम्भव हो सकता है। सत्य तो

त्रिकालाबाधित होता है, अतः तर्क जन्य प्रश्नों की अधिकतम संभावना करके ही सप्तभंगी की प्रक्रिया से उसका समाधान किया गया है। जैसे सौंठ, मिरच और पीपल के प्रत्येक-प्रत्येक तीन स्वाद और द्विसंयोगी तीन (सौंठ-मिरच, सौंठ-पीपल और मिरच पीपल) तथा एक त्रिसंयोगी (सोंठ-मिरच-पीपल मिलाकर) इस तरह अपुनरुक्त स्वाद सात ही हो सकते हैं। उसी प्रकार सत्, असत् और अवक्तव्य के अपुनरुक्त भंग सात ही हो सकते हैं।

ये सातों प्रकार के अपुनरुक्त धर्म प्रत्येक वस्तु में विद्यमान हैं। यहाँ यह बात खास तौर से ध्यान रखने की है, कि एक-एक धर्म को केन्द्र में रखकर उसके प्रतिपक्षी विरोधी धर्म के साथ वस्तु के वास्तविक रूप या शब्द की असामर्थ्य जन्य अवक्तव्यता को मिलाकर सात भंगों या सात धर्मों की कल्पना होती है। ऐसे असंख्य सात-सात भंग प्रत्येक धर्म की अपेक्षा से वस्तु में सम्भव हैं। इसलिए वस्तु को सप्त धर्मा न कहकर अनन्त धर्मा या अनेकान्तात्मक कहा गया है। जब हम अस्तित्व धर्म का विचार करते हैं, तो अस्तीत्व विषयक सात भंग बनते हैं और जब नित्यत्व धर्म की विवेचना करते हैं, तो नित्यत्व को केन्द्र में रखकर सात भंग बनते हैं। इस प्रकार असंख्य सात-सात भंग वस्तु में संभव होते हैं।

सप्त-भंगी : संसार में प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। उन अनन्त धर्मों में से प्रत्येक धर्म की ठीक-ठीक संगति बिठलाने के लिए विधि, निषेध अदि की विवक्षा से सात भंग होते हैं। यही सप्त भंगी है।[176] श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों में यद्यपि कण्ठोक्त रूप में 'सिय अत्थि सिय णत्थि सिय अवत्तव्वा' रूप तीन भंगों के नाम मिलते हैं, पर भगवती सूत्र में जो आत्मा का वर्णन आया है, उसमें स्पष्ट रूप से सातों भंगों का प्रयोग किया गया है।[177] आ० कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय[178] में सात भंगों के नाम गिनाकर 'सप्तभंग' शब्द का भी प्रयोग किया है। इसमें अन्तर इतना ही है, कि भगवती सूत्र में तथा विशेषावश्यक भाष्य[179] में अवक्तव्य को तीसरा भंग माना है। जबकि कुन्दकुन्दाचार्य ने उसे पंचास्तिकाय में चौथा भंग मानकर भी प्रवचनसार[180] में तीसरे नम्बर पर रखा है। उत्तरकालीन दिगम्बर श्वेताम्बर तर्क ग्रन्थों में इस भंग का दोनों ही क्रम से उल्लेख मिलता है। सप्तभंगी के ये सात भंग प्रत्येक धर्म पर घटित होते हैं। यहाँ समझने के लिए हम सत्ता धर्म के द्वारा उनका उल्लेख करते हैं। वे निम्नलिखित हैं -

1. **स्याद् अस्ति** : स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व है। जैसे 'स्याद्, अस्ति घटः' इस कथन का तात्पर्य है, कि घड़ा स्वचतुष्टय से अस्तित्ववान है। पर चतुष्टय की अपेक्षा से नहीं। अर्थात् घड़ा द्रव्य से मिट्टी का बना है, क्षेत्र में जोधपुर में बना है, काल से शरद ऋतु में बना है और भाव से काले रंग का है। घड़ा उपर्युक्त चतुष्टय रूप से सत्तावान है, अन्य चतुष्टय रूप से नास्ति है।

यदि ऐसा न माना जाए तो उस घट के स्वरूप हानि का प्रसंग उत्पन्न होता है। इसलिए कहा जाता है, कि 'सर्व अस्ति रूपेण पर रूपेण नास्ति च।' प्रत्येक पदार्थ स्वरूप से ही अस्तीत्व वाला है, पररूप से नास्तित्व भाव वाला है। स्याद् अस्ति का तात्पर्य है, कि घट किसी एक अपेक्षा (स्वचतुष्टय) से ही सत् है, सभी अपेक्षाओं से नहीं।

2. **स्याद नास्ति** : परकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व नहीं है। 'जैसे स्याद् नास्ति घटः।' इसका तात्पर्य है, कि घट का नास्तित्व घट भिन्न यावत पर पदार्थों के द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से है, क्योंकि घट में तथा पर पदार्थों में भेद की प्रतीति प्रमाण सिद्ध है। प्रथम भंग में स्वरूप से सत्ता का प्रतिपादन है, जबकि इस भंग में पर रूप से नास्तित्व का कथन है। पदार्थ में पट द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की दृष्टि से यदि नास्तित्व न माना तो वह पट रूप से भी सत् हो जाएगा। क्योंकि जिस वस्तु में जिसका नास्तित्व नहीं होता वह वस्तु तद्रूप हो जाती है। इस न्याय से एक ही वस्तु सर्वरूप बनने की अनिष्टापत्ति प्राप्त होगी। अतः प्रत्येक पदार्थ में अस्तित्व के साथ नास्तित्व भी रहा हुआ है। विद्यानंदी के अनुसार- 'सत्ता का निषेध, स्वभिन्न अनन्त पर की अपेक्षा से है। यदि पर की अपेक्षा के समान स्व की अपेक्षा से भी अस्तित्व का निषेध माना जाये तो घट निःस्वरूप हो जाएगा।'[81] यदि निःस्वरूपता को स्वीकार करें तो सर्व शून्यता का दोष आ जाएगा। अतः द्वितीय भंग पर रूप से ही पदार्थ के नास्तित्व को बताता है।'

3. **स्याद् अवक्तव्य** : जब वस्तु के अस्ति नास्ति दानों स्वरूप युगपत् विकसित होते हैं, तो कोई ऐसा शब्द नहीं है, जो दोनों को मुख्य भाव से एक साथ कह सके। अतः वस्तु को अवक्तव्य कह दिया जाता है। जैसे 'स्याद् अवक्तव्य घटः।' इसका तात्पर्य है, कि शब्द की शक्ति सीमित है। घट की वक्तव्यता युगपत् में नहीं क्रम में ही सम्भव है। अस्तित्व नास्तिकत्व का युगपत् वाचक कोई भी शब्द नहीं है, इसलिए विधि निषेध का युगपत्व अवक्तव्य है। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये, कि वह अवक्तव्य सर्वदा सर्वतोभावेन नहीं है। यदि इस प्रकार माना जाएगा तो एकान्त अवक्तव्य का दोष पैदा होगा, जो मिथ्या होने से मान्य नहीं है। ऐसी स्थिति में हम घट को घट शब्द से या किसी अन्य शब्द से यहाँ तक कि अवक्तव्य शब्द से भी नहीं कह सकेंगे। वस्तु का शब्द द्वारा प्रतिपादन करना असंभव हो जाएगा और वाच्य वाचक भाव की कल्पना को कोई स्थान ही न रहेगा, इसलिए स्यात् अवक्तव्य भंग सूचित करता है, कि विधि निषेध का युगपत्व अस्ति या नास्ति शब्द से अवक्तव्य है, किन्तु वह अवक्तव्यता सर्वथा नहीं है, अवक्तव्य शब्द से तो वह युगपत्व वक्तव्य ही है।

आगे के चार भंग संयोगज हैं और वे इन तीन भंगों की क्रमिक विवक्षा पर सामूहिक दृष्टि रहने पर बनते हैं।

4. **स्याद् अस्ति-नास्ति** : स्वकीय और परकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से

वस्तु है और नहीं भी है। इस भंग में अस्तिनास्ति उभय रूप को स्वीकार किया गया है। जैसे - 'स्याद् अस्ति नास्ति घटः' अर्थात् प्रथम क्षण में स्वचतुष्टय तथा द्वितीय क्षण में परचतुष्टय का क्रमिक रूप से प्रतिपादन तथा दोनों समयों पर सामूहिक दृष्टि होने पर घट उभयात्मक है। प्रथम और द्वितीय भंग में विधि और निषेध का पृथक्-पृथक् प्रतिपादन किया गया है। लेकिन इस भंग में स्वचतुष्टय की अपेक्षा से सत्ता का और पर चतुष्टय की अपेक्षा से असत्ता का एक साथ क्रमिक कथन किया गया है।

5. स्याद् अस्ति-अवक्तव्य : वस्तु स्वचतुष्टय की अपेक्षा से सत् होते हुए भी एक साथ स्व-पर चतुष्टय से अवक्तव्य है। जैसे 'स्याद् अस्ति अवक्तव्यो घटः' इसका तात्पर्य है, कि प्रथम क्षण में स्वचतुष्टय की अपेक्षा से घट का अस्तीत्व है और द्वितीय क्षण में युगपत् स्व-पर चतुष्टय रूप से घट अवक्तव्य है और दोनों समयों पर सामूहिक दृष्टि होने पर घट स्याद् अस्ति अवक्तव्य है। अर्थात् इस भंग में प्रथम अस्तित्व को तथा पश्चात् अवक्तव्य का क्रमिक रूप से प्रतिपादन किया है।

6. स्याद् नास्ति अवक्तव्यं : पर चतुष्टय से असत् होते हुए भी एक साथ स्व पर चतुष्टय से अवक्तव्य है। जैसे 'स्याद्नास्ति अवक्तव्यो घटः' इसका तात्पर्य है, कि प्रथम क्षण में पर चतुष्टय की अपेक्षा से घट नास्ति है और द्वितीय क्षण में युगपत स्व-पर चतुष्टय से घट अवक्तव्यता की क्रमिक विवक्षा और दोनों समयों पर सामूहिक दृष्टि होने पर घट स्यात नास्ति अवक्तव्य है। अर्थात् इस भंग में प्रथम घट के नास्तित्व तथा पश्चात् उसकी अवक्तव्यता का क्रमिक प्रतिपादन किया है।

7. स्याद् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य : स्वचतुष्टय से सत् पर चतुष्टय से असत् होते हुए भी एक साथ स्व-पर चतुष्टय से अवक्तव्य है। जैसे 'स्याद् अस्ति-नास्ति अवक्तव्यो घटः' यहाँ इस प्रकार कथन किया गया है। प्रथम समय में स्वचतुष्टय के अस्तित्व की द्वितीय समय में पर चतुष्टय के नास्तित्व की और तृतीय समय में युगपत् स्व-पर चतुष्टय रूप अवक्तव्य की विवक्षा होने पर और तीनों समयों पर सामूहिक दृष्टि होने पर घटादि वस्तु स्याद्-अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य रूप सप्तम भंग का विषय होती है।

इस प्रकार चौथे से सातवें तक के भंगों की सृष्टि संयोगज है और वह संभव धर्मों के अपुनरूक्त अस्तीत्व की विवेचना करती है।

'स्यात्' शब्द का प्रयोग : सप्तभंगी के प्रत्येक भंग में स्वधर्म मुख्य होता है और शेष धर्म गौण होते हैं। इसी गौण मुख्य विवक्षा का सूचक 'स्यात्' शब्द है। वक्ता और श्रोता यदि शब्द-शक्ति और वस्तु स्वरूप के विवेचन में कुशल है, तो 'स्यात्' शब्द के प्रयोग का कोई नियम नहीं है। उसके बिना प्रयोग के भी वस्तु का सापेक्ष अनेकान्तद्योतन सिद्ध हो जाता है।[32] जैसे 'अहम अस्मि' इन दो पदों में एक का प्रयोग होने पर दूसरे का अर्थ स्वतः गम्यमान हो जाता है, फिर भी स्पष्टता के लिए दोनों का

प्रयोग किया जाता है। उसी प्रकार 'स्यात्' पद का प्रयोग भी स्पष्टता और भ्रान्ति निवारण के लिए करना उचित है। संसार में समझदारों की अपेक्षा नासमझों की संख्या ही औसत दर्जे अधिक रहती आई है। अतः सर्वत्र 'स्यात्' पद का प्रयोग करना ही राजमार्ग है।

अन्य दर्शनों में भंग योजना : स्यादस्ति अवक्तव्य आदि तीन भंग परमत की अपेक्षा इस तरह लगाये जाते हैं। अद्वैतवादियों का सन्मात्र तत्त्व अस्ति होकर भी अवक्तव्य है, क्योंकि केवल सामान्य वचनों में वचनों की प्रवृत्ति नहीं होती। बौद्धों का अन्यापोह नास्तिरूप होकर भी अवक्तव्य है, क्योंकि शब्द के द्वारा मात्र अन्य का अपोह करने से किसी विधि रूप वस्तु का बोध नहीं हो सकेगा। वैशेषिक के स्वतन्त्र सामान्य और विशेष अस्ति नास्ति सामान्य विशेष रूप होकर भी अवक्तव्य है-शब्द के वाच्य नहीं हो सकते, क्योंकि दोनों को स्वतन्त्र मानने पर उनमें सामान्य-विशेष भाव नहीं हो सकता। सर्वथा भिन्न सामान्य और विशेष में शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती और न उनसे कोई अर्थक्रिया ही हो सकती है।

सकला देश और विकला देश : श्रुत ज्ञान के दो उपयोग हैं - एक स्याद्वाद् और दूसरा नय। स्याद्वाद सकलादेश रूप होता है और नय विकला देश। सकलादेश को प्रमाण तथा विकलादेश को नय कहते हैं। सप्तभंगी जब सकलादेशी होते हैं, तब प्रमाण और जब विकलादेशी होते हैं, तब नय कहे जाते हैं। इस प्रकार सप्तभंगी भी प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी रूप से विभाजित हो जाते हैं। एक धर्म के द्वारा समस्त वस्तु को अखंड रूप से ग्रहण करने वाला सकलादेश है तथा उसी धर्म को प्रधान तथा शेष धर्मों को गौण करने वाला विकलादेश है। स्यादवाद अनेकान्तात्मक अर्थ को ग्रहण करता है। जैसे जीव कहने से ज्ञान, दर्शन आदि असाधारण गुण वाले सत्व प्रमेयत्वादि साधारण स्वभाव वाले तथा अमूर्तत्व, असंख्यात प्रदेशित्व आदि साधारण-असाधारण धर्मशाली जीव का समग्र भाव से ग्रहण हो जाता है। इसमें सभी धर्म एक रूप से ग्रहीत होते हैं, अतः गौण मुख्य व्यवस्था अन्तर्लीन हो जाती है।

विकलादेशी नय एक धर्म का मुख्य रूप से कथन करता है। जैसे - 'ज्ञो जीवः' कहने से जीव के ज्ञान गुण का मुख्यता से बोध होता है, शेष धर्मों का गौण रूप से उसी के गर्भ में प्रतिभास होता है। विकला अर्थात् एक धर्म का मुख्य रूप से ज्ञान कराने के कारण ही यह वाक्य विकला देश या नय कहा जाता है। विकलादेशी वाक्य में भी 'स्यात् पद' का प्रयोग होता है। जो विशेष धर्मों की गौणता अर्थात् उनका अस्तीत्व मात्र सूचित करता है। इसीलिए 'स्यात्' पदलांछित नय सम्यक्नय कहलाता है।

नयवाद : नयवाद को स्याद्वाद का एक स्तम्भ कहना चाहिये। स्याद्वाद जिन विभिन्न दृष्टिकोणों का अभिव्यंजक है, वे दृष्टिकोण जैन परिभाषा में नय नाम से

अभिहित होते हैं। प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। वस्तु के उन अनन्त धर्मों में से किसी एक धर्म का बोधक अभिप्राय या ज्ञान नय कहलाता है।

प्रमाण वस्तु के अनेक धर्मों का ग्राहक होता है और नय एक धर्म का। किन्तु एक धर्म को ग्रहण करता हुआ भी नय दूसरे धर्मों का न निषेध करता है और न विधान ही करता है। निषेध करने पर वह दुर्नय हो जाता है। विधान करने पर प्रमाण की कोटि में परिगणित हो जाता है। नय प्रमाण और अप्रमाण दोनों से भिन्न प्रमाण का एक अंश है, जैसे समुद्र का अंश न समुद्र है, न असमुद्र है, वरन् समुद्रांश है। नय का ग्राह्य भी वस्त्वंश ही होता है। विश्व के सभी एकान्तवादी दर्शन एक ही नय को अपने विचार का आधार बनाते हैं। उनका दृष्टिकोण एकांगी होता है, वे भूल जाते हैं, कि दूसरे दृष्टिकोण से विरोधी प्रतीत होने वाले विचार भी संगत हो सकते हैं। इसी कारण वे एकांगी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं और वस्तु के समग्र स्वरूप को स्पर्श नहीं कर पाते। वे सम्पूर्ण सत्य के ज्ञान से वंचित रह जाते हैं। नयवाद अनेक दृष्टिकोणों से वस्तु को जानने की कला सिखलाता है।

बौद्ध दर्शन वस्तु के अनित्यत्व धर्म को स्वीकार करके द्रव्य की अपेक्षा पाये जाने वाले नित्यत्व धर्म का निषेध करता है। सांख्य दर्शन नित्यत्व को अंगीकार करके पर्याय की दृष्टि से विद्यमान अनित्यत्व धर्म का अपलाप करता है। इस प्रकार ये दोनों दर्शन अपने-अपने एकान्त पक्ष के प्रति आग्रहशील होकर एक-दूसरे को मिथ्यात्वी कहने के कारण वे स्वयं मिथ्यावादी बन जाते हैं। यदि वे दूसरों को सच्चा मानते तो वे स्वयं भी सच्चे हो जाते, क्योंकि वस्तु में द्रव्यतः नित्यत्व और पर्यायतः अनित्यत्व धर्म रहता है।

इस प्रकार नयवाद द्वैत-अद्वैत, निश्चय-व्यवहार, ज्ञान-क्रिया, काल-स्वभाव-नियति यदृच्छा-पुरुषार्थ आदि वादों का सुन्दर और समीचीन समन्वय करता है।

नयवाद दुराग्रह को दूर करके दृष्टि को विशालता और हृदय को उदारता प्रदान करता है। वह वस्तु के विविध रूपों का विश्लेषण हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है - 'हे जिनेन्द्र! जिस प्रकार विविध रसों द्वारा सुसंस्कृत लोह स्वर्ण आदि धातु पौष्टिकता और स्वास्थ्य आदि अभीष्ट फल प्रदान करती हैं, उसी प्रकार 'स्यात्' पद से अंकित आपके नय मनोवांछित फल के प्रदाता हैं, अतएव हितैषी आर्य पुरुष आपको नमस्कार करते हैं।'

प्रत्येक पदार्थ में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की प्रक्रिया निरन्तर चालू है। स्वर्णपिण्ड से एक कलाकार घट बनाता है। फिर उस स्वर्णघट को तोड़कर मुकुट बनाता है। यहाँ प्रथम पिण्ड के विनाश से घट की और घट के विनाश से मुकुट की उत्पत्ति होती है, मगर स्वर्ण द्रव्य सब अवस्थाओं में विद्यमान रहता है। यह द्रव्य से नित्यता और पर्याय से अनित्यता है। इस उदाहरण से वस्तु की सामान्य विशेषात्मकता भी प्रमाणित हो

जाती है।

प्रत्येक वस्तु के दो मुख्य अंश हैं - द्रव्य और पर्याय। अतएव द्रव्य को प्रधान रूप से ग्रहण करने वाला दृष्टिकोण द्रव्यार्थिक नय और पर्याय को ग्रहण करने वाला पर्यायार्थिक नय कहलाता है। यद्यपि वस्तुगत अनन्त धर्मों को ग्रहण करने वाले अभिप्राय भी अनन्त होते हैं और इस कारण नयों की संख्या का अवधारण नहीं किया जा सकता, तथापि उन सब का समावेश द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, इन दो नयों में ही हो जाता है। जिस दृष्टिकोण में द्रव्य की प्रधानता हो वह द्रव्यार्थिक नय कहलाता है और जिसमें पर्याय की मुख्यता हो वह पर्यायार्थिक नय है।

भ्रम - निवारण : सप्तभंगी सिद्धान्त के विषय में कतिपय पाश्चात्य और कुछ भारतीय विद्वानों में गलत धारणाएँ हैं। उनका विवेचन एवं निराकरण किया जाना आवश्यक है।

प्राचीन जैन आगमों में सप्तभंगी के बीज उपलब्ध होते हैं।[85] आचार्य कुन्दकुन्द ने कुछ ही भंगों का उल्लेख किया है। किन्तु इनके पश्चात् वर्ती आचार्य समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक, विद्यानन्द, हेमचन्द्र, वादिदेव, आदि ने उसका स्पष्ट और विस्तृत विवेचन किया है। इस प्रतिपादन क्रम को कुछ विद्वानों ने स्याद्वाद या सप्तभंगी का विकास क्रम समझ लिया है, किन्तु तथ्य यह है, कि जैन तत्त्वज्ञान सर्वज्ञ मूलक है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकरों के ज्ञान में जो तत्त्व प्रतिभासित होता है, उसी को उनके प्रधान शिष्य शब्द-बद्ध करते हैं और फिर उनके शिष्य प्रशिष्य उसके एक-एक अंग का आधार लेकर युग की परिस्थिति के अनुसार विभिन्न ग्रन्थों की रचना करते हैं। इस प्रकार तत्त्व विवेचन का क्रम आगे बढ़ाता है। इस विवेचन क्रम को तत्त्व का विकास क्रम समझ लेना युक्तिसंगत नहीं है।

इस युग में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हुए हैं। उन्होंने जो उपदेश किया, वही उनके पश्चात् होने वाले तेईस तीर्थंकरों ने किया। वही उपदेश कालक्रम से उनके अनुयायी विभिन्न आचार्यों द्वारा जैन साहित्य में लिपिबद्ध किया गया है। किसी भी विषय का संक्षिप्त या विस्तृत विवेचन उसके लेखक की संक्षेप रुचि अथवा विस्तार रुचि पर निर्भर करता है। इसके अतिरिक्त युग की विचारधारा भी उसे प्रभावित करती है। विशेष रूप से दार्शनिक क्षेत्र में ऐसा भी होता है, कि कोई लेखक जब किसी विषय के ग्रन्थ की रचना करता है, तो अपने समय तक के विरोधी विचारों का उसमें उल्लेख करता है और अपने दृष्टिकोण के अनुसार उनका निराकरण भी करता है। जैन दार्शनिक साहित्य में भी यह प्रवृत्ति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इस प्रतिपादन क्रम को यदि कोई मूल तत्त्व का विकास क्रम समझ लें, तो यह उसकी भूल ही कही जाएगी।

अमेरिकी विद्वान् अर्चि० जे० बह्ल इसी भूल के शिकार हुए हैं। उन्होंने स्याद्वाद

के निरुपण क्रम को स्याद्वाद का विकास क्रम समझ लिया है। एक भूल अनेक भूलों की सृष्टि कर देती है। जब उन्होंने स्याद्वाद के विकास क्रम की भ्रान्त कल्पना की तो दूसरी भूल यह हो गई, कि वे सप्तभंगी को बौद्धों के चतुष्कोटि निषेध का अनुकरण अथवा विकास समझने लगे, यद्यपि उन दोनों में बहुत अधिक अन्तर है।

सर्वप्रथम तो इतिहास द्वारा प्रमाणित इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिये, कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से बहुत प्राचीन है। महात्मा बुद्ध से पूर्व तेइस तीर्थंकर हो चुके थे। तेइसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ उनसे लगभग 250 वर्ष पूर्व हुए थे। उन्होंने स्यादवाद सिद्धान्त का निरुपण किया था। संजय बेलट्ठिपुत्त जो बुद्ध के पूर्ववर्ती हैं, उन्होंने स्यादवाद को ठीक तरह न समझकर संशयवाद की प्ररूपणा की थी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि स्याद्वाद सिद्धान्त का बुद्ध से पहले ही अस्तित्व था। ऐसी स्थिति में यह समझना, कि सप्तभंगी सिद्धान्त बौद्धों के चतुष्कोटि प्रतिषेध का विकसित रूपान्तर है, निराधार है। चतुष्कोटि प्रतिषेध का सिद्धान्त तो बुद्ध के भी बाद में प्रचलित हुआ है। इसके अतिरिक्त सप्तभंगी और चतुष्कोटि प्रतिषेध के आशय में बहुत अन्तर है। बौद्धों का चतुष्कोटि प्रतिषेध इस प्रकार हैं -

1. वस्तु है, ऐसा नहीं है।
2. वस्तु नहीं है, ऐसा भी नहीं है।
3. वस्तु है और नहीं है, ऐसा भी नहीं है।
4. वस्तु है और नहीं है, ऐसा नहीं है, यह भी नहीं है।[1]

सप्तभंगी के स्वरूप का विवेचन पहले किया जा चुका है। सप्तभंगी में और प्रस्तुत चतुष्कोटि प्रतिषेध में वस्तुतः कोई समानता नहीं है। सप्तभंगी में वस्तु के अस्तित्व और नास्तित्व आदि का प्रतिपादन है, जबकि इस प्रतिषेध में अस्तित्व को कोई स्थान नहीं है, केवल नास्तित्व का ही निरुपण पाया जाता है। सप्त भंगी में जो अस्तित्व और नास्तित्व का विधान है, वह स्वचतुष्टय और परचतुष्टय के आधार पर है और क्षण-क्षण में होने वाला हमारा अनुभव उसका समर्थन करता है। सप्तभंगी के अनुसार मनुष्य-मनुष्य है, पशु-पक्षी आदि मनुष्येतर नहीं है। किन्तु चतुष्कोटि प्रतिषेध का कहना है, कि मनुष्य मनुष्य नहीं है, मनुष्येतर भी नहीं है, उभयरूप भी नहीं है और अनुभय रूप भी नहीं है। वह कुछ भी नहीं है और वह कुछ भी नहीं है, ऐसा भी नहीं है। इस प्रकार यहाँ न कोई अपेक्षाभेद है और न अस्तित्व का कोई स्थान ही है।

सप्तभंगी में पदार्थों के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया गया है, सिर्फ उसके स्वरूप को नियतता प्रदर्शित करने के लिए यह दिखलाया गया है, कि वह पररूप में नहीं है। सप्तभंगी हमें सतरंगी पुष्पों से सुशोभित विचार वाटिका में विहार कराता है, तो बौद्धों का निषेधवाद पदार्थों के अस्तीत्व को अस्वीकार करके शून्य के घोर एकान्त अन्धकार में ले जाता है। अनुभव उसको कोई आधार प्रदान नहीं करता है। अतएव

यह स्पष्ट है, कि सप्तभंगी का बौद्धों के चतुष्कोटि निषेध के साथ लेशमात्र भी सरोकार नहीं है।

स्याद्वाद संशय वाद नहीं है : जैन दर्शन की यह मान्यता है, कि प्रत्येक पदार्थ अनन्त धर्मात्मक है। अनन्त धर्मात्मकता के बिना किसी पदार्थ के अस्तित्व की कल्पना ही सम्भव नहीं है। किन्तु एक साथ अनन्त धर्मों का निर्वचन नहीं हो सकता। दूसरे धर्मों का विधान और निषेध न करते हुए किसी एक धर्म का विधान करना ही स्याद्वाद है। अनेकान्त वाच्य और स्याद्वाद वाचक है। अमुक अपेक्षा से घट सत् ही है और अमुक अपेक्षा से घट असत् ही है, यह स्याद्वाद है। इसमें यह प्रदर्शित किया गया है, कि स्वचतुष्टय से घट की सत्ता निश्चित है और परचतुष्टय से घट की असत्ता निश्चित है। इस कथन में संशय को कोई स्थान नहीं है। किन्तु 'स्यात्' शब्द के प्रयोग को देखकर, स्याद्वाद की गहराई में न उतरने वाले कुछ लोग, यह भ्रमपूर्ण धारणा बना लेते हैं, कि स्याद्वाद अनिश्चय की प्ररूपणा करता है।

वस्तुतः 'स्यात्' शब्द का अर्थ न शायद है, न सम्भवतः है और न कदाचित् जैसा ही है। वह तो एक सुनिश्चित सापेक्ष दृष्टिकोण का द्योतक है। प्रो॰ बलदेव उपाध्याय ने लिखा है – 'अनेकान्तवाद संशयवाद नहीं है। परन्तु वे उसे 'संभवतः' के अर्थ में प्रयुक्त करना चाहते हैं, मगर यह भी संगत नहीं है।'

शंकराचार्य ने अपने भाष्य में स्याद्वाद को संशयवाद कहकर जो भ्रान्त धारणा उत्पन्न की थी, उसकी परम्परा अब भी बहुत अंशों में चल रही है। किन्तु प्रो॰ फणिभूषण अधिकारी ने आचार्य शंकर की धारणा के सम्बन्ध में लिखा है, कि – 'जैन धर्म के स्याद्वाद सिद्धान्त को जितना गलत समझा गया है, उतना अन्य किसी भी सिद्धान्त को नहीं।' यहाँ तक कि शंकराचार्य भी इस दोष से मुक्त नहीं है। उन्होंने भी इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय ही किया है। यह बात अल्पज्ञ पुरुषों के लिए क्षम्य हो सकती थी, किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है, तो मैं भारत के इस महान् विद्वान के लिए तो अक्षम्य ही कहूँगा, यद्यपि मैं इस महर्षि को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हूँ। ऐसा जान पड़ता है, कि उन्होंने इस धर्म के दर्शनशास्त्र के मूलग्रन्थों के अध्ययन की परवाह नहीं की।'

स्पष्ट है, कि स्याद्वाद संशयवाद नहीं है। सभी दर्शन किसी न किसी रुप में इसे स्वीकार करते हुए भी इसका नाम लेने में हिचकते हैं।

पाश्चात्य विद्वान थामस का यह कथन ठीक ही है कि,–'स्याद्वाद सिद्धान्त बड़ा गम्भीर है। यह वस्तु की भिन्न-भिन्न स्थितियों पर अच्छा प्रकाश डालता है। स्याद्वाद का सिद्धान्त दार्शनिक जगत में बहुत ऊँचा सिद्धान्त माना गया है। वस्तुतः स्याद्वाद सत्यज्ञान की कुञ्जी है। दार्शनिक क्षेत्र में स्याद्वाद को सम्राट का रुप दिया गया है। स्याद् शब्द को एक प्रहरी के रुप में स्वीकार करना चाहिये, जो उच्चारित धर्म

को इधर-उधर नहीं जाने देता है। यह अविवक्षित धर्मों का संरक्षक है, संशयादि शत्रुओं का संरोधक व भिन्न दार्शनिकों का संपोषक है।'

जिन दार्शनिकों की भाषा स्याद्वाद अनुगत है, उन्हें कोई भी दर्शन भ्रमजाल के चक्र में नहीं फँसा सकता है।

विरोध का निराकरण : शंकराचार्य ने अपने शांकरभाष्य में स्याद्वाद के निरसन का प्रयत्न करते हुए यह भी कहा है -शीत और उष्ण की तरह एक धर्मी में परस्पर विरोधी सत्व और असत्व आदि धर्मों का एक साथ समावेश नहीं हो सकता।[16] किन्तु स्याद्वाद के स्वरूप को जिसने समझ लिया है, उसके समक्ष यह आरोप हास्यास्पद ही ठहरता है। आचार्य से यदि प्रश्न किया गया होता - 'आप कौन है?' तो वे उत्तर देते - 'मैं संन्यासी हूँ' पुनः प्रश्न किया जाता - 'आप गृहस्थ हैं या नहीं?' तो वे कहते 'मैं गृहस्थ नहीं हूँ।' अब तीसरा प्रश्न उनसे यह किया जाता - आप 'हूँ' भी और नहीं हूँ भी कहते हैं, इस परस्पर विरोधी कथन का आधार क्या है? तब आचार्य को अनन्यगत्वा यही कहना पड़ता- संन्यासाश्रम की अपेक्षा हूँ, गृहस्थाश्रम की अपेक्षा नहीं हूँ, इस प्रकार अपेक्षाभेद के कारण मेरे उत्तरों में विरोध नहीं है।

बस, यही उत्तर स्याद्वाद है। सत्व और असत्व धर्म यदि एक ही अपेक्षा से स्वीकार किए जाएँ, तो परस्पर विरोधी होते हैं, किन्तु स्वरूप से सत्व और पररूप से असत्व स्वीकार करने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है, जैसे-मैं संन्यासी हूँ और संन्यासी नहीं हूँ, यह कहना विरुद्ध है, किन्तु मैं संन्यासी हूँ, गृहस्थ नहीं हूँ, ऐसा कहने में कोई विरोध नहीं है।

संदर्भ सूची :

1. उत्तराध्ययन सूत्र - सुधर्मास्वामी, 20/37
2. अशोक के फूल - भारत वर्ष की सांस्कृतिक समस्या, पृष्ठ 67
3. वही, पृष्ठ 6
4. दीर्घ निकाय विभाग, पृष्ठ 426
5. यथा धेनु सहस्रेषु वत्सो याति स्व मातरं।
   तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारं मनुगच्छति ॥ महाभारत, शान्तिपर्व 181, 16
6. कर्मण्येवाधिकारस्ते माफलेसु कदाचन।
   मा कर्म फल हेतुर्भुमां, ते संगोऽस्त्व कर्मणि ॥ गीता, 2/47
7. आत्म प्रवृत्याकृष्टा स्तत् प्रयोग्य पुद्गलाः कर्म। जैन सिद्धान्त दीपिका, 4/1
8. उवमाण विज्जए, अंग सुत्ताणि 1, पृष्ठ 48
9. सत्वे सराणियट्टति, अंग सुत्ताणि 1, पृष्ठ 48
10. अरुवी सत्ता, अंग सुत्ताणि 1, पृष्ठ 48
11. *अणेग रुवाओ जोणीओ सन्धेइ, आयारो*, पृष्ठ 6

12. विरुपरुवे फासे पडिसे वेदेइ, आयारो, पृष्ठ 6
13. उत्तराध्ययन सूत्र, 3/6
14. वही, 4/4
15. स्थानांग सूत्र, 1/77
16. वही, 1/4/98
17. उत्तराध्ययन सूत्र 25/31
18. वही, 25/30
19. वही, 25/29
20. कर्मजं लोक वैचित्र्यं, अभिधर्म कोष 4/1, राजेन्द्र सूरि
21. भगवती सूत्र, 12/5
22. कम्मुणा उवाहा जायइ। आचारांग सूत्र, 1/3/1
23. न्याय दर्शन, 3, 1, 37, 3/2/69
24. सांख्य दर्शन - सांख्य प्रवचन भाष्य - विज्ञानभिक्षु, 6-41, 6-44
25. (i) कर्मग्रन्थ, 1/35-36,
(ii) कर्म ग्रन्थ, 5/21
26. पंचास्तिकाय, 134
27. जैन सिद्धान्त दीपिका, 4/1
28. स्थानांग, 1/4/9 टीका
29. उत्तराध्ययन, 25/45
30. विशेषावश्यक भाष्य, गा॰ 1636
31. तत्वार्थ सर्वार्थसिद्धि, 2/7/161
32. (i) अयस्कान्तोपलाकृष्ट-सूचीवत् तद्द्वयोः पृथक्।
अस्ति शक्तिर्विभावाख्या, मिथोबन्धाधिकारिणी ॥45॥
(ii) जीव-भाव-विकारस्य, हेतुः स्याद्द्रव्यकर्मतत्।
तद्वेतुस्तद्विकारश्च यथा प्रत्युपकारकः ॥109॥ पंचाध्यायी, 2 अध्याय
33. जीवंगाणं अणाइ-संबंधो, कणयोवले मलं वा ताणत्थितं सयं सिद्ध। गोम्मटसार, (क.) 2/3
34. पंचास्तिकाय संग्रह, गा॰ 128, 129, 130
35 पीसयर कोडि-कोडि नामे गोए सत्तरी मोहे ॥ कर्मग्रन्थ, 5/26
36. स्थानांग सूत्र, 77, भगवती सूत्र
37. उत्तराध्ययन सूत्र, 4/3
38. उत्तराध्ययन सूत्र, 4/4
39. विशेषावश्यक भाष्य, 1/93
40. श्री मद्भागवद्गीता, 2/47
41. भगवती सूत्र, सुधर्मास्वामी, 1/3/116, पृ॰ 166, 1/1/27
42. समयसार कुन्दकुन्दाचार्य, संवर अधिकार, गाथा, 191
43. भगवती सूत्र सुधर्मास्वामी, प्र॰ जैन प्रि॰प्रे॰ सैलाना, 1/1/10, पृ॰ 48

44. सुचिन्ना कम्मा, सुचिन्ना फला, दुचिन्नाकम्मा, दुचिन्ना फला। - औपपातिक सूत्र, 56
45. चउव्हि बंधे पन्नते तं जहा पगइ बंधे ठिइ बंधे अणुभाग बंधे पएस बंधे। स्थानांग, 4/3/296
46. उत्तराध्ययन सूत्र, 20/36
47. न्यायदर्शन, 4/1
48. भगवती सूत्र, 7-10
49. प्रज्ञापना सूत्र, पृ० 23
50. महाभारत, वन पर्व, 30/28
51. उत्तराध्ययन, 20/36
52. प्रज्ञापना, 3/1 सूत्र, 1667 अ० मधुकर मुनि
53. स्थानांग, 4/8
54. समवायांग, समवाय, 5
55. तत्त्वार्थसूत्र, 8/1
56. वही, 8/4
57. वही, 6/5
58. सूत्रकृतांग 6/26, स्थानांग सूत्र, 4/1/251.
59. उत्तराध्ययन सूत्र, 32/7,
60. स्थानांग सूत्र 2/2
61. णय वत्थु दो. दुबंधो, अज्झ व साणेण बंधोत्यि-समयसार, 265
62. अणुमित्तो विन बंधो, वर वत्पु पच्चओ भणिओ॥ ओघनिर्युक्ति, गाथा 5
63. (i) संयुक्त निकाय, 36/8, 43/7/3, 45/5/10, 21/3/9
(ii) बौद्ध धर्मदर्शन, पृष्ठ 245
64. दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदन्तरा पायादपकर्म॥ न्यायसूत्र, 1/1/2
65. तत्त्वज्ञानन्निः श्रेयसम्। तत्त्वज्ञानमात्मसाक्षात्कार इह विवक्षितः। तस्यैव सर्वगिण मिथ्याज्ञानोन्मूलन-क्षमत्वात्॥ - वैशेषिक सूत्र, प्रशस्त पादभाष्य, पृष्ठ 538
66. (i) ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः। सांख्यकारिका, 54
(ii) ज्ञानान्मुक्तिः, बन्धो विपर्ययात्। सांख्यदर्शन, 3/24-25
(iii) सांख्यकारिका, 44, 47, 48
67. (i) योग दर्शन, 2/314
(ii) तस्य हेतुरविद्या, तदभावात् संयोग भावो, तद्दृशेः कैवल्यम्।-योगदर्शन, 2/24-25
68. (i) ज्ञाना ज्ञाने मोक्ष-बंध-हेतु नियम यति...। समयसार, गा० 153 टीका।
(ii) तथाऽप्यस्यासौ स्यादिह किल बन्धः प्रकृतिभिः।
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः॥ समयसार, 395/195
69. उत्तराध्ययन सूत्र, 33/2-3
70. पंचाध्यायी, 2/998
71. वही, 2/999

72. वही, 2/1000
73. तत्त्वार्थसार, अमृतचन्द्र, 8/22
74. कषाय पाहुड़, 1/1, 1/70
75. तत्त्वार्थसार अमृतचन्द्र, 8/39-40
76. तत्त्वार्थ सूत्र, 10/1, तत्वार्थ सार, अमृतचन्द्र 8/25
77. तत्त्वार्थसूत्र उमास्वाति, 10/5
78. प्रज्ञापना सूत्र, 21/1/299
79. उत्तराध्ययन सूत्र, 28/10
80. नियमसार, 10
81. तत्त्वार्थसूत्र, 2/9
82. प्रमाणनय तत्त्वालोक, 2/7
83. उत्तराध्ययन सूत्र, 33/4
84. स्थानांग सूत्र, 2/4/105
85. (i) नंदीसूत्र, 43, ठाणांग, 2/4/105 टीका
(ii) उत्तराध्ययन सूत्र, 33/19-20
86. स्थानांग, 2/4/105 टीका
87. उत्तराध्ययन सूत्र, 33/5-6, तत्त्वार्थ सूत्र, 8/8
88. ठाणांग, 2/4/105
89. उत्तराध्ययन सूत्र, 33/19-20
90. उत्तराध्ययन सूत्र, 33/7
91. तत्त्वार्थ सूत्र, 8/8
92. स्थानांग सूत्र, 8/488
93. उत्तराध्ययन सूत्र, 33/19-20
94. प्रज्ञापना सूत्र, 23/2/21-29
95. भगवती सूत्र, 6/3
96. तत्त्वार्थसूत्र, 8/19
97. उत्तराध्ययन सूत्र, 33/8
98. वही, 33/9
99. पंचाध्यायी, 21/6
100. उत्तराध्ययन सूत्र, 33/10
101. वही, 33/11
102. तत्त्वार्थसूत्र, 8/10 भाष्य
103. प्रथम कर्म ग्रन्थ, गा॰ 18
104. स्थनांग, 2/4/105 टीका
105. उत्तराध्ययन सूत्र, 33/21
106. तत्त्वार्थ सूत्र, 8/11, उत्तराध्ययन सूत्र, 33/12

107. तत्त्वार्थ सूत्र, 2/52
108. उत्तराध्ययन सूत्र, 33/22
109. भगवती सूत्र, 6/3
110. स्थानांग सूत्र, 2/4/105 टीका
111. उत्तराध्ययन सूत्र, 33/13
112. तत्त्वार्थ सूत्र, 8/12
113. उत्तराध्ययन सूत्र, 33/23
114. प्रज्ञापना सूत्र, 23/1/288 टीका
115. उत्तराध्ययन सूत्र, 33/14
116. वही, 33/14
117. प्रज्ञापना सूत्र, 23/1/292, 23/2/293
118. उत्तराध्ययन सूत्र, 33/23
119. पंचाध्यायी, 2/1007
120. उत्तराध्ययन सूत्र, 33/19
121. (i) उत्तराध्ययन सूत्र, 28/15
    (ii) तत्त्वार्थ सूत्र, 1/2
122. तत्त्वार्थ सूत्र, 7/1
123. कम्मं कसो भवोवा, कसमातो सिं कसायतो।
    कसमाय यंति व जत्तो गमयंति कसायंति॥ विशेषावश्यक भाष्य, 1227
124. तत्त्वार्थ सूत्र, 8/10
125. वही, 6/1
126. वही, 6/2
127. (i) धवला, पु॰ 13/5-5/82
    (ii) तत्त्वार्थ वार्तिक, 8/2/9
128. तत्त्वार्थ सूत्र, 6/11
129. वही, 6/13
130. भगवती सूत्र, 7/3, सू॰ 286
131. तत्त्वार्थ सूत्र, 6/12
132. भगवती सूत्र, 7/6/286
133. वही, 8/9/351
134. निःशील व्रतत्वं च सर्वेषाम्। तत्त्वार्थ सूत्र, 6/19
135. (i) भगवती सूत्र, 8/3
    (ii) तत्त्वार्थ सूत्र, 6/21-22
136. (i) ज्ञाता सूत्र, 5/1
    (ii) आवश्यक निर्युक्ति, 1/9/11
137. (i) भगवती सूत्र, 8/5/351

(ii) तत्त्वार्थ सूत्र, 8/13
(iii) कर्म ग्रंथ, 1/60

138. तत्त्वार्थ सूत्र, 6/24-25

139. (i) दाणंतराएणं, लाभंतराएणं, भोगंतराएणं, उवभोगंतशएणं वीरियंतराएणं, अंतराएकम्मासरीरप्पयोग बंधे। भगवती सूत्र, 8/9/351
(ii) दाणे लाभेय भोगेय, उवभोगे वीरिए तहा।
पंचविहमंतरायं, समासेण वियाहियं॥ - उत्तराध्ययन, 33/15
(iii) प्रज्ञापनासूत्र, पद 23/2/293

140. तत्त्वार्थ सूत्र, 6/26

141. भगवती सूत्र, 5/5

142. स्थानांग सूत्र, 4/4/312

143. (i) बंधस्तु कर्म पुद्गलानां विशिष्ट शक्ति परिणामेनाऽवस्थानाम्। - पंचास्तिकाय, 148
(ii) स्थानांग सूत्र, 1/4/9
(iii) बन्धः आत्मकर्मणोरत्यन्त संश्लेषः। उत्तराध्ययन सूत्र, नि॰शा॰वृ॰ 4

144. कम्माणं संबंधो बंधो। - गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, 438

145. शुभाशुभानां ग्रहणं कर्मणां बन्ध इष्यते। षड्दर्शनसमुच्चय, पृष्ठ 47

146. सकषायत्वात् कर्मणो योग्यान् पुद्गलाभादत्ते, सम्बन्धः। - तत्त्वार्थ सूत्र, 8/2

147. प्रकृति स्थित्यनुभाव प्रदेशास्तद्विधयः॥ तत्त्वार्थ, 8/4

148. तत्त्वार्थ सूत्र, 8/5

149. (i) प्रदेशाः कर्मपुद्गलाः जीव-प्रदेशेष्वोतप्रोताः प्ररूप कर्म प्रदेशकर्म।-भगवती सूत्र, वृत्ति 1/4/40
(ii) सर्वार्थसिद्धि, 8/3/379
(iii) कषायपाहुड़, 2/212
(iv) तत्त्वार्थसूत्र, 8/25

150. (i) कर्म ग्रन्थ, 5/85
(ii) स्वोपात्तस्यायुष उदयात्तस्मिन् भवे शरीरेण सहाऽवस्थानं स्थितिः। - सर्वार्थसिद्धि, 8/3/379

151. कर्म ग्रन्थ, 1/18

152. तत्त्वार्थ सूत्र 8/21-22

153. शुभाशुभ-कर्मणां निर्जरा समये सुख-दुःख-फलदान-शक्ति युक्तो ह्यनुभागबन्धः। नियमसार, ता॰ वृ॰ 40

154. कम्माणं जोदु रसो अज्झवसाण-जाणिदो सुह असुहो वा बंधो सो अणुभागो...। मूलाचार, 1240

155. कर्म ग्रन्थ, 5/63

156. भगवती सूत्र, 1/1/1/1-6 प्र॰सं॰ ब्यावर

157. भगवती सूत्र, 2/3

158. प्रज्ञापना सूत्र, 23/2/21-29
159. योगशास्त्र, व्यास भाष्य, 2/13
160. उत्तराध्ययन सूत्र, 28/2-3
161. नवतत्व साहित्य संग्रह, सप्त तत्त्व प्रकरणम् 118-122, हेमचन्द्रसूरि
162. तत्त्वार्थ सूत्र, 1/4
163. दर्शन और चिन्तन, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ 216
164. सन्मति प्रकरण कुण्ड - सिद्धसेन दिवाकर, 3/69
165. पंचास्तिकाय टीका - श्री अमृतचन्द्र, पृष्ठ 296
166. लघीयस्त्रयअकलंकदेव, पृ० 62
167. आप्तमीमांसा, 105
168. अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका- हेमचन्द्र, 2/25
169. सन्मति प्रकरण कुण्ड 3/75, सिद्धसेन दिवाकर
170. ज्ञानसार- उ० यशोविजय
171. ईशावास्योपनिषद्, 5
172. आप्तमीमांसा, श्लोक 15
173. तत्त्वार्थ सूत्र, अ० 5
174. A Text book of Inorganic chemistry by J.R. Parting - N.P. 15
175. प्रमाण नय तत्वावलोक, वादिदेवसूरि 4/14
176. स्याद्वाद मंजरी, का० 23 की टीका
177. भगवती सूत्र, 12/10/469
178. पंचास्तिकाय, गा० 14
179. विशेषावश्यक भाष्य, गा० 2-32
180. प्रवचन सार, कुन्दकुन्दाचार्य, गा० 23
181. तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक, 1/6/52
182. (i) न्याय विनिश्चय, श्लोक 454
(ii) अष्ट सहस्त्री, पृष्ठ 139
183. भगवती सूत्र, 7/2/773
184. माध्यमिक कारिका, नागार्जुन
185. शांकर भाष्य - शंकराचार्य

ज्ञान मीमांसा (प्रमाण मीमांसा)

मानव व्यक्तित्व के विकास की दिशा में ज्ञान का सर्वाधिक महत्व है। मानव जीवन की सफलता उसके ज्ञान की मात्रा पर अवलंबित होती है। ज्ञान के अभाव में तो मनुष्य को मनुष्य ही नहीं कहा जा सकता। बौद्धिक एवं आत्मिक ज्ञान मानव को विकास की ऊँचाइयों पर पहुँचाता है। लेकिन इन्द्रिय ज्ञान तो प्रत्येक जीव के अस्तित्व की प्रथम आवश्यकता है। ज्ञान की मानव जीवन में बहुत अहं भूमिका है, अतः मनीषियों और दार्शनिकों ने ज्ञान का विशद् विवेचन किया है।

ज्ञान क्या है? ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है? ज्ञान प्राप्ति के साधन क्या हैं? क्या समस्त प्राप्त ज्ञान यथार्थ होता है? ज्ञान कितने प्रकार का होता है? आदि-आदि अनेक ज्ञान संबंधी प्रश्नों का अन्वेषण ज्ञान मीमांसा के अन्तर्गत किया जाता है।

ज्ञान का शाब्दिक अर्थ है, जानना। जानना आत्मा का गुण है। अर्थात ज्ञान आत्मा का गुण है। जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान 'स्व-आभासि' है।[1] ज्ञान का स्वरुप ज्ञान है, यह जानने के लिए अर्थ प्राकट्य (अर्थ बोध) की अपेक्षा नहीं है।

1. ज्ञान प्रमेय ही नहीं वरन् स्वयं प्रमाण भी है।
2. ज्ञान अचेतन नहीं जड़ प्रकृति का विकार नहीं वरन् आत्मा का गुण है।

जैन दर्शन के अनुसार पदार्थ का परिबोध या अधिगम प्रमाण और नय के द्वारा होता है, जैसा कि तत्वार्थसूत्र में कहा है :-

" प्रमाण नयैरधिगमः "[2]

अर्थात् प्रामण और नय के द्वारा तत्वों का अधिगम करने के लिए प्रमाण और नय उपायभूत हैं। इसलिए समस्त भारतीय दार्शनिकों ने प्रमाण को सर्वाधिक महत्व दिया है। प्रमाण से ही प्रमेय का प्रामाणिक परिबोध होता है। प्रमाण के बिना प्रमेय की सिद्धि नहीं हो सकती।

आध्यात्म और दर्शन के चिन्तकों ने समस्त विश्व के आकलन और संकलन की दृष्टि से प्रमाता-प्रमाण और प्रमेय की त्रिपुटी को स्वीकार किया है। इसी का दूसरा रुप ज्ञाता-ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी है। इस त्रिपुटी में विश्व के समस्त तत्वों और दर्शनों का समावेश हो जाता है। इस त्रिपुटी को केन्द्रबिन्दु मानकर ही भरतीय दर्शनशास्त्रों की रचना हुई और उनका उत्तरोत्तर विकास होता रहा है। विश्व में जो घटक प्रमाता है-ज्ञाता है, वह एक मात्र चेतन तत्व है, जो जीव कहा जाता है। जो

घटक अचेतन रुप हैं, वे ज्ञाता नहीं हो सकते, वे ज्ञेय हैं, प्रमेय हैं। प्रमाता जिस साधन से प्रमेय को जानता है, वह प्रमाण है। प्रमाता ने ज्ञान रुप प्रमाण द्वारा प्रमेय का शास्त्र में प्रमाण पर बहुत विस्तृत और व्यापक विचार किया है। नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा, वेदान्त, बौद्ध, चार्वाक और जैन आदि सभी दर्शनों ने अपने-अपने ढंग से प्रमाण पर अलग-अलग चिन्तन प्रस्तुत किया है।

जैन तत्वज्ञान में प्रमाण के विषय में विपुल साहित्य की रचना हुई है। जैनाचार्यों का प्रमाण की मीमांसा में बहुत महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

ज्ञान की उत्पत्ति : ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय के परस्पर संयोग से प्रकाशित होता है। ज्ञेय और ज्ञान दोनों स्वतंत्र हैं। ज्ञेय है- द्रव्य, गुण और पर्याय। ज्ञान आत्मा का गुण है।[1] न तो ज्ञेय से ज्ञान उत्पन्न होता है और न ज्ञान से ज्ञेय। हम जाने या न जानें फिर भी पदार्थ अपने रुप में अवस्थित हैं। यदि वे हमारे ज्ञान की ही उपज हों तो उनकी असत्ता में उन्हें जानने का हमारा प्रयत्न ही क्यों होगा? हम अदृष्ट वस्तु की कल्पना ही नहीं कर सकते।

पदार्थ ज्ञान के विषय बने अथवा न बने, फिर भी हमारा ज्ञान हमारी आत्मा में अवस्थित है। यदि हमारा ज्ञान पदार्थ की उपज हो तो वह पदार्थ का ही धर्म होगा। हमारे साथ उसका तादात्म्य नहीं हो सकेगा।

वस्तुस्थिति यह है, कि हम पदार्थ को जानते हैं, तब ज्ञान उत्पन्न नहीं होता वरन् वह उसका प्रयोग है, प्रकाश है। ज्ञान या जानने की क्षमता हममें विकसित रहती है। किंतु ज्ञान की आवृत्त दशा में हम पदार्थ को माध्यम के बिना जान नहीं सकते। हमारे शारीरिक इन्द्रिय और मन अचेतन हैं। इनसे पदार्थ का सम्बन्ध या सामिप्य होता है, तब वे हमारे ज्ञान को प्रवृत्त करते हैं और ज्ञेय जान लिए जाते हैं। जैसे- मित्र को देखकर प्रेम उमड़ आया- यह प्रेम की उत्पत्ति नहीं , उसकी प्रवृत्ति है। यही स्थिति ज्ञान की है। विषय के सामने आने पर वह उसे ग्रहण कर लेता है। यह प्रवृत्ति मात्र है। जितनी ज्ञान की क्षमता होती है, उसके अनुसार ही वह जानने में सक्षम होता है।

हमारा ज्ञान इन्द्रिय और मन के माध्यम से ही ज्ञेय को जानता है। इन्द्रियों की शक्ति सीमित है। वे अपने-अपने विषयों को मन के साथ सम्बन्ध स्थापित करके ही जान सकती हैं। मन का सम्बन्ध एक साथ एक ही इन्द्रिय से होता है। इसीलिए एक काल में एक पदार्थ के एक ही पर्याय(रुप) को जाना जा सकता है। इसलिए ज्ञान को ज्ञेयाकार मानने की भी आवश्यकता नहीं होती। यह सीमा आवृत ज्ञान के लिए है। अनावृत ज्ञान से एक साथ सभी पदार्थ जाने जा सकते हैं।[2]

सहज तर्क होगा, कि एक साथ सभी को जानने का तात्पर्य है, किसी को भी नहीं जानना। जिसे जानना है, उसे ही न जाना जाए और सबके सब जाने जाएँ तो व्यवहार कैसे चलेगा? ये ज्ञान का सांकर्य है।

जैन दर्शन में इसका समाधान इस प्रकार किया है, कि पदार्थ अपने-अपने रुप में है, वे संकर नहीं बनते। अनन्त पदार्थ हैं और ज्ञान के पर्याय भी अनन्त हैं। अनन्त के द्वारा अनन्त का ग्रहण होता है, यह सांकर्य नहीं है।[1]

भाषा में एक साथ एक ही ज्ञेय के निरुपण की क्षमता है। उसके द्वारा अनेक ज्ञेय के निरुपण की मान्यता को संकर कहा जा सकता है, किन्तु ज्ञान की स्थिति उससे सर्वथा भिन्न है। इसलिए ज्ञान की अनन्त पर्यायों के द्वारा अनन्त ज्ञेयों को जानने में कोई बाधा नहीं आती। विषय के स्थूल रुप या वर्तमान पर्याय का ज्ञान हमें इन्द्रियों से मिलता है, उसके सूक्ष्म रुप या भूत और भावी पर्यायों की जानकारी मन से मिलती है। इन्द्रियों में कल्पना, संकलन और निष्कर्ष का ज्ञान नहीं होता। मन दो या उनसे अधिक बोधों को मिलाकर कल्पना कर सकता है। अनेक अनुभवों को जोड़ सकता है और उनके निष्कर्ष निकाल सकता है। इसलिए यह सत्य नहीं है, कि ज्ञान विषय से उत्पन्न होता है या उसके आकार का ही होता है। इन्द्रिय का ज्ञान बाहरी विषय से ही प्राप्त होता है और उसके बिना भी।

ज्ञान और ज्ञेय का विषय-विषयी भाव संबंध है।[2] जैन मतानुसार-

1. ज्ञान अर्थ में प्रविष्ट नहीं होता, अर्थ ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होता।
2. ज्ञान अर्थाकार नहीं है।
3. अर्थ से उत्पन्न नहीं है।
4. अर्थ रुप नहीं है- तात्पर्य यह है, कि इनमें पूर्ण अभेद नहीं है। प्रमाता ज्ञान-स्वभाव होता है, इसलिए वह विषयी है। अर्थ ज्ञेय-स्वभाव होता है, इसलिए वह विषय है। दोनों स्वतंत्र हैं, फिर भी ज्ञान में अर्थ को जानने की और अर्थ में ज्ञान के द्वारा जाने जा सकने की क्षमता है। वही दोनों के कथंचित अभेद का हेतु है।

ज्ञान के भेद- ज्ञान दो प्रकार का होता है-

1. यथार्थ ज्ञान या प्रमाण एवं
2. अयथार्थ ज्ञान या समारोप।

सम्यक् निर्णायक ज्ञान यथार्थ होता है। जिस ज्ञान में संशय, विपर्यास, अनध्यवसाय न हो, वह ज्ञान दार्शनिक दृष्टिकोण से यथार्थ ज्ञान माना जाता है।[3]

इसके विपरीत जो ज्ञान संशय, विपर्यय आदि समारोपों से युक्त हो, सर्प को रस्सी समझने के समान विपरीत बोध रुप है या अनिर्णायक हो उसे दार्शनिक दृष्टि से अयथार्थ ज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान कहते हैं।

प्रमाण : यथार्थ ज्ञान प्रमाण है। ज्ञान और प्रमाण का व्याप्य-व्यापक का सम्बन्ध है। ज्ञान व्यापक है और प्रमाण व्याप्य। वस्तु का संशय आदि से रहित जो निश्चित ज्ञान होता है, वह प्रमाण है।

'सम्यग्ज्ञानात्मकं तत्र प्रमाणमुपवर्णितम्।'[10]

तत्वार्थसार में आचार्य अमृत चन्द्र ने प्रमाण और नयों में प्रमाण को सम्यग्ज्ञानरुप कहा है अर्थात् समीचीन ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। जो वस्तु जैसी है, उसको वैसे ही जानना प्रमाण है।

प्रमाण के सामान्य लक्षण में किसी की आपत्ति नहीं है। विवाद का विषय करण बनता है। न्याय दर्शन ने अर्थ की उपलब्धि के साधन को प्रमाण माना है। दूसरे शब्दों में प्रमाण (ज्ञान) के साधकतम करण को प्रमाण कहा है।

'प्रमायाः करणं प्रमाणं'[11] अर्थात् प्रमा का करण ही प्रमाण है। करण का अर्थ है, साधकतम। एक अर्थ की सिद्धि में अनेक सहयोगी होते है, किंतु वे सब करण नहीं कहलाते। फल की सिद्धि में जिसका व्यापार-अध्यवसाय होता है। वह करण कहलाता है। कलम बनाने में हाथ और चाकू दोनों चलते हैं, किंतु करण चाकू ही होगा। कलम काटने का निकटतम सम्बन्ध चाकू से है, हाथ से उसके बाद। इसलिए हाथ साधक और चाकू साधकतम कहलाएगा। यह दर्शन इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध रुप सन्निकर्ष को ज्ञान में साधकतम मानता है और उसे प्रमाण बताता है। वैशेषिक दर्शन भी सन्निकर्ष को प्रमाण मानता है। लेकिन जैन दर्शन ने स्पष्ट रुप से सन्निकर्ष की प्रमाणता का खण्डन किया है।

जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान एक चेतन क्रिया है, अतः उसका साधकतम करण भी ज्ञान ही हो सकता है। सन्निकर्ष प्रमाण का साधकतम करण नहीं हो सकता, क्योंकि वह अचेतन है। जो अचेतन होता है, वह ज्ञान का साधकतम करण नहीं हो सकता, जैसे घटादि जड़ पदार्थ। सन्निकर्ष जड़ है अतएव वह साधकतम करण और प्रमाण नहीं हो सकता। सन्निकर्ष ज्ञान में सहकारी करण हो सकता है, साधकतम करण नहीं।[12]

इसी प्रकार बौद्ध सारुप्य और योग्यता को करण मानते हैं। बौद्ध दर्शन ने निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमाण माना है। निर्विकल्पक ज्ञान वह है, जिसमें पदार्थ की सत्ता मात्र का बोध होता है, उसके नाम, जाति आदि विशेष का ज्ञान नहीं होता। जैन दर्शन इस निर्विकल्पक ज्ञान की प्रमाणता को स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार जो ज्ञान व्यवसायात्मक अर्थात् निश्चयात्मक होता है, वही प्रमाण है। सत्ता मात्र को ग्रहण करने वाला निर्विकल्पक ज्ञान और अवग्रह से पूर्व होने वाला दर्शन (अव्यक्त बोध) प्रमाण नहीं है, क्योंकि उनसे पदार्थ के स्वरुप का निश्चय नहीं होता है।

ज्ञान मात्र प्रमाण नहीं है, अपितु जो ज्ञान व्यवसायात्मक होता है, वही प्रमाण की कोटि में आता है। यदि ज्ञान मात्र को प्रमाण माना जाये तो विपर्यय, संशय और अनध्यवसाय को भी प्रमाण कहना होगा, क्योंकि ज्ञान तो इनमें भी है, चाहे वह अनिर्णित, विपरीत व संकित हो। विपरीत ज्ञान की प्रमाणता के निषेध के लिए ही ज्ञान

को व्यवसायात्मक एवं निश्चयात्मक कहा गया है। चरक में वादमार्ग पदों में एक स्वतंत्र व्यवसाय पद है।

"अथ व्यवसायः- व्यवसायो नाम निश्चयः"[13]

सिद्धसेन से लेकर सभी जैन तार्किकों ने प्रमाण को स्वपर व्यवसायि माना है। वार्तिककार शान्त्याचार्य ने न्यायावतारगत अवभास शब्द का अर्थ करते हुए कहा है, कि-

"अवभासो व्यवसायो न तु ग्रहण मात्रकम्"[14]

अकलंकदेव आदि सभी तार्किकों ने प्रमाण लक्षण में व्यवसाय पद को स्थान दिया है और प्रमाण को व्यवसायात्मक[15] माना है। यह कोई आकस्मिक बात नहीं है। न्यायसूत्र में प्रत्यक्ष को व्यवसायात्मक कहा है। सांख्याकारिका में भी प्रत्यक्ष को अध्यवसायरुप कहा है। इसी प्रकार जैन आगमों में भी प्रमाण को व्यवसाय शब्द से परिभाषित किया गया है। जैसा कि तत्वार्थसार में कहा है-

"सम्यग्ज्ञानं पुनः स्वार्थ व्यवसायात्मकं विदुः।"[16]

अर्थात् जो स्वपर का व्यवसायात्मक ज्ञान है, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार जैन दर्शन उसी ज्ञान को प्रमाण मानता है, जो स्वयं को भी जाने और स्व से भिन्न पर पदार्थ को भी जाने। न केवल जाने अपितु निश्चयात्मक और यथार्थ रुप में जाने। प्रमाण की उपयोगिता यह है, कि वह उपादेय, हेय और उपेक्षणिय ठीक-ठीक ढंग से जानें।

हेय-उपादेय एवं उपेक्षणिय का यह विवेक तभी संभव है, जब उसे ज्ञान रुप माना जाये। यदि प्रमाण को ज्ञानरुप न मानकर अज्ञानरुप माना जाएगा, तो वह हेय-उपादेय का सम्यक् विवेक नहीं कर सकेगा और उस दशा में प्रमाण की कोई सार्थकता या उपयोगिता तभी है, जब वह हेय-उपादेय का विवेक और स्व-पर का सम्यक् परिज्ञान कर सके। जैसा कि आचार्य सिद्धसेन ने प्रमाण का लक्षण बताया है-

"प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्।"[17]

अर्थात् स्व और पर को प्रकाशित करने वाला अबाधित ज्ञान प्रमाण है।

प्रमाण-चतुष्टय सिद्धि : प्रमाण के लक्षण में कहा गया है, कि वह स्व-पर को जानने वाला होता है। स्व का अर्थ है ज्ञान और पर का अर्थ है- पदार्थ। जो ज्ञान अपने स्वयं को और घट-पटादि पदार्थ को जानता है, प्रमाण है। जैसा कि वादिदेव सूरि प्रमाण का स्वरुप बताते हैं-

"स्व पर व्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्॥"[18]

अर्थात् स्व और पर को निश्चित रुप से जानने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है। जैनाचार्यों ने प्रमाण के लक्षण में स्व-पर शब्द का उल्लेख विशेष प्रयोजन को लेकर किया है। वह प्रयोजन है- शून्यवादी बौद्धों और ज्ञानाद्वैतवादी वेदान्त दर्शन की मान्यताओं को निरस्त करना।

शून्यावादी बौद्ध घटपटादि बाह्य पदार्थों को और ज्ञान को भी स्वीकार नहीं करता। वह कहता है, कि संसार में न तो कोई बाह्य पदार्थ है और न बाह्य पदार्थों को जानने वाला ज्ञान ही है। न कोई प्रमाता है, न कोई प्रमेय। न प्रमाण है और न प्रमिति है। प्रमाता-प्रमेय-प्रमाण और प्रमिति से सर्वथा रहित केवल शून्यता ही सब कुछ है और कुछ नहीं है। जो प्रमाता-प्रमेय-प्रमाण-प्रमिति आदि कहे जाते हैं, वास्तव में वे सब मिथ्या हैं, काल्पनिक हैं। शून्यता ही वास्तविक है, यह शून्यवादी बौद्ध का मन्तव्य है। विज्ञानवादी बौद्ध कहता है, कि घटपटादि बाह्य पदार्थ वास्तविक नहीं है। ये सब ज्ञान की ही विविध पर्याय हैं, अतएव ज्ञान ही तत्व है, बाह्य घट-पटादि पदार्थ जो प्रतीत होते हैं, वे मिथ्या हैं। वेदान्त दर्शन भी बाह्य-पदार्थ को मिथ्या कहता है। उसके अनुसार 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'[19] केवल परब्रह्म ही वास्तविक है और शेष सारा जगत् मिथ्या है।

उपर्युक्त धारणाओं को खण्डित करने के लिए जैन दर्शन ने प्रमाण के लक्षण में 'स्व-पर' शब्द का उल्लेख किया है। इसके द्वारा यह प्रतिपादित किया है, कि विश्व में ज्ञान भी है, ज्ञेय भी है। प्रमाण-प्रमेय-प्रमाता-प्रमिति आदि वास्तविक तत्व हैं। ये काल्पनिक नहीं हैं, अपितु सत्य हैं। ज्ञान भी सत् है, ज्ञेय भी सत्, ज्ञाता भी सत् है, ज्ञान का फल भी सत् है। प्रमाण-प्रमेय-प्रमाता-प्रमिति रूप तत्त्व चतुष्टयी पारमार्थिक है, काल्पनिक नहीं है। इस जैन सिद्धान्त को प्रतिपादित करने हेतु प्रमाण के लक्षण 'स्व-पर' शब्द का उल्लेख किया गया है। इसका अर्थ है, कि प्रमाण अपने को भी जानता है और पर पदार्थ को भी जानता है। जैन दर्शन सम्मत प्रमाण के लक्षणों में प्रमाण के विभिन्न स्वरूप को लक्ष्यगत रखकर विभिन्न दृष्टिकोण व्यक्त किए गए हैं। वे सभी अपने-अपने स्थान पर सही है, तथापि प्रमाण का सर्वमान्य एवं पर्याप्त लक्षण है, निश्चयात्मक ज्ञान अथवा सम्यक् निर्णय।

आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाण को अधिक परिष्कृत रुप में परिभाषित किया है-

''सम्यगर्थ निर्णयः प्रमाणम्।''[20]

अर्थात् अर्थ का सम्यक निर्णय प्रमाण है। पदार्थ जैसा है, उसे उसी रुप में जानना। संशय, विपयर्य एवं अनध्यवसाय रहित निश्चयात्मक एवं व्यवसायात्मक ज्ञान ही सम्यक ज्ञान है, जो प्रमाणरुप है।

प्रमाण के द्वारा जो साधा जाय निष्पन्न किया जाय वह प्रमाण का फल है।[21] सभी प्रमाणों का साक्षात् फल होता है, अज्ञान की निवृत्ति।[22] प्रत्यक्ष, परोक्ष आदि सभी ज्ञानों का साक्षात् फल अज्ञान का हट जाना ही है।

अज्ञान निवृत्ति रुप साक्षात् फल के फल को परम्परा फल कहते हैं, क्योंकि यह अज्ञान निवृत्ति से उत्पन्न होता है। परम्परा फल सब ज्ञानों का समान नहीं है। केवलज्ञान का परम्परा फल उदासीनता है।[23] इसके अतिरिक्त शेष प्रमाणों का परम्परा फल समान है। ग्राह्य पदार्थों को ग्रहण करने का भाव, त्याज्य पदार्थों को त्यागने का

भाव और उपेक्षणीय पदार्थों पर उपेक्षा करने का भाव होना प्रत्यक्ष, परोक्ष आदि प्रमाणों का परम्परा फल है।[24] प्रमाण तभी सफल होता है, जब उसके द्वारा उक्त प्रयोजन सिद्ध होते हों। यह तभी संभव हो सकता है, जब प्रमाण को ज्ञानरूप स्वीकार किया जाय। इसलिए जैन दर्शन ने सम्यग्ज्ञान, यथार्थ ज्ञान को प्रमाण का लक्षण माना है।

जब ज्ञान ही प्रमाण है और प्रमाण ज्ञानरूप है, तो ज्ञान और प्रमाण में क्या अन्तर है? समाधान यह है, कि ज्ञान व्यापक है और प्रमाण व्याप्त है। दोनों में व्याप्त-व्यापक भाव सम्बन्ध है। ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकार का होता है। सम्यग्ज्ञान यथार्थ ज्ञान है और संशय विपर्ययादि अयथार्थ ज्ञान हैं। प्रमाण तो यथार्थ ज्ञान रूप ही होता है। अतएव समस्त जैनाचार्यों ने प्रमाण के लक्षण में यथार्थ ज्ञान-सम्यग्ज्ञान की अनिवार्यता प्रतिपादित की है।

ज्ञान मीमांसा का प्रमाण मीमांसा से स्वातंत्र्य : जैन आगमों में ज्ञान मीमांसा के अन्तर्गत पंच ज्ञान का विवेचन किया गया है। आगमों में ज्ञान चर्चा के साथ अन्य दर्शनों में प्रसिद्ध प्रमाण चर्चा का कोई सम्बन्ध या समन्वय स्थापित नहीं किया गया है। इन ज्ञानों में ही सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के भेद के द्वारा जैनागमिकों ने वही प्रयोजन सिद्ध किया है, जो दूसरों ने प्रमाण और अप्रमाण के विभाग के द्वारा सिद्ध किया है। अर्थात् आगमिकों ने प्रमाण या अप्रमाण ऐसे विशेषण दिए बिना ही प्रथम के तीनों ज्ञानों में अज्ञान-विपर्यय-मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व दोनों ही संभावना मानी है और अन्तिम दो में एकान्त सम्यक्त्व ही बतलाया है। इस प्रकार ज्ञानों को प्रमाण या अप्रमाण न कह करके भी उन विशेषणों का प्रयोजन तो निष्पन्न कर ही दिया है।

जैन दार्शनिक अन्य दर्शनों में प्रचलित प्रमाण-अप्रमाण चर्चा से अनभिज्ञ नहीं थे। किन्तु वे उस चर्चा को अपनी मौलिक और स्वतन्त्र ज्ञान चर्चा से पृथक् ही रखते थे। जब आगमों में ज्ञान का वर्णन आता है, तब प्रमाणों या अप्रमाणों से उन ज्ञानों का क्या सम्बन्ध है, उसे बताने का प्रयास नहीं किया है। इसी प्रकार प्रमाण मीमांसा में किसी प्रमाण को ज्ञान कहते हुए भी आगम विवेचित पाँच ज्ञानों का समावेश और समन्वय उसमें किस प्रकार है, यह भी नहीं बताया है, इससे फलित यही होता है, कि आगम वेत्ताओं ने ज्ञान मीमांसा एवं प्रमाण मीमांसा का समन्वय करने का प्रयास नहीं किया- दोनों को पृथक्-पृथक् ही रखा है।

ज्ञान मीमांसा के विकास की भूमिकाएँ : जैन परम्परा में पंच ज्ञान चर्चा भगवान महावीर से पूर्व भी होती थी। इसका प्रमाण राज प्रश्नीय सूत्र में है। भगवान महावीर ने अपने मुख से अतीत में होने वाले केशीकुमार श्रमण का वृत्तान्त राज प्रश्नीय में कहा है। शास्त्रकार ने केशीकुमार श्रमण के मुख से निम्न वाक्य कहलाया है:

"एवं खु पएसी अम्हं समणाणं निग्गंथाणं पंचविहे नाणे पण्णते-तंजहा आभिणिबोहियनाणे सुयनाणे ओहिणाणे मणपज्जवणाणे केवलणाणे।"[25]

इस वाक्य से स्पष्ट फलित होता है, कि कम से कम उक्त आगम के संकलनकर्त्ता के मत से पूर्व भी श्रमणों में पंचज्ञान की मान्यता थी, जो निर्मूल भी नहीं है। उत्तराध्ययन के 23वें अध्ययन से यह स्पष्ट है, कि भगवान महावीर ने आचार विषयक कुछ संशोधनों के अतिरिक्त तीर्थंकर पार्श्वनाथ द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान में संशोधन नहीं किया।[6] यदि महावीर ने तत्त्वज्ञान में भी कुछ नई संकल्पनाएँ प्रतिपादित की होती तो उनका निरूपण भी आगमों में अवश्य ही होता।

आगमों में पाँच ज्ञानों के भेदोपभेदों का जो वर्णन है, जीव मार्गणाओं में पाँच ज्ञानों की जो घटना वर्णित है तथा पूर्वगत में ज्ञानों का स्वतन्त्र निरुपण करने वाला जो ज्ञान प्रवाद पूर्व है, इन सबसे यही फलित होता है, कि पंचज्ञान की चर्चा भगवान महावीर ने नयी प्रारंभ नहीं की है, वरन् पूर्व परम्परा जो चली आ रही थी, उसी का नवीन रूप से प्रवर्तन किया है।

इस ज्ञान मीमांसा के विकास क्रम को समझने के लिए आगम में हमें उनकी तीन भूमिकाएँ स्पष्ट दिखाई देती हैं –

1. प्रथम भूमिका में ज्ञानों को पाँच भेदों में ही विभक्त किया गया है।
2. द्वितीय भूमिका में ज्ञानों को प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेदों में विभक्त करके पाँच ज्ञानों में से मति और श्रुत को परोक्षान्तर्गत और शेष अवधि, मनः पर्याय और केवलज्ञान का प्रत्यक्ष में अन्तर्निहित किया गया है। इस भूमिका में लोकानुसरण करके इंद्रिय जन्य प्रत्यक्ष को अर्थात् इन्द्रियज-मति को प्रत्यक्ष में स्थान नहीं दिया है, किन्तु जैन सिद्धान्त के अनुसार जो ज्ञान आत्म मात्र सापेक्ष है, उन्हें ही प्रत्यक्ष में स्थान दिया गया है। जो ज्ञान आत्मा के अतिरिक्त अन्य साधनों की भी अपेक्षा रखते हैं, उनका समावेश परोक्ष में किया गया है। यही कारण है, कि इन्द्रिय जन्य ज्ञान जिसे जैनेतर सभी दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष कहा है, जैन आगमिकों ने उसे प्रत्यक्ष के अन्तर्गत नहीं माना है।
3. तृतीय भूमिका में इन्द्रिय जन्य ज्ञानों को प्रत्यक्ष और परोक्ष उभय में स्थान दिया गया है। इस भूमिका में लोकानुसरण स्पष्ट है।

प्रथम भूमिका के अनुसार ज्ञान का वर्णन हमें भगवती सूत्र में मिलता है। उसके अनुसार ज्ञान को निम्नलिखित सारीणी के रूप में विभक्त किया जा सकता है-

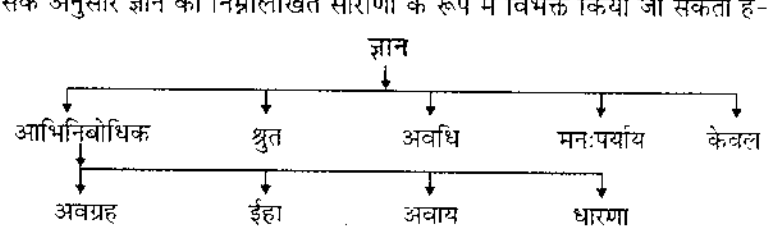

सूत्रकार ने आगे का वर्णन राजप्रश्नीय से पूर्ण करने की सूचना दी है और राजप्रश्नीय[18] को देखने से ज्ञात होता है, कि उसमें पूर्वोवत करके शेष की पूर्ति नन्दी सूत्र से कर लेने की सूचना दी है।

सार यही है, कि शेष वर्णन नन्दी के अनुसार होते हुए भी अन्तर यह है, कि इस भूमिका में नन्दीसूत्र के प्रारंभ में कथित प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदों का जिक्र तक नहीं है। दूसरी बात यह भी है, कि नन्दी की तरह इसमें आभिनिबोध ज्ञान के श्रुत-निःसृत और अश्रुत निःसृत ऐसे दो भेदों को भी स्थान नहीं है। इससे यही कहा जा सकता है, कि यह वर्णन प्राचीन भूमिका का है।

2. द्वितीय भूमिका का विवेचन स्थानांग गत ज्ञान चर्चा में मिलता है। उसमें ज्ञान को प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेदों में विभक्त करके उन्हीं दो में पंच ज्ञानों की योजना की गई है।[19] यह प्राथमिक भूमिका का विकास है, जो इस सारणी में स्पष्ट रूप से परिलक्षित है -

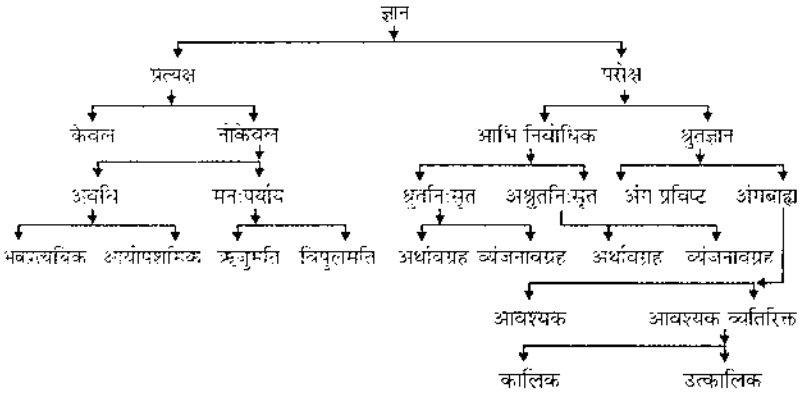

उपर्युक्त आधार पर ही उमास्वाति ने भी प्रमाणों को प्रत्यक्ष और परोक्ष में विभक्त करके उन्हीं दो में पाँच ज्ञानों का समावेश किया है।[20]

पश्चातवर्ती जैन तार्किकों ने प्रत्यक्ष के दो भेद बताए हैं - विकल और सकल।[21] केवल का अर्थ तो है - सर्वसकल और नोकेवल का अर्थ होता है, असर्व-विकल। अतएव तार्किकों के उक्त वर्गीकरण को मूल स्थानांग, जितना तो पुराना मानना ही चाहिये।

यहाँ एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। स्थानांग में श्रुत निःसृत के भेदरूप से व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह ये दो बताए हैं। वस्तुतः वहाँ इस प्रकार कहना चाहिये था-

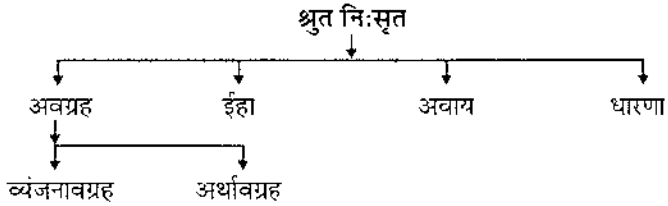

लेकिन स्थानांग में द्वितीय स्थानक का प्रकरण होने से दो-दो बातें गिनना चाहिये, ऐसा समझकर अवग्रह, ईहा आदि चार भेदों को छोड़कर सीधे अवग्रह के दो भेद ही गिनाये गए हैं।

एक अन्य बात की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। अश्रुतनिःसृत के भेद रूप से भी व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह बताया है, जबकि वहाँ भी टीकाकार के मत से निम्नलिखित वर्गीकरण होना चाहिये -

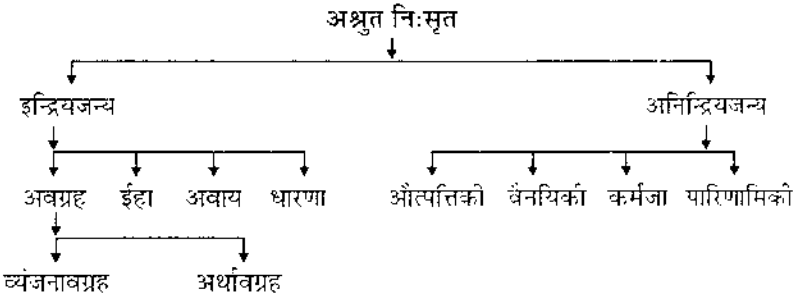

औत्पत्तिकी आदि चार बुद्धियाँ मानस होने से उनमें व्यंजनावग्रह का संभव नहीं। अतएव मूल सूत्रकार का कथन इन्द्रियजन्य अश्रुत निःसृत की अपेक्षा से द्वितीय स्थानक के अनुकूल हुआ है, यह टीकाकार का स्पष्टीकरण है। लेकिन यहाँ प्रश्न है, कि क्या अश्रुत निःसृत में औत्पत्तिकी आदि के अतिरिक्त इन्द्रयज ज्ञानों का समावेश साधार है? तथा क्या आभिनिबोधिक के श्रुत निःसृत और अश्रुतनिःसृत ये भेद प्राचीन हैं? अर्थात् क्या ऐसा भेद प्रथम भूमिका के समय होता था?

नन्दीसूत्र जो, कि मात्र ज्ञान की ही विस्तृत चर्चा करने के लिए बना है, उसमें श्रुत निःसृत मति के ही अवग्रह आदि चार भेद हैं और अश्रुत निःसृत के भेदरूप से चार बुद्धियों को गिना दिया गया है। उसमें इन्द्रियज अश्रुत निःसृत को कोई स्थान नहीं है। अतएव टीकाकार का स्पष्टीकरण, कि अश्रुतनिःसृत के वे दो भेद इन्द्रियज अश्रुतनिःसृत की अपेक्षा से समझना चाहिये, नन्दीसूत्रानुकूल नहीं, वरन् कल्पित है। मतिज्ञान के श्रुतनिःसृत और अश्रुतनिःसृत ऐसे दो भेद भी प्राचीन नहीं। दिगम्बरीय

वाङ्मय में मति के ऐसे दो भेद करने की प्रथा नहीं है। आवश्यक निर्युक्ति के ज्ञान वर्णन में भी मति के उन दोनों भेदों को स्थान नहीं दिया गया है।

आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में भी उन दोनों भेदों का उल्लेख नहीं किया है। यद्यपि स्वयं नन्दीकार ने नन्दी में मति के श्रुतनिःसृत और अश्रुतनिःसृत ये दो भेद तो किए हैं, तथापि मतिज्ञान को पुरानी परम्परा के अनुसार अठाईस भेद वाला ही कहा है।[32] उससे यही सूचित होता है, कि औत्पत्तिकी आदि बुद्धियों का मति में समाविष्ट करने के लिए ही उन्होंने मति के दो भेद तो किए,[33] लेकिन प्राचीन परम्परा में मति में उनका स्थान न होने से नन्दीकार ने उसे अठाईस भेद भिन्न कहा है। अन्यथा उन चार बुद्धियों को मिलाने से तो वह बत्तीस भेद भिन्न हो जाता है।

3. तृतीय भूमिका नन्दीसूत्रगत ज्ञानचर्चा में व्यक्त होती है वह इस प्रकार है -

"ज्ञान पञ्चविधं प्रज्ञप्तं, तद्यथा- 1. आभिनिबोधिकज्ञानं, 2. श्रुतज्ञानं, 3. अवधिज्ञानं, 4. मनःपर्यवज्ञानं, 5. केवलज्ञानं॥ सू. 1॥"

"तं समासओ दुविहं पण्णत्तं, तंजहा- पंच्चक्खं च परोक्खं च।" सू. 2

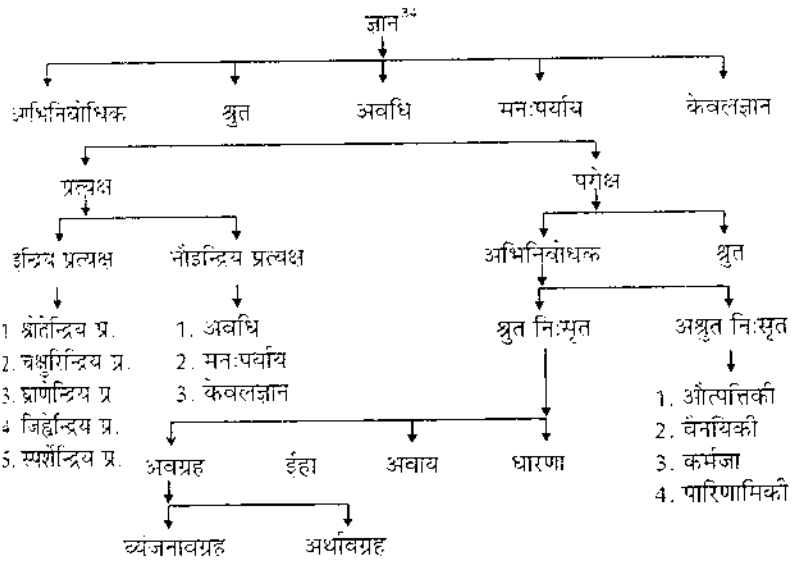

उपर्युक्त सारीणी को देखने से ज्ञात होता है, कि इसमें सर्वप्रथम ज्ञान को पाँच भागों में विभक्त किया गया है। संक्षेप में उन्हीं पाँच को प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो प्रमाणों में विभक्त किया गया है। स्थानांग सूत्र में विशेषता यह है, कि इसमें इन्द्रिय जन्य मतिज्ञानों का स्थान प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों में है। जैनेतर सभी दर्शनों में

इन्द्रियजन्य ज्ञानों को परोक्ष नहीं, अपितु प्रत्यक्ष माना है। इन्द्रिय ज्ञान को प्रत्यक्ष में स्थान देकर उस लौकिक मत का समन्वय करना भी नन्दीकार को अभिप्रेत था।

आचार्य जिनभद्र ने इस समन्वय को लक्ष्य में रखकर ही स्पष्टीकरण किया है, कि वस्तुतः इन्द्रिय प्रत्यक्ष को सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष कहना चाहिये। अर्थात् लोक व्यवहार के अनुरोध से ही इन्द्रियज मति को प्रत्यक्ष कहा गया है। वस्तुतः वह परोक्ष ही है। क्योंकि प्रत्यक्ष-कोटि में परमार्थतः आत्ममात्र सापेक्ष ऐसे अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीन ही हैं। अतः इस भूमिका में ज्ञानों का प्रत्यक्ष परोक्षत्व व्यवहार इस प्रकार स्थिर हुआ है-

1. अवधि, मनः पर्याय और केवल ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष है।
2. श्रुत परोक्ष ज्ञान ही है।
3. इन्द्रिय जन्य मतिज्ञान पारमार्थिक दृष्टि से परोक्ष है और व्यावहारिक दृष्टि से प्रत्यक्ष है।
4. मनोजन्य मतिज्ञान परोक्ष ही है।

आचार्य अकलंक ने तथा तदनुसारी अन्य जैनाचार्यों ने प्रत्यक्ष के सांव्यावहारिक और पारमार्थिक ऐसे जो भेद किए हैं, जो उनकी नयी सूझ नहीं है। वरन् उनका मूल नन्दीसूत्र और उसके जिनभद्रकृत स्पष्टीकरण में है।[5]

नन्दीसूत्र, स्थानांग सूत्र एवं अन्य अनेक प्राचीन आगमिक साहित्य से जैन दर्शन का ज्ञान विषयक विवेचन अन्य दर्शनों से सर्वथा पृथक् व अद्वितीय है। जैन आगमों में अद्वैतवादियों की तरह जगत को वस्तु और अवस्तु-माया में तो विभक्त नहीं किया है, किन्तु संसार की प्रत्येक वस्तु में स्वभाव और विभाव सन्निहित है, यह प्रतिपादित किया है। वस्तु का निरपेक्ष जो रूप है, वह स्वभाव है, जैसे आत्मा का चैतन्य, ज्ञान, सुख आदि और पुद्गल की जड़ता। किसी भी काल में आत्मा ज्ञान या चेतना रहित नहीं होती और पुद्गल में जड़ता भी त्रिकालाबाधित है। वस्तु का जो परसापेक्षरूप है, वह विभाव है, जैसे आत्मा का मनुष्यत्व, देवत्व आदि और पुद्गल का शरीर रूप परिणाम। मनुष्य को हम न तो केवल आत्मा ही कह सकते हैं, न केवल पुद्गल ही। इसी प्रकार शरीर भी केवल पुद्गल रूप नहीं कहा जा सकता। आत्मा का मनुष्य रूप होना भी परसापेक्ष है और पुद्गल रूप और शरीररूप होना भी परसापेक्ष है। अतः आत्मा का मनुष्य रूप और पुद्गल का शरीर रूप ये दोनों ही आत्मा और पुद्गल के विभाव हैं।

जैन दर्शन यह प्रतिपादित नहीं करता, कि स्वभाव ही सत्य है और विभाव मिथ्या है। उनके मत में विकलाबाधित वस्तु ही सत्य है, ऐसा एकान्त नहीं है। प्रत्येक वस्तु चाहे अपने विभाव में स्थित हो या स्वभाव में, सत्य है। तद्विषयक हमारा ज्ञान मिथ्या हो सकता है, जबकि हम स्वभाव को विभाव समझें या विभाव को स्वभाव।

तत् में अतत् का ज्ञान होने पर ही ज्ञान में मिथ्यात्व की संभावना रहती है।

विज्ञानवादी बौद्धों ने प्रत्यक्ष ज्ञान को वस्तुग्राहक और साक्षात्कारात्मक तथा इतर ज्ञानों को अवस्तुग्राहक, भ्रामक, अस्पष्ट और असाक्षात्कारात्मक माना है। जैनागमों में इन्द्रिय-निरपेक्ष एवं केवल आत्मसापेक्ष ज्ञान को ही साक्षारात्मक प्रत्यक्ष कहा है और इन्द्रिय सापेक्ष ज्ञानों को असाक्षात्कारात्मक और परोक्ष माना गया है।[35] जैन दृष्टि से प्रत्यक्ष ही वस्तु के स्वभाव और विभाव का साक्षात्कार कर सकता है और वस्तु का विभाव से पृथक् जो स्वभाव है, उसका स्पष्ट पता लगा सकता है। इन्द्रिय सापेक्ष ज्ञान में यह कभी संभव नहीं, कि वह किसी वस्तु का साक्षात्कार कर सके और किसी वस्तु के स्वभाव को विभाव से पृथक् कर उसको स्पष्ट जान सके, लेकिन इसका मतलब जैन मतानुसार यह कभी नहीं, कि इन्द्रिय सापेक्ष ज्ञान भ्रम है। विज्ञानवादी बौद्धों ने तो परोक्ष ज्ञानों को अवस्तु ग्राहक होने से भ्रम कहा है, किन्तु जैनाचार्यों ने वैसा नहीं माना। क्योंकि उनके मत में विभाव भी वस्तु का परिणाम है। अतएव वह भी वस्तु का एक रूप है। अतः उसका ग्राहक ज्ञान भ्रम नहीं कहा जा सकता। वह अस्पष्ट हो सकता है, साक्षात्कार रूप न भी हो, तब भी वस्तु स्पर्शी तो है ही।

उपर्युक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन प्राचीन काल के आगमों से लेकर अब तक के जैन साहित्य में अविच्छिन्न रूप से होता चला आया है।

जैन आगमों में प्रमाणचर्चा : जैन आगमों में प्रमाण मीमांसा का विवेचन ज्ञान से पृथक् स्वतंत्र रूप से किया गया है। अधिकांशतः आगमों में प्रमाण चर्चा के प्रसंग में नैयायिकादि सम्मत चार प्रमाणों का उल्लेख मिलता है। कहीं-कहीं तीन प्रमाणों का भी उल्लेख है।

भगवती सूत्र में गौतम स्वामी भगवान महावीर से पूछते हैं, कि जैसे केवलज्ञानी अंतकर या अंतिम शरीरी को जानते हैं, वैसे ही क्या छद्मस्थ भी जानते हैं? उसके उत्तर में भगवान महावीर ने कहा कि -

"गोयमा णो तिणट्ठे समट्ठे। सोच्चा जाणंति पासति पमाणतो वा। से किं तं सोच्चा? केवलिस्स वा केवलिसावयस्स वा केवलिसाविआए वा केवलिउवासगस्स वा केवलिउवासियाए वासे तं सोच्चा। से किं तं प्रमाणं? पमाणे चउविहे पण्णते-तंजहा पच्चक्खे अणुमाणें ओवम्मे आगमे जहा अणुओग द्वारे तत णेयव्वं पमाणं।"[37]

उपर्युक्त कथन में स्पष्ट है, कि पाँचों ज्ञानों के आधार पर उत्तर न देकर मुख्यरूप से प्रमाण की दृष्टि से उत्तर दिया गया है। 'सोच्चा' पद से श्रुतज्ञान को लिया जाए, तो विकल्प से अन्य ज्ञानों को लेकर उत्तर दिया जा सकता था। लेकिन ऐसा न करके पर दर्शनों में प्रसिद्ध प्रमाणों के आधार पर उत्तर दिया गया है। यह सूचित करता है, कि जैनेतर दर्शनों में प्रसिद्ध प्रमाणों से शास्त्रकार अनभिज्ञ नहीं थे और वे

स्वसम्मत ज्ञानों की तरह प्रमाणों को भी ज्ञप्ति में स्वतंत्र साधन मानते थे।

स्थानांग सूत्र में प्रमाण शब्द के स्थान पर हेतु शब्द का प्रयोग भी मिलता है। ज्ञप्ति के साधन भूत होने से प्रत्यक्षादि को हेतु शब्द से व्यवहृत करने में औचित्यभंग भी नहीं है। जैसे -

"अहवा हे ऊ चउविहे पण्णते,
तंजहा पच्चक्खे अणुमाणे ओवम्मे आगमे।"[138]

चरक संहिता में भी प्रमाणों का निर्देश हेतु शब्द से हुआ है -

"अथ हेतुः - हेतु र्नाम उपलब्धिकारणं तत् प्रत्यक्षमनुमान
मैत्तिह्यामौपम्यमिति। एभिहैतुभिर्यदुपलभ्यते तत् तत्वमिति॥"[139]

उपाय हृदय में भी चार प्रमाणों को हेतु कहा गया है।

स्थानांग में ऐतिह्य के स्थान में आगम किन्तु चरक संहिता में ऐतिह्य को आगम ही कहा है। अतएव दोनों में कोई अन्तर नहीं-

"ऐतिह्यं नामाप्तोपदेशो वेदादिः"[140]

अन्यत्र जैन निक्षेप पद्धति के अनुसार प्रमाण के चार भेद भी दिखाए गए हैं।

"चउविहे पमाणे पन्नत्ते तंजहा-दव्वप्पमाणे खेत्तप्पमाणे, कालप्पमाणे,
भावप्पमाणे।"[141]

उपर्युक्त सूत्र में प्रमाण शब्द का अति विस्तृत अर्थ लेकर ही उस के चार भेदों का परिगणन किया गया है। स्पष्ट है, कि इसमें दूसरे दार्शनिकों की तरह केवल प्रमेय साधक तीन, चार या छह आदि प्रमाणों का समावेश नहीं है, अपितु व्याकरण कोषादि से सिद्ध प्रमाण शब्द के यावत् अर्थों का समावेश करने का प्रयत्न किया गया है।

सांख्यादि सम्मत तीन प्रमाण[142] मानने की परम्परा का भी प्रचलन जैन दर्शन में पाया जाता है। प्रस्तुत सूत्र में तीन प्रकार के व्यवसाय का उल्लेख इसी बात को व्यक्त करता है-

"तिविहे ववसाए पण्णत्ते तंजहा-पच्चक्खे पच्चतिते अणुमामिए॥"[143]

इस सूत्र की व्याख्या करते हुए अभयदेव ने लिखा है, कि -

"व्यवसायो निश्चयः सच प्रत्यक्षः-अवधिमनः-पर्ययकेवलाख्यः, प्रत्ययात्
इन्द्रियानिन्द्रियलक्षणात् निमित्ताज्जातः प्रात्ययिकः, साध्यम् अग्न्या दिकम्
अनुगच्छति-साध्याभावे न भवति यो धूमादि हेतुः सोऽनुगामी ततो जातम्
अनुगामिकम्-अनुमानम् तद्रूपो व्यवसाय आनुगामिक एवेति। अथवा प्रत्यक्षः
स्वयंदर्शनलक्षणः, प्रात्ययिकः-आप्तवचन प्रभवः, तृतीयस्तथैवेति।"[144]

स्पष्ट है, कि उपर्युक्त सूत्र की व्याख्या में अभयदेव ने विकल्प किए हैं। अर्थात् उनको एकतर अर्थ का निश्चय नहीं था। वस्तुतः प्रत्यक्ष शब्द से सांव्यावहारिक और पारमार्थिक दोनों प्रत्यक्ष, प्रत्ययित शब्द से अनुमान और आनुगामिक शब्द से आगम,

सूत्रकार को अभिप्रेत माने जाएँ, तो सिद्धसेन सम्मत तीन प्रमाणों[5] का मूल उक्त सूत्र में मिल जाता है। सिद्धसेन ने न्याय परम्परा सम्मत चार प्रमाणों के स्थान में सांख्यादि सम्मत तीन ही प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम को माना है। आचार्य हरिभद्र को भी ये ही तीन प्रमाण मान्य हैं।[6]

ऐसा प्रतीत होता है, कि चरक संहिता में कई परम्पराएँ मिल गई हैं, क्योंकि कहीं तो उसमें चार प्रमाणों का वर्णन है, कहीं तीन का और विकल्प से कहीं दो का भी स्वीकार पाया जाता है। ऐसा होने का कारण यह है, कि चरक संहिता किसी एक व्यक्ति की रचना न होकर कालक्रम से संशोधन और परिवर्धन होते होते यह रूप बना है। यह बात अग्रसारिणी से स्पष्ट हो जाती है-

चरक संहिता :

सूत्र स्थान	अ.11	आप्तोपदेश	प्रत्यक्ष	अनुमान	युक्ति
विमान स्थान	अ. 4	आप्तोपदेश	प्रत्यक्ष	अनुमान	×
विमान स्थान	अ. 8	(ऐतिह्य) आप्तोपदेश	प्रत्यक्ष	अनुमान	औपम्य
विमान स्थान	अ. 8	×	प्रत्यक्ष	अनुमान	×
विमान स्थान	अ. 8	उपदेश	प्रत्यक्ष	अनुमान	×

यही स्थिति अन्य जैन आगमों की है। उसमें भी चार और तीन प्रमाणों की परम्पराओं ने स्थान पाया है।

स्थानांग के उक्त सूत्र से भी पाँच ज्ञानों से प्रमाणों का पार्थक्य सिद्ध होता ही है। क्योंकि व्यवसाय को पांच ज्ञानों से संबद्ध न कर प्रमाणों से संबद्ध किया है। जैसे वादिदेवसूरि लिखते हैं-

"स्वपर व्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्।"[7]

अर्थात् स्व और पर का निश्चयात्मक ज्ञान ही प्रमाण है। उसी प्रकार अन्य अनेक विद्वानों सिद्धसेन दिवाकर, उमास्वाति, हेमचन्द्रसूरि आदि ने व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण माना है, जिसका विस्तृत विवेचन हम पूर्व में प्रमाण के स्वरुप में कर चुके हैं।

इस प्रकार आगमों में ज्ञान और प्रमाण का सर्वथा समन्वय नहीं हुआ है, यह नहीं कहा जा सकता। उपर्युक्त तीन प्राचीन भूमिकाओं में असमन्वय होते हुए भी अनुयोग द्वार से यह स्पष्ट है, कि बाद में जैनाचार्यों ने ज्ञान और प्रमाण का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। लेकिन यह पंचज्ञानों का समन्वय स्पष्ट रुप से नहीं है, वरन् अस्पष्ट रुप से ही है। इस समन्वय का प्रथम दर्शन अनुयोगद्वार में ही होता है। न्याय दर्शन सम्मत चार प्रमाणों का ज्ञान में समावेश करने का प्रयत्न अनुयोग में ही है। लेकिन यह प्रयास जैन दृष्टि को पूर्णतया लक्ष्य में रखकर नहीं हुआ है। अतः बाद में आचार्यों ने इस प्रश्न को फिर से सुलझाने का प्रयत्न किया और वह इसलिए सफल

हुआ, कि उसमें जैन आगम के मौलिक पंचज्ञानों को आधरभूत मानकर ही जैन दृष्टि से प्रमाणों का विचार किया गया है।

स्थानांग सूत्र में प्रमाणों के द्रव्यादि चार भेद जो किए गए हैं, उनका विवेचन पूर्व में हो चुका है। जैन व्याख्या पद्धति का विस्तार से वर्णन करने वाला ग्रन्थ अनुयोग द्वार सूत्र है। उसके अध्ययन से ज्ञात होता है, कि प्रमाण के द्रव्यादि चार भेद करने की प्रथा जैनों की व्याख्यापद्धति मूलक है। शब्द के व्याकरण को वादि प्रसिद्ध सभी संभावित अर्थों का समावेश करके, व्यापक अर्थ में अनुयोगद्वार के रचयिता ने प्रमाण शब्द प्रयुक्त किया है, जो अग्रसारिणी से ज्ञात हो जाता है –

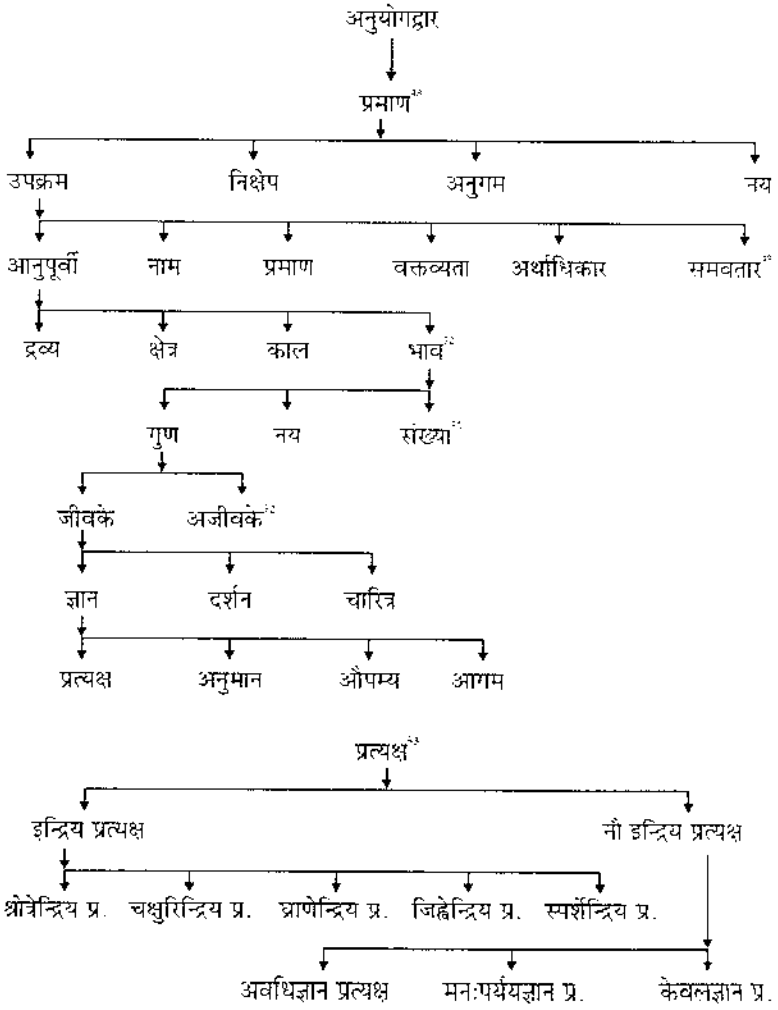

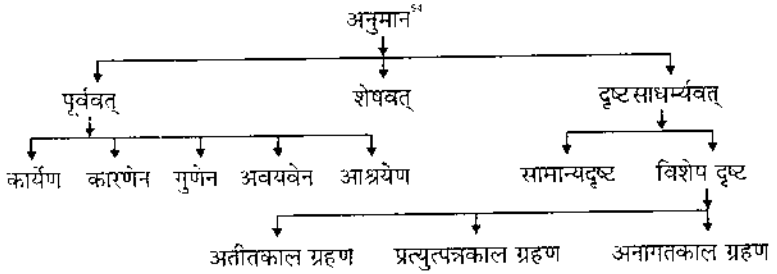

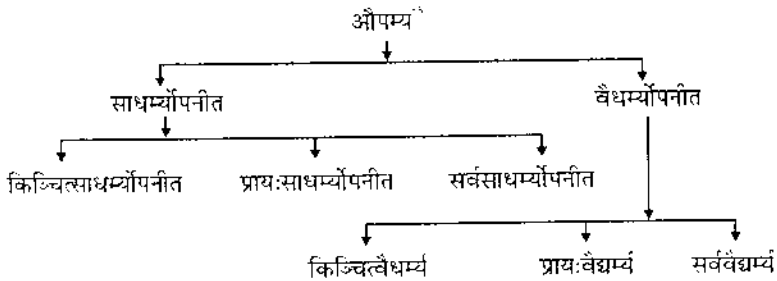

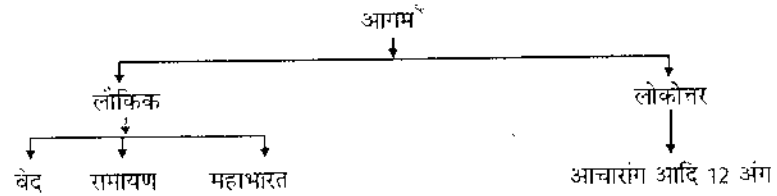

उपर्युक्त सारीणियों के अन्तर्गत जैन आगम सम्मत प्रमाण एवं प्रमाण के समस्त प्रकार एवं प्रकारान्तर भेदों का संपूर्ण विवेचन हो जाता है। अनुयोग द्वार में प्रारंभ में ही ज्ञान के पाँच भेद बताए हैं -

1. आभिनिबोधिक, 2. श्रुत, 3. अवधि, 4. मनःपर्यय व 5. केवलज्ञान। प्रमाण के विवेचन के प्रसंग में प्राप्त तो यह था, कि अनुयोगद्वार के संकलनकर्ता उन्हीं पाँच ज्ञानों को ज्ञान प्रमाण के भेदरूप से बता देते। लेकिन ऐसा न करके उन्होंने नैयायिक सम्मत चार प्रमाणों को ही ज्ञान प्रमाण के भेद रूप से बता दिया है। ऐसा करके उन्होंने यह सूचित किया है, कि दूसरे दार्शनिक जिन प्रत्यक्षादि चार प्रमाणों को मानते हैं, वस्तुतः वे ज्ञानात्मक हैं और आत्मा के गुण हैं।

इस समन्वय से यह भी फलित हो जाता है, कि अज्ञानात्मक सन्निकर्ष इन्द्रिय आदि पदार्थ प्रमाण नहीं हो सकते। अतएव हम देखते हैं, कि सिद्धसेन से लेकर

प्रमाण विवेचक सभी जैन दार्शनिकों ने प्रमाण के लक्षण में ज्ञान पद को अवश्य स्थान दिया है। इतना होते हुए भी जैन सम्मत पांच ज्ञानों में चार प्रमाण का स्पष्ट समन्वय करने का प्रयत्न अनुयोगद्वार के कर्त्ता ने नहीं किया है। अर्थात् यहाँ भी प्रमाण चर्चा और पंचज्ञान चर्चा का पृथक्करण ही सिद्ध है। शास्त्रकार ने यदि पंचज्ञानों में प्रमाणों को समन्वित करने का प्रयत्न किया होता, तो उनके मत से अनुमान और उपमान प्रमाण किस ज्ञान में समाविष्ट है, यह अस्पष्ट नहीं रहता। यह बात नीचे के समीकरण से प्राप्त होती है -

ज्ञान प्रमाण :

1.	अ) इन्द्रियजमति	प्रत्यक्ष
	ब) मनोजन्यमति	0
2.	श्रुत	आगम
3.	अवधि	प्रत्यक्ष
4.	मनःपर्यय	प्रत्यक्ष
5.	केवल	प्रत्यक्ष
6.	0	अनुमान
7.	0	उपमान

उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है, कि ज्ञान पक्ष में मनोजन्य मति को कौनसा प्रमाण कहा जाए तथा प्रमाण पक्ष में अनुमान और उपमान को कौनसा ज्ञान कहा जाए-यह बात अनुयोगद्वार में स्पष्ट नहीं की गई है। वस्तुतः देखें तो जैन ज्ञान प्रक्रिया के अनुसार मनोजन्यमति जो कि परोक्षज्ञान है, वह अनुयोग के प्रमाण वर्णन में समावेश नहीं पाता।

न्यायादिक शास्त्र के अनुसार मानस ज्ञान दो प्रकार का है, प्रत्यक्ष और परोक्ष। सुख-दुःखादि को विषय करने वाला मानस ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है और अनुमान, उपमान आदि मानस ज्ञान परोक्ष कहलाता हैं। अतएव मनोजन्यमति जो, कि जैनों के मतानुसार परोक्ष ज्ञान है, उसमें अनुमान और उपमान को अन्तर्भूत कर दिया जाय, तो उचित ही है। इस प्रकार पाँच ज्ञानों का चार प्रमाणों में समन्वय घटित हो सकता है। यदि यह अभिप्राय शास्त्रकार का भी है, तो कहना होगा कि पर-प्रसिद्ध चार प्रमाणों का पंचज्ञानों के साथ समन्वय करने की अस्पष्ट सूचना अनुयोगद्वार से मिलती है। लेकिन जैन दृष्टिकोण से प्रमाण विभाग और उसका पंचज्ञानों में स्पष्ट समन्वय करने का श्रेय तो उमास्वाति को ही है। उमास्वाति ने पाँच ज्ञानों को दो प्रमाणों में विभक्त किया है। प्रथम के दो ज्ञान परोक्ष प्रमाण है, शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

"तत् प्रमाणे। आद्येपरोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्।"[157]

इस समन्वय को हम इस प्रकार समझ सकते हैं-

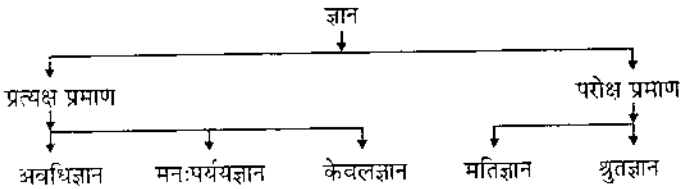

इस प्रकार यद्यपि आगम पश्चात काल में जैन दार्शनिकों ने जैन दृष्टि से प्रमाण विभाग किया है। तथापि प्राचीन आगमों में प्रमाण विचार जैन दृष्टि से स्वतंत्र रूप से नहीं किया गया है। अपितु उस काल प्रसिद्ध अन्य दार्शनिकों के प्रमाण विचारों का संग्रह मात्र किया है।

प्राचीन काल में प्रमाण भेद के संदर्भ में अनेक परम्पराएँ प्रसिद्ध रहीं। उनमें से तीन और चार भेदों का निर्देश आगम में मिलता है, जो पूर्वोक्त विवरण से स्पष्ट है। ऐसा होने का कारण यह है, कि प्रमाण विवेचन में निष्णात प्राचीन नैयायिकों ने प्रमाण के चार भेदों को ही स्वीकार किया है। उन्हीं का अनुकरण चरक और बौद्धों ने भी किया है। इसी का अनुकरण जैनागमों में भी हुआ है। प्रमाण के तीन भेद मानने की परंपरा भी प्राचीन है। इसका अनुकरण सांख्य, चरक और बौद्धों में हुआ है। यही परम्परा स्थानांगसूत्र के अन्तर्गत सुरक्षित है। योगाचार बौद्धों ने तो दिग्नाग के सुधार को अर्थात् प्रमाण के दो भेद की परम्परा को भी नहीं माना है और दिग्नाग के बाद भी अपनी तीन प्रमाण की परम्परा को ही मान्य रखा है, जो कि स्थिरमति की मध्यान्त टीका से स्पष्ट होता है। उपर्युक्त विवेचन को हम अग्रसारीणी के द्वारा अच्छी तरह समझ सकते हैं।

	शास्त्र		प्रमाण		
1.	अनुयोग द्वार सुत्र	प्रत्यक्ष	अनुमान	उपमान	आगम
2.	भगवती सूत्र	प्रत्यक्ष	अनुमान	उपमान	आगम
3.	स्थानांग सूत्र	प्रत्यक्ष	अनुमान	उपमान	आगम
4.	चरक संहिता	प्रत्यक्ष	अनुमान	उपमान	आगम
5.	न्याय सूत्र	प्रत्यक्ष	अनुमान	उपमान	आगम
6.	विग्रहव्यावर्तनी	प्रत्यक्ष	अनुमान	उपमान	आगम
7.	उपायहृदय	प्रत्यक्ष	अनुमान	उपमान	आगम
8.	सांख्यकारिका	प्रत्यक्ष	अनुमान	×	आगम
9.	योगाचार भूमिशास्त्र	प्रत्यक्ष	अनुमान	×	आगम
10.	अभिधर्मसंगीतिशास्त्र	प्रत्यक्ष	अनुमान	×	आगम
11.	विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि	प्रत्यक्ष	अनुमान	×	आगम
12.	मध्यान्त विभागवृत्ति	प्रत्यक्ष	अनुमान	×	आगम
13.	वैशेषिक सूत्र	प्रत्यक्ष	अनुमान	×	×

14.	प्रशस्तपाद	प्रत्यक्ष	अनुमान	×	×
15.	दिग्नाग	प्रत्यक्ष	अनुमान	×	×
16.	धर्मकीर्ति	प्रत्यक्ष	अनुमान	×	×
17.	चार्वाक	प्रत्यक्ष	×	×	×

इस प्रकार समस्त भारतीय दर्शनों में नैयायिकादि सम्मत चार प्रमाणों को ही स्वीकार किया गया है। कुछ ने उन्हीं में से तीन अथवा दो प्रमाणों को ही स्वीकार किया है। यद्यपि जैन दार्शनिक विवेचन में प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाणों को स्वीकार करके जैन दृष्टि से उनका मौलिक विवेचन किया गया है। तथापि आगमिकों ने ज्ञान मीमांसा को ही महत्व देकर पंचज्ञानों का ही विशिष्ट विवेचन किया है तथा प्रमाण मीमांसा को पृथक् ही रखकर नैयायिकादि सम्मत चार प्रमाणों को स्वीकार कर लिया है। प्रमाण चर्चा व ज्ञान चर्चा में कोई समन्वय स्थापित नहीं किया है। पंचज्ञानों में ही सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के भेद के द्वारा जैनागमिकों ने वही प्रयोजन सिद्ध किया है, जो दूसरे दर्शनों में प्रमाण और अप्रमाण के विभाग के द्वारा सिद्ध किया है। अर्थात् जैन दर्शन में प्रमाण या अप्रमाण जैसे विशेषणों को प्रयुक्त किए बिना ही प्रथम तीन ज्ञानों में अज्ञान-विपर्यय-मिथ्यात्व की तथा सम्यक्त्व की संभावना मानी है तथा अन्तिम दो में एकान्त सम्यक्त्व ही बताया है। इस प्रकार ज्ञानों को प्रमाण या अप्रमाण न कह करके भी उन विशेषणों का प्रयोजन तो दूसरी तरह से निष्पन्न कर ही दिया है।

तात्पर्य यह है, कि जो ज्ञान हम प्राप्त करते हैं तथा जिन साधनों के द्वारा प्राप्त करते हैं, वे दोनों ही सत्य हैं या नहीं? उनकी सत्यता की कसौटी क्या है? प्रमाण की प्रामाणिकता अथवा सत्यता का आधार क्या है? यह जानना आवश्यक है।

प्रामाण्य का नियामक तत्त्व (प्रमाण्यवाद) : प्रमाण का प्रमाणत्व क्या है? प्रमाण सत्य होता है, इसमें कोई द्वैध नहीं, फिर भी सत्य की कसौटी विभिन्न दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न मानी है। जैन मतानुसार ज्ञान की सत्यता या प्रामाण्य का नियामक तत्त्व है-यथार्थ्य। यथार्थ्य का अर्थ है-ज्ञान की तथ्य या वस्तु के साथ संगति। प्रमेय पदार्थ जैसा है, उसे वैसा ही जानना प्रमाण का प्रामाण्य है। वादिदेव सूरि ने कहा है -

''ज्ञानस्य प्रमेया व्यभिचारित्वं प्रमाण्यम्।
तदितरत्व प्रामाण्यम्॥''[159]

अर्थात् प्रमेय से अव्यभिचारी होना अथवा प्रमेय जैसा है, उसे वैसा ही जानना, यही ज्ञान की प्रमाणता है। इसके विपरीत प्रमेय जैसा नहीं है, वैसा जानना अप्रमाणता। प्रमेय के साथ ज्ञान की संगति हो, वह सत्य ज्ञान है तथा प्रमेय के साथ ज्ञान की संगति न हो वह असत्य ज्ञान है।

अबाधित्व, अप्रसिद्ध अर्थख्यापन या अपूर्व अर्थ प्रापण, अविसंवादिता, या संवादी प्रवृत्ति, प्रवृत्ति सामर्थ्य या क्रियात्मक उपयोगिता- ये सत्य की कसौटियां हैं, जो भिन्न-भिन्न दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत और निराकृत होती रही है।

आचार्य विद्यानन्द अबाधितत्व बाधक प्रमाण के अभाव या कथनों को पारस्परिक सामंजस्य को प्रामाण्य का नियामक मानते हैं। आचार्य अकलंक, बौद्ध और मीमांसक अप्रसिद्ध अर्थ ख्यापन अर्थात् अज्ञान अर्थ के ज्ञापन को प्रामाण्य का नियामक तत्त्व मानते हैं। संवादी प्रवृत्ति और प्रवृत्ति सामर्थ्य - इन दोनों का व्यवहार सर्व-सम्मत है। किंतु ये प्रमाण्य के मुख्य नियामक नहीं बन सकते। संवादक ज्ञान प्रमेयाव्यभिचारी ज्ञान की भांति व्यापक नहीं है। प्रत्येक निर्णय में तथ्य के साथ ज्ञान की संगति अपेक्षित होती है, वैसे संवादक ज्ञान प्रत्यक्ष निर्णय में अपेक्षित नहीं होता। वह कदाचित ही सत्य को प्रकाश में लाता है।

प्रवृत्ति सामर्थ्य अर्थ-सिद्धि का दूसरा रूप है। ज्ञान तब तक सत्य नहीं होता, जब तक वह फलदायक परिणामों द्वारा प्रामाणिक नहीं बन जाता। यह भी सर्वाधिक सत्य नहीं है। इसके बिना भी तथ्य के साथ ज्ञान की संगति होती है। यह सत्य की कसौटी बनता है, इसलिए यह अमान्य भी नहीं है। प्रमाणता और अप्रमाणता का यह भेद बाह्य पदार्थों की अपेक्षा से समझना चाहिये। प्रत्येक ज्ञान अपने स्वरूप को वास्तविक ही जानता है। अतः स्वरूप की अपेक्षा सभी ज्ञान प्रमाण होते हैं। बाह्य पदार्थों की अपेक्षा कोई ज्ञान प्रमाण होता है, कोई अप्रमाण।

प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति : जैन दर्शन के अनुसार प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों की उत्पत्ति परतः होती है। जैसा कि वादिदेव सूरि लिखते हैं -

'तदुभयमुत्पत्तौ परत एव'[60]

ज्ञान की उत्पत्ति में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों पर निमित्त से होते हैं। ज्ञानोत्पादक सामग्री में मिलने वाले गुण और दोष क्रमशः प्रामाण्य और अप्रामाण्य के निमित्त बनते हैं।[61] निर्विशेषण सामग्री से यदि ये दोनों उत्पन्न होते तो इन्हें स्वतः माना जाता, किंतु ऐसा होता नहीं। ये दोनों सविशेषण सामग्री से उत्पन्न होते हैं, जैसे गुणवत सामग्री से प्रामाण्य और दोषवत् सामग्री से अप्रामाण्य। अर्थ का परिच्छेद प्रमाण और अप्रमाण दोनों में होता है। किंतु अप्रमाण (संशय-विपर्यय) में अर्थ परिच्छेद यथार्थ नहीं होता है। प्रमाण में वह यथार्थ होता है। अयथार्थ परिच्छेद की भांति यथार्थ-परिच्छेद भी सहेतुक होता है। दोष मिट जाए, मात्र इससे यथार्थता नहीं आती। वह तब आती है, जब गुण उसके कारण बने। जो कारण बनेगा वह 'पर' ही होगा। अतः प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही विशेष स्थिति सापेक्ष है, इसलिए इनकी उत्पत्ति परतः होती है।

प्रामाण्य निश्चय : प्रमाण्य निश्चय स्वतः तथा परतः दो प्रकार से होता है, जैसा कि हेमचन्द्राचार्य लिखते हैं-

'प्रामाण्य निश्चयः स्वतः परतोवा।'[62]

जिन कारणों के द्वारा ज्ञान की प्रमाणिकता का निश्चय होता है, अर्थात् प्रमेय को निश्चयात्मक रूप से जाना जाता है, वे स्वतः और परतः दो प्रकार से जाने जाते हैं।

प्रमाण उत्पत्ति की दृष्टि से तो परतः ही होता है लकिन ज्ञप्ति की दृष्टि से प्रामाण्य स्वतः और परतः दो प्रकार का होता है, जैसा कि वादिदेव सूरि लिखते हैं -

'ज्ञप्तौ तु स्वतः परतश्च'[63]

जैन मतानुसार प्रामाण्य निश्चय दो प्रकार से होता है-1. स्वतः प्रामाण्य निश्चय, 2. परतः प्रामाण्य निश्चय।

1. स्वतः प्रामाण्य निश्चय : प्रमेय का ज्ञान होने के साथ ही उसकी सत्यता या प्रामाणिकता का भी निश्चय हो जाए, तो वह स्वतः प्रामाण्य है। जिन कारणों से प्रमेय ज्ञान होता है, उन्हीं से यदि उसकी प्रमाणिकता का निश्चय हो जाए तो वह स्वतः प्रमाण्य है। विषय (ज्ञेय) की परिचित दशा में ज्ञान स्वतः प्रामाण्य होता है। जिसमें प्रथम ज्ञान की प्रमाणिकता जानने के लिए अन्य विशेष कारणों की आवश्यकता नहीं होती। जैसे-गुरु अपने शिष्य को प्रतिदिन देखते हैं, तो अपने शिष्य को देखते ही 'वह राम है' ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है। यह स्वतः प्रामाण्य है।

2. परतः प्रामाण्य निश्चय : वस्तु का ज्ञान होने के साथ-साथ उसकी प्रामाणिकता का ज्ञान न हो, तब दूसरी कारण सामग्री से संवादक प्रत्यय से उसका निश्चय किया जाता है, यह परतः निश्चय है। जिन कारणों से प्रमेय का ज्ञान हो, उनसे अन्य विशेष कारणों के द्वारा जब उस ज्ञान की प्रामाणिकता जानी जाती है, वह परतः प्रामाण्य है। विषय (ज्ञेय) की अपरिचित दशा में प्रामाण्य का निश्चय परतः होता है। जैसे-एक बालक जिसने शेर के बारे में सुना तो बहुत है, लेकिन कभी देखा नहीं। जब वह चिड़ियाघर में पहली बार शेर को देखता है, तो वह यह निश्चित रूप से नहीं जानता है, कि यही शेर है। वह अपने पिता से पूछता है, कि यह कौनसा जानवर है या क्या यह शेर है? तब उसके ज्ञान की प्रामाणिकता परकारण (पिता) के द्वारा सिद्ध होती है, अतः यह परतः प्रामाण्य है। यह विशेष कारण सामग्री दो प्रकार की होती है - 1. संवादक प्रमाण एवं 2. बाधक प्रमाण का अभाव। संवादक प्रमाण प्रमेय की विद्यमानता को सिद्ध करता है तथा उसकी विद्यमानता को बाधित करने वाले कारणों का अभाव।

प्रामाण्य के इस समस्त विवेचन को हम निम्न चार्ट के द्वारा सरलता से समझ सकते हैं -

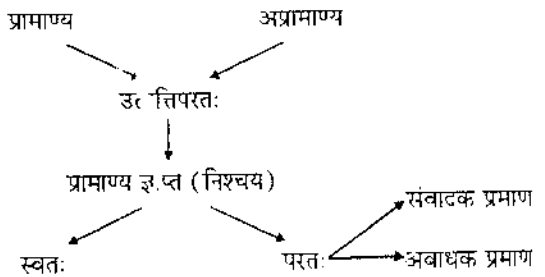

प्रामाण्यवाद के सन्दर्भ में विभिन्न दार्शनिकों में मतभेद पाये जाते हैं। मीमांसक प्रमाण्य की उत्पत्ति ज्ञप्ति स्वतः और अप्रामाण्य की परतः मानते हैं। न्यायदर्शन में प्रामाण्य-अप्रामाण्य दोनों को परतः ही माना गया है। सांख्य दर्शन में प्रामाण्य-अप्रामाण्य दोनों स्वतः ही माने गये हैं।

बौद्ध दर्शन में प्रामाण्य-अप्रामाण्य दोनों को अवस्था विशेष में स्वतः और अवस्था विशेष में परतः माना गया है। इस प्रकार इस विषय को लेकर दार्शनिकों में विचार भेद चला आ रहा है।

अयथार्थ ज्ञान या समारोप : ज्ञान सत्य व प्रामाणिक हो तो प्रमाण अथवा यथार्थ ज्ञान कहा जाता है। इसके विपरीत जो ज्ञान प्रामाणकि नहीं होता, उसे अयथार्थ ज्ञान कहते हैं। वादिदेव सूरि ने अप्रामाणिक ज्ञान को समारोप कहा है-

"अतस्मिंस्तदध्यवसायः समारोपः।
स विपर्यय संशयानध्यवसाय भेदात् त्रैधा॥"[64]

अर्थात् अतद्रुप वस्तु का तद्रुप ज्ञान हो जाना या जो वस्तु जैसी नहीं है, वैसी जानना समारोप कहलाता है। समारोप में वस्तु का सम्यक् निर्णय नहीं होता है, इसीलिए वह अयथार्थ ज्ञान है। यह तीन प्रकार का होता है- 1. विपर्यय, 2. संशय, 3. अनध्यवसाय।

यह उसी प्रकार है, जैसे एक रस्सी के सम्बन्ध में चार व्यक्तियों के ज्ञान के चार रुप हैं-

1. यह रस्सी है। - यथार्थ ज्ञान।
2. यह साँप है। – विपर्यय ज्ञान।
3. यह रस्सी है या साँप है? - संशय।
4. रस्सी को देखकर भी अन्यमनस्कता के कारण ग्रहण नहीं करता है- अनध्यवसाय।

1. विपर्यय-

"विरीतैक कोटि निष्टङ्कनं विपर्ययः"[65]

अर्थात् एक विपरीत धर्म का निश्चय होना विपर्यय-ज्ञान कहलाता है। जैसे रस्सी के स्थान पर साँप का ज्ञान होना। विपर्यय निश्चयात्मक ज्ञान होता है, किंतु यह निश्चय ज्ञेय पदार्थ के वास्तविक स्वरुप के स्थान पर किसी अन्य रुप का होता है। जितनी निरपेक्ष एकान्त दृष्टियाँ होती हैं, वे सब विपर्यय की कोटि में आती हैं। पदार्थ अपनी गुणात्मक सत्ता की दृष्टि से नित्य हैं और अवस्थाभेद की दृष्टि से अनित्य इसलिए उसका समष्टिरुप बनता है- पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी। यह सम्यक ज्ञान है। इसके विपरीत पदार्थ को एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य मानना विपर्यय ज्ञान है, सम्यकज्ञान नहीं।

पदार्थ नष्ट नहीं होता, यह प्रमाण सिद्ध है। उसका रुपान्तर होता है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है।

विपरीत ज्ञान के सम्बन्ध में विभिन्न दर्शनों में विभिन्न धारणाएँ हैं- सांख्य, योग और मीमांसक (प्रभाकर) इसे विवेकाख्याति या अख्याति[66], वेदान्त अनिर्वचनीय ख्याति[67], बौद्ध (योगाचार) आत्मख्याति[68] नैयायिक वैशेषिक विपरीत ख्याति[69] या अन्यथा ख्याति और चार्वाक अख्याति या निरावलम्बन कहते हैं।

जैन दृष्टि के अनुसार यह 'सत्-असत् ख्याति' है। रस्सी में प्रतीत होने वाला साँप स्वरूपतः सत् और रस्सी के रुप में असत् है। ज्ञान के साधनों की विकल दशा में सत् का असत् के रुप में ग्रहण होता है, यह 'सदसत् ख्याति' है।

2. **संशय** : ज्ञेय वस्तु की दूरी, अंधेरा, प्रमाद, व्यामोह आदि जो विपर्यय के कारण बनते हैं, वे ही संशय के कारण हैं। दोनों के हेतु समान होते हुए भी दोनों के स्वरुप में बहुत अन्तर है। विपर्यय में जहाँ सत् में असत् का निर्णय होता है, वहाँ संशय में सत् या असत् किसी का भी निर्णय नहीं होता। आचार्य हेमचन्द्र संशय की परिभाषा इस प्रकार लिखते हैं-

"अनुभयत्रोभय कोटिस्पर्शी प्रत्ययः संशयः।"[70]

साधक एवं बाधक दोनों प्रमाणों के अभाव से, अनिश्चित अनेक अंशों को छूने वाला ज्ञान संशय कहलाता है। संशय ज्ञान की एक चलायमान अवस्था है। वह 'यह या वह' के घेरे को तोड़ नहीं सकता। उसके सारे विकल्प अनिर्णायक होते हैं। एक सफेद चार पैर और सींग वाले प्राणी के दूर से देखते ही मन में विकल्प आता है- यह गाय है अथवा गवय?

निर्णायक विकल्प संशय नहीं होता, यह हमें याद रखना होगा। पदार्थ के बारे में जैन दर्शन दो विकल्प रखता है-'पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी।' यह संशय नहीं है। संशय या अनिर्णायक विकल्प वह होता है, जहाँ पदार्थ के एक धर्म के बारे में दो विकल्प होते हैं। अनेक धर्मात्मक वस्तु के अनेक धर्मों पर होने वाले अनेक विकल्प इसलिए निर्णायक होते हैं, कि उनकी कल्पना आधारशून्य नहीं होती। स्याद्वाद के प्रामाणिक विकल्प (भंग) संशयवाद नहीं है।

3. **अनध्यवसाय** :

"किमित्या लोचन मात्र मनध्यवसायः।"[71]

अनध्यवसाय आलोचन मात्र होता है। अरे क्या है? इस प्रकार का अत्यंत सामान्य ज्ञान होना अनध्यवसाय है। जैसे मार्ग में चलते-चलते किसी तिनके का स्पर्श हुआ। स्पर्श हुआ यह जान लिया, किंतु किस वस्तु का हुआ यह नहीं जान पाए। इस ज्ञान की आलोचन में ही परिसमाप्ति हो जाती है, कोई निर्णय नहीं निकलता। इसमें वस्तु के स्वरुप का अन्यथा ग्रहण नहीं है, इसलिए यह विपर्यय नहीं है। यह विशेष

का उल्लेख नहीं करता, इसलिए यह संशय से भी भिन्न है। संशय में व्यक्ति का उल्लेख होता है। अनध्यवसाय जाति सामान्य विषयक है। इसमें स्पर्श किसका है, प्रमेय का नामोल्लेख नहीं होता।

अनध्यवसाय वास्तव में अयथार्थ नहीं है, अपूर्ण है। वस्तु जैसी है, उसे विपरीत नहीं जानता, वरन् उसी रूप में जानने में अक्षम है। इसलिए इसे अयथार्थ ज्ञान की कोटि में रखा है। अनध्यवसाय अयथार्थ ज्ञान उसी दशा में होता है, जबकि यह आलेचन मात्र रह जाता है। यदि यह आगे बढ़े तो अवग्रह के अन्तर्गत आ जाएगा।

अयथार्थ ज्ञान के हेतु : एक ही प्रमाता का ज्ञान कभी प्रमाण बन जाता है और कभी अप्रमाण, यह क्यों? जैन दृष्टि में इसका समाधान यह है, कि यह सामग्री के दोष से होता है। प्रमाता का ज्ञान निरावरण होने पर ऐसी स्थिति नहीं बनती। उसका ज्ञान अप्रमाण नहीं होता। यह स्थिति उसके सावरण ज्ञान की दशा में बनती है।

ज्ञान की सामग्री दो प्रकार की होती है- 1. आन्तरिक और 2. बाह्य।

आन्तरिक सामग्री है, प्रमाता के ज्ञानावरण का विलय। अनावरण के तारतम्य के अनुपात में जानने की न्यूनाधिक शक्ति होती है। ज्ञान के दो क्रम हैं-1. आत्म प्रत्यक्ष एवं 2. आत्म परोक्ष।

आत्म प्रत्यक्ष जितनी योग्यता विकसित होने पर जानने के लिए बाह्य सामग्री की अपेक्षा नहीं होती। आत्म परोक्ष ज्ञान की दशा में बाह्य सामग्री का महत्वपूर्ण स्थान होता है। इन्द्रिय और मन के द्वारा होने वाला ज्ञान बाह्य सामग्री सापेक्ष होता है। पौद्गलिक इन्द्रियाँ, पौद्गलिक मन, आलोक, उचित सामीप्य या दूरत्व, दिग्, देश, काल आदि बाह्य सामग्री के अंग हैं।

अयथार्थ ज्ञान के निमित्त प्रमाता और बाह्य सामग्री दोनों हैं। आवरण विलय मन्द होता है और बाह्य सामग्री दोषपूर्ण होती है, तब अयथार्थ ज्ञान होता है। आवरण विलय की मन्दता में बाह्य सामग्री की स्थिति महत्वपूर्ण होती है। उससे ज्ञान की स्थिति में परिवर्तन आता है। तात्पर्य यह है, कि अयथार्थ ज्ञान का निमित्त ज्ञान मोह है और ज्ञान मोह का कारण दोषपूर्ण सामग्री है। परोक्षज्ञान दशा में चेतना का विकास होने पर भी अदृष्ट सामग्री के अभाव में यथार्थ बोध नहीं होता। अर्थ बोध ज्ञान की योग्यता से नहीं होता, अपितु उसके व्यापार से होता है। सिद्धान्त की भाषा में लब्धि (ज्ञानावरण विलय जन्य आत्म योग्यता) शुद्ध होता है। उसका उपयोग शुद्ध या अशुद्ध दोनों प्रकार का होता है। दोषपूर्ण ज्ञान सामग्री ज्ञानावरण के उदय का निमित्त बनती है। ज्ञानावरण के उदय से प्रमाता मूढ़ बन जाता है। यही कारण है, कि वह ज्ञानकार्य में प्रवृत्त होने पर भी ज्ञेय की यथार्थता को नहीं जान पाता।

संशय और विपर्यय के काल में प्रमाता जो जानता है, वह ज्ञानावरण का परिणाम नहीं, अपितु वह यथार्थ ज्ञान नहीं जान पाता, वह अज्ञान ज्ञानावरण का

परिणाम है। समारोप ज्ञान में अज्ञान (यथार्थ ज्ञान का अभाव) की मुख्यता होती है, इसलिए मुख्यवृत्ति से उसे ज्ञानावरण के उदय का परिणाम कहा जाता है।

अयथार्थ ज्ञान के दो प्रकार : अयथार्थ ज्ञान दो प्रकार का होता है- 1. आध्यात्मिक व 2. व्यावहारिक।

आध्यात्मिक विपर्यय को मिथ्यात्व और आध्यात्मिक संशय को मिश्र-मोह कहा जाता है। इनका उद्भव आत्मा की मोह दशा से होता है।[11] इनसे श्रद्धा विकृत होती है।[12]

व्यावहारिक संशय और विपर्यय का नाम है 'समारोप'।[13] यह ज्ञानावरण के उदय से होता है।[14] इससे ज्ञान यथार्थ नहीं होता।

प्रथम पक्ष दृष्टि मोह है और दूसरा पक्ष ज्ञान मोह। दृष्टि मोह मिथ्या दृष्टि के ही होता है। ज्ञान मोह सम्यक् दृष्टि और मिथ्या दृष्टि दोनों के होता है। दृष्टि मोह मिथ्यात्व है, अज्ञान नहीं। मिथ्यात्व मोह जनित होता है।[15] अज्ञान (मिथ्यादृष्टि का ज्ञान) ज्ञानावरण विलय (क्षयोपशम) जनित होता है।[16] श्रद्धा का विपर्यय मिथ्यात्व में होता है, अज्ञान से नहीं।

जिस प्रकार मिथ्यात्व सम्यक् श्रद्धा का विपर्यय है, वैसे अज्ञान ज्ञान का विपर्यय नहीं है। ज्ञान और अज्ञान में स्वरूप भेद नहीं, अपितु अधिकारी भेद है। सम्यग्दृष्टि का ज्ञान ज्ञान कहलाता है और मिथ्यादृष्टि का ज्ञान अज्ञान।[17]

मिथ्यादृष्टि का ज्ञान मिथ्यात्व-सहचरित होता है, इसलिए उसे अज्ञान की संज्ञा दी जाती है। सम्यग्दृष्टि का ज्ञान मिथ्यात्व सहचरित नहीं होता है, इसलिए उसकी संज्ञा ज्ञान रहती है। तीन अज्ञान-मति, श्रुत और विभंग तथा तीन ज्ञान मति, श्रुत, और अवधि- ये विपर्यय नहीं है। इन दोनों त्रिकों की क्षायोपशमिकता (ज्ञानावरण-विलय-जन्य योग्यता) में द्विरुपता नहीं है।[18] दोनों में मिथ्यात्व के अस्तित्व व अनस्तित्व का ही अन्तर है।

मिथ्या दृष्टि में मिथ्या दर्शन और सम्यग्दर्शन दोनों होते हैं, फिर भी वह मिथ्या दृष्टि सम्यग्मिथ्या दृष्टि नहीं बनता। वह भूमिका इससे ऊँची है। मिश्रदृष्टि व्यक्ति को केवल एक तत्त्व या तत्त्वांश में सन्देह होता है।[19] मिथ्या दृष्टि का सभी तत्त्वों में विपर्यय हो सकता है।

मिश्र-दृष्टि तत्त्व के प्रति संशयित दशा है और मिथ्यादृष्टि विपरीत संज्ञान। संशयित दशा में अतत्त्व का अभिनिवेश नहीं होता और विपरीत संज्ञान में वह होता है। अतः इसका पहली भूमिका का अधिकारी अंशतः सम्यग्दर्शनी होते हुए भी तीसरी भूमिका के अधिकारी की भाँति सम्यग्मिथ्या-दृष्टि नहीं कहलाता। मिथ्यादृष्टि के साथ सम्यग्दर्शन का उल्लेख नहीं होता। यह उसके दृष्टि विपर्यय की प्रधानता का परिणाम है, किंतु इसका यह अर्थ नहीं, कि उसमें सम्यग्दर्शन का अंश नहीं होता।

सम्यग्दर्शन का अंश होने पर भी वह सम्यग्दृष्टि इसलिए नहीं कहलाता, कि उसके दृष्टि-मोह का अपेक्षित विजय नहीं होता।

उपर्युक्त विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं –

1. तात्विक विपर्यय दृष्टिमोह और व्यावहारिक विपर्यय ज्ञानावरण के उदय का परिणाम है।
2. अज्ञान मात्र ज्ञान का विपर्यय नहीं, तात्विक विप्रतिपत्ति अथवा दृष्टि-मोहोदय-संवलित अज्ञान ही ज्ञान का विपर्यय नहीं होता।
3. मिथ्या दृष्टि का अज्ञान मात्र दृष्टि मोह संवलित नहीं होता।

इस प्रकार अयथार्थ ज्ञान को विविध रूपों में विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करने के पश्चात् हम यथार्थ ज्ञान (प्रमाण) के विभिन्न भेदों का विस्तृत विवेचन करेंगे। प्रमाण की संख्या पर तो हम पूर्व में अध्ययन कर ही चुके हैं, अब उनके स्वरूप का विवेचन करेंगे।

प्रमाण विवेचन : जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान केवल आत्मा का विकास है। प्रमाण पदार्थ के प्रति ज्ञान का सही व्यापार है। ज्ञान आत्मनिष्ठ है। प्रमाण का सम्बन्ध अन्तर्जगत और बहिर्जगत दोनों से है। बहिर्जगत की यथार्थ घटनाओं को अन्तर्जगत तक पहुँचाए, यही प्रमाण का ज्ञान है। बहिर्जगत के प्रति ज्ञान का व्यापार एक सा नहीं होता। ज्ञान का विकास प्रबल होता है, तब वह बाह्य साधन की सहायता के बिना ही विषय को जान लेता है। ज्ञान का विकास कम होता है, तब बाह्य साधन का सहारा लेना पड़ता है। यही प्रमाण भेद का आधार बनता है।

प्रमाण के भेदों के सन्दर्भ में विभिन्न दर्शनों में उनकी भिन्न-भिन्न संख्या मानी गई है। नास्तिक चार्वाक केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण को मानते हैं। वैशेषिक दो-प्रत्यक्ष और अनुमान, सांख्य तीन प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, नैयायिक चार-प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान, मीमांसक (प्रभाकर) पाँच प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान और अर्थापत्ति, भट्ट मीमांसा व वेदान्त छह- प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव। पौराणिक इनके अतिरिक्त सम्भव, एतिह्य, प्रातिम प्रमाण और मानते हैं। जैन दो प्रमाण मानते हैं – प्रत्यक्ष और परोक्ष।

1. **प्रत्यक्ष** : पदार्थ को जो सहायता निरपेक्ष होकर ग्रहण करता है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है।
2. **परोक्ष** : जो सहायता सापेक्ष होकर पदार्थ को ग्रहण करता है, वह परोक्ष प्रमाण है।

इस प्रकार प्रमाण के मुख्य दो भेद हैं – प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के दो भेद होते हैं-व्यवहार प्रत्यक्ष और परमार्थ प्रत्यक्ष। व्यवहार प्रत्यक्ष के चार भेद हैं – अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। परमार्थ प्रत्यक्ष के तीन भेद हैं – अवधि, मनःपर्याय

व केवलज्ञान। परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद हैं-स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। इस समस्त विभाजन को अग्र सारीणी द्वारा सहज रूप से समझा जा सकता है-

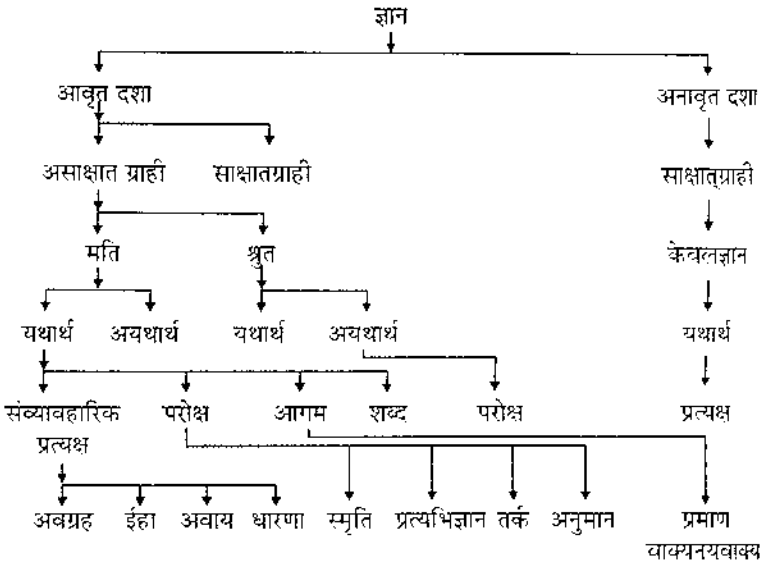

प्रत्यक्ष प्रमाण : प्राचीन काल से प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद निर्विवाद रूप से स्वीकृत रहे हैं। जैसा कि हेमचंद्र सूरि लिखते हैं -

''प्रमाणं द्विधा। प्रत्यक्षं परोक्षं च।''[181]

जैन दर्शन ने प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण को मौलिक रूप से परिभाषित किया है। वादि देवसूरि ने स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।

''स्पष्टं प्रत्यक्षं।''[182]

जैनागमों में आत्म मात्र सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं और जिन ज्ञानों में इन्द्रिय, मन और प्रकाश आदि पर साधनों की अपेक्षा होती है, वे परोक्ष हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने उन्हें परिभाषित करते हुए लिखा है -

''जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं ति भणिदमट्ठेसु।
जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं॥''[183]

अर्थात् पर के द्वारा होने वाला जो पदार्थ सम्बन्धी विज्ञान है, वह तो परोक्ष कहा गया है, यदि मात्र जीव के द्वारा ही जाना जाए, तो वह ज्ञान प्रत्यक्ष है। प्रत्येक वस्तु अपने परिणमन में स्वयं उपादान होता है। जितने परनिमित्तक परिणमन है, वे सब

व्यवहारमूलक है। जो मात्र स्वजन्य हैं, वे ही परमार्थ है और निश्चयनय के विषय हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष के विभाजन में भी यही दृष्टि काम कर रही है और उसके निर्वाह के लिए 'अक्ष' शब्द का अर्थ आत्मा किया गया है।[84] आत्मसाक्षात्कार को प्रत्यक्ष की कोटि में सिर्फ जैन दर्शन ने ही रखा है। साधारणतया प्रत्यक्ष शब्द को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के रूप में ही प्रयुक्त किया है। अतः जैन दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद बताए गए हैं - 1. इन्द्रिय या सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष, 2. नोइन्द्रिय या पारमार्थिक प्रत्यक्ष।

व्यवहार नय से इन्द्रिय ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत रखा गया है। निश्चयनय या पारमार्थिक दृष्टि से तो आत्मा के साक्षात् ज्ञान को ही प्रत्यक्ष प्रमाण माना गया है। इसके अन्तर्गत 1. अवधिज्ञान 2. मनःपर्ययज्ञान और 3. केवलज्ञान को स्वीकार किया गया है।

जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों में इन्द्रिय ज्ञान को ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहा गया है। वैशेषिक सूत्र में लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार के प्रत्यक्ष की व्याख्या दी गई है। लेकिन न्याय दर्शन और मीमांसा दर्शन में लौकिक प्रत्यक्ष की ही व्याख्या दी गई है। लौकिक प्रत्यक्ष की व्याख्या में दार्शनिकों ने प्रधान रूप से बहिरिन्द्रिय जन्य ज्ञानों को लक्ष्य में रखा है, ऐसा प्रतीत होता है। न्यायसूत्र, वैशेषिक सूत्र और मीमांसादर्शन की लौकिक प्रत्यक्ष की व्याख्या में सर्वत्र इन्द्रिय जन्य ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहा है।

जैन दर्शन के अनुसार इन्द्रिय जन्य ज्ञानों को परोक्ष ज्ञान कहा जाता है।[85] आत्म मात्र सापेक्ष ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहा जाता है। मति और श्रुत दोनों ज्ञान इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रखने वाले होने से परोक्ष समझने चाहिये और अवधि आदि तीनों ज्ञान आत्मिक योग्यता से उत्पन्न होने से प्रत्यक्ष। इन्द्रिय तथा मनोजन्य मतिज्ञान को कहीं-कहीं पूर्वोक्त न्यायशास्त्र के लक्षणानुसार लौकिक दृष्टि की अपेक्षा से प्रत्यक्ष कहा गया है। नन्दीसूत्र में जो इन्द्रिय जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा गया है, वह भी परसिद्धान्त का अनुसरण करके ही कहा है।

तत्वार्थ सूत्र में मति ज्ञान की मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध इन शब्दों को पर्यायवाची कहा है।

"मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोधइत्यनर्थान्तरम्।"[86]

जो ज्ञान इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होता है, अर्थात् वर्तमान विषयक हो उसे मति कहते हैं। पहले अनुभव की हुई वस्तु का स्मरण स्मृति है, इसलिए वह अतीत विषयक है। पहले अनुभव की हुई और वर्तमान में अनुभव की जाने वाली वस्तु की एकता का तालमेल संज्ञा या प्रत्यभिज्ञान है, इसलिए वह अतीत और वर्तमान उभय-विषयक है। चिन्ताभावी वस्तु की विचारणा (चिन्तन) है, इसलिए वह अनागत विषयक है।

इस प्रकार से तो मति, स्मृति, संज्ञा और चिन्ता पर्यायवाची शब्द न होकर पृथक्-पृथक् लगते हैं। किंतु विषय भेद और कुछ निमित्त भेद होने पर भी मति, स्मृति, संज्ञा और चिन्ता ज्ञान का अन्तरंग कारण जो मतिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है, वही सामान्यरूप से यहाँ परिलक्षित है। इसी अभिप्राय से यहाँ मति आदि शब्दों को एकार्थक कहा है। मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होने वाले सब प्रकार के ज्ञानों के लिए एक सामान्य शब्द अभिनिबोध को प्रयुक्त किया गया है। मति आदि क्षयोपशमजन्य विशेष ज्ञानों के लिए है।

1. **सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष** : सांव्यवहार प्रत्यक्ष पाँच इन्द्रियों और मन इन छह कारणों से उत्पन्न होता है। अर्थात् मतिज्ञान को ही सांव्यवहार प्रत्यक्ष कहा गया है। सांव्यवहार प्रत्यक्ष दो प्रकार का कहा गया है - 1. इन्द्रिय सांव्यवहार प्रत्यक्ष व 2. अनिन्द्रिय सांव्यवहार प्रत्यक्ष।

"तत्राद्यं द्विविधमिन्द्रियनिबन्धनमनिन्द्रियनिबन्धनं च।"[87]

इन्द्रिय सांव्यवहार प्रत्यक्ष स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण-इन पाँच इन्द्रियों की सहायता से उत्पन्न होता है। अनिन्द्रिय सांव्यवहार प्रत्यक्ष केवल मन से उत्पन्न होता है।

इन्द्रियों की प्राप्यकारिका-अप्राप्यकारिता : इन्द्रियों में चक्षु और मन अप्राप्यकारी हैं अर्थात् ये पदार्थ को प्राप्त किए बिना ही दूर से ही उसका ज्ञान कर लेते हैं। स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ पदार्थों से सम्बद्ध होकर उन्हें जानती हैं।[88] कान शब्द को स्पृष्ट होने पर सुनता है। स्पर्शनादि तीन इन्द्रियाँ पदार्थों के सम्बद्धकाल में उनसे स्पृष्ट भी होती है और बद्ध भी। बद्ध का अर्थ है - इन्द्रियों में अल्पकालिक विकार परिणति। जैसे-अत्यन्त ठण्डे पानी में हाथ डालने से वह इतना ठिठुर जाता है, कि उससे दूसरा स्पर्श शीघ्र गृहीत नहीं होता। किसी तेज गरम पदार्थ को खा लेने पर रसना भी विकृत होती हुई देखी जाती है। लेकिन कान से किसी भी प्रकार के शब्द सुनने पर ऐसा कोई विकार अनुभव में नहीं आता।

सन्निकर्ष विचार : नैयायिकादि चक्षु का भी पदार्थ के साथ सन्निकर्ष मानते हैं। उनका कहना है, कि चक्षु तैजस पदार्थ है। उसकी किरणें निकलकर पदार्थों से सम्बन्ध करती है और तब चक्षु के द्वारा पदार्थ का ज्ञान होता है। चक्षु चूँकि पदार्थ के रूप रस आदि गुणों में से केवल रूप को ही प्रकाशित करते हैं, अतः वह दीपक की तरह तैजस है। मन व्यापक आत्मा से संयुक्त होता है। और आत्मा जगत के समस्त पदार्थों से संयुक्त है, अतः मन किसी भी बाह्य पदार्थ को संयुक्त संयोग आदि सम्बन्धों से जानता है। मन सुख का साक्षात्कार संयुक्त समवाय सम्बन्ध से करता है। अतः मन और चक्षु दोनों अप्राप्यकारी है।

जैन दर्शन के अनुसार चक्षु का पदार्थ के साथ सन्निकर्ष सिद्ध नहीं होता। इसके

लिए निम्नलिखित तर्क दिए गए हैं --

1. यदि चक्षु प्राप्यकारी है, तो उसे स्वयं में लगे हुए अंजन को देख लेना चाहिये।
2. यदि चक्षु प्राप्यकारी है, तो वह स्पर्शन इन्द्रिय की तरह समीपवर्ती वृक्ष की शाखा और दूरवर्ती चन्द्रमा को एक साथ नहीं देख सकती।
3. यह कोई आवश्यक नहीं है, कि जो कारण वह पदार्थ से संयुक्त होकर ही अपना काम करे। चुम्बक दूर से ही लोहे को खींच लेता है।
4. चक्षु अभ्रक, काँस्य और स्फटिक आदि से व्यवहित पदार्थों के रूप को भी देख लेती है, जबकि प्राप्यकारी स्पर्शनादि इन्द्रियाँ उनके स्पर्श आदि को नहीं जान सकती। चक्षु को तेजोद्रव्य कहना भी प्रतीति विरुद्ध है, क्योंकि एक तो तेजोद्रव्य, स्वतंत्र द्रव्य नहीं है, दूसरे उष्ण स्पर्श और भास्कर (सूर्य) रूप इसमें नहीं पाया जाता।

चक्षु को प्राप्यकारी मानने पर पदार्थ में दूर और निकट व्यवहार नहीं हो सकता। इसी प्रकार संशय और विपर्यय ज्ञान भी नहीं हो सकेंगे।

आज का विज्ञान मानता है, कि आँख एक प्रकार का केमरा है। उसमें पदार्थों की किरणें प्रतिबिम्बित होती है। किरणों के प्रतिबिम्ब पड़ने से ज्ञान तन्तु उद्‌बुद्ध होते हैं और फिर चक्षु उन पदार्थों को देखते हैं। चक्षु में आए हुए प्रतिबिम्ब का कार्य केवल चेतना को उद्‌बुद्ध करना है। वह स्वयं दिखाई नहीं देता। इस प्रणाली में यह बात तो स्पष्ट है, कि चक्षु की योग्य देश में स्थित पदार्थ के प्रतिबिम्ब पड़ने की क्रिया तो केवल बटन को दबाने की क्रिया के समान है, जो विद्युत शक्ति को प्रवाहित कर देता है। अतः इस प्रक्रिया से जैनों के चक्षु को अप्राप्यकारी मानने के विचार में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

श्रोत्र अप्राप्यकारी नहीं : बौद्ध श्रौत को भी अप्राप्यकारी मानते हैं। उनका विचार है, कि शब्द भी दूर से ही सुना जाता है। वे चक्षु और मन के साथ श्रोत्र के भी अप्राप्यकारी होने का स्पष्ट निर्देश करते हैं। यदि श्रोत्र प्राप्यकारी होता तो शब्द में दूर और निकट व्यवहार नहीं होना चाहिये। किन्तु जब श्रोत्र कान में घुसे हुए मच्छर के शब्द को सुन लेता है, तो अप्राप्यकारी नहीं हो सकता। प्राप्यकारी घ्राण इन्द्रिय के विषयभूत गन्ध में भी कमल की गन्ध दूर है, मालती की गन्ध पास है, इत्यादि व्यवहार देखा जाता है। यदि चक्षु की तरह श्रोत्र भी अप्राप्यकारी है, तो जैसे रूप में दिशा और देश का संशय नहीं होता, उसी प्रकार शब्द में भी नहीं होना चाहिये था, किन्तु शब्द में 'यह किस दिशा से शब्द आया है?' इस प्रकार का संशय देखा जाता है। अतः श्रोत्र को भी स्पर्शनादि इन्द्रियों की तरह प्राप्यकारी ही मानना चाहिये। जब शब्द वातावरण में उत्पन्न होता हुआ क्रमशः कान के भीतर पहुँचता है, तभी सुनाई देता

है। श्रोत्र का शब्दोत्पत्ति के स्थान में पहुँचना तो नितान्त बाधित है।

मति ज्ञान का उत्पत्तिक्रम : मतिज्ञान के चार भेद हैं - अवग्रह, ईहा, अवाय व धारणा। उमास्वाति ने इस प्रकार से विवेचन किया है -

"अवग्रहेहावाय धारणाः।"[89]

इन्द्रिय जन्य और मनोजन्य प्रत्येक मतिज्ञान के चार-चार भेद हैं। अतएव पाँच इन्द्रियों और एक मन इन छहों के अवग्रह आदि चार-चार भेद गिनाने से मतिज्ञान के चौबीस भेद होते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं -

	इन्द्रियाँ	मतिज्ञान के भेद			
1.	स्पर्शन	अवग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
2.	रसना	अवग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
3.	घ्राण	अवग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
4.	श्रोत्र	अवग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
5.	चक्षु	अवग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
6.	मन	अवग्रह	ईहा	अवाय	धारणा

अवग्रह आदि चारों भेदों के लक्षण :

1. **अवग्रह** : इन्द्रियों द्वारा स्वविषयी पदार्थों का नाम, जाति आदि की विशेष कल्पना से रहित सामान्य मात्र का ज्ञान अवग्रह है। जैसे--गहन अन्धकार में कुछ छू जाने पर यह ज्ञान होना, कि यह कुछ है। इस ज्ञान में यह नहीं मालूम होता कि किस, वस्तु का स्पर्श हुआ है, इसलिए वह अव्यक्त ज्ञान अवग्रह है।
2. **ईहा** : अवग्रह के द्वारा ग्रहण किए हुए सामान्य विषय को विशेष रूप से निश्चित करने के लिए, जो विचारणा होती है, वह ईहा है। जैसे - यह रस्सी का स्पर्श है या साँप का, यह संशय होने पर ऐसी विचारणा है, कि यह रस्सी का स्पर्श ही होना चाहिये, क्योंकि यदि साँप होता तो इतना सख्त आघात होने पर फुफकारे बिना नहीं रहता। यही विचारणा सम्भावना या ईहा है।
3. **अवाय** : ईहा के द्वारा ग्रहण किये हुए विशेष का कुछ अधिक अवधान (एकाग्रतापूर्वक निश्चय) अवाय है। जैसे कुछ काल तक सोचने और जाँच करने पर निश्चय हो जाना, कि यह साँप का स्पर्श नहीं, रस्सी का ही है, इसे अवाय कहते हैं।
4. **धारणा** : अवाय रूप निश्चय कुछ काल तक कायम रहता है, फिर मन के विषयान्तर में चले जाने से वह निश्चय लुप्त तो हो जाता है, पर ऐसा संस्कार छोड़ जाता है, कि आगे कभी योग्य निमित्त मिलने पर उस

निश्चित विषय का स्मरण हो आता है। इस निश्चय की सतत धारा, तज्जन्य संस्कार और संस्कार जन्य स्मरण-यह मति व्यापार धारणा कहलाता है।

अवग्रहादि ज्ञान की उत्पत्ति सहेतुक है। इन चारों की उत्पत्ति इसी निर्दिष्ट निश्चित क्रम में ही होती है। ये चारों ज्ञान मतिज्ञान की उत्पत्ति का क्रमिक विकास है, भिन्न-भिन्न रूप नहीं। अवग्रह, ईहा, अवाय तथा धारणा यदि प्रमेय का यथार्थ निश्चय कराते हैं, तो प्रमाण हैं अन्यथा अप्रमाण क्योंकि प्रमाण का अर्थ है, जो वस्तु जैसी प्रतिभासित होती है, उसका उसी रूप में मिलना।

अवग्रहादि के भेद : पाँच इन्द्रियाँ और मन इन छः साधनों से होने वाले मतिज्ञान के अवग्रह ईहा आदि रूप में जो चौबीस भेद कहे गये हैं, वे क्षयोपशम और विषय की विविधता से बारह-बारह प्रकार के होते हैं। उमास्वाति ने उनका विवेचन इस प्रकार किया है-

"बहुबहुविधक्षिप्रानिश्रितासंदिग्ध ध्रुवाणां सेतराणाम्॥"[190]

अर्थात् बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, असंदिग्ध, ध्रुव और इनसे इतर (प्रतिपक्षी सहित) बारह भेद अवग्रहादि से होते हैं। इन बारह-बारह भेदों को हम अग्रसारिणी से अधिक स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं -

बारह भेद	मतिज्ञान के चार उत्पत्तिक्रम			
1. बहुग्राही	अवग्रहादि 6 भेद	ईहादि 6 भेद	अवायादि 6 भेद	धारणादि 6 भेद
2. अल्पग्राही	अवग्रहादि 6 भेद	ईहादि 6 भेद	अवायादि 6 भेद	धारणादि 6 भेद
3. बहुविधग्राही	अवग्रहादि 6 भेद	ईहादि 6 भेद	अवायादि 6 भेद	धारणादि 6 भेद
4. एकविधग्राही	अवग्रहादि 6 भेद	ईहादि 6 भेद	अवायादि 6 भेद	धारणादि 6 भेद
5. क्षिप्रग्राही	अवग्रहादि 6 भेद	ईहादि 6 भेद	अवायादि 6 भेद	धारणादि 6 भेद
6. अक्षिप्रग्राही	अवग्रहादि 6 भेद	ईहादि 6 भेद	अवायादि 6 भेद	धारणादि 6 भेद
7. अनिश्रितग्राही	अवग्रहादि 6 भेद	ईहादि 6 भेद	अवायादि 6 भेद	धारणादि 6 भेद
8. निश्रितग्राही	अवग्रहादि 6 भेद	ईहादि 6 भेद	अवायादि 6 भेद	धारणादि 6 भेद
9. असंदिग्धग्राही	अवग्रहादि 6 भेद	ईहादि 6 भेद	अवायादि 6 भेद	धारणादि 6 भेद
10. संदिग्धग्राही	अवग्रहादि 6 भेद	ईहादि 6 भेद	अवायादि 6 भेद	धारणादि 6 भेद
11. ध्रुवग्राही	अवग्रहादि 6 भेद	ईहादि 6 भेद	अवायादि 6 भेद	धारणादि 6 भेद
12. अध्रुवग्राही	अवग्रहादि 6 भेद	ईहादि 6 भेद	अवायादि 6 भेद	धारणादि 6 भेद

उपर्युक्त बारह भेदों का अर्थ जानना आवश्यक है, जो इस प्रकार है।

1-2. **बहु व अल्प** : बहु का अर्थ है- अनेक और अल्प का अर्थ है- एक। जैसे-दो या दो से अधिक पुस्तकों को जानने वाले अवग्रह, ईहा आदि चारों क्रमभावी मतिज्ञान बहुग्राही अवग्रह, बहुग्राहिणी ईहा, बहुग्राही अवाय और बहुग्राहिणी धारणा कहलाते हैं और एक पुस्तक को जानने

वाले अल्पग्राही अवग्रह, अल्पग्राहिणी ईहा, अल्पग्राही अवाय और अल्पग्राहिणी धारणा कहलाते हैं।

3-4. **बहुविध.व एकविध** : बहुविध अर्थात् अनेक प्रकार से और एकविध अर्थात् एक प्रकार से। जैसे आकार-प्रकार, रूप-रंग या मोटाई आदि में विविधता रखने वाली पुस्तकों को जानने वाले उक्त चारों ज्ञान क्रम से बहुविध ग्राही अवग्रह, बहुविध ग्राहिणी ईहा, बहुविध ग्राही अवाय, बहुविध ग्राहिणी धारणा कहलाते हैं।

आकार-प्रकार, रूप रंग तथा मोटाई आदि में एक ही प्रकार की पुस्तकों को जानने वाले वे ज्ञान एकविध ग्राही अवग्रह, एक विधग्राहिणी ईहा, एकविध ग्राही अवाय तथा एकविध ग्राहिणी धारणा आदि कहलाते हैं।

बहु तथा अल्प का अभिप्राय प्रमेय की संख्या से है और बहुविध तथा एकविध का अभिप्राय प्रकार, किस्म या जाति की संख्या से है।

5-6. **क्षिप्रग्राही व अक्षिप्रग्राही** : शीघ्र जानने वाले चारों मतिज्ञान क्षिप्रग्राही अवग्रह आदि और विलंब से जानने वाले अक्षिप्रग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं। देखा जाता है, कि इन्द्रिय विषय आदि सब बाह्य सामग्री तुल्य होने पर भी मात्र क्षयोपशम की पटुता के कारण एक मनुष्य उस विषय का ज्ञान जल्दी प्राप्त कर लेता है और क्षयोपशम की मन्दता के कारण दूसरा मनुष्य देर से प्राप्त कर पाता है।

7-8. **अनिश्रित ग्राही व निश्रित ग्राही** : अनिश्रित अर्थात् लिंग अप्रमित (हेतु द्वारा असिद्ध) और निश्रित का अर्थ है, लिंग प्रमित वस्तु। जैसे- पूर्व में शीत की अनुभूति, कोमल और स्निग्ध स्पर्श रूप लिंग से वर्तमान में जूही के फूलों को जानने वाले उक्त चारों ज्ञान क्रम से निश्रितग्राही (सलिंग ग्राही) अवग्रह आदि और उक्त लिंग के बिना ही उन फूलों को जानने वाले अनिश्रितग्राही (अलिंग ग्राही) अवग्रह आदि कहलाते हैं।

अनिश्रित और निश्रित शब्द का यही अर्थ नन्दीसूत्र की टीका में भी है, लेकिन इसके अतिरिक्त दूसरा अर्थ भी उस टीका में श्री मलयगिरी ने बतलाया है, जैसे परधर्मों से मिश्रित ग्रहण निश्रितावग्रह और परधर्मों से अनिश्रित ग्रहण अनिश्रितावग्रह है।[1]

दिगम्बर ग्रन्थों में 'अनिःसृत' पाठ है, तदनुसार उनमें अर्थ किया गया है, कि सम्पूर्णतया आविर्भूत पुद्गलों का ग्रहण 'निःसृतावग्रह' और सम्पूर्णतया नहीं आविर्भूत पुद्गलों का ग्रहण अनिःसृतावग्रह है।[2]

9-10. **असंदिग्धग्राही व संदिग्धग्राही** : असंदिग्ध अर्थात् निश्चित व संदिग्ध

अर्थात् अनिश्चित। जैसे यह चन्दन का ही स्पर्श है, फूल का नहीं। इस प्रकार से स्पर्श को निश्चित रूप से जानने वाले उपर्युक्त चारों ज्ञान निश्चितग्राही अवग्राहादि कहलाते हैं। यह चन्दन का स्पर्श होगा या फूल का, क्योंकि दोनों शीतल होते हैं-इस प्रकार से विशेष की अनुपलब्धि के समय होने वाले संदेह युक्त चारों ज्ञान अनिश्चितग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं।

दिगम्बर ग्रंथों में असंदिग्ध के स्थान पर 'अनुक्त' पाठ है। तदनुसार उनमें अर्थ किया गया है, कि एक ही वर्ण निकलने पर पूर्ण अनुच्चरित शब्द को अभिप्राय मात्र से जान लेना, कि आप अमुक शब्द बोलने वाले हैं, अनुक्तावग्रह है। अथवा स्वर का संचारण करने से पहले ही वीणा आदि वादित्र की ध्वनिमात्र से जान लेना, कि आप अमुक स्वर निकालने वाले हैं, अनुक्तावग्रह है। इसके विपरीत उक्तावग्रह है।[35]

श्वेताम्बर ग्रन्थ नंदीसूत्र में असंदिग्ध ऐसा एकमात्र पाठ है। उसकी टीका में उसका अर्थ ऊपर लिखे अनुसार ही है।[36] लेकिन तत्त्वार्थ भाष्य की वृत्ति में अनुक्त पाठ भी है। उसका अर्थ राजवार्तिक के अनुसार है। लेकिन वृत्तिकार ने लिखा है, कि अनुक्त पाठ रखने से इसका अर्थ केवल शब्द विषय अवग्रह आदि पर ही लागू होता है, स्पर्श विषय अवग्रह आदि पर नहीं। इस अपूर्णता के कारण अन्य आचार्यों ने असंदिग्ध पाठ ही रखा है।

11-12 **ध्रुवग्राही व अध्रुवग्राही** : ध्रुव का अर्थ है, अवश्यंभावी और अध्रुव का अर्थ कदाचित् भावी। यह देखा गया है, कि इन्द्रिय और विषय का सम्बन्ध तथा मनोयोग रूप सामग्री समान होने पर भी एक मनुष्य उस विषय को जान ही लेता है और दूसरा उसे कभी जान पाता है, कभी नहीं। सामग्री होने पर विषय को जानने वाले उक्त चारों ज्ञान ध्रुवग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं। सामग्री होने पर भी क्षयोपशम की मन्दता के कारण विषय को कभी ग्रहण करने वाले और कभी न ग्रहण करने वाले उक्त चारों ज्ञान अध्रुवग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं।

उपर्युक्त बारह भेदों में से बहु, अल्प, बहुविध और एकविध से चार भेद विषय की विविधता पर अवलम्बित है, शेष आठ भेद क्षयोपशम की विविधता पर आधारित है। पाँच इन्द्रियाँ और मन इन छः भेदों के साथ अवग्रह आदि के चार-चार भेदों का गुणा करने से चौबीस और बहु, अल्प आदि उक्त बारह प्रकारों के साथ चौबीस का गुणा करने से दो सौ अट्ठासी (288) भेद हुए।

सामान्यरूप से मतिज्ञान का विषय : उमास्वाति तत्त्वार्थ सूत्र में मतिज्ञान

अवग्रहादि के सामान्य विषय के सन्दर्भ में लिखते हैं -

"अर्थस्य।"[95]

अर्थात् अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा ये चारों मतिज्ञान अर्थ (वस्तु) को ग्रहण करते हैं। द्रव्य और पर्याय को वस्तु कहते हैं, इसका दूसरा नाम अर्थ भी है। अवग्रहादि ज्ञान मुख्य रूप से पर्याय को ही ग्रहण करते हैं, संपूर्ण द्रव्य को नहीं। द्रव्य को वे पर्याय द्वारा ही जानते हैं, क्योंकि इन्द्रिय और मन का मुख्य विषय पर्याय ही है। पर्याय द्रव्य का एक अंश है। इसलिए अवग्रह, ईहा आदि द्वारा जब इन्द्रियाँ और मन अपने-अपने विषयभूत पर्याय को जानते हैं, तब वे उस पर्याय रूप से द्रव्य को अंशतः ही जानते हैं। क्योंकि द्रव्य को छोड़कर पर्याय नहीं रहता और द्रव्य भी पर्याय रहित नहीं होता। जैसे नेत्र का विषय रूप, संस्थान (आकार) आदि है, जो पुद्गल द्रव्य की पर्याय विशेष है। नेत्र आम्रफल आदि को ग्रहण करता है, इसका तात्पर्य यही है, कि वह उसके रंगरूप तथा आकार विशेष को जानता है। रूप और आकार विशेष आम से भिन्न नहीं है, इसलिए स्थूल दृष्टि से यह कहा जाता है, कि नेत्र से आम देखा गया, लेकिन यह स्मरण रखना चाहिये, कि उसने मात्र नेत्र से संपूर्ण आम को ग्रहण नहीं किया, क्योंकि आम में तो रूप और संस्थान के अतिरिक्त स्पर्श, रस, गन्ध आदि अनेक पर्याय हैं, जिनको जानने में नेत्र असमर्थ हैं। इसी प्रकार स्पर्श, रसना और घ्राण इन्द्रियाँ जब गरम-गरम जलेबी आदि वस्तु को ग्रहण करती हैं, तब वे क्रमशः उस वस्तु के उष्ण स्पर्श, मधुरता और सुगन्ध रूप पर्याय को ही जानती हैं। कोई भी इन्द्रिय वस्तु के संपूर्ण पर्यायों को नहीं जान सकती।[96] कान भी भाषात्मक पुद्गल के ध्वनिरूप पर्याय को ही ग्रहण करता है, अन्य पर्यायों को नहीं। मन भी किसी विषय के अमुक अंश का ही विचार करता है। वह एक साथ संपूर्ण अंशों का विचार करने में असमर्थ है। इससे यह सिद्ध है, कि इन्द्रिय जन्य और मनोजन्य अवग्रह, ईहा आदि चारों ज्ञान पर्याय को ही मुख्य रूप से विषय करते हैं और द्रव्य को वे पर्याय द्वारा ही जानते हैं।

अवग्रह के भेद : नन्दी सूत्र में श्रुत निश्रित अवग्रह के दो भेद बताए गए हैं - अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह।

"उग्गहे दुविहे पण्णते, तं जहा अत्थुग्गहे य वंजणुग्गहे य॥"[97]

1. **व्यंजनावग्रह** : व्यंजनावग्रह चार प्रकार का है 1. श्रोत्रेन्द्रिय व्यंजनावग्रह, 2. घ्राणेन्द्रिय व्यंजनावग्रह, 3. रसनेन्द्रिय व्यंजनावग्रह, 4. स्पर्शेन्द्रिय व्यंजनावग्रह।[98]

श्रोत्र आदि पाँच उपकरणेन्द्रियों[99] का शब्द, गन्ध आदि पुद्गलों के साथ सम्बन्ध होने को व्यञ्जना कहते हैं। उस सम्बन्ध से शब्द आदि पदार्थों का जो अव्यक्त ज्ञान होता है, वह व्यञ्जनावग्रह कहलाता है। अथवा इन्द्रियों से प्राप्त शब्द आदि द्रव्यों का अस्पष्ट ज्ञान भी व्यञ्जनावग्रह कहलाता है। अर्थात् शब्द आदि के साथ उपकरणेन्द्रिय के सम्बन्ध क्षण से लेकर अर्थावग्रह से पूर्व तक जो सुप्त प्रमत्त या मूर्च्छित पुरुष की

तरह केवल शब्द, गंध, रस और स्पर्श कुछ है, ऐसा जो अव्यक्त ज्ञान होता है, वह व्यञ्जनावग्रह है। चक्षु और मन रूप आदि से सम्बन्ध किये बिना ही ज्ञान करते हैं, अतः इनसे व्यञ्जनावग्रह नहीं होता है। अतः व्यञ्जनावग्रह के चार ही प्रकार हैं।

2. **अर्थावग्रह** : अर्थावग्रह छः प्रकार का कहा गया है - 1. श्रोत्रेन्द्रिय अर्थावग्रह, 2. चक्षुन्द्रिय अर्थावग्रह, 3. घ्राणेन्द्रिय अर्थावग्रह, 4. रसनेन्द्रिय अर्थावग्रह, 5. स्पर्शेन्द्रिय अर्थावग्रह 6. नोइन्द्रिय (मन) अर्थावग्रह।[100] पाँच इन्द्रिय और मन से पदार्थों के सामान्य ज्ञान करने को अर्थावग्रह कहते हैं, जो आश्रय के भेद से छः प्रकार का है। जैसे मार्ग में जल्दी से चलते हुए कुछ दिखाई पड़ता है, तो दर्शक यही कहता है, कि मैंने कुछ देखा था, इसे अर्थावग्रह कहते हैं।

अर्थावग्रह दो प्रकार का माना गया है -व्यावहारिक और नैश्चयिक। बहु, अल्प आदि बारह भेद प्रायः व्यावहारिक अर्थावग्रह के ही हैं, नैश्चयिक के नहीं। नैश्चयिक अर्थावग्रह में जाति-गुण-क्रिया से रहित सामान्य मात्र प्रतिभासित होता है, इसलिए उसमें अल्प-बहु आदि विशेषों का ग्रहण संभव नहीं है।

जो अर्थावग्रह सर्वप्रथम सामान्य मात्र को ग्रहण करता है, वह नैश्चयिक है और जिस-जिस विशेषग्राही अवाय ज्ञान के पश्चात् अन्यान्य विशेषों की जिज्ञासा और अवाय होते रहते हैं, वे सामान्य विशेषग्राही अवाय ज्ञान व्यावहारिक अर्थावग्रह है। जिसके बाद अन्य विशेषों की जिज्ञासा न हो, वह अवाय ज्ञान नैश्चयिक अर्थावग्रह है।

सभी इन्द्रियों और मन का स्वभाव समान नहीं है, इसलिए उनके द्वारा होने वाली ज्ञान धारा के आविर्भाव का क्रम भी समान नहीं होता। यह क्रम दो प्रकार का है - मन्दक्रम और पटुक्रम।

मन्दक्रम में इन्द्रिय के साथ ग्राह्य विषय का संयोग होने पर ही ज्ञान धारा का आविर्भाव होता है, जिसका प्रथम अंश अव्यक्ततम, अव्यक्ततर रूप व्यञ्जनावग्रह नामक ज्ञान, दूसरा अंश अर्थावग्रह रूप ज्ञान और चरम अंश स्मृति रूप धारणा ज्ञान है। इसके विपरीत पटुक्रम में उपकरणेन्द्रिय और विषय के संग की अपेक्षा नहीं है। दूर, दूरतर होने पर भी योग्य सन्निधान मात्र से इन्द्रिय उस विषय को ग्रहण कर लेती है और ग्रहण होते ही उस विषय का उस इन्द्रिय द्वारा प्रारम्भ में अर्थावग्रह रूप सामान्य ज्ञान उत्पन्न होता है। इसके बाद क्रमशः ईहा, अवाय आदि ज्ञान व्यापार पूर्वोक्त मन्दक्रम की तरह ही प्रवृत्त होता है। सारांश यह है, कि पटुक्रम में इन्द्रिय के साथ ग्राह्य विषय का संयोग हुए बिना ही ज्ञान धारा का आविर्भाव होता है, जिसका प्रथम अंश अर्थावग्रह और चरम अंश स्मृति रूप धारण ज्ञान है।

2. पारमार्थिक प्रत्यक्ष :

"पारमार्थिकं पुनरुत्पत्तावात्ममात्रापेक्षम्॥"[101]

अर्थात् जो ज्ञान आत्मा से ही उत्पन्न होता है, उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष संपूर्ण रूप से विशद् ज्ञान होता है। इन्द्रिय और मन के व्यापार की उसमें आवश्यकता नहीं होती। अर्थात् यह ज्ञान परापेक्षी नहीं होता। आगमों में पारमार्थिक प्रत्यक्ष को नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा गया है। नन्दीसूत्र[101] एवं अनुयोगद्वार[102] दोनों में ही नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष को तीन प्रकार का कहा गया है - अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान व केवलज्ञान। प्रवचनसार में तो पारमार्थिक प्रत्यक्ष को ही प्रत्यक्ष प्रमाण की कोटी में रखा गया है, इन्द्रिय प्रत्यक्ष को परोक्ष ज्ञान कहा गया है।[103] वादिदेवसूरि ने पारमार्थिक प्रत्यक्ष को दो प्रकार का कहा है - सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्ष।[104]

केवलज्ञान को सकल प्रत्यक्ष की श्रेणी में रखा गया है, केवल ज्ञान का तात्पर्य है, सर्वज्ञता, संपूर्ण ज्ञान। विकल प्रत्यक्ष के अन्तर्गत अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान को रखा है, क्योंकि ये दोनों ही आंशिक ज्ञान है। दोनों ही अपनी-अपनी सीमाओं में बन्धे होते हैं।

1. अवधिज्ञान : अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला, भवप्रत्यय तथा गुणप्रत्यय, रूपी द्रव्यों को जानने वाला ज्ञान अवधिज्ञान कहालाता है।[105] यह आत्मादि अरूपी द्रव्यों को जानने में सक्षम नहीं है। यद्यपि यह सूक्ष्म रूप से एक परमाणु को भी जान सकता है। चूँकि इसकी अपनी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा निश्चित है और यह नीचे की तरफ अधिक विषय को जानता है, अतः अवधिज्ञान कहा जाता है। अवधिज्ञान दो प्रकार का होता है - भव प्रत्यय और गुण प्रत्यय।[106]

जो अवधिज्ञान जन्म से ही प्रकट होता है, उसे भव प्रत्ययिक कहते हैं। यह देवों और नारकियों को ही होता है।[107] जिसके आविर्भाव के लिए व्रत, नियम आदि गुणों का अनुष्ठान किया जाता है, उसे गुण प्रत्यय अथवा क्षयोपशम जन्य अवधिज्ञान कहते हैं। मनुष्य और तिर्यंचों के गुण प्रत्यय अवधिज्ञान होता है।[108] गुण प्रत्यय एवं भव प्रत्यय अवधिज्ञान का भेद इस प्रकार का होता है, कि जैसे पक्षियों में आकाश में उड़ने की क्षमता व ज्ञान जन्म से ही होता है, जबकि मनुष्य आकाश में नहीं उड़ सकता, जब तक कि वह विमान आदि का सहारा न ले।

गुण प्रत्ययिक अवधिज्ञान के छः भेद हैं-आनुगामिक, अनानुगामिक, वर्धमान, हीयमान, प्रतिपाति एवं अप्रतिपाति। नन्दीसूत्र में इसका विस्तृत विवेचन किया गया है-

"अहवा गुणपडिवन्नस्स अणगारस्स ओहिनाणं समुप्पज्जइ, तं समासओ छव्विहं पण्णत्तं, तंजहा-आणुगामियं 1, अणाणुगामियं 2, वड्ढमाणयं 3, हीयमाणयं 4, पडिवायं 5, अप्पडिवाइयं 6।"[109]

1. आनुगामिक : जो अवधिज्ञान अपने उत्पत्तिक्षेत्र को छोड़कर दूसरी जगह चले जाने पर भी कायम रहता है, उसे आनुगामिक कहते हैं। आनुगामिक अवधिज्ञान

दो प्रकार का है - अंतगत और मध्यगत। अंतगत अवधिज्ञान तीन प्रकार का कहा गया है - 1. पुरतोऽन्तगत, 2. मार्गतोऽन्तगत, 3. पार्श्वतोऽन्तगत।

अ. पुरतोऽन्तगत अवधिज्ञान बेटरी की तरह आगे के प्रदेश को प्रकाशित करते हुए साथ चलता है।

ब. मार्गतोऽन्तगत अवधिज्ञान बगल के पदार्थों का ज्ञान कराते हुए चलता है।

स. पार्श्वतोऽन्तगत ज्ञान पिछे चलने वाला होता है।

मध्यगत अवधिज्ञान ज्ञाता को चारों और के पदार्थों का ज्ञान कराते हुए चलता है।[111]

2. अनानुगामिक : जो अवधिज्ञान अपने उत्पत्ति स्थान को छोड़ देने पर कायम नहीं रहता, साथ नहीं चलता वह अनानुगामिक होता है।

3. वर्धमान : जो अविधज्ञान उत्पत्ति काल में अल्पविषय होने पर भी परिणाम-शुद्धि के बढ़ते जाने से क्रमशः अधिकाधिक विषयक होता जाता है, उसे वर्धमान कहते हैं। जैसे-दियासलाई या अरणि-आदि से उत्पन्न आग की चिनगारी बहुत छोटी होते हुए भी अधिकाधिक सूखे ईंधन को पाकर क्रमशः बढ़ती जाती है।

4. हीयमान : जो अवधिज्ञान उत्पत्ति के समय अधिक विषयक होने पर भी परिणाम शुद्धि कम होते जाने से क्रमशः अल्प-अल्प विषयक होता जाता है, उसे हीयमान कहते हैं। जैसे परिमित दाह्य वस्तुओं में लगी हुई आग नया ईंधन न मिलने से क्रमशः घटती जाती है।

5. प्रतिपाति : जो अवधिज्ञान जन्मान्तर होने पर भी आत्मा में कायम रहता है या केवलज्ञान की उत्पत्ति तक अथवा आजन्म बना रहता है, उसे प्रतिपाति कहते हैं। जैसे जीव के अनेक शुभ-अशुभ कर्म संस्कार दूसरे जन्म में भी साथ जाते हैं या आजन्म रहते हैं।

6. अप्रतिपाति : जलतरङ्ग की तरह जो अवधिज्ञान कभी घटता है, कभी बढ़ता है, कभी आविर्भूत होता है और कभी तिरोहित होता है, उसे अप्रतिपाति कहते हैं।

यद्यपि तीर्थंकर मात्र को अथवा किसी अन्य मनुष्य को भी अवधिज्ञान जन्म से प्राप्त होता है, तथापि उसे गुण प्रत्ययिक ही समझना चाहिये। क्योंकि योग्य गुण न होने पर अवधिज्ञान आजन्म नहीं रहता, जैसे कि देव या नरकगति में रहता है।

2. मनःपर्यय ज्ञान :

''मणपज्जवनाणं पुण, जणमणपरिचिंतिअत्थपागडणं।
माणुसखित्तनिबद्धं, गुणपच्चइअं चरित्तवओ॥
से तं मणपज्जवनाणं॥''[113]

अर्थात् मनःपर्ययज्ञान सभी जीवों के मन में सोचे हुए अर्थ को प्रकट करने

वाला है और मनुष्य क्षेत्र में सीमित तथा चारित्रयुक्त साधु के क्षयोपशम गुण से उत्पन्न होने वाला है। मन वाले (संज्ञी) प्राणी किसी भी वस्तु या पदार्थ का चिन्तन मन द्वारा करते हैं। चिंतनीय वस्तु के भेद के अनुसार चिन्तन में प्रवृत्त मन भिन्न-भिन्न आकृतियों को धारण करता रहता है। वे आकृतियाँ ही मन के पर्याय हैं और उन मानसिक आकृतियों को साक्षात् जानने वाला ज्ञान मनःपर्यय है। इस ज्ञान से चिन्तनशील मन की आकृतियाँ जानी जाती है, लेकिन चिन्तनीय वस्तुएँ नहीं जानी जा सकती। वस्तुओं को बाद में मनःपर्यय ज्ञान वाला अनुमान के द्वारा ही जान सकता है। जैसे मनस शास्त्री किसी का चेहरा या हाव भाव देखकर उस व्यक्ति के मनोभावों तथा सामर्थ्य का ज्ञान अनुमान से करता है, वैसे ही मनःपर्यय ज्ञानी मनःपर्यय ज्ञान से किसी के मन की आकृतियों को प्रत्यक्ष देखकर बाद में अभ्यासवश अनुमान कर लेता है, कि यह व्यक्ति अमुक वस्तु के चिन्तन के समय आवश्यक होने वाली अमुक-अमुक प्रकार की आकृतियों से युक्त है।

मनःपर्यय ज्ञान के दो भेद हैं - एक ऋजुमति और दूसरा विपुलमति।[114] जो विषय को सामान्य रूप से जानता है, वह ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान है और जो विशेष रूप से जानता है, वह विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान है। ऋजुमति को सामान्य ग्राही कहने का अभिप्राय यह है, कि वह विशेषों को जानता तो है, किन्तु विपुलमति के जितने स्पष्ट रूप से विशेषों को नहीं जानता। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति मनः पर्यय ज्ञान विशुद्धतर होता है, क्योंकि वह सूक्ष्मतर और अधिक विशेषों को स्फुटतया जान सकता है। इसके अतिरिक्त दोनों में यह भी अन्तर है, कि ऋजुमति उत्पन्न होने के बाद कदाचित् नष्ट भी हो जाता है। लेकिन विपुलमति केवलज्ञान की प्राप्ति पर्यंत बना ही रहता है।

मनःपर्यय ज्ञान भी इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही होता है। दूसरे का मन तो इसमें केवल आलम्बन पड़ता है। मनःपर्यय ज्ञान दूसरे के मन में आने वाले विचारों को अर्थात् विचार करने वाली मन की पर्यायों को साक्षात् जानता है और उसके अनुसार बाह्य पदार्थों को अनुमान से जानता है। मनःपर्यय ज्ञान प्रकृष्ट चारित्र वाले साधु को ही होता है। इसका विषय अवधिज्ञान से अनन्तवाँ भाग सूक्ष्म होता है। इसका क्षेत्र मनुष्य लोक के बराबर है।

अवधिज्ञान व मनःपर्यय ज्ञान में अन्तर : अवधि और मनःपर्यय दोनों पारमार्थिक विकाल (अपूर्ण) प्रत्यक्ष रूप से समान हैं तथापि दोनों में कई प्रकार का अन्तर है, जैसा कि उमास्वाति उल्लेख करते हैं -

"विशुद्धिक्षेत्रस्वामि विषयेभ्योऽवधि मनः पर्याययोः ॥"[115]

अर्थात् विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय में अवधिज्ञान से मनःपर्यय ज्ञान विशेष है।

1. मनः पर्याय ज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा अपने विषय को अधिक स्पष्ट रूप से जानता है, इसलिए उससे विशुद्धतर है।
2. क्षेत्र से अवधिज्ञान का क्षेत्र अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोक तक है और मनः पर्ययज्ञान का क्षेत्र मानुषोत्तर पर्वत पर्यंत ही है।
3. अवधिज्ञान के स्वामी चारों गति वाले जीव हो सकते हैं, लेकिन मनःपर्यय ज्ञान के स्वामी केवल संयत मनुष्य ही हो सकते हैं।
4. अवधिज्ञान का विषय कतिपय पर्याय सहित रुपीद्रव्य है, किन्तु मनः पर्ययज्ञान का विषय तो केवल उसका अनन्तवाँ भाग है, मात्र मनोद्रव्य है।

मनःपर्ययज्ञान में अवधिज्ञान की अपेक्षा विषय कम होने पर भी वह अधिक विशुद्ध होता है। विशुद्धि का आधार विषय की न्यूनाधिकता नहीं है, विषयगत न्यूनाधिक सूक्ष्मताओं को जानना है।

केवलज्ञान : समस्त ज्ञानावरण के समूल नाश होने पर प्रकट होने वाला निरावरण ज्ञान केवलज्ञान है। आचार्य कुन्दकुन्द ने केवलज्ञान का स्वरूप बताते हुए उसे सुख रूप कहा है-

''जादं सयं समंत णाणमणंतत्थवित्थडं विमलं।
रहिदं तु ओग्गहादिहिं सुहं ति एगंतियं भणि दं॥''[15]

अर्थात् अपने आप ही उत्पन्न समंत (सर्व प्रदेशों से जानता हुआ), अनन्त पदार्थों में विस्तृत, विमल और अवग्रहादि से रहित ऐसा ज्ञान एकान्तिक (अकेला) सुख है, ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है।

केवलज्ञान आत्ममात्र सापेक्ष होता है अर्थात् आत्मा के द्वारा ही आत्मा को ही स्व-पर ज्ञान रूप से जानता है। यह केवल अर्थात् अकेला या संपूर्ण होता है। इस ज्ञान के प्रकट होते ही समस्त क्षायोपशमिक ज्ञान विलीन हो जाता है। जिस प्रकार सूर्य के उदित होते ही उसके प्रकाश में संपूर्ण तारामण्डल विलीन हो जाता है। यह समस्त द्रव्यों की त्रिकालवर्ती सभी पर्यायों को जानता है तथा अतिन्द्रिय होता है। यह संपूर्ण रूप से निर्मिल होता है। इसे सिद्ध करने की मूल युक्ति यह है, कि आत्मा जब ज्ञान स्वभाव है और आवरण के कारण इसका यह ज्ञान स्वभाव खंड-खंड करके प्रकट होता है, तब संपूर्ण आवरण के हट जाने पर ज्ञान को अपने पूर्ण रूप में प्रकाशमान होना ही चाहिये। जैसे अग्नि का स्वभाव है, जलाने का यदि कोई प्रतिबन्ध न हो तो अग्नि ईंधन को जलायेगी ही। उसी प्रकार ज्ञान स्वभाव आत्मा पर से प्रतिबन्धकों के हट जाने पर जगत के समस्त पदार्थों को जानेगा ही। जो पदार्थ किसी ज्ञान के ज्ञेय हैं, किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य होते हैं। जैसे पर्वतीय अग्नि आदि अनेक अनुमान उस निरावरण ज्ञान की सिद्धि के लिए दिए जाते हैं।

केवलज्ञान को आगमों में इस प्रकार से परिभाषित किया गया है, कि ''जेएगे

जाणइ, से सव्वे जाणइ''[116] अर्थात् जो एक आत्मा को जानता है, वह सब पदार्थों को जानता है। निश्चयनय से केवलज्ञान का तात्पर्य है, आत्मस्वरूप को जानना, लेकिन व्यवहारनय से केवलज्ञान को सर्वज्ञता के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। अनन्तपर्याय वाले एक द्रव्य को संपूर्ण रूप से जानने का अर्थ सर्वज्ञता ही हो जाता है। जब तक एक आत्म द्रव्य की संपूर्ण पर्यायों को जानता है, तो वह आत्मज्ञ होने के साथ ही सर्वज्ञ भी हो जाता है। अर्थात् केवलज्ञान को सर्वज्ञता और आत्मज्ञता दो पृथक्-पृथक् रूपों में व्याख्यायित करना, दो भिन्न दृष्टियों से चिन्तन करना है। वास्तव में दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, जो एक साथ केवलज्ञान में अन्तर्भूत होते हैं। जैसा कि प्रवचनसार में लिखा है -

''तिक्कालणिच्चविसमं सयलं सव्वत्थसंभवं चित्तं।
जुगवं जाणदि जोण्हं अहो हि णाणस्स माहप्पं॥''[117]

अर्थात् तीनों काल में सदा विषम सर्व क्षेत्र के अनेक प्रकार के समस्त पदार्थों को जिनदेव का ज्ञाता (केवलज्ञान) एक साथ जानता है। अहो! ज्ञान का माहात्म्य।

यह गाथा केवलज्ञान की सर्वज्ञता के महत्त्व को प्रकट करती है। केवलज्ञानी सर्वज्ञ होता है।

पाँचों ज्ञानों के ग्राह्य विषय: मति आदि चारों ज्ञान कितने ही विशुद्ध हों, किन्तु वे चेतनाशक्ति के अपूर्ण विकसित रूप होने से एक वस्तु के भी समग्र भावों को जानने में असमर्थ हैं। इन सभी ज्ञानों के अन्तर्गत किसी भी द्रव्य की कुछ ही पर्यायों को जाना जा सकता है, संपूर्ण पर्यायों को नहीं। तत्त्वार्थ सूत्र में इनके ग्राह्य विषय इस प्रकार कहे गए हैं -

'मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।''[118]

अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति (ग्राह्यता) सर्व पर्याय रहित अर्थात् परिमित पर्यायों से युक्त सब द्रव्यों में होती है।

''रुपिष्ववधेः॥''[119]

अवधि ज्ञान की प्रवृत्ति सर्व पर्याय रहित केवल रूपी (मूर्त) द्रव्यों में होती है।

''तदनन्त भागे मनः पर्यायस्य।''[120]

मनःपर्याय की ग्राह्यता उस रूपी द्रव्य के सर्व पर्याय रहित अनन्तवें भाग में होती है।

''सर्वद्रव्य पर्यायेषु केवलस्य।''[121]

केवलज्ञान की ग्राह्यता सभी द्रव्यों की सभी पर्यायों में होती है। जो ज्ञान किसी एक वस्तु के सम्पूर्ण भावों को जान सकता है, वह समस्त वस्तुओं के सम्पूर्ण भावों को भी ग्रहण कर सकता है। वही ज्ञान पूर्ण ज्ञान कहलाता है, उसी को केवलज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान चेतना शक्ति के सम्पूर्ण विकास के समय प्रकट होता है। अतः

इसके अपूर्णताजन्य भेद-प्रभेद नहीं हैं। कोई भी वस्तु या भाव ऐसा नहीं है, जो उसके द्वारा प्रत्यक्ष न जाना जा सके। इसीलिए केवलज्ञान की प्रवृत्ति सब द्रव्यों और सब पर्यायों में मानी गई है।

एक आत्मा में एक साथ पाये जाने वाले ज्ञान :

"एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः।"[122]

अर्थात् एक आत्मा में एक समय एक साथ एक ज्ञान से यावत् चार ज्ञान अनियत रूप से होते हैं।

किसी आत्मा में एक साथ एक, किसी में दो, किसी में तीन और किसी में चार ज्ञान तक संभव हैं, पर पाँचों ज्ञान एक साथ किसी में नहीं होते। जब एक ज्ञान होता है, तब केवलज्ञान ही होता है, क्योंकि परिपूर्ण होने से कोई अन्य अपूर्ण ज्ञान सम्भव ही नहीं है। जब दो ज्ञान होते हैं, तब मति और श्रुत ज्ञान होते हैं। क्योंकि पाँच ज्ञानों में से ये ही दो ज्ञान सहचारी हैं। शेष तीनों ज्ञान एक दूसरे को छोड़कर भी रह सकते हैं। जब तीन ज्ञान होते हैं तब मति, श्रुत तथा अवधि या मनःपर्याय ज्ञान होते हैं। तीन ज्ञान अपूर्ण अवस्था में ही हो सकते हैं। चाहे अवधिज्ञान हो अथवा मनः पर्याय ज्ञान मति और श्रुत दोनों तो अवश्य ही होते हैं। जब चार ज्ञान होते हैं तब मति श्रुत, अवधि और मनःपर्याय ज्ञान होते हैं, क्योंकि ये ही चारों ज्ञान अपूर्ण अवस्था भावी होने से एक साथ हो सकते हैं। केवलज्ञान का अन्य किसी ज्ञान के साथ साहचर्य नहीं है, क्योंकि वह पूर्ण अवस्था भावी है और शेष सभी ज्ञान अपूर्ण अवस्थाभावी हैं। पूर्णता तथा अपूर्णता दोनों अवस्थाएँ आपस में विरोधी होने से एक साथ आत्मा में नहीं होतीं। दो, तीन या चार ज्ञानों को एक साथ शक्ति की अपेक्षा से सम्भव कहा गया है, प्रवृत्ति की अपेक्षा से नहीं।

मति और श्रुत दो ज्ञान वाला या अवधि सहित तीन ज्ञान वाला कोई आत्मा जिस समय मतिज्ञान के द्वारा किसी विषय को जानने में प्रवृत्त हो, उस समय वह अपने में श्रुत की शक्ति या अवधिज्ञान की शक्ति होने पर भी उसका उपयोग करके उसके विषयों को नहीं जान सकता। इसी प्रकार वह श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति के समय मति या अवधि की शक्ति को भी काम में नहीं ले सकता है। यही बात मनःपर्याय की शक्ति के विषय में है।

सारांश यह है, कि आत्मा में एक साथ अधिक से अधिक चार ज्ञान शक्तियाँ हो, तब भी एक समय में कोई एक ही शक्ति जानने का कार्य करती है। अन्य शक्तियाँ निष्क्रिय रहती हैं।

केवलज्ञान के समय मति आदि चारों ज्ञान नहीं होते। यह सिद्धान्त सामान्य है। यदि होते भी हैं, तो जिस प्रकार सूर्य प्रकाश में ग्रह-नक्षत्र का प्रकाश छुप जाता है, उसी प्रकार केवलज्ञान के प्रकाश में अन्य प्रकार के ज्ञान तिरोहित हो जाते हैं।

इस प्रकार जैन दर्शन में आत्म-सापेक्ष ज्ञान को, जो इन्द्रिय व मन की अपेक्षा रहित होता है, मुख्य प्रत्यक्ष या पारमार्थिक प्रत्यक्ष माना है। जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से होता है, वह परोक्ष ज्ञान है। इस इन्द्रिय प्रत्यक्ष को सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष भी कहा गया है। परमार्थ दृष्टि से तो आत्ममात्र सापेक्ष अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान-ये तीन ही पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं।

जैन दर्शन की प्रत्यक्ष की परिभाषा निराली है। इसमें 'स्पष्टं प्रत्यक्षं' कहा गया है। जो ज्ञान अनुमानादि परोक्ष ज्ञान की सापेक्ष से अधिक नियत देश, काल और आकार रूप में प्रचुरतर विशेषों को ग्रहण करता है, वह स्पष्ट ज्ञान है। इसे विशद् ज्ञान भी कहा जाता है। जिस प्रकार अनुमानादि ज्ञान अपनी उत्पत्ति में लिंग ज्ञान, व्याप्ति स्मरण आदि की अपेक्षा रखते हैं, उस प्रकार प्रत्यक्ष अपनी उत्पत्ति में अन्य किसी ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता।

परोक्ष ज्ञान : जैन दर्शन सम्मत परोक्ष ज्ञान की व्याख्या भी अन्य सब दर्शनों से विलक्षण है। लोक में इन्द्रिय व्यापार से सहित ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है और इन्द्रिय व्यापार से रहित ज्ञान को परोक्ष कहा जाता है। इसके विपरीत जैन दर्शन इन्द्रिय व्यापार सहित ज्ञान को परोक्ष और इन्द्रिय व्यापार रहित ज्ञान को प्रत्यक्ष कहता है। इन्द्रियों को पर द्रव्य कहा है। कुन्दकुन्दाचार्य लिखते हैं -

"जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं ति भणिदमट्ठेसु॥"[123]

अर्थात् पर के द्वारा होने वाला जो पदार्थ सम्बन्धि विज्ञान है, वह तो परोक्ष कहा गया है। आगमों में मति और श्रुत ज्ञान को परोक्ष[124] और स्मृति संज्ञा, चिन्ता और आभिनिबोध को मतिज्ञान का ही पर्याय कहा था।[125] अतः आगम में सामान्य रूप से स्मृति संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क), आभिनिबोध (अनुमान) और श्रुत (आगम) इन्हें परोक्ष मानने का स्पष्ट मार्ग निर्दिष्ट था ही। केवल मतिज्ञान (इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होने वाला प्रत्यक्ष) को परोक्ष मानने पर लोक विरोध का प्रसंग था, जिसे सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष मानकर हल कर लिया गया था। आचार्य हेमचन्द्र और वादिदेव सूरि ने परोक्ष प्रमाण की नवीन परिभाषा इस प्रकार की है। उन्होंने क्रमशः "अविशदः परोक्षम्।"[126] तथा "अस्पष्टं परोक्षम्।"[127] कहकर सिद्धान्त पक्ष का लोकपक्ष के साथ समन्वय किया है।

अकलंकदेव ने राजवार्तिक में अनुमान आदि ज्ञानों को स्वप्रतिपत्ति के समय अनक्षर श्रुत और परप्रतिपत्तिकाल में अक्षरश्रुत कहते हैं। उन्होंने लघीयस्त्र (कारिका 7) में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, चिन्ता और आभिनिबोध को मनोमति बताया है। कारिका 10 में मति, स्मृति आदि ज्ञानों को शब्द योजना के पहले सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष और शब्द योजना होने पर उन्हीं ज्ञानों को श्रुत कहा है। इस प्रकार सामान्य रूप से मतिज्ञान को परोक्ष की सीमा में आने पर भी उसके एक अंश-मति को सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष

कहने की और शेष स्मृति आदि ज्ञानों को परोक्ष कहने की भेदक रेखा क्या हो सकती है? इसका समाधान परोक्ष के लक्षण से ही हो जाता है। अविशद् ज्ञान अर्थात् अस्पष्ट ज्ञान को ही परोक्ष कहते हैं। विशदता का अर्थ है ज्ञानान्तर निरपेक्षता। जो ज्ञान अपनी उत्पत्ति में किसी दूसरे ज्ञान की अपेक्षा रखता हो अर्थात् जिसमें ज्ञानान्तर का व्यवधान हो, वह ज्ञान विशद् है।

पाँच इन्द्रिय और मन के व्यापार से उत्पन्न होने वाले इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष चूँकि केवल इन्द्रिय व्यापार से उत्पन्न होते हैं अन्य किसी ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं रखते, इसलिए अंशतः विशद् होने से प्रत्यक्ष हैं, जबकि स्मरण अपनी उत्पत्ति में पूर्वानुभाव की, प्रत्यभिज्ञान अपनी उत्पत्ति में स्मरण और प्रत्यक्ष की, तर्क अपनी उत्पत्ति में स्मरण, प्रत्यक्ष और प्रत्यभिज्ञान की, अनुमान अपनी उत्पत्ति में लिङ्ग दर्शन और व्याप्ति स्मरण की तथा श्रुत अपनी उत्पत्ति में शब्द श्रवण और संकेत स्मरण की अपेक्षा रखते हैं, अतः ये सब ज्ञानान्तर सापेक्ष होने के कारण अविशद् हैं और परोक्ष हैं।

यद्यपि ईहा, अवाय और धारणा ज्ञान अपनी उत्पत्ति में पूर्व-पूर्व प्रतीति की अपेक्षा रखते हैं तथापि ये ज्ञान नवीन-नवीन इन्द्रिय व्यापार से उत्पन्न होते हैं और एक ही पदार्थ की विशेष अवस्थाओं को विषय करने वाले हैं, अतः किसी भिन्न विषयक ज्ञान से व्यवहित नहीं होने के कारण सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष ही हैं। एक ही ज्ञान दूसरे-दूसरे इन्द्रिय व्यापारों से अवग्रह आदि अतिशयों को प्राप्त करता हुआ अनुभव में आता है, अतः ज्ञानान्तर का अव्यवधान यहाँ सिद्ध हो जाता है।

चार्वाक के परोक्ष प्रमाण न मानने की आलोचना : चार्वाक प्रत्यक्ष प्रमाण से भिन्न किसी अन्य परोक्ष प्रमाण की सत्ता नहीं मानता। प्रमाण का लक्षण अविसंवाद करके उसने यह बताया है, कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष के सिवाय अन्य ज्ञान सर्वथा अविसंवादी नहीं होते। अनुमानादि प्रमाण बहुत कुछ संभावना पर चलते हैं और ऐसा कहने का कारण यह है, कि देश काल और आकार के भेद से प्रत्येक पदार्थ की अनन्त शक्तियाँ और अभिव्यक्तियाँ होती हैं। उनमें अव्यभिचारी अविनाभाव का दृढ़ लेना अत्यंत कठिन है। जो आँवले यहाँ कसायरस वाले देखे जाते हैं, वे देशान्तर और कालान्तर में द्रव्यान्तर का सम्बन्ध होने पर मीठे रस वाले भी हो सकते हैं। कहीं-कहीं धूम साँप की बामी में से निकलता हुआ देखा जाता है। अतः अनुमान का शत प्रतिशत अविसंवादी होना असम्भव बात है। यही बात स्मरणादि प्रमाणों के सम्बन्ध में है।

जैन दार्शनिक चार्वाक के इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं, कि अनुमान प्रमाण को माने बिना प्रमाण और प्रमाणाभास का विवेक भी नहीं किया जा सकता। अविसंवाद के आधार पर अमुक ज्ञानों में प्रमाणता की व्यवस्था करना और अमुक ज्ञानों को अविसंवाद के अभाव में अप्रमाण कहना भी तो अनुमान ही है। दूसरे की

बुद्धि का ज्ञान अनुमान के बिना नहीं हो सकता, क्योंकि बुद्धि का इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष असम्भव है। वह तो व्यापार, वचन प्रयोग आदि कार्यों को देखकर ही अनुमित होती है। जिन कार्य कारण भावों या अविनाभावों का हम निर्णय न कर सकें अथवा जिनमें व्यभिचार देखा जाए उनसे होने वाला अनुमान भले ही भ्रान्त हो जाए, लेकिन अव्यभिचारी कार्यकारण भाव आदि के आधार से होने वाला अनुमान अपनी सीमा में विसंवादी नहीं हो सकता। परलोक आदि के निषेध के लिए भी चार्वाक को अनुमान की ही शरण लेनी पड़ती है। वामी से निकलने वाली भाप और अग्नि से उत्पन्न होने वाले धुएँ में विवेक नहीं कर सकता तो प्रमाता का अपराध है, अनुमान का नहीं। यदि सीमित क्षेत्र में पदार्थों के सुनिश्चित कार्य-कारण-भाव न बिठाये जा सकें, तो जगत् का समस्त व्यवहार ही नष्ट हो जाएगा।

यह ठीक है, कि जो अनुमान आदि विसंवादी निकल जाएँ उन्हें अनुमानाभास कहा जा सकता है, पर इससे निर्दिष्ट अविनाभाव के आधार से होने वाला अनुमान कभी मिथ्या नहीं हो सकता। यह तो प्रमाता की कुशलता पर निर्भर करता है, कि वह पदार्थों के कितने और कैसे सूक्ष्म या स्थूल कार्यकारण भाव को जानता है। आप्त के वाक्य की प्रमाणता हमें व्यवहार के लिए माननी ही पड़ती है, अन्यथा समस्त सांसारिक व्यवहार छिन्न-भिन्न हो जाएँगे। मनुष्य के ज्ञान की कोई सीमा नहीं है, अतः अपनी मर्यादा में परोक्ष ज्ञान भी अविसंवादी होने से प्रमाण ही हैं। यह खुला रास्ता है, कि जो ज्ञान जिस अंश में विसंवादी हो उन्हें उस अंश में प्रमाण माना जाए। अतः चार्वाक का परोक्ष ज्ञान को प्रमाण न मानना सर्वथा अनुचित है।

परोक्ष प्रमाण के भेद : जैन दर्शन में परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद बताए गए हैं -

''स्मरण प्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागम भेदतस्तत् पञ्चप्रकारम्॥''[128]

1. स्मरण, 2. प्रत्यभिज्ञान, 3. तर्क, 4. अनुमान एवं 5. आगम।

1. स्मरण :

''तत्र संस्कार प्रबोधसम्भूतं, अनुभूतार्थविषयं, तदित्याकारं वेदनं स्मरणम्।''[129]

अर्थात् संस्कार (धारणा) के जागृत होने से उत्पन्न होने वाला, पहले जाने हुए पदार्थ को जानने वाला, 'वह' इस आकार वाला ज्ञान स्मरण है। जैसे वह तीर्थंकर का बिम्ब है। यह ज्ञान अतीतकालीन पदार्थ को विषय करता है। इसमें 'तत्' शब्द का उल्लेख अवश्य होता है। यद्यपि स्मरण का विषयभूत पदार्थ सामने नहीं है, फिर भी वह हमारे पूर्व अनुभव का विषय तो था ही और उस अनुभव का दृढ़ संस्कार हमें सादृश्य आदि अनेक निमित्तों से उस पदार्थ को मन में झलका देता है। इस स्मरण की बदौलत ही जगत के समस्त लेन-देन आदि व्यवहार चल रहे हैं। व्याप्ति स्मरण के बिना अनुमान और संकेत स्मरण के बिना किसी प्रकार के शब्द का प्रयोग ही नहीं हो

सकता। गुरु-शिष्यादि सम्बन्ध, पिता-पुत्रभाव तथा अन्य अनेक प्रकार प्रेम, घृणा, करुणा आदि मूलक समस्त जीवन व्यवहार स्मरण के ही आभारी हैं। संस्कृति, सभ्यता और इतिहास की परम्परा स्मरण के सूत्र से ही हम तक आयी है।

स्मृति को अप्रमाण कहने का मूल कारण उसका 'गृहीतग्राही होना' बताया जाता है। उसकी अनुभव परतन्त्रता प्रमाण व्यवहार में बाधक बनती है। अनुभव जिस पदार्थ को जिस रूप में जानता है, स्मृति उससे अधिक को नहीं जानती और न ही उसके किसी नये अंश का ही बोध करती है। वह पूर्वानुभव की मर्यादा में ही सीमित है, बल्कि कभी-कभी तो अनुभव से कम की ही स्मृति होती है।

वैदिक परम्परा में स्मृति को स्वतंत्र प्रमाण न मानने का एक ही कारण है, कि मनुस्मृति और याज्ञावल्क्य आदि स्मृतियाँ पुरुष विशेष के द्वारा रची गई हैं। यदि एक भी जगह उनका प्रामाण्य स्वीकार कर लिया जाता है, तो वेद की अपौरुषेयता और उसके धर्म विषयक निर्बाध अन्तिम प्रामाण्य समाप्त हो जाता है। अतः स्मृतियाँ वहीं तक प्रमाण हैं, जहाँ तक वे श्रुति का अनुगमन करती हैं। अर्थात् श्रुति स्वतः प्रमाण है और स्मृतियों में प्रमाणता की छाया श्रुतिमूलक होने से ही पड़ रही है। इस प्रकार जब एक बार स्मृतियों में श्रुति परतन्त्रता के कारण स्वतः प्रामाण्य निषिद्ध हुआ, तब अन्य व्यावहारिक स्मृतियों में उस परतन्त्रता की छाया अनुभवाधीन होने के कारण बराबर चालू रही और यह व्यवस्था हुई, कि जो स्मृतियाँ पूर्वानुभव का अनुगमन करती हैं, वे ही प्रमाण हैं, अनुभव के बाहर की स्मृतियाँ प्रमाण नहीं हो सकती अर्थात् स्मृतियाँ सत्य होकर भी अनुमान की प्रमाणता के बल पर ही अविसंवादिनी सिद्ध हो पाती हैं, अपने बल पर नहीं।

भट्ट जयंत[31] ने स्मृति की अप्रमाणता का कारण गृहीत-ग्राहित्व न बताकर उसका अर्थ से उत्पन्न न होना बताया है, किन्तु जब अर्थ की ज्ञान मात्र के प्रति कारणता ही सिद्ध नहीं है, तब अर्थ जन्यता को प्रमाणता का आधार नहीं बनाया जा सकता। प्रमाणता का आधार तो अविसंवादी ही हो सकता है। गृहीत-ग्राही ज्ञान भी यदि अपने विषय में अविसंवादी है, तो उसकी प्रमाणता सुरक्षित है। यदि अर्थ जन्यता के अभाव में स्मृति अप्रमाण होती है, तो अतीत और अनागत को विषय करने वाले अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकेंगे।

जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य किसी भी दर्शन ने स्मृति को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना है। जबकि जगत के समस्त व्यवहार स्मृति की प्रमाणता और अविसंवाद पर ही चल रहे हैं, तब वे उसे प्रमाण कहने का साहस तो नहीं कर सकते, किंतु प्रमा का व्यवहार स्मृति-भिन्न ज्ञान में करना चाहते हैं। धारणा नामक अनुभव पदार्थ को 'इदम्' रूप से जानता है, जबकि संस्कार होने वाली स्मृति उसी पदार्थ को 'तत्' रूप से जानती है। अतः उसे एकान्त रूप से गृहीत ग्राहिणी भी नहीं कह सकते हैं। प्रमाणता

के दो ही आधार हैं-अविसंवादी होना तथा समारोप का व्यवच्छेद करना। स्मृति, शब्द व्यवहार और जगत के समस्त व्यवहार निर्मूल हो जायेंगे। हाँ, जिस-जिस स्मृति में विसंवाद हो उसे अप्रमाण या स्मृत्याभास कहने का मार्ग खुला हुआ है। विस्मरण, संशय और विपर्याय रूपी समारोप का निराकरण स्मृति के द्वारा होता ही है। अतः इस अविसंवादी ज्ञान की प्रमाणता को परोक्ष रूप से स्वीकार करना ही होगा। अनुभव परतन्त्र होने के कारण वह परोक्ष तो कही जा सकती है, लेकिन अप्रमाण नहीं। प्रमाणता या अप्रमाणता का आधार अनुभव स्वातन्त्र्य नहीं है। अनुभूत अर्थ को विषय करने के कारण भी उसे अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। अन्यथा अनुभूत अग्नि को विषय करने वाला अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकेगा। अतः स्मृति प्रमाण है, क्योंकि वह स्वविषय में अविसंवादिनी है।

2. **प्रत्यभिज्ञान :**

''दर्शनस्मरणसम्भवं तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादिसङ्कलनं प्रतिज्ञानम्॥''[113]

वर्तमान के प्रत्यक्ष और अतीत के स्मरण से होने वाला संकलनात्मक ज्ञान प्रत्यभिज्ञान है। यह संकलन एकत्व सादृश्य, वैसादृश्य, प्रतियोगी, आपेक्षिक आदि अनेक प्रकार का होता है। वर्तमान का प्रत्यक्ष करके उसके अतीत का स्मरण होने पर 'यह वही है' इस प्रकार का जो मानसिक एकत्व संकलन होता है, वही एकत्व प्रत्यभिज्ञान है। इसी प्रकार 'गवय गाय सदृश होता है।' इस वाक्य को सुनकर कोई वन में जाता है और सामने गाय जैसे पशु को देखकर उस वाक्य का स्मरण करता है और फिर मन में निश्चय करता है, कि वह गवय है। इस प्रकार का सादृश्य विषयक संकलन सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है। 'भैंस गाय से विलक्षण होती है।' इस प्रकार के वाक्य को सुनकर, जिस बाड़े में गाय और भैंस दोनों हों, वहाँ जाने वाला मनुष्य गाय से विलक्षण पशु को देखकर उक्त वाक्य को स्मरण करता है और निश्चय करता है, कि यह भैंस है। यह वैसादृश्य विषयक संकलन वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञान है। इसी प्रकार अपने समीपवर्ती मकान के प्रत्यक्ष के बाद दूरवर्ती पर्वत को देखने पर पूर्व का स्मरण करके जो 'यह इससे दूर है।' इस प्रकार का आपेक्षिक ज्ञान होता है, वह आपेक्षिक प्रत्यभिज्ञान है। शाखादि वाला वृक्ष होता है, एक सींग वाला गेंडा होता है, छह पैर वाला भ्रमर होता है, आदि परिचायक शब्दों को सुनकर व्यक्ति को उन पदार्थों को देखने पर और पूर्वोक्त परिचय वाक्यों को स्मरण कर जो 'यह वृक्ष है, यह गेंडा है, यह भ्रमर है, आदि ज्ञान उत्पन्न होते हैं, वे सब अपने विषय में अविसंवादी और समारोप के व्यवच्छेदक होने से प्रमाण है।'

प्रत्यभिज्ञान के विषय में दार्शनिक मतभेद : बौद्ध पदार्थ को क्षणिक मानते हैं। उनके अनुसार एकत्व वास्तविक नहीं है। 'यह वही है' इस वाक्य में 'सः वह'

यह अंश स्मरण है और 'अयं-वही' अंश प्रत्यक्ष है। इस तरह वे बौद्ध इस एकत्व प्रतीति में दो स्वतंत्र ज्ञान मानकर प्रत्यभिज्ञान के अस्तीत्व को स्वीकार नहीं करते। किन्तु जब यह बात निश्चित है, कि प्रत्यक्ष केवल वर्तमान को विषय करता है और स्मरण केवल अतीत को, तब इन दोनों सीमित और नियत विषय वाले ज्ञानों द्वारा अतीत और वर्तमान दो पर्यायों में रहने वाला एकत्व कैसे जाना जा सकता है? यदि एकत्व का सर्वथा अपलाप किया जाता है, तो बद्ध की मुक्ति, ऋण की वसूली आदि जगत व्यवहार सब उच्छिन्न हो जाएँगे। 'यह वही है' इस ज्ञान को यदि बौद्ध दर्शन विकल्प की कोटि में डालता है, तो उसे ही प्रत्यभिज्ञान मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये, किन्तु यह विकल्प अविसंवादी होने से स्वतंत्र प्रमाण होगा।

प्रत्यभिज्ञान को अस्वीकार करने पर अनुमान की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। जिस व्यक्ति ने पहले अग्नि और धूम के कार्य-कारण भाव को ग्रहण किया है, वही व्यक्ति जब पूर्व धूम के सदृश अन्य धूम देखता है, तब ग्रहीत कार्य का स्मरण होने पर अनुमान कर पाता है। यहाँ एकत्व और सदृशत्व दोनों प्रत्यभिज्ञानों की आवश्यकता है, क्योंकि भिन्न व्यक्ति को विलक्षण पदार्थ के देखने पर अनुमान नहीं हो सकता।

बौद्धों का कथन है, कि एकत्व प्रतीति रूप प्रत्यभिज्ञान भ्रान्त होता है। जैसे- कट कर फिर उगे हुए नख-केशादि में यह वही नख है, यह वही केश है, यह एकत्व प्रतीति भ्रान्त है, अतएव प्रत्यभिज्ञान नहीं है।

बौद्धों का उक्त कथन यथार्थ नहीं है। नख-केशादि से प्रत्यभिज्ञान भ्रान्त होने से सब प्रत्यभिज्ञान भ्रान्त ही होते हैं, यह नहीं माना जा सकता। तिमिर रोगी को दो चन्द्रमाओं का ज्ञान होता है, उसका यह प्रत्यक्ष प्रमाण भ्रान्त है, तो इतने मात्र से क्या सब प्रत्यक्षों को भ्रान्त माना जा सकता है? कदापि नहीं। जैसे द्विचन्द ज्ञान प्रत्यक्षाभास है, वैसे ही नखकेशादि का एकत्व ज्ञान प्रत्यभिज्ञानाभास है, परन्तु 'यह वही घट है' इत्यादि द्रव्य मूलक एकत्व प्रतीति को भ्रान्त नहीं कहा जा सकता है। अतः प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण मानना चाहिये।

नैयायिक, वैशेपिक और मीमांसक एकत्व विषयक प्रत्यभिज्ञान को स्वीकार तो करते हैं, परन्तु वे इसे प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत मान लेते हैं। वे इसे स्वतंत्र परोक्ष प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते। उनका यह मन्तव्य उचित नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय केवल वर्तमान को ग्रहण करना है और स्मरण केवल अतीत पर्याय को ग्रहण करता है, परन्तु प्रत्यभिज्ञान ऐसा प्रमाण है, जो उभय पर्यायवर्ती एकत्वादि को ग्रहण करने वाला संकलनात्मक ज्ञान है। इस संकलन को ग्रहण करना प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। अतएव प्रत्यभिज्ञान को स्वतंत्र प्रमाण मानना चाहिये।

नैयायिक एवं मीमांसक सादृश्य ज्ञान को ग्रहण करने वाला उपमान मानक स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं। लेकिन यह उचित नहीं है। यदि सादृश्य को ग्रहण करने वाला

अलग प्रमाण माना जाता है, तो विलक्षणता को ग्रहण करने वाला भी अलग प्रमाण मानना पड़ेगा। इसी तरह दूरत्व, उच्चत्व, निम्नत्व, ह्रस्वत्व और दीर्घत्व को ग्रहण करने वाला भी अलग प्रमाण मानना पड़ेगा। इस तरह प्रमाणों की संख्या न जाने कहाँ तक पहुँचेगी। सादृश्य-वैसादृश्य आदि ज्ञानों का समावेश प्रत्यभिज्ञान में हो जाता है, अतएव उपमान को अलग प्रमाण नहीं मानना चाहिये, वह प्रत्यभिज्ञान ही है।

3. तर्क :

"उपलम्भानुपलम्भ निमित्तं व्याप्तिज्ञानम् उहः।"[32]

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं। साध्य और साधन के सार्वकालिक, सार्वदेशिक और सार्ववैयक्तिक अविनाभाव सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। अविनाभाव अर्थात् साध्य के बिना साधन का न होना, साधन का साध्य के होने पर ही होना, अभाव में बिल्कुल नहीं होना, इस नियम को सर्वोपसंहार रूप से ग्रहण करना तर्क है। सर्वप्रथम व्यक्ति कार्य और कारण का प्रत्यक्ष करता है और उनके बार-बार प्रत्यक्ष होने पर वह उसके अन्वय सम्बन्ध की भूमिका की ओर झुकता है। फिर साध्य के अभाव में साधन का अभाव देखकर व्यतिरेक के निश्चय के द्वारा उस अन्वय ज्ञान को निश्चयात्मक रूप देता है। जैसे किसी व्यक्ति ने सर्वप्रथम रसोईघर में अग्नि देखी तथा अग्नि से उत्पन्न होता हुआ धुँआ भी देखा, फिर किसी तालाब में अग्नि के अभाव में धुएँ का भी अभाव देखा। फिर रसोईघर में अग्नि से धुँआ निकलता हुआ देखकर वह निश्चय करता है, कि अग्नि कारण है और धुँआ कार्य है। यह उपलम्भ-अनुपलम्भ निमित्तक सर्वोपसंहार करने वाला विचार तर्क है। इसमें प्रत्यक्ष, स्मरण और सादृश्य प्रत्यभिज्ञान कारण होते हैं। इन सबकी पृष्ठभूमि पर 'जहाँ-जहाँ, जब-जब धूम होता है, वहाँ-वहाँ, तब-तब अग्नि अवश्य होती है।' इस प्रकार का एक मानसिक विकल्प उत्पन्न होता है, जिसे ऊह या तर्क कहते हैं।

केवल प्रत्यक्ष के विषयभूत प्रमेयों में भी अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा अविनाभाव का निश्चय करना तर्क का कार्य है। इसीलिए उपलम्भ और अनुपलम्भ शब्द से साध्य और साधन का सद्भाव प्रत्यक्ष और अभाव प्रत्यक्ष ही नहीं लिया जाता है, अपितु साध्य और साधन का दृढ़तर सद्भाव निश्चय और अभाव निश्चय लिया जाता है। वह निश्चय चाहे प्रत्यक्ष से हो या प्रत्यक्षातिरिक्त अन्य प्रमाणों से।

तर्क के विषय में दार्शनिक मतभेद : मीमांसक तर्क को विचारात्मक ज्ञान व्यापार मानते हैं और उसके लिए 'ऊह' शब्द का प्रयोग करते हैं। लेकिन उसे प्रमाण के अन्तर्गत सम्मिलित नहीं करते। उनका मन्तव्य है, कि तर्क स्वयं प्रमाण न होकर किसी प्रमाण का सहायक हो सकता है।

न्याय दर्शन में तर्क को 16 पदार्थों में गिनाया गया है, तदपि उसे प्रमाण नहीं माना है। उनका कहना है, कि तर्क तत्त्वज्ञान के लिए उपयोगी है और प्रमाणों का

अनुग्राहक है, लेकिन स्वयं प्रमाण नहीं है।

बौद्ध तर्क रूप विकल्पात्मक ज्ञान को व्याप्ति का ग्राहक मानते हैं, किन्तु वह प्रत्यक्ष पृष्ठभावी होने से प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत अर्थ को विषय करने वाला एक विकल्प है, अतः प्रमाण नहीं है।

जैन दर्शन का मन्तव्य है, कि तर्क अपने विषय में अविसंवादी होने के कारण स्वयं प्रमाण है। जो स्वयं प्रमाण न हो, वह प्रमाणों का अनुग्राहक कैसे हो सकता है? अप्रमाण से न तो प्रामण के विषय का विवेचन हो सकता है, न परिशोधन ही। जिस तर्क में विसंवाद हो उसे तर्काभास कहा जा सकता है, परन्तु अविसंवादी तर्क को भी प्रमाण से बहिर्भूत रखना उचित नहीं हो सकता। संसार में जहाँ कहीं जब कभी धुँआ है, वह सब अग्नि के होने पर ही होता है, अग्नि के अभाव में नहीं होता। यह सार्वत्रिक और सार्वकालिक बोध न तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष कर सकता है, न सुखादि का संवेदक मानस प्रत्यक्ष ही। इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नियत है और वर्तमान मालिक है। मानस प्रत्यक्ष विशद है और व्याप्ति ज्ञान अविशद है, अतः मानस प्रत्यक्ष व्याप्ति का ग्रहण नहीं कर सकता। अनुमान से व्याप्ति का ग्रहण इसलिए नहीं हो सकता, कि स्वयं अनुमान की उत्पत्ति व्याप्ति के अधीन है।

तर्क को प्रमाण न मानने पर अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकेगा। जिस व्याप्ति ज्ञान के बल पर सुदृढ़ अनुमान की इमारत खड़ी की जा रही है, उस व्याप्ति ज्ञान को अप्रमाण कहना या उसे प्रमाण से बाहर रखना कैसे उचित हो सकता है।

योगी प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्ति ग्रहण की बात निरर्थक है, क्योंकि जो योगी है, उसे व्याप्ति ग्रहण करने का कोई प्रयोजन ही नहीं है, वह तो प्रत्यक्ष से ही समस्त साध्य साधन भूत पदार्थों को जान लेता है।

बौद्धों ने विकल्पात्मक होने से तर्क को अप्रमाण माना है, परन्तु विकल्पात्मक तो अनुमान भी है, उसे तो बौद्धों ने भी प्रमाण माना है। जिस प्रकार अनुमान विकल्प होकर भी प्रमाण है-उसी तरह विकल्प रूप तर्क को भी प्रमाण मानना चाहिये।

तर्क अपने विषय में संवादी है और संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय रूप समारोप का व्यवच्छेदक है, अतः वह प्रमाण है।

अनुमान :

"साधनात्साध्यविज्ञानम् अनुमानम्।"[133]

अर्थात् साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। लिंग ग्रहण और व्याप्ति-स्मरण के पीछे होने वाला ज्ञान अनुमान कहलाता है। यह ज्ञान अविशद्-अस्पष्ट होने से परोक्ष है, परन्तु अपने विषय में संशय-विपर्यय, अनध्यवसाय आदि समारोपों का निराकरण करने के कारण प्रमाण है। साधन से साध्य का नियत ज्ञान अविनाभाव के बल से ही होता है। सर्वप्रथम साधन को देखकर पूर्वगृहीत अविनाभाव

का स्मरण होता है, तदन्तर साध्य का ज्ञान होता है, यह मानस ज्ञान है।

अविनाभाव ही अनुमान की मूल धूरी है। सहभाव-नियम और क्रमभाव नियम को अविनाभाव कहते हैं। सहभावी रूप रस आदि तथा वृक्ष और शिंशपा आदि व्याप्य-व्यापक भूत पदार्थों में सहभाव नियम होता है। नियत पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती कृतिकोदय और शाकटोदय में तथा कार्यकारणभूत अग्नि और धूम आदि में क्रमभाव नियम होता है। अविनाभाव के बल तादात्म्य और तदुत्पत्ति (कार्य-कारण भाव) से ही नियंत्रित नहीं कर सकते, क्योंकि जिनमें तादात्म्य नहीं है, ऐसे रूप से रस का अनुमान होता है तथा जिनमें कार्य कारण नहीं है, ऐसे कृतिकोदय को देखकर एक मुहूर्त बाद होने वाले शकटोदय का अनुमान किया जाता है। अर्थात् अविनाभाव तादात्म्य और तदुत्पत्ति तक ही सीमित नहीं है। जिनमें परस्पर तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं भी है, उन पदार्थों में नियत पूर्वोत्तर भाव यानी क्रमभाव होने पर तथा नियत सहभाव होने पर भी अनुमान हो सकता है।

साधन :

"निश्चितान्यथानुपत्येक लक्षणो हेतुः ॥"[134]

अर्थात् अन्यथानुपपत्ति रूप से निश्चित होना यही साधन अथवा हेतु का एकमात्र लक्षण है। अन्यथानुपपत्ति, अविनाभाव और व्याप्ति ये सब एकार्थक शब्द हैं। अतः जिसका साध्य के साथ अविनाभाव निश्चित है, उसे साधन कहते हैं।

साध्य :

"अप्रतीतमनिराकृतमभीप्सितं साध्यम् ॥"[135]

जिसे सिद्ध करना हो, वह साध्य कहलाता है। साध्य को अप्रतीत, अनिराकृत और अभिप्सित कहा है।

जो प्रतिवादी को स्वीकृत न हो, जिसमें शंका हो, यह बताने के लिए साध्य को अप्रसिद्ध या अप्रतीत कहा है। जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित होने के कारण सिद्ध करने योग्य है, यह बताने के लिए साध्य को शक्य या अनिराकृत कहा है।

जो वादी को सिद्ध नहीं है, वह साध्य नहीं हो सकता, यह बताने के लिए साध्य को 'अभिप्सित' अथवा अभिप्रेत कहा है, जो वादी को इष्ट हो, वही वस्तु साध्य होती है।

अनुमान के भेद : जैन दर्शन में अनुमान के तीन भेद बताए गए हैं - पूर्ववत्, शेषवत् और दृष्ट साधर्म्यवत्। जैसा कि अनुयोगद्वार सूत्र में अनुमान का स्वरूप कहा है -

"अणुमाणे तिविहे पण्णत्ते। तं.-पुव्ववं सेसवं दिट्ठसाहम्मवं।"[136]

प्राचीन चरक, न्याय, बौद्ध और सांख्य ने भी अनुमान के तीन भेद ही बताए हैं। उनमें से प्रथम दो तो वही हैं, जो अनुयोगद्वार में है, लेकिन अन्तिम भेद का नाम

अनुयोग की तरह दृष्ट साधर्म्यवत् न होकर सामान्यतोदृष्ट है।

अनुयोगद्वार में अनुमान के स्वार्थ और परार्थ ऐसे दो भेद नहीं किए गए हैं। अनुमान को इन दो भेदों में विभक्त करने की परम्परा बाद की है। न्यायसूत्र और उसके भाष्य तक यह स्वार्थ और परार्थ ऐसे भेद करने की परम्परा प्रचलित नहीं थी। बौद्ध में दिग्नाग से पहले मैत्रेय, असंग और वसुबन्धु के ग्रन्थों में भी वह नहीं देखी जाती। सर्वप्रथम बौद्धों में दिग्नाग के प्रमाण सम्मुच्चय में और वैदिकों में प्रशस्तपाद के भाष्य में ही स्वार्थ-परार्थ भेदों का उल्लेख मिलता है। बाद के जैन दार्शनिकों ने अनुयोगद्वार स्वीकृत उपर्युक्त तीन भेदों की परम्परा का खण्डन भी किया है -

1. **पूर्ववत्** : पूर्ववत् की व्याख्या करते हुए अनुयोगद्वार में कहा है, कि पूर्व परिचित किसी लिंग के द्वारा पूर्व परिचित वस्तु का प्रत्यभिज्ञान करना पूर्ववत् अनुमान है। जैसे माता बाल्यकाल में गुम हुए और युवा होकर वापस लौटे अपने पुत्र को किसी पूर्व निश्चित चिह्न से पहचानती है, कि यही मेरा पुत्र है।[137]

उपाय हृदय नामक बौद्ध ग्रन्थ में भी पूर्ववत् का वैसा उदाहरण है -

"यथा षड्डुलि सपिडकमूर्धानं बालं दृष्टवा पश्चात् वृद्धं बहुश्रुतं देवदत्तं दृष्टवा षडङ्गुलि-स्मरणात् सोयमिति पूर्ववत्॥"[138]

उपायहृदय के बाद के ग्रन्थों में पूर्ववत् के अन्य दो प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। उक्त उदाहरण छोड़ने का कारण यही है, कि उक्त उदाहरण सूचित ज्ञान वस्तुतः प्रत्यभिज्ञान है। अतएव प्रत्यभिज्ञान और अनुमान के विषय में जबसे दार्शनिकों ने भेद करना प्रारम्भ किया है, तब से पूर्ववत् का उदाहरण बदलना आवश्यक हो गया। इससे यह भी कहा जा सकता है, कि अनुयोगद्वार में जो विवेचन है, वह प्राचीन परम्परानुसारी है।

पूर्व का अर्थ होता है-कारण। किसी ने कारण को साध्य मानकर कार्य से कारण के अनुमान को पूर्ववत् कहा है। किसी ने कारण को साधन मानकर कारण से कार्य के अनुमान को पूर्ववत् कहा है। किन्तु प्राचीन काल में पूर्ववत् से प्रत्यभिज्ञान ही समझी जाती थी, यह अनुयोगद्वार और उपाय हृदय से स्पष्ट है।

2. **शेषवत्** : शेषवत् अनुमान के लिए जैन दर्शन में पाँच प्रकार के हेतुओं को अनुमापक बताया गया है। यथा -

"से किं तं सेसवं? सेसवं पंचविहं पण्णत्तं तं जहा कज्जेणं कारणेणं गुणेणं अवयवेणं आसएणं॥"[139]

1. कार्येण : कार्य से कारण का अनुमान करना। जैसे - शब्द से शंख का, ताड़न से भेरी का, केकायित से मयूर का।
2. कारणेन् : कारण से कार्य का अनुमान करना। इसके उदाहरण में अनुमान प्रयोग की व्याख्या तो नहीं है, किन्तु कहा है, कि तन्तु पट का कारण है,

पट तन्तु का कारण नहीं, मृत्पिण्ड घट का कारण है, घट मृत्पिण्ड का कारण नहीं। इस प्रकार जो कारण है, उसे हेतु बनाकर कार्य का अनुमान कर लेना चाहिये, यह सूचित किया गया है।

3. गुणेन : गुण से गुणी का अनुमान करना। जैसे गन्ध से पुष्प का, रस से लवण का, स्पर्श से वस्त्र का, आस्वाद से मदिरा का।
4. अवयवेन : अवयव से अवयवी का अनुमान करना। जैसे हाथी दाँत से हाथी का, पंख से मयूर का, खुर से अश्व का, नख से व्याघ्र का, दो पैर से मनुष्य का, चार पैर से गौ आदि का, चुड़ी सहित बाहु से महिला का, बद्ध परिकरता से योद्धा का, धान्य के एक कण से द्रोण-पाक का और एक गाथा से कवि का।
5. आश्रयेण : आश्रित वस्तु से अनुमान करना। जैसे धूम से अग्नि का, बलाका से पानी का, भ्रम विकार से वृष्टि का और शील समाचार से कुलपुत्र का अनुमान होता है।

इस प्रकार प्राचीन जैन दर्शन में शेषवत् अनुमान के उपर्युक्त पाँच भेद स्वीकार किए गए हैं।

3. दृष्टसाधर्म्यवत् : अनुयोग द्वार में दृष्ट साधर्म्यवत् के दो भेद किए गए हैं - 1. सामान्य दृष्ट और विशेष दृष्ट। यथा -

"से किं तं दिट्ठसाहम्मवं?
दिट्ठसाहम्मवं दुविहं पण्णतं। तं जहा-सामन्नदिट्ठं च।
विसेसदिट्ठं च॥"[140]

1. सामान्य दृष्ट साधर्म्यवत् : किसी एक वस्तु को देखकर किसी विशेष में तत्साधर्म्य का ज्ञान करना, सामान्यदृष्ट है। उदाहरण - जैसा एक पुरुष विशेष है, वैसे ही अनेक पुरुष भी हैं। जैसे अनेक पुरुष हैं, वैसा ही एक पुरुष भी है। जैसा एक कर्षापण है, अनेक कर्षापण भी वैसे ही है। जैसे अनेक कर्षापण हैं, एक भी वैसा ही है।

2. विशेषदृष्ट साधर्म्यवत् : विशेष दृष्ट साधर्म्यवत् वह है, जो अनेक वस्तुओं में से किसी एक को पृथक् करके उसके वैशिष्ट्य का प्रत्यभिज्ञान करता है। शास्त्रकार ने इस अनुमान को भी पुरुष और कर्षापण के दृष्टांत से स्पष्ट किया है। जैसे कोई एक पुरुष बहुत से पुरुषों के बीच में से पूर्वदृष्ट पुरुष का प्रत्यभिज्ञान करता है, कि यह वही पुरुष है या उसी प्रकार कर्षापण का प्रत्यभिज्ञान करता है, तब उसका वह ज्ञान विशेष दृष्ट साधर्म्यवत् अनुमान है।

अनुयोगद्वार में दृष्टसाधर्म्यवत् के जो दो भेद किए गए हैं, उनमें प्रथम तो उपमान से और दूसरा प्रत्यभिज्ञान से भिन्न प्रतीत नहीं होता। अनुयोगद्वार, माठर और

गौड़पाद ने सिद्धान्ततः सामान्यतोदृष्ट का लक्षण एक ही प्रकार का माना है, किंतु इनके उदाहरण पृथक्-पृथक् हैं।

काल के आधार पर अनुमान के भेद : अनुमान ग्रहणकाल की दृष्टि से तीन प्रकार का होता है, उसे भी शास्त्रकारों ने बताया है - 1. अतीतकालग्रहण, 2. प्रत्युत्पन्न कालग्रहण तथा 3. अनागत कालग्रहण।[141]

1. **अतीतकाल ग्रहण** : वनों में उगी हुई घास, धान्यों से परिपूर्ण पृथ्वी कुंड, सरोवर, नदी और बड़े-बड़े तालाबों को जल से संपूरित देखकर यह अनुमान करना, कि यहाँ अच्छी वृष्टि हुई है। यह अतीतकालग्रहण साधर्म्यवत् अनुमान है।

2. **प्रत्युत्पन्नकाल ग्रहण** : भिक्षाचर्या में साधु को गृहस्थों से विशेष प्रचुर आहार-पानी प्राप्त करते हुए देखकर अनुमान किया जाए कि यहाँ सुभिक्ष है। यह प्रत्युत्पन्नकाल ग्रहण अनुमान है।

3. **अनागत काल-ग्रहण** : आकाश की निर्मलता, पर्वतों का काला दिखाई देना, बिजली सहित मेघों की गर्जना, अनुकूल पवन और संध्या की गाढ़ लालिमा, वारुण-आर्दा, माहेन्द्र-रोहिणी आदि नक्षत्रों में होने वाले अथवा अन्य प्रशस्त उत्पात-उल्कापात या दिग्दाहादि को देखकर अनुमान करना कि अच्छी वृष्टि होगी। इसे अनागत काल ग्रहण विशेषदृष्टसाधर्म्यवत् अनुमान कहते हैं।

उपर्युक्त लक्षणों का विपर्यय देखने में आवे तो तीनों कालों के ग्रहण में भी विपर्यय हो जाता है। अर्थात् अतीत-कुवृष्टि का वर्तमान दुर्भिक्ष का और अनागत कुवृष्टि का अनुमान होता है, यह भी अनुयोगद्वार में सौदाहरण दिखाया गया है।

कालभेद से तीन प्रकार का अनुमान होता है, इस मत को चरक ने भी स्वीकार किया है। अनुयोगद्वार गत अतीतकालग्रहण और अनागत कालग्रहण के दोनों उदाहरण माठर में पूर्ववत् के उदाहरण रूप से निर्दिष्ट है, जबकि स्वयं अनुयोग में नभ-विकार से वृष्टि के अनुमान को शेषवत् माना है तथा न्यायभाष्यकार ने नदीपूर से भूतवृष्टि के अनुमान को शेषवत् माना है।

अनुमान के अवयव : अनुमान प्रयोग या न्याय वाक्य के कितने अवयव होने चाहिये, इस विषय में मूल आगमों में कुछ नहीं कहा गया है। किन्तु आचार्य भद्रबाहु ने दशवैकालिक निर्युक्ति में अनुमानचर्या में न्यायवाक्य के अवयवों की चर्चा की है। यद्यपि संख्या की गणना में उन्होंने पाँच और दश अवयव होने की बात कही है, लेकिन अन्यत्र उन्होंने मात्र उदाहरण या हेतु और उदाहरण से भी अर्थसिद्धि होने की बात कही है। दश अवयवों को भी उन्होंने दो प्रकार से गिनाया है। इस प्रकार भद्रबाहु के मत में अनुमान वाक्य के दो, तीन, पाँच, दश इतने अवयव होते हैं।[142]

प्राचीन वादशास्त्र का अध्ययन करने से ज्ञात होता है, कि प्रारम्भ में किसी साध्य की सिद्धि में हेतु की अपेक्षा दृष्टान्त की सहायता अधिकांशतः ली जाती रही

होगी। यही कारण है, कि बाद में जब हेतु का स्वरूप व्याप्ति के कारण निश्चित हुआ और हेतु से ही मुख्य रूप से साध्य सिद्धि मानी जाने लगी तथा हेतु के सहायक रूप से ही दृष्टान्त या उदाहरण का उपयोग मान्य रहा, तब केवल दृष्टान्त के बल से की जाने वाली साध्य सिद्धि को जाव्युत्तरों में समाविष्ट किया जाने लगा। यह स्थिति न्यायसूत्र में स्पष्ट है। अतएव मात्र उदाहरण से साध्यसिद्धि होने की भद्रबाहु की बात किसी प्राचीन परम्परा की ओर संकेत करती है, यह मानना चाहिये।

आचार्य मैत्रेय ने अनुमान के प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त ये तीन अवयव माने हैं। भद्रबाहु ने भी उन्हीं तीनों का उल्लेख किया है। माठर और दिग्नाग ने भी पक्ष, हेतु और दृष्टान्त ये तीन ही अवयव माने हैं और पांच अवयवों का मतान्तर रूप से उल्लेख किया है।

पाँच अवयवों में दो परम्पराएँ हैं। एक माठर निर्दिष्ट और प्रशस्तपाद सम्मत तथा दूसरी न्यायसूत्रादि सम्मत। भद्रबाहु ने पाँच अवयवों में न्याय सूत्र की परम्परा का ही अनुगमन किया है। परन्तु दश अवयवों के विषय में भद्रबाहु का स्वातन्त्र्य स्पष्ट है। न्यायभाष्यकार ने भी दश अवयवों का उल्लेख किया है, किन्तु भद्रबाहु निर्दिष्ट दोनों दश प्रकार से वात्स्यायन के दश प्रकार भिन्न है। इस प्रकार न्यायवाक्य के दश अवयवों की तीन परम्पराएँ सिद्ध होती हैं। यह अग्रसारिणी से स्पष्ट है -

चार्ट 1

	मैत्रेय	माठर	दिग्नाग	प्रशस्तपाद	न्यायसूत्र	न्यायभाष्य
	3	3	3	5	5	10
1	प्रतिज्ञा	पक्ष	पक्ष	प्रतिज्ञा	प्रतिज्ञा	प्रतिज्ञा
2	हेतु	हेतु	हेतु	अपदेश	हेतु	हेतु
3	दृष्टान्त	दृष्टान्त	दृष्टान्त	निदर्शन	उदाहरण	उदाहरण
4				अनुसंधान	उपनय	उपनय
5				प्रत्याम्नाय	निगमन	निगमन
6						जिज्ञासा
7						संशय
8						शक्यप्राप्ति
9						प्रयोजन
10						संशयव्युदास

चार्ट 2
भद्रबाहु प्रणीत अनुमान के विभिन्न अवयव परम्पराएँ

	2	3	5	10	10
1	प्रतिज्ञा	प्रतिज्ञा	प्रतिज्ञा	प्रतिज्ञा	प्रतिज्ञा
2	उदाहरण	हेतु	हेतु	प्रतिज्ञाविशुद्धि	प्रतिज्ञाविभक्ति
3		उदाहरण	दृष्टांत	हेतु	हेतु
4			उपसंहार	हेतुविशुद्धि	हेतुविभक्ति
5			निगमन	दृष्टान्त	विपक्ष
6				दृष्टान्तविशुद्धि	प्रतिषेध
7				उपसंहार	दृष्टांत
8				उपसंहारविशुद्धि	आशंका
9				निगमन	तत्प्रतिशेध
10				निगमन विशुद्धि	निगमन

जैन तार्किकों का मन्तव्य है, कि शिष्यों को समझाने के लिए शास्त्र पद्धति में योग्यता भेद से दो, तीन, चार, और पाँच या इससे भी अधिक अवयव मान सकते हैं, किन्तु वाद कथा में जहाँ विद्वानों का अधिकार है, प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अवयव पर्याप्त है। प्रतिज्ञा का प्रयोग किए बिना साध्य धर्म के आधार में सन्देह बना रह सकता है। बिना प्रतिज्ञा के किसी की सिद्धि के लिए हेतु दिया जाता है। पक्ष धर्मत्व प्रदर्शन द्वारा प्रतिज्ञा को मान करके भी बौद्ध का उससे इन्कार करना अति बुद्धिमत्ता (मतिमंदता) है। पक्ष वचन रूप प्रतिज्ञा और साधन वचन रूप हेतु इन दो अवयवों से अर्थ का बोध हो जाता है, तो दृष्टान्त, उपनय, निगमन वाद कथा में व्यर्थ है।

हेतु का स्वरूप :

"निश्चितान्यथानुपपत्येकलक्षणो हेतुः ॥"[143]

अर्थात् साध्य के बिना निश्चित रूप से न होना, यह एक लक्षण जिसमें पाया जाए, वह हेतु है। हेतु प्रयोग के दो भेद कहे गए हैं - तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति। साध्य के होने पर ही हेतु का होना तथोपत्ति और साध्य के अभाव में हेतु का अभाव होना, अन्यथानुपपत्ति है जैसे एक पाकशाला अग्निवाली है, क्योंकि अग्नि के होने पर ही धूम हो सकता है, या क्योंकि अग्नि के बिना धूम नहीं हो सकता।[11]

तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति में से किसी एक का प्रयोग करने से ही साध्य का ज्ञान हो सकता है, अतः एक ही जगह दोनों का प्रयोग करना व्यर्थ है। अविनाभाव, अन्यथानुपपत्ति, व्याप्ति से एकार्थवाचक शब्द हैं।

स्थानांगसूत्र में हेतु के चार भेद बताए गए हैं -

1. ऐसा विधिरूप हेतु, जिसका साध्य विधिरूप हो।
2. ऐसा विधिरूप हेतु, जिसका साध्य निषेधरूप हो।
3. ऐसा निषेधरूप हेतु, जिसका साध्य विधिरूप हो।
4. ऐसा निषेधरूप हेतु, जिसका साध्य निषेधरूप हो।[12]

स्थानांग सूत्र में उल्लिखित इन हेतुओं के साथ वैशेषिक सूत्रगत हेतुओं की तुलना हो सकती है -

	स्थानांग		वैशेषिक सूत्र	
	हेतु	साध्य	हेतु	साध्य
1.	विधि	विधि	1. संयोगी	समवायी, एकार्थ समवायी[13]
			भूतो	भूतस्य
2.	विधि	निषेध	2. भूतम	भूतस्य[14]
3.	निषेध	विधि	3. अभूतम्	भूतस्य[15]
4.	निषेध	निषेध	4. कारणभावात् कार्याभावत्[16]	

पश्चातवर्ती बौद्ध और जैन दार्शनिकों ने हेतुओं को जो उपलब्धि और अनुपलब्धि ऐसे दो प्रकारों में विभक्त किया है, उसके मूल में वैशेषिक सूत्र और स्थानांग निर्दिष्ट परम्परा हो तो, आश्चर्य नहीं।

हेतु का स्वरूप विभिन्न वादियों ने अनेक प्रकार से माना है। नैयायिक पक्ष धर्मत्व, सपक्षत्व, विपक्ष व्यावृत्ति, अबाधित विषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व-इस प्रकार पंचरूप वाला हेतु मानते हैं। हेतु का पक्ष में रहना, सपक्ष में रहना, विपक्ष में न पाया जाना, प्रत्यक्षादि से साध्य का बाधित न होना और तुल्य बल वाले प्रतिपक्षी हेतु का न होना-ये पाँच बातें नैयायिक दर्शन के अनुसार प्रत्येक सद् हेतु में पाया जाना नितान्त आवश्यक है। इसे वैशेषिक दर्शन ने भी स्वीकार किया है।[17]

बौद्ध पक्ष धर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्ष व्यावृत्ति रूप तीन लक्षण वाला हेतु मानते हैं।

जैन दार्शनिकों ने अन्यथानुपपत्ति या अविनाभाव को हेतु का प्राण माना है। सपक्ष सत्व इसलिए आवश्यक नहीं है, कि सपक्ष में रहने या न रहने से हेतुता में कोई अन्तर नहीं आता। केवल व्यतिरेकी हेतु सपक्ष में नहीं रहता फिर भी सम्यग्हेतु है। पक्ष धर्मत्व भी आवश्यक नहीं है, क्योंकि अनेक हेतु ऐसे हैं, जो पक्ष में नहीं पाये जाते हैं। जैसे रोहिणी नक्षत्र मुहूर्त के बाद उदित होगा, क्योंकि अभी कृतिका का उदय है। यहाँ कृतिका का उदय रूप हेतु रोहिणी रूप पक्ष में नहीं रहता तदपि अविनाभावी होने से सम्यग् हेतु है। अतः केवल विपक्ष व्यावृत्ति ही हेतु की आत्मा है। इसके अभाव में वह हेतु ही नहीं रह सकता। जिसका अविनाभाव निश्चित है, उसके साध्य में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधा नहीं आ सकती और उसका तुल्य बलशाली प्रतिपक्षी हेतु सम्भव ही नहीं है। अन्यथानुपपत्ति के अभाव में पाँच लक्षण और त्रिलक्षण के होने पर हेतु सम्यग्हेतु नहीं होता। जैसे- गर्भस्थ मैत्र तनय काला होगा, क्योंकि वह मैत्र तनय है, उसके अन्य पुत्रों की तरह। यहाँ त्रिलक्षणादि पाये जाते हैं, परन्तु अन्यथानुपपत्ति न होने के कारण वह हेतु सही नहीं होता। जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं है, वहाँ त्रिलक्षण और पाँच लक्षण होने के कारण वह हेतु सही नहीं होता। जहाँ अन्यथानुपपत्ति है, वहाँ त्रिलक्षण और पाँच लक्षण न होने पर भी हेतु सही होता है। अतएव कहा गया है -

जहाँ अन्यथानुपपत्ति है, वहाँ त्रिलक्षणादि मानने से क्या लाभ? और जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं है, वहाँ भी त्रैरूप्य मानने से क्या लाभ? अतः अन्यथानुपपन्नत्व ही हेतु का एकमात्र लक्षण है। हेतुओं के प्रकार और उनके भेद-प्रभेद का बहुत विस्तार है।

अनुमान को प्रमाण के रूप में चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त अन्य सभी दर्शनों में स्वीकार किया है। चार्वाक प्रत्यक्षवादी ही है। अतः वह अनुमान को प्रमाण नहीं मानता। परन्तु उसे अपनी बात को सिद्ध करने के लिए अनुमान का सहारा लेना ही पड़ता है। यदि वह ऐसा न करे, तो उसका पक्ष सिद्ध नहीं हो पाता। या तो उसे मौन रहना पड़ेगा या अनुमान का आश्रय लेना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त उसके पास कोई विकल्प नहीं है। इस प्रकार अनुमान की प्रमाणता को स्वीकार करना अनिवार्य है।

3. औपम्य प्रमाण : सदृशता के आधार पर वस्तु को ग्रहण करना उपमान है। अनुयोगद्वार सूत्र में औपम्य प्रमाण को दो प्रकार का कहा गया है - साधर्म्योपनीत और वैधर्म्योपनीत।

"ओवम्मे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-साहम्मोवणीते य वेहम्मोवणीतेय।"[151]

1. **साधर्म्योपनीत** : समान गुण धर्म के आधार पर तुल्य पदार्थों की उपमा दी जाती है, उसे साधर्म्योपनीत कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है - 1. किञ्चितसाधर्म्योपनीत, 2. प्रायः साधर्म्योपनीत और 3. सर्व साधर्म्योपनीत।

1. **किञ्चित साधर्म्योपनीत** : इसमें दो पदार्थों में कुछ-कुछ समानता के आधार पर उपमा दी जाती है। जैसे-जैसा मंदर (मेरु) पर्वत है, वैसा ही सर्षप (सरसों) है और जैसा सर्षप है, वैसा ही मंदर है। जैसा आदित्य-सूर्य है वैसा खद्योत-जुगनू है और जैसा खद्योत-जुगनू है वैसा ही आदित्य-सूर्य है। जैसा चन्द्रमा है, वैसा कुंद पुष्प है और जैसा कुंद पुष्प है, वैसा चन्द्रमा। यह किंचित्साधर्म्योपनीत है।
2. **प्रायः साधर्म्योपनीत** : प्रायः साधर्म्योपनीत अपेक्षाकृत अधिक व्यापक है। इसमें उपमेय और उपमान पदार्थगत समानता अधिक होती है। जैसे-जैसी गाय है, वैसा गवय होता है और जैसा गवय है, वैसी गाय है।
3. **सर्वसाधर्म्योपनीत** : किसी पदार्थ या व्यक्ति की स्वयं उसी से उपमा दी जाती है, उसे सर्वसाधर्म्योपनीत कहा जाता है। जैसे-अरिहंत ने अरिहंत जैसा ही किया, चक्रवर्ती ने चक्रवर्ती जैसा ही किया, साधु ने साधु जैसा ही किया।

2. वैधर्म्योपनीत उपमान प्रमाण : वैधर्म्योपनीत विलक्षणता का बोध करता है। किसी एक पदार्थ को अन्य से पृथक् रूप में बनाता है। इसके भी तीन प्रकार हैं - 1. किंचित्वैधर्म्योपनीत, 2. प्रायः वैधर्म्योपनीत, 3. सर्ववैधर्म्योपनीत।

1. **किंचित्वैधर्म्योपनीत** : किसी धर्म विशेष की विलक्षणता प्रकट करने को किंचित्वैधर्म्योपनीत कहते हैं। जैसे-जैसा शबला गाय (चितकबरी गाय) का बछड़ा होता है, वैसा बहुला गाय (एकरंगवाली) का बछड़ा नहीं। जैसा बाहुलेय है, वैसा शाबलेय नहीं।
2. **प्रायः वैधर्म्योपनीत** : अधिकांश रूप में अनेक अवयवगत विसदृशता प्रकट करने को वैधर्म्योपनीत कहते हैं। यथा-जैसा वायस (कौआ) है, वैसा पायस (खीर) नहीं होता और जैसा पायस होता है, वैसा वायस नहीं।
3. **सर्ववैधर्म्योपनीत** : जिसमें किसी भी प्रकार की सजातीयता न हो, उसे सर्ववैधर्म्योपनीत कहते हैं। यद्यपि सर्ववैधर्म्य में उपमा नहीं होती, इसमें भी उसी की उपमा उसी को दी जाती है। सर्वसाधर्म्योपनीत में शुभ गुणों की उपमा होती है तथा अशुभ या दुर्गुणों की उपमा सर्ववैधर्म्योपनीत में दी जाती है। जैसे-चाण्डाल ने चाण्डाल जैसा ही किया, दास ने दास जैसा ही किया।

उपर्युक्त उपमान प्रमाण की तुलना हम न्यायसूत्र से कर सकते हैं। न्यायसूत्र में उपमान परीक्षा में पूर्वपक्ष में कहा गया है, कि अत्यन्त प्रायः और एक देश से जहाँ साधर्म्य हो, वहाँ उपमान प्रमाण नहीं हो सकता है, इत्यादि। यह पूर्वपक्ष अनुयोगद्वारगत साधर्म्योपमान के तीन भेद की किसी पूर्व परम्परा को लक्ष्य में रखकर

ही किया गया है, यह उक्त सूत्र की व्याख्या देखने से स्पष्ट हो जाता है। इससे फलित यह होता है, कि अनुयोग का उपमान वर्णन किसी प्राचीन परम्परानुसारी है। अनुयोग के इस विवेचन को हम निम्नलिखित सारिणी से समझ सकते हैं :-

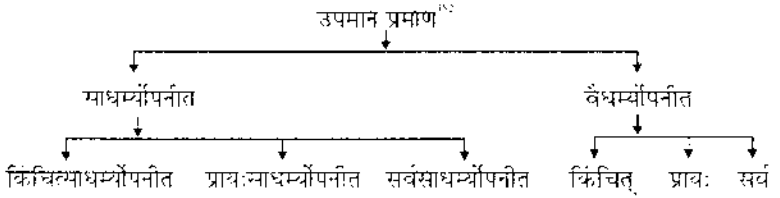

4. **आगम प्रमाण (श्रुत)** : मतिज्ञान के पश्चात् परोक्ष ज्ञान के रूप में श्रुत ज्ञान का वर्णन मिलता है। परोक्ष प्रमाण में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान मतिज्ञान की पर्यायें हैं, जो मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्रकट होती है। श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जो श्रुत प्रकट होता है, उसका वर्णन सिद्धान्त-आगम ग्रन्थों में भगवान महावीर की पवित्र वाणी के रूप में पाया जाता है। तीर्थंकर जिस अर्थ को अपनी दिव्य ध्वनि से प्रकाशित करते हैं, उसका द्वादशांगरूप में ग्रथन गणधरों के द्वारा किया जाता है। यह श्रुत अंगप्रविष्ट कहा जाता है। जो श्रुत अन्य शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा रचा जाता है, वह अंग बाह्य श्रुत है।

अनुयोगद्वार में अगाम के दो भेद किए गए हैं : लौकिक तथा लोकोत्तर।[10]

1. **लौकिक आगम** : इसके अन्तर्गत जैनेत्तर शास्त्रों का समावेश किया गया है। जैसे महाभारत, रामायण, वेद आदि तथा 72 कला शास्त्रों का समावेश भी उसी में किया है।

2. **लोकोत्तर आगम** : इसके अन्तर्गत जैन शास्त्रों को रखा गया है। लौकिक आगमों के विषय में कहा गया है, कि अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीवों ने अपने स्वच्छन्द मति-विकल्पों से बनाए हैं। किन्तु लोकोत्तर-जैन आगम के विषय में कहा है, कि वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी पुरुषों ने बनाए हैं। जैन दर्शन में श्रुत प्रमाण के नाम से इन्हीं द्वादशांग और द्वादशांगानुसारी अन्य शास्त्रों को आगम या श्रुत की मर्यादा में लिया जाता है। इसके मूलकर्त्ता तीर्थंकर है और उत्तर कर्त्ता उनके साक्षात् शिष्य गणधर तथा उत्तरोत्तर कर्त्ता प्रशिष्य आदि आचार्य परम्परा है। इस व्याख्या में आगम प्रमाण या श्रुत वैदिक परम्परा के 'श्रुति' शब्द की तरह अमुक ग्रन्थों तक ही सीमित रह जाता है। द्वादशांगी के अन्तर्गत आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्या प्रज्ञप्ति, ज्ञाता धर्मकथा, उपासकाध्ययन, अंतकृतदशांग, अनुत्तरोपपादिक दशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद ये बारह भेद हैं। अंग बाह्यश्रुत, विपाक सूत्र और दृष्टिवाद ये बारह भेद हैं। अंगबाह्यश्रुत कालिक, उत्कालिक आदि के भेद से अनेक प्रकार का कहा है।

लोकोत्तर आगम के भेद एक अन्य प्रकार से भी किए गए हैं : आत्मागम, अनन्तरागम और परम्परागम।

अथवा प्रकारान्तर से लोकोत्तरिक आगम और तीन प्रकार का है - सूत्रागम, अर्थागम और तदुभयागम।[154]

सूत्र और अर्थ की अपेक्षा से आगम विचार किया जाता है, क्योंकि यह माना जाता है, कि तीर्थंकर अर्थ का उपदेश करते हैं, जबकि गणधर उसी आधार से सूत्र की रचना करते हैं। अतएव अर्थरूप आगम स्वयं तीर्थंकर के लिए आत्मागम है और सूत्ररूप आगम गणधरों के लिए आत्मागम है। अर्थ का मूल उपदेश तीर्थंकर का होने से गणधर के लिए वह आत्मागम नहीं, किन्तु गणधरों को ही साक्षात् लक्ष्य करके अर्थ का उपदेश दिया गया है। अतएव अर्थागम गणधर के लिए अनन्तरागम है। गणधर शिष्यों के लिए अर्थरूप आगम परम्परागम है, क्योंकि तीर्थंकर से गणधरों को प्राप्त हुआ और गणधरों से शिष्यों को। सूत्ररूप आगम गणधर शिष्यों के लिए अनन्तरागम है, क्योंकि सूत्रों का उपदेश गणधरों से साक्षात् उनको मिला है। गणधर शिष्यों के बाद में होने वाले आचार्यों के लिए सूत्र और अर्थ उभयरूप आगम परम्परागम ही है-

	आत्मागम	अनन्तरागम	परम्परागम
तीर्थंकर	अर्थागम	×	×
गणधर	सूत्रागम	अर्थागम	×
गणधर-शिष्य	×	सूत्रागम	अर्थागम
गणधर-प्रशिष्यादि	×	×	अर्थागम, सूत्रागम (तदुभयागम)

अनुयोगद्वार में विवेचित आगम प्रमाण को निम्नलिखित सारणी के द्वारा समझ सकते हैं -

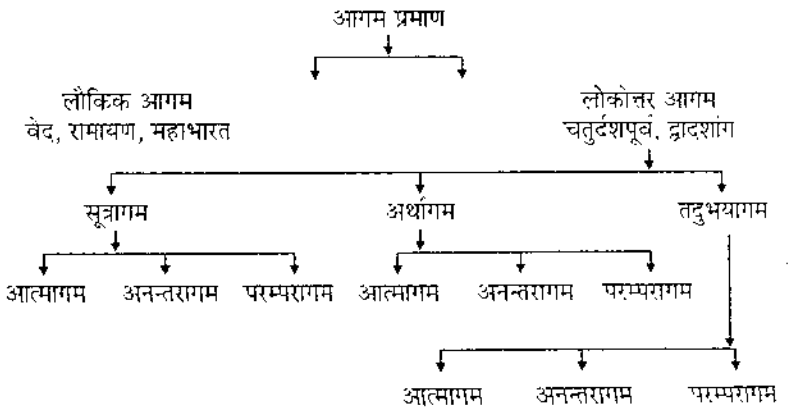

मीमांसकों के अतिरिक्त सभी दार्शनिकों ने आगम को पौरुषेय ही माना है और सभी ने अपने अपने इष्ट पुरुष को ही आप्त मानकर अन्य को अनाप्त सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। अन्ततः सभी को दूसरों के सामने आगम का प्रमाण्य अनुमान और युक्ति से आगमोक्त बातों की संगति दिखाकर स्थापित करना ही पड़ता है। यही कारण है, कि निर्युक्तिकार ने आगम को स्वयं सिद्ध मानकर भी हेतु और उदाहरण की आवश्यकता आगमोक्त बातों की सिद्धि के लिए स्वीकार की है –

"जिणवयणं सिद्धं चेव भण्णए कत्थई उदाहरणं।
आसज्ज उसोयारं हेऊ वि कहिंचि भणेज्जा॥"[155]

आगमरूप से किस पुरुष का शास्त्र प्रमाण माना जाए, इस विषय में जैनों ने जो मत आगमिक काल में स्थिर किया है, उसे भी बता देना आवश्यक है। सर्वदा यह तो संभव नहीं, कि तीर्थंकर (प्रवर्तक) और उनके गणधर मौजूद रहे और शंका स्थानों का समाधान करते रहे। इसी आवश्यकता से ही उनके अतिरिक्त पुरुषों को भी प्रमाण मानने की परम्परा ने जन्म लिया। गणधर प्रणीत आचारांग आदि अंगशास्त्रों के अतिरिक्त स्थविर प्रणीत अन्य शास्त्र भी आगम के अन्तर्गत स्वीकार्य होकर अंग बाह्य रूप से प्रमाण माने जाने लगे :

"सुतं गणधर कथिदं तहेव पत्तेयबुद्धकथिदं च।
सुदकेवलिणा कथिदं अभिण्णदास पुव्वकथिदं च॥"[156]

इस गाथा के अनुसार गणधर कथित के अतिरिक्त प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और दशपूर्वी के द्वारा कथित भी सूत्रआगम में अन्तर्भूत है। प्रत्येकबुद्ध सर्वज्ञ होने से उनका वचन प्रमाण है। जैन परम्परा के अनुसार अंग बाह्य ग्रन्थों की रचना स्थविर करते हैं। ऐसे स्थविर दो प्रकार के होते हैं। सम्पूर्ण श्रुतज्ञानी और कम से कम दशपूर्वी। संपूर्ण श्रुतज्ञानी को चतुर्दशपूर्वी श्रुतकेवली कहते हैं। श्रुतकेवली गणधर प्रणीत संपूर्ण द्वादशांगी रूप जिनागम के अर्थ और सूत्र के विषय में निपुण होते हैं। अतएव उनकी ऐसी योग्यता मान्य है, कि वे जो कुछ कहेंगे या लिखेंगे उसका द्वादशांगी रूप जिनागम के साथ कुछ भी विरोध हो नहीं सकता। जिनोक्त विषयों का संक्षेप या विस्तार करके तत्कालीन समाज के अनुकूल ग्रन्थ रचना करना ही उनका प्रयोजन होता है, अतएव संघ ने ऐसे ग्रन्थों को सहज ही में जिनागमान्तर्गत कर लिया है, इनका प्रामाण्य स्वतन्त्र भाव से नहीं किन्तु गणधर प्रणीत आगम के साथ अविसंवाद के कारण है।

कालक्रम से जैन संघ में वीर नि॰ 170 वर्ष के बाद श्रुतकेवली का भी अभाव हो गया और केवल दशपूर्वधर ही रह गए, तब उनकी विशेष योग्यता को ध्यान में रख कर जैन संघ ने दशपूर्वधर-ग्रथित मूल्यों को भी आगम में शामिल कर लिया। इन ग्रंथों का भी प्रामाण्य स्वतन्त्र भाव से नहीं, किन्तु गणधरप्रणीत आगम के साथ अविरोधमूलक है।

जैनों की मान्यता है, कि चतुर्दशपूर्वधर वे ही साधक हो सकते हैं, जिनमें नियमतः सम्यग्दर्शन होता है। अतएव उनके ग्रन्थों में आगम विरोधी बातों की संभावना ही नहीं है।

पश्चात्काल में ऐसे कई आदेश जिनका समर्थन किसी शास्त्र से नहीं होता, किन्तु जो स्थविरों ने अपनी प्रतिभा के बल से किसी विषय में दी हुई सम्मति मात्र हैं, उनका समावेश भी अंगबाह्य आगम में कर लिया गया है। इतना ही नहीं कुछ मुक्तकों को भी उसी में प्रधान प्राप्त है।

अब तक आगम के प्रामाण्य-अप्रामाण्य का जो विचार किया है, वह वक्ता की दृष्टि से। अर्थात् किस वक्ता के वचन को व्यवहार में सर्वथा प्रमाण माना जाए। आगम के प्रामाण्य या अप्रामाण्य का एक दूसरी दृष्टि से भी अर्थात् श्रोता की दृष्टि से भी आगमों में विचार हुआ है, उसे भी बता देना आवश्यक है।

शब्द तो निर्जीव है और सभी सांकेतिक अर्थ के प्रतिपादन की योग्यता रखते हैं। अतएव सर्वार्थिक भी हैं। ऐसी स्थिति में निश्चय दृष्टि से विचार करने पर शब्द का प्रामाण्य जैसा मीमांसक मानता है, स्वतः नहीं वरन् प्रयोक्ता के गुण के कारण सिद्ध होता है। इतना ही नहीं बल्कि श्रोता या पाठक के कारण भी प्रमाण्य या अप्रामाण्य का निर्णय करना पड़ता है। अतएव यह आवश्यक हो जाता है, कि वक्ता और श्रोता दोनों की दृष्टि से आगम के प्रामाण्य का विचार किया जाए।

शास्त्र की रचना निष्प्रयोजन नहीं वरन् श्रोता को अभ्युदय और निःश्रेयस मार्ग का प्रदर्शन करने की दृष्टि से ही है, यह सर्वसम्मत है। किन्तु शास्त्र की उपकारकता या अनुपकारकता मात्र शब्दों पर निर्भर न होकर श्रोता की योग्यता पर भी निर्भर है। यही कारण है, कि एक ही शास्त्रवचन के नाना और परस्पर विरोधी अर्थ निकालकर दार्शनिक लोग नाना मतवाद खड़े कर देते हैं। एक भगवद्गीता या एक ही ब्रह्मसूत्र कितने विरोधी वादों का मूल बना हुआ है। अतः श्रोता की दृष्टि से किसी एक ग्रन्थ को नियमतः सम्यक् या मिथ्या कहना या किसी एक ग्रन्थ को ही आगम कहना, निश्चय दृष्टि से भ्रमजनक है। यही सोचकर मूल ध्येय मुक्ति की पूर्ति में सहायक ऐसे सभी शास्त्रों को जैनाचार्यों ने सम्यक् या प्रमाण माना है। यही व्यापक दृष्टि बिन्दु आध्यात्मिक दृष्टि से जैन परम्परा में पाया जाता है। इस दृष्टि के अनुसार वेदादि सब शास्त्र जैनों को मान्य है। जिस जीव की श्रद्धा सम्यक् है, उसके सामने कोई भी शास्त्र आ जाए वह उसका उपयोग मोक्ष मार्ग को प्रशस्त बनाने में ही करेगा। अतएव उसके लिए सब शास्त्र प्रमाणिक है, सम्यक् हैं। किन्तु जिस जीव की श्रद्धा ही विपरीत है यानी जिसे मुक्ति की कामना ही नहीं, उसके लिए वेदादि तो क्या तथाकथित जैनागम भी मिथ्या है, अप्रामण है। इस दृष्टि बिन्दु में सत्य का आग्रह है, साम्प्रदायिक कदाग्रह नहीं।

पार्श्वकालीन श्रुत : जैन आगमों में जहाँ कहीं भी अनगार धर्म स्वीकार करने की बात है,वहाँ या तो यह कहा गया है, कि वह सामायिक आदि 11 अंग पढ़ता है या चतुर्दश पूर्व पढ़ता है।

शास्त्रों में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है, कि आचारांग आदि 11 अंगों की रचना महावीर के अनुगामी गणधरों ने की।[87] भगवतीसूत्र में अनेक जगह महावीर के मुख से कहलाया गया है, कि अमुक वस्तु पुरुषादायनीय पार्श्वनाथ ने कही है, जिसको मैं भी कहता हूँ और जब हम यह भी देखते हैं, कि महावीर का तत्त्वज्ञान वही है, जो पार्श्वपत्यिक परम्परा से चला आता है, तब हमें 'पूर्व' शब्द का अर्थ समझने में कोई कठिनाई नहीं आती। 'पूर्व' श्रुत का अर्थ स्पष्टतया यही है, कि जो श्रुत महावीर के पूर्व से पार्श्वपत्यिक परम्परा द्वारा चला आ रहा था और जो किसी न किसी रूप में महावीर को भी प्राप्त हुआ। डॉ. याकोबी का भी ऐसा ही मत है।[88]

जैन श्रुत के मुख्य विषय नवतत्त्व, पंचास्तिकाय, आत्मा और कर्म का संबंध, उसके कारण, उसकी निवृत्ति के उपाय, कर्म का स्वरूप आदि है। इन्हीं विषयों का महावीर और उनके शिष्यों ने संक्षेप से विस्तार और विस्तार से संक्षेप कर भले ही कहा हो, पर वे सब विषय पार्श्वपत्यिक परम्परा के पूर्वश्रुत में किसी न किसी रूप से निरुपित थे, इस विषय में कोई संदेह नहीं। एक भी स्थान पर महावीर अथवा उनके शिष्यों में से किसी ने भी ऐसा नहीं कहा, कि महावीर का श्रुत अपूर्व अर्थात् सर्वथा नवीन है। चौदहपूर्व के विषयों की एवं उनके भेद-प्रभेदों की, जो टूटी-फूटी जानकारी नंदीसूत्र[89] तथा धवला[90] में मिलती है। उसका आचारांग आदि 11 अंगों में तथा अन्य उपांग आदि शास्त्रों में प्रतिपादित विषयों के साथ मिलान करने पर इसमें संदेह नहीं रहता, कि जैन परम्परा के आचार-विचार विषयक मुख्य प्रश्नों की चर्चा पार्श्वपत्यिक परम्परा के पूर्वश्रुत और महावीर की परम्परा के द्वादशांग श्रुत में समान ही है।

कल्पसूत्र में वर्णन है, कि महावीर के संघ में 300 श्रमण 14 पूर्व के धारक थे।[91] अब तक के इस विश्लेषण के अनुसार निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं :

1. पार्श्वकालीन परम्परा का पूर्व श्रुत महावीर को किसी न किसी रूप में अवश्य प्राप्त हुआ तथा उसी में प्रतिपादित विषयों पर आचारांग आदि ग्रन्थों की पृथक्-पृथक् मनीषीयों द्वारा रचना की गई।
2. महावीर शासित संघ में पूर्वश्रुत और आचारांग आदि श्रुत दोनों की बहुत प्रतिष्ठा रही है। इन्हें अधिक प्रमाणित एवं श्रेष्ठ माना जाता रहा है। इसी कारण दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं के साहित्य में आचार्यों का ऐसा प्रयत्न रहा है, कि वे अपने-अपने कर्म विषयक तथा ज्ञान आदि विषयक इतर पुरातन ग्रन्थों का सम्बन्ध उस विषय के पूर्व नामक ग्रन्थ से जोड़ते हैं। दोनों परम्पराओं के वर्णन से इतना निश्चित रूप से ज्ञात हो

जाता है, कि सारी निर्ग्रन्थ परम्परा अपने वर्तमान श्रुत का मूल पूर्व में मानती आयी है।

3. पूर्वश्रुत में जिस-जिस देश काल का एवं जिन-जिन व्यक्तियों के जीवन का प्रतिबिम्ब था, उससे आचारांग आदि पर प्रतिबिम्ब पड़ा, यह स्वाभाविक है। फिर भी आचार, तत्त्वज्ञान एवं प्रमाणशास्त्र के मुख्य प्रश्नों के स्वरूप में दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा।

इस प्रकार जैन दर्शन के अन्तर्गत प्रमाण सम्बन्धी चिन्तन का विवेचन करने के पश्चात् यह तो भलीभाँति ज्ञात हो जाता है, कि वह कितना प्रमाणिक एवं तर्क संगत है। जैन दर्शन में तत्त्व या वस्तु को जानने के लिए शास्त्रकारों ने दो साधन बताए हैं - प्रमाण और नय। प्रमाणों का सम्पूर्ण विवेचन करने के पश्चात् हम नयवाद का विवेचन करेंगे।

नयवाद : नय पद्धति जैन दर्शन की पूर्णतया मौलिक विचार शैली है। अन्य दर्शनों में कहीं नय विषयक चिन्तन दृष्टिगोचर नहीं होता है। अन्य समस्त दर्शन अपनी-अपनी एकदेशीय विचारधारा को ही परिपूर्ण मानकर उसका समर्थन करते हैं, जबकि जैन दर्शन वस्तु के अनन्त धर्मात्मक स्वरूप को दृष्टिगत रखकर उसके विविध रूपों को विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रस्तुत करता है। जैन दृष्टि परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले विचारों में अविरोध का बीज खोजकर उनमें समन्वय स्थापित करती है।

जैन दर्शन की अनेकान्त दृष्टि, विभिन्न वादियों की परम्परा विरुद्ध मान्यताओं को अलग-अलग नय की एकांगी दृष्टि के रूप में स्वीकृति देकर आंशिक सत्य के रूप में उन्हें मान्यता प्रदान करती है। दार्शनिक जगत के विवादों को सुलझाने की विलक्षण एवं अद्‌भुत शक्ति जैन दर्शन की अनेकान्त दृष्टि और नय-पद्धति में समाहित है। खण्ड-खण्ड में विभक्त सत्य को जैन दर्शन की अनेकान्त दृष्टि एक अखण्ड सत्य का, परिपूर्ण सत्य का स्वरूप प्रदान करती है।

"अनेकान्तात्मकं वस्तु, गोचरः सर्वसंविदाम्।
एकदेश विशिष्टोऽर्थो, नयस्य विषयो मतः॥"[162]

अर्थात् प्रमाण द्वारा अनन्त धर्मात्मक वस्तु के सर्व संवेदी ज्ञान को ग्रहण किया जाता है। उन अनन्त धर्मों में से किसी एक विशिष्ट धर्म को जानने वाला ज्ञान नय कहलाता है। नय जब वस्तु के एक धर्म को जानता है, तब शेष रहे हुए धर्म भी वस्तु में विद्यमान तो रहते ही हैं, किंतु उन्हें गौण कर दिया जाता है। इस प्रकार सिर्फ एक धर्म को मुख्य करके उसे जानने वाला ज्ञान नय है।

प्रमाण वस्तु के पूर्व रूप को ग्रहण करता है और नय प्रमाण द्वारा गृहीत वस्तु के एक अंश को जानता है। प्रमाण ज्ञान वस्तु को समग्र भाव से ग्रहण करता है, उसमें अंश विभाजन करने की ओर लक्ष्य नहीं होता। जैसे - 'यह घड़ा है।' इस ज्ञान में

प्रमाण घड़े को अखण्ड भाव से उसके रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि अनन्त गुणों का विभाग न करके पूर्ण रूप से जानता है, जबकि नय उसका विभाजन करके 'रूपवान घट' 'रसवान घट' आदि रूप में उसे अपने-अपने अभिप्राय के अनुसार जानता है। प्रमाण और नय दोनों ज्ञानात्मक पर्यायें हैं। जब ज्ञाता की सकल (सम्पूर्ण पदार्थ) को ग्रहण करने की दृष्टि होती है, तब उसका ज्ञान प्रमाण होता है और जब उसी प्रमाण से गृहित वस्तु को खंडशः ग्रहण करने का अभिप्राय होता है, तब वह अंशग्राही अभिप्राय नय कहलाता है। प्रमाण को सकलादेशी और नय को विकलादेशी माना जाता है।

नय प्रमाण से भिन्न है, तो प्रश्न यह उठता है, कि नय प्रमाण है या अप्रमाण? इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है, कि नय न तो प्रमाण है, न ही अप्रमाण वरन् नय प्रमाण का एक अंश है। प्रमाण इसलिए नहीं है, क्योंकि वह अंशग्राही है और अप्रमाण इसलिए नहीं है, क्योंकि वह ज्ञानरूप है। अतः नय को प्रमाण का अंश माना जाता है। जैसे समुद्र में से एक घड़ा जल भर लिया जाए, तो वह घट का जल न तो समुद्र है, क्योंकि तब शेष समुद्र का जल असमुद्र हो जाएगा और न ही उसे असमुद्र कहा जा सकता है क्योंकि वह जल समुद्र में से लिया गया है। अतः उसे समुद्र का अंश कहेंगे।

यहाँ प्रश्न उठता है, कि जैन दर्शन ने श्रुत ज्ञान को पूर्ण प्रमाण के रूप में स्वीकार करने के पश्चात् अंश ज्ञान के रूप में नयवाद के रूप में अंशज्ञान को स्वतंत्र रूप से पृथक् रूप से विवेचन की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान इस प्रकार किया गया है, कि विचार का उत्पत्ति क्रम और उससे होने वाली प्रवृत्ति की दृष्टि से नय निरुपण श्रुत प्रमाण से पृथक् होता है। किसी भी विषय का विचार अंश से उत्पन्न होता हुआ अनुक्रम से पूर्णता के परिणाम को प्राप्त होता है। जिस क्रम से विचार उत्पन्न होता है, उसी क्रम से तत्त्वबोध का वर्णन होना चाहिये और ऐसा होने से स्वयम् नय निरुपण श्रुत प्रमाण से पृथक् हो जाएगा। चाहे जितना पूर्ण ज्ञान हो परन्तु उसका उपयोग व्यवहार प्रवृत्ति में क्रमशः होगा इसी से सम्पूर्ण विचारात्मक श्रुत की अपेक्षा अंश विचारात्मक निरुपण पृथक् होना चाहिये।

नयाभास :

"स्वाभिप्रेतादंशादितरांशापलापी पुनर्नयाभासः।"[163]

अर्थात् अपने अभीष्ट अंश के अतिरिक्त अन्य अंशों का अपलाप करने वाला नय नयाभास है। नय को सुनय तथा नयाभास को दुर्नय भी कहा है। सुनय अपने अंश को मुख्य रूप से ग्रहण करते हुए, अन्य अंशों को गौण रखता है, किन्तु उसकी अपेक्षा अवश्य रखता है, उनका तिरस्कार कभी नहीं करता है। जैसे-सत् धर्म को लें, तो प्रमाण 'सत्' को ग्रहण करता है। नय 'स्यात् सत्' को ग्रहण करता है। दुर्नय या

नयाभास 'सदेव' ऐसा अवधारण कर अन्य का तिरस्कार करता है। निष्कर्ष यह है, कि सापेक्षता ही नय का प्राण है। इनके द्वारा समस्त वाद-विवाद समाप्त हो जाते हैं। जबकि दुर्नय ही विविध दर्शनों के परस्पर वाद-विवाद का कारण होता है। क्योंकि मनुष्य की ज्ञानवृत्ति समान रूप से अधूरी होती है, फिर भी स्वयं के मत के अंशात्मक ज्ञान को परिपूर्ण मानकर अन्य मतों का सर्वथा निषेध करने की प्रवृत्ति ही विवाद का कारण है। यह नयाभास अथवा दुर्नय है। इसी से सत्य ज्ञान के द्वार बन्द हो जाते हैं। जबकि नयवाद सत्यज्ञान की ओर अग्रसर होने की प्रथम सीढ़ी है।

नय के मूल दो भेद :

''स व्याससमासाभ्यां द्वि प्रकारः।''[164]

अर्थात् नय दो प्रकार का है, व्यासनय और समासनय। विस्तार रूप नय व्यासनय कहलाता है और संक्षेपरूप नय समासनय कहलाता है। नय के यदि विस्तार से भेद किए जाएँ, तो वह अनन्त होंगे, क्योंकि वस्तु में अनन्त धर्म हैं। अतः स्वभावतः एक-एक धर्म को ग्रहण करने वाले अभिप्राय भी अनन्त होंगे, भले ही उनके वाचक पृथक्-पृथक् शब्द न मिलें, लेकिन जितने शब्द हैं, उतने अभिप्राय तो अवश्य ही होते हैं। इसलिए कहा गया है- 'जितने प्रकार के वचन हैं या जितने शब्द हैं, उतने ही नय हैं।' अतएव व्यासनय के भेदों की संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती।

समासनय के भेद-प्रभेदों को हम सारिणी द्वारा समझ सकते हैं।

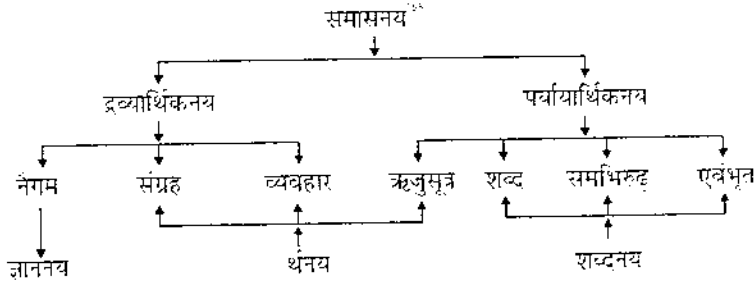

उपर्युक्त सारिणी के द्वारा जैन दर्शन सम्मत नय के समस्त भेद-प्रभेदों का वर्गीकरण हो जाता है। वस्तुतः नय भेदों की संख्या के लिए एक परम्परा नहीं है। सामान्यतया सात भेदों के प्रतिपादन की बाहुल्यता है। यथा- नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुढ़, एवंभूत। यह आम्नाय श्वेताम्बरीय, दिगम्बरीय ग्रन्थों में प्रख्यात रूप से प्रचलित है, परन्तु कहीं-कहीं छः, पाँच, चार, दो आदि भेदों की व्याख्या भी मिलती है। सिद्धसेन दिवाकर की प्ररुपणा नैगमनय को छोड़कर शेष छः नयों की है और उमास्वाति पाँच नय का प्रतिपादन करते हैं -

''नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दानयाः।''[165]

विशेषावश्यक भाष्य में सात, छः, पाँच, चार और दो भेदों का उल्लेख मिलता है और प्रत्येक नय के सौ-सौ भेद भी कहे हैं।[१०] इनका विस्तृत विवेचन स्याद्वाद रत्नाकर तथा नय प्रदीपादि ग्रन्थों में मिलता है।

समासनय : संक्षेपरुपनय समासनय कहलाता है, यह दो प्रकार का है - द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय।

1. **द्रव्यार्थिक नय** : वस्तु में स्वरुपतः अभेद है, वह अखण्ड है और अपने में एक और मौलिक है। यह अभेद ग्राहिणी दृष्टि द्रव्य दृष्टि कही जाती है। द्रव्य को मुख्य रूप से ग्रहण करने वाले नय द्रव्यार्थिक कहलाते हैं। जैसे-सोने के कंगन, हार आदि में उसके आकार की अपेक्षा उसके मूल द्रव्य सोने को ही देखें, तो यह द्रव्यार्थिक नय है।
2. **पर्यायार्थिक नय** : एक ही द्रव्य को व्यवहार में गुण, पर्याय और धर्मों के द्वारा अनेक रूप में ग्रहण किया जाता है। यह भेद ग्राहिणी दृष्टि पर्याय दृष्टि कही जाती है। पर्याय को मुख्य रूप से ग्रहण करने वाले नय को पर्यायार्थिक नय कहते हैं। जैसे-सोने के कंगन, द्वार आदि में सोने की अपेक्षा उसकी आकृति कंगन अथवा द्वार के रूप में उन्हें ग्रहण करना पर्यायार्थिक नय है।

द्रव्यार्थिक नय तीन प्रकार के कहे गए हैं - नैगमनय, संग्रहनय और व्यवहार नय।

पर्यायार्थिक नय चार प्रकार के कहे गए हैं - ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरुढ़नय एवं एवंभूतनय।

जगत् में ठोस और मौलिक अस्तित्व यद्यपि द्रव्य का है और वही परमार्थ से अर्थ कहा जाता है, तदपि जगत् व्यवहार केवल परमार्थ अर्थ से नहीं चलता। अतएव व्यवहार के लिए पदार्थों का निक्षेप किया जाता है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव-ये चार निक्षेप है। नाम शब्दात्मक अर्थ का अर्थ है। स्थापना ज्ञान के आकारों का आधार है। द्रव्य और भाव अर्थ का आधार है। इस प्रकार जब प्रत्येक पदार्थ को अर्थ, शब्द और ज्ञान के आकारों में बाँटते हैं, तो इनके ग्राहक ज्ञान भी स्वभावतः तीन श्रेणियों में बंट जाते हैं-ज्ञान (संकल्प) नय, अर्थनय और शब्दनय। कुछ व्यवहार केवल संकल्प के बल से चलते हैं, वे ज्ञानाश्रयी होते हैं, उनमें अर्थ के तथाभूत होने की चिन्ता नहीं होती। जैसे आज महावीर जयन्ती है। अर्थ आधार से चलने वाले व्यवहार में एकान्त अभेदवादी वेदान्ती, एकान्त भेदवादी बौद्ध और भेदोभेद को स्वतंत्र मानने वाले नैयायिक वैशेपिकादि हैं। शब्द भेद से अर्थ भेद मानने वाले नय शब्दनय है। इन सभी प्रकार के व्यवहारों के समन्वय के लिए जैन परम्परा ने नय पद्धति स्वीकार की है। नय का अर्थ है-अभिप्राय, दृष्टि, विवक्षा या अपेक्षा।

ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनय में से ज्ञाननय का समावेश, संकल्पमात्र ग्राही नैगमनय में होता है। अर्थाश्रित अभेद व्यवहार का संग्रहनय में, भेदाभेद व्यवहार का व्यवहार नय में, एकान्त भेदवादी बौद्ध का ऋजूसूत्र नय में समावेश हो जाता है। काल, कारक, संख्या, उपसर्ग आदि के भेद से अर्थभेद मानने वाली दृष्टि का समावेश शब्दनय में होता है। पर्यायवाची शब्दों में अर्थभेद मानने वाली दृष्टि का समभिरुढ़ नय में अन्तर्भाव होता है। जिस समय अर्थ क्रिया परिणत हो तभी वह अर्थ है-इस दृष्टि का समावेश एवंभूत नय में होता है। नयों का अभिप्राय एकान्तता की निवृत्ति के साथ संदेश का ग्रहण करना है। नैगम नय ज्ञाननय है, संग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्र-अर्थनय है और शब्द, समभिरुढ़ एवंभूत नय शब्दनय हैं। इस प्रकार ज्ञानाश्रयी, अर्थाश्रयी और शब्दाश्रयी समस्त व्यवहारों का समन्वय इन सात नयों में किया गया है।

सात मूल नय : नयों के मूलतः सर्वसम्मत 7 भेद बताए गए हैं - नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुढ और एवंभूत।

1. **नैगमनय :** संकल्प मात्र को ग्रहण करने वाला नैगमनय है। जैसे कोई पुरुष दरवाजा बनाने के लिए लकड़ी काटने जंगल जा रहा है, उसे कोई पूछता है, कि कहाँ जा रहे हो? वह उत्तर देता है, कि दरवाजा लेने जा रहा हूँ। यहाँ दरवाजा बनाने के संकल्प में ही 'दरवाजा' का व्यवहार किया गया है। संकल्प सत् में भी होता है और असत् में भी। इस नैगमनय की परिधि में अनेकों औपचारिक व्यवहार भी आते हैं। जैसे आज महावीर जयन्ती है, चूल्हा जल रहा है, यह रास्ता कहाँ जा रहा है? ये सब औपचारिक व्यवहार हैं, क्योंकि महावीर तो लगभग ढ़ाई हजार वर्ष पहले जन्मे थे, चूल्हा नहीं जलता है, लकड़ी जलती है, रास्ता नहीं जाता है, पथिक जाते हैं। परन्तु नैगम नय की दृष्टि में ये सारे औपचारिक कथन सत्य है।

निगम शब्द का अर्थ है, जनपद अथवा ग्रामादि। जिस जनपद की जनता में जो शब्द जिस अर्थ के लिए नियत है, वहाँ पर उस शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को जानना नैगमनय है। शब्दों के जितने और जैसे अर्थ लोक में माने जाते हैं, उनको मानने की दृष्टि नैगमनय है। नैगमनय धर्म और धर्मी दोनों को ग्रहण करता है। संक्षेप में दो पर्यायों की, दो द्रव्यों की तथा द्रव्य और पर्याय की प्रधान एवं गौण भाव से विवक्षा करने वाले नय को नैगमनय कहते हैं। नैगम के दो भेद हैं - सर्वग्राही और देशग्राही। सामान्य अंश का आधार लेकर प्रयुक्त होने वाले नय को सर्वग्राही नैगमनय कहते हैं। जैसे-यह घट है। विशेष अंश का आश्रय लेकर प्रयुक्त होने वाले नय को देशग्राही नैगम नय कहते हैं। जैसे यह घट चाँदी या सोने का है।

एक अन्य अपेक्षा से नैगमनय के तीन भेद किए गए हैं - भूत नैगमनय, भावी नैगमनय और वर्तमान नैगमनय। अतीतकाल का वर्तमानकाल में संकल्प भूत नैगमनय है। जैसे-यह कहना कि 'आज महावीर जयन्ती है।' *यहाँ आज का अर्थ है, वर्तमान*

दिवस परन्तु उसमें संकल्प ढ़ाई हजार वर्ष पहले के दिन का किया गया है।

भविष्य का वर्तमान में संकल्प करना, भावी नैगमनय है। जैसे-अरिहन्त को सिद्ध कहना। यहाँ भविष्य में होने वाली सिद्ध पर्याय को वर्तमान में कह दिया गया है। जिस कार्य को प्रारम्भ कर दिया गया हो, परन्तु वह अभी तक पूर्ण नहीं हुआ हो, फिर भी उसे पूर्ण कह देना, वर्तमान नैगमनय है। जैसे-बम्बई जाने के लिए घर से रवाना हुए व्यक्ति के विषय में पूछने पर यह कहना, कि 'वह बम्बई गया है।' यद्यपि अभी वह व्यक्ति स्थानीय स्टेशन पर ही है या मार्ग में ही है।

इस प्रकार नैगमनय के विविध रुपों का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

नैगमाभास : अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान आदि को सर्वथा भिन्न मानना नैगमाभास है, क्योंकि गुण-गुणी से पृथक् अपनी सत्ता नहीं रखता और न गुणों की अपेक्षा करके गुणी ही अपना अस्तित्व बनाये रख सकता है। अतः इनमें कथञ्चित तादात्म्य सम्बन्ध मानना ही उचित है। इसी तरह अवयव-अवयवी, सामान्य-विशेष आदि में भी कथंचित तादात्म्य सम्बन्ध ही घटित हो सकता है। यदि गुण आदि गुणी से सर्वथा भिन्न स्वतंत्र पदार्थ हो तो उनमें गुण-गुणी सम्बन्ध नहीं बन सकता। अतः वैशेषिक दर्शन का गुण आदि गुणी से सर्वथा भिन्न स्वतंत्र पदार्थ मानना नैगमाभास का उदाहरण है। इसी प्रकार सांख्य का ज्ञान और सुख आदि का आत्मा से सर्वथा भिन्न मानना नैगमाभास है।

2. संग्रहनय : वस्तु के द्रव्यत्व आदि सामान्य धर्मों को ग्रहण करने वाला विचार संग्रहनय है। जैसे-जीव के कथन से नरक, तीर्यंच, मनुष्य, देव और सिद्ध सबका ग्रहण हो जाता है। संग्रहनय एक शब्द के द्वारा अनेक पदार्थों को भी ग्रहण करता है। जैसे-किसी व्यक्ति ने अपने नौकर से कहा - 'दातुन लाओ।' दातुन शब्द को सुनकर वह सेवक केवल दातुन ही नहीं वरन् साथ में जीभी, पानी का लौटा, हाथ मुँह पौंछने का तौलिया आदि सामग्री भी लाता है। यहाँ दातुन कहने मात्र से तत्सम्बन्धी सब सामग्री का संग्रह हो गया है।

संग्रहनय के दो भेद हैं - पर संग्रह और अपर संग्रह। सत्तामात्र को ग्रहण करने वाला नय पर संग्रहनय कहलाता है। जैसे सारा विश्व एक है, क्योंकि सब में सत् पाया जाता है। इसे महासामान्य भी कहते हैं।

जीव-अजीव आदि अवान्तर सामान्य को ग्रहण करने वाला और अनेक भेदों की अपेक्षा करने वाला अपर संग्रहनय है। जैसे-जीव कहने से सब जीवों का ग्रहण तो हुआ, परन्तु अजीवादि का ग्रहण नहीं हो सका। संग्रहनय में अभेद की प्रधानता रहती है। पर संग्रह में सत् रूप से समस्त पदार्थों का संग्रह किया जाता है तथा अपर संग्रह में एक द्रव्य रूप से समस्त पर्यायों का द्रव्य रूप से समस्त द्रव्यों का गुणरूप से

समस्त गुणों का गोत्व रूप से समस्त गायों का मनुष्यत्व रूप से समस्त मनुष्यों इत्यादि का संग्रह किया जाता है।

संग्रहाभास : वेदान्त दर्शन का अद्वैतवाद संग्रहाभास है, क्योंकि इसमें भेद का सर्वथा निराकरण किया गया है। संग्रह नय में अभेद मुख्य होने पर भी भेद का निराकरण नहीं किया जाता है। वह गौण अवश्य हो जाता है, परन्तु उसके अस्तीत्व से इन्कार नहीं किया जा सकता है। संग्रहनय की उपयोगिता अभेद व्यवहार के लिए है, वस्तु स्थिति का लोप करने के लिए नहीं।

3. व्यवहारनय : संग्रहनय द्वारा संग्रहीत अर्थ में विधिपूर्वक, अविसंवादी और वस्तुस्थितिमूलक भेद करना व्यवहारनय है। लौकिक व्यवहार के अनुसार विभाग करने वाले विचार को व्यवहारनय कहते हैं। जैसे-जो सत् है, वह द्रव्य और पर्यायरूप है। जो द्रव्य है, उसके जीव आदि छह भेद हैं, जो पर्याय हैं उसके दो भेद हैं, क्रमभावी और सहभावी। जो जीव हैं, उनके अनेक भेद हैं, जैसे संसारी और मुक्त, मुक्तों में भी अनेक मुक्त आदि। यह नय सामान्य को गौण करके विशेष को ही ग्रहण करता है। क्योंकि लोक में घट आदि विशेष पदार्थ को जल धारण आदि क्रियाओं के योग्य देखे जाते हैं, सामान्य में अर्थक्रिया नहीं होती। गोत्व से दूध प्राप्त नहीं होता। रोगी को औषधि दो, इतना मात्र कहने से काम नहीं चलता, औषधि का नाम और आसेवन की विधि आदि बताने से समाधान होता है। व्यवहारनय के बिना किसी भी वस्तु का समग्रतया निर्णय नहीं किया जा सकता। अतएव व्यवहारनय भी अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण है। जैसे 'कोयल पाँचों वर्णों वाली है।' यह कथन निश्चयनय की दृष्टि से सत्य है, फिर भी कोयल का निर्णय नहीं हो पाता क्योंकि उसमें पाँचों वर्ण दृष्टिगोचर नहीं होते। जबकि निश्चयात्मक व्यवहार नय उसका निर्णय कराता है, कि 'कोयल काली है।' कालेपन की प्रधानता से यह कथन सत्य है, किन्तु गौणरूप में पाँचों वर्ण पाये जाते हैं। यह सुस्पष्ट है।

व्यवहार नय के दो भेद हैं - सामान्य भेदक और विशेष भेदक। सामान्य संग्रह में भेद करने वाले नय को सामान्य भेदक व्यवहारनय कहते हैं। जैसे-द्रव्य के दो भेद जीव और अजीव। विशेष संग्रह में भेद करने वाले नय को विशेष भेदक व्यवहार नय कहते हैं। जैसे-जीव के चार भेद नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव। जो भेद अपने निजी मौलिक एकत्व की अपेक्षा रखता है, वह व्यवहार है और अभेद का सर्वथा तिरस्कार करने वाला व्यवहाराभास है। वैशेषिक की प्रतीतिविरुद्ध द्रव्यादि भेद कल्पना व्यहवहाराभास में आती है।

4. ऋजुसूत्रनय : वर्तमान क्षण में होने वाली पर्याय को मुख्य रूप से ग्रहण करने वाले नय को ऋजुसूत्र कहते हैं। जैसे 'मैं सुखी हूँ।' यहाँ सुख पर्याय वर्तमान समय में है। ऋजुसूत्रनय वर्तमान क्षण स्थायी सुखादि पर्याय को प्रधान रूप से ग्रहण

करता है, परन्तु इस पर्याय की आधारभूत आत्मा को गौण मानता है। यह नय भूत और भावी पर्याय को नहीं मानता। केवल वर्तमान पर्याय को ही स्वीकार करता है।

इस नय की दृष्टि में नित्य और स्थूल कोई चीज नहीं है। क्षणिक पर्याय और सूक्ष्म को ही यह स्वीकार करता है। इस नय की सूक्ष्म विश्लेषक दृष्टि में भोजनपान आदि अनेक समय साध्य कोई भी क्रियाएँ नहीं बन सकती क्योंकि एक क्षण में तो वे क्रियाएँ होती नहीं और वर्तमान का अतीत-अनागत से कोई सम्बन्ध इसे स्वीकार नहीं है। जिस द्रव्य के माध्यम से पूर्व और उत्तर पर्यायों में सम्बन्ध जुटाता है, उस माध्यम का अस्तित्व ही इसे स्वीकार्य नहीं। इतना सब होते हुए भी यह नय द्रव्य का अपलाप नहीं करता। वह पर्याय की मुख्यता मानता है और द्रव्य को गौण मानता है। यदि वह द्रव्य का सर्वथा अपलाप करता है, तो ऋजुसूत्राभास बन जाता है। बौद्धदर्शन सर्वथा द्रव्य का अपलाप करता है, अतः वह ऋजुसूत्राभास का उदाहरण है।

5. शब्दनय : काल, कारक, लिंग, संख्या, पुरुष, उपसर्ग आदि के भेद से शब्दों में अर्थभेद मानने वाला नय, शब्दनय कहलाता है। जैसे-मेरू था, मेरु है और मेरू होगा। उपर्युक्त उदाहरण में शब्दनय भूत, वर्तमान एवं भविष्यत्काल के भेद से मेरु पर्वत को भी तीन रूपों में ग्रहण करता है। वर्तमान का मेरु और है, अतीत का मेरु और था और भविष्यत् का मेरु अन्य ही होगा। काल पर्याय की दृष्टि से यह भेद है। इसी प्रकार 'घट को करता है।' तथा 'घट किया जाता है।' यहाँ कारक के भेद से शब्दनय घट में भेद करता है। इसी प्रकार लिंग, संख्या, पुरुष, उपसर्ग के भेद से भी शब्दनय भेद को स्वीकार करता है। इस नय की दृष्टि से शब्द भेद से अर्थ भेद होता ही है। जो शब्द के भेद से अर्थ के भेद को, मुख्य रूप से ग्रहण करता है, वह शब्द नय है। लेकिन जो काल-कारकादि भेद से उन शब्दों को सर्वथा भिन्न ही मानता है, उनमें किसी प्रकार के अभेद सम्बन्ध को नहीं मानता है, वह शब्द नयाभास है। जैसे-मेरु था, मेरु है और मेरु होगा। इत्यादि भिन्न काल वाचक शब्द सर्वथा भिन्न पदार्थों का कथन करते हैं, क्योंकि वे भिन्न काल वाचक शब्द है, जैसे भिन्न पदार्थों का कथन करने वाले दूसरे भिन्न कालीन शब्द अर्थात् अगच्छत, भविष्यति और पठति आदि।

काल का भेद होने से पर्याय का भेद होता है, फिर भी द्रव्य एक वस्तु बना रहता है। शब्दनय पर्याय दृष्टि वाला है, अतः वह भिन्न-भिन्न पर्यायों को ही स्वीकार करता है, द्रव्य को गौण करके उसकी उपेक्षा करता है। परन्तु शब्दनयाभास विभिन्न कालों में अनुगत रहने वाले द्रव्य का सर्वथा निषेध करता है।

6. समभिरुढ़नय : पर्यायवाचक शब्दों में निरुक्ति के भेद से अर्थ का भेद मानने वाला समभिरूढ़ नय कहलाता है। शब्द नय तो अर्थ भेद वहीं मानता है, जहाँ लिंग आदि का भेद होता है, किन्तु समभिरूढ़नय की दृष्टि में प्रत्येक शब्द का अर्थ अलग-अलग ही होता है, भले ही वे शब्द पर्यायवाची हों और उनमे लिंगादि का भेद

न भी हो। जैसे-इन्द्र और पुरन्दर शब्द पर्यायवाची हैं, अतः शब्दनय की दृष्टि से इनका एक ही अर्थ है, परन्तु समभिरुढ़नय के मत में उनके अलग-अलग अर्थ हैं। 'इन्द्र' शब्द से ऐश्वर्यशाली का बोध होता है, जबकि 'पुरन्दर' से 'नगर के विनाशक' का बोध होता है। पर्यायवाची शब्दों में सर्वथा-एकान्त रूप से भेद मानना और अभेद का सर्वथा निषेध करना समभिरूढ़ नयाभास है।

7. एवंभूतनय : पदार्थ जिस समय अपनी अर्थ क्रिया में प्रवृत्त हो, उसी समय उसे उस शब्द का वाच्य मानना चाहिये-ऐसी निश्चय दृष्टि वाला नय एवंभूतनय है। समभिरुढ़नय इन्द्रनादि क्रिया के होने या न होने पर भी इन्द्र को 'इन्द्र' शब्द का वाच्य मान लेता है, परन्तु एवंभूतनय इन्द्र को 'इन्द्र' शब्द का वाच्य तभी मानता है, जबकि वह इन्दन क्रिया में उपयोगपूर्वक प्रवृत्त हो रहा हो, अन्यथा नहीं। इस नय की दृष्टि घट तभी घट कहा जा सकता है, जब वह घट की अर्थ क्रिया जल धारण कर रहा हो। खाली घट को घट नहीं कहा जा सकता। न्यायाधीश जब न्यायालय में कुर्सी पर बैठकर न्याय करता है, तभी वह न्यायाधीश कहा जा सकता है, अन्य समय में नहीं। एकान्ततः अर्थ क्रिया परिणत पदार्थ को ही उस शब्द का वाच्य मानना अन्यथा सर्वथा अपलाप करना एवं भूतनयाभास है।

इस प्रकार दार्शनिक दृष्टिकोण से इन सात प्रकार के नयों को प्रतिपादित किया गया है, जिनके अन्तर्गत प्रायः समस्त नयों का समावेश हो जाता है।

निश्चयनय और व्यवहार नय : आध्यात्मिक दृष्टिकोण से नय के दो भेद प्रतिपादित किए गए हैं - निश्चय नय और व्यवहार नय। कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार में इनको बहुत अच्छी तरह से विश्लेषित किया है -

"ववहारो भूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो॥"[168]

अर्थात् व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है, ऐसा सम्यग्दृष्टि जिन ने बताया है, जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है, वह जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टि है।

निश्चयनय : जो नय वस्तु के मूल वास्तविक स्वरूप को बताता है, उसे निश्चयनय कहते हैं। निश्चयनय को ही शुद्धनय कहा गया है। शुद्धनय का उपदेश विरल ही मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने शुद्धनय का फल मोक्ष जानकर उसका प्रधानता से विवेचन किया है। शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है, इसका आश्रय लेने से जीव सम्यग्दृष्टि हो सकता है। इसे जाने बिना आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान रूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो सकता। जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान हुए तथा पूर्ण ज्ञान चारित्रवान हो गये उन्हें तो शुद्ध का उपदेश करने वाला शुद्धनय ही जानने योग्य है।[169]

"णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चेव॥"[170]

अर्थात् जो ज्ञायक भाव है, वह अप्रमत्त भी नहीं और प्रमत्त भी नहीं है, इस प्रकार इसे शुद्ध कहते हैं और जो ज्ञायक रूप से ज्ञात हुआ वह तो वही है, अन्य कोई नहीं। ज्ञानी के चारित्र, दर्शन, ज्ञान- यह तीन भाव व्यवहार से कहे जाते हैं, निश्चय से ज्ञान भी नहीं है, दर्शन भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है, ज्ञानी तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है। शुद्धनय से केवल एक आत्मा ही है। शुद्धनय का विषय अभेद एकरूप वस्तु है। जैसे-सोने के कंगन, हार, अंगूठी आदि सभी में मूल द्रव्य सोना है। अतः निश्चय नय से एक सोना ही सत्य है, भूतार्थ है।

इस प्रकार निश्चयनय ही परमार्थ है, श्रेय है। लेकिन परमार्थ तक पहुँचने का मार्ग व्यवहारनय ही है। जो जीव उपक्रम भाव में अर्थात् श्रद्धा तथा ज्ञान, चारित्र के पूर्ण भाव को नहीं पहुँच सके हैं, साधक अवस्था में ही स्थित हैं, वे व्यवहारनय द्वारा ही उपदेश करने योग्य है।[171] अतः व्यवहारनय को जानना भी आवश्यक है।

व्यवहारनय : जो नय दूसरे पदार्थों के निमित्त से वस्तु का स्वरूप बतलाता है, उसे व्यवहारनय कहते हैं। व्यवहारनय को यद्यपि अभूतार्थ कहा गया है, क्योंकि वह मोक्ष नहीं है। लेकिन यही जीवन व्यवहार का आधार है तथा मोक्ष मार्ग का अवलम्बन है। जैसे अनार्य जन को अनार्य भाषा के बिना किसी भी वस्तु का स्वरूप ग्रहण करने के लिए, कोई समर्थ नहीं है, उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश देना अशक्य है।[172] कुंदकुंदाचार्य ने व्यवहारनय की उपयोगिता इस प्रकार बतायी है :-

"ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणिभणदि मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण इच्छदि मोक्खपहे सव्वलिंगाणि॥"[173]

अर्थात् व्यवहारनय दोनों लिंगों को (मुनिलिंग और गृहस्थलिंग) मोक्ष मार्ग कहता है। निश्चयनय किसी लिंग को मोक्ष मार्ग नहीं मानता है। निश्चयनय से तो केवल ज्ञायक भाव ही मोक्ष है। लेकिन व्यवहार में तो श्रमण और श्रमणोपासक या श्रावक के भेद से दो प्रकार के द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग हैं, जिन पर चलकर जीव निश्चयनय तक पहुँच सकता है।

व्यवहारनय के आधार पर ही सामान्य जीवन व्यवहार चलता है। यद्यपि व्यवहार नय वस्तु के स्वरूप को दूसरे रूप में बतलाता है, तदपि वह मिथ्या नहीं है। क्योंकि जिस अपेक्षा से अथवा जिस रूप से वह वस्तु को विषय करता है, वह वस्तु उस रूप में भी उपलब्ध होती है। जैसे-हम कहते हैं, 'घी का घड़ा' इस वाक्य से वस्तु के असली स्वरूप का ज्ञान तो नहीं होता, यह नहीं ज्ञात होता है, कि घड़ा मिट्टी का है या पीतल का या अन्य किसी वस्तु का है। इसलिए इसे निश्चयनय नहीं कह सकते। लेकिन उस वाक्य से इतना अवश्य ज्ञात हो जाता है, कि इस घड़े में घी रखा जाता है। जिसमें घी रखा जाता है, उसे घी का घड़ा कहते हैं। व्यवहारनय से यह

कथन सत्य है और इसी आधार पर व्यवहारनय भी सत्य है, मिथ्या नहीं। व्यवहारनय मिथ्या तब होता है, जब उसके विषय को अन्यथा मान लिया जाय। यदि कोई 'घी का घड़ा' इस वाक्य का अर्थ यह समझे, कि घड़ा घी का बना हुआ है, तो वह सत्य और प्रमाणभूत नहीं होगा। कहीं भी घी से घड़ा बनता नहीं है, वरन् घड़ा घी का आधार मात्र रहता है, जब तक व्यवहारनय अपने व्यावहारिक सत्य पर स्थिर है, तब तक उसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता।

व्यवहारनय के दो भेद :

1. सद्भूत व्यवहारनय,
2. असद्भूत व्यवहारनय

एक वस्तु में गुण-गुणी के भेद से भेद को विषय करने वाला सद्भूत व्यवहार नय है। इसके भी दो भेद हैं- उपचरित सद्भूत व्यवहारनय और अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय। सोपाधिक गुण-गुणी में भेद ग्रहण करने वाला उपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। निरुपाधिक गुण-गुणी में भेद ग्रहण करने वाला अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय हैं, जैसे जीव का मतिज्ञान-श्रुतज्ञान आदि लोक में व्यवहार होता है। केवलज्ञान रूप निरुपाधिक गुण से युक्त केवली की आत्मा या वीतराग आत्मा का केवलज्ञान यह प्रयोग अनुपचरित सद्भुत व्यवहारनय है।

असद्भूत व्यवहारनय के भी दो भेद हैं - प्रथम उपचरित असद्भूत व्यवहारनय तथा दूसरा अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय। सम्बन्ध से सहित वस्तु में सम्बन्ध को विषय करने वाला नय उपचरित असद्भूत व्यवहार है। जैसे-देवदत्त का धन। यहाँ देवदत्त का धन के साथ सम्बन्ध माना गया है, परन्तु वास्तव में वह कल्पित होने से उपचरित है। सम्बन्ध से रहित वस्तु में सम्बन्ध को विषय करने वाला नय अनुपचरित असद्भूत व्यवहार है। जैसे 'घी का घड़ा लाओ।' इस वाक्य में घृत और घट का सम्बन्ध उपचरित नहीं है, क्योंकि घट में घी भरा है या भरा था। घी का घड़ा (घी से निर्मित घड़ा) वास्तव में होता नहीं है, अतः वह असद्भूत व्यवहारनय है।

अनुयोगद्वार सूत्र में अन्त में मोक्ष का कारण होने से समस्त नय अध्ययन का विचार ज्ञाननय और क्रियानय की अपेक्षा से किया गया है। इसके द्वारा ही नय निरुपण की सार्थकता को सिद्ध किया गया है-

"णायम्मि गिण्हियव्वे अगिण्हियव्वम्मि चेव अत्थम्मि।
जइयव्वमेव इह जो उवएसो सो नओ नाम॥
सव्वेसिं पि नयाणं बहुविहवत्तव्वयं निसामेत्ता।
तं सव्वनयविसुद्धं जं चरणगुणट्ठिओ साहू॥"[174]

अर्थात् इन नयों के द्वारा हेय और उपादेय अर्थ का ज्ञान प्राप्त करके तदनुकूल प्रवृत्ति करनी ही चाहिये। इस प्रकार का जो उपदेश है, वह (ज्ञान) नय कहलाता है।

इन सभी नयों की परस्पर विरुद्ध वक्तव्यता को सुनकर समस्त नयों से विशुद्ध सम्यक्त्व, चारित्र और ज्ञान गुण में स्थित होने वाला साधु (मोक्ष साधक) हो सकता है।

किसी पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को जानना ज्ञाननय है। ज्ञाननय से प्राप्त बोध के अनुसार जीवन में उसे उतारना क्रियानय है। ज्ञान प्रधाननय को भावनय तथा शब्द प्रधाननय को द्रव्यनय कहते हैं।

क्रिया से रहित ज्ञान निष्फल है तथा ज्ञान से रहित क्रिया भी कार्य साधक नहीं है। जैसे-अन्न आदि का ज्ञान होने पर भी भक्षण की क्रिया के अभाव में उदर पोषण नहीं होता। जैसे-अंधा और लंगड़ा मिलकर अपने गन्तव्य पर पहुँच सकते हैं, लेकिन पृथक्-पृथक् दोनों ही अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकते। अतएव ज्ञान व क्रिया के समुचित समन्वय से ही सिद्धि प्राप्ति हो सकती है।

निश्चयनय का प्रतिपादन भगवान महावीर ने ही किया था। उससे पूर्व प्रचलित पूर्व परम्परा में व्यवहारनय का ही प्रचलन था।

अध्यात्म जगत में भी निश्चयनय और व्यवहारनय को लेकर बहुत मतभेद दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु यह नयों के स्वरूप को यथार्थ रूप में न अपनाने का परिणाम है। निश्चयनय की दृष्टि साध्य को सुस्पष्ट करने के लिए है। वह साधक को उसका परम लक्ष्य बताती है। जबकि उस साध्य को प्राप्त करने के लिए व्यवहारनय का अवलम्बन लेना आवश्यक है। व्यवहार से ही वे साधन निसृत होते हैं, जो साधक को अपने परम लक्ष्य तक ले जा सकते हैं।

सत्य अनन्त पहलुओं वाला है, उसे किसी एक पहलू से नहीं समझा जा सकता है। एकांगी दृष्टि वस्तु को सही रूप में देखने में असमर्थ है। इसलिए जैन दर्शन ने नयों का विवेचन किया है।

"उभयनय विरोध ध्वंसिनि स्यात्पदांके
जिनवचारी रमंते ये स्वयं वांतमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षंत एव॥"[75]

अर्थात् निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों के विषय भेद से परस्पर विरोध है, उस विरोध का नाश करने वाला 'स्यात्' पद से चिह्नित जो जिन भगवान का वचन है, उसमें ये पुरुष रमते हैं, वे अपने आप ही मिथ्यात्व कर्म के उदय का वमन करके इस अतिशय रूप परम ज्योति प्रकाशमान शुद्ध आत्मा को तत्काल ही देखते हैं। वह समयसार रूप शुद्ध आत्मा नवीन उत्पन्न नहीं हुआ, अपितु पहले कर्मों से आच्छादित था, सो वह प्रगट व्यक्तिरूप हो गया है। वह सर्वथा एकान्तरूप कुनय के पक्ष से खण्डित नहीं होता, निर्बाध है।

इस प्रकार जैन दर्शन के नयवाद को सही रूप से समझ लेने पर समस्त विवादों का समाधान हो जाता है। नयवाद की यही उपयोगिता है। अनाग्रह ही स्याद्वादरूप अनेकान्त है और उसकी आधारशिला है नयवाद।

नयवाद में अनन्त धर्मों के अखण्ड पिण्ड रूप वस्तु के किसी एक धर्म को प्रधानता देकर कथन किया जाता है। उस समय वस्तु में शेष धर्म विद्यमान तो रहते हैं, लेकिन वे गौण हो जाते हैं। इस प्रकार सत्य के एक अंश का ग्रहण करने वाला ज्ञान ही नय है।

नयों द्वारा प्रदर्शित सत्यांश और प्रमाण द्वारा प्रदर्शित अखण्ड सत्य मिलकर ही वस्तु के वास्तविक और सम्पूर्ण स्वरूप के बोधक होते हैं। नयवाद जैन दर्शन का मौलिक एवं विलक्षण सिद्धान्त है।

संदर्भ सूची :

1. स्याद्वाद मंजरी - मल्लिषेणसूरि कारिका 12
2. वही, कारिका 15
3. तत्त्वार्थसूत्र 1/6, उमास्वाति
4. प्रवचनसार-आचार्य कुन्दकुन्द, गाथा 27
5. वही, 35
6. वही, 29
7. वही, 21
8. वही, 28
9. स्थानांग सूत्र 2/1/71
10. तत्त्वार्थ सार-अमृतचन्द्र, अधिकार 1, गाथा 15
11. न्यायसूत्र - महर्षि गौतम, 1/1/2
12. तत्त्वार्थसार, अमृतचन्द्र, 1/15 की टीका
13. चरक संहिता, चरक, विमान स्थान, 8/47
14. न्यायावतार टिप्पण, पृ॰ 148-151, सिद्धसेन दिवाकर
15. चरक संहिता, चरक विमान स्थान, अ॰ 4, 8/84
16. तत्त्वार्थसार : आचार्य अमृतचंद्र, 1/18
17. न्यायावतार, सिद्धसेन दिवाकर, गाथा 1
18. प्रमाणनय तत्त्वालोक, वादिदेवसूरि, 1/2
19. ब्रह्मसूत्र का शांकर भाष्य, शंकराचार्य 2/1/9
20. प्रमाण मीमांसा, आचार्य हेमचन्द्र, सूत्र 2
21. प्रमाण नय तत्त्वालोक, वादिदेव सूरि 6/1
22. तत्रानन्तर्येण सर्वप्रमाणानामज्ञाननिवृत्तिः फलम् ॥ 3॥ प्रमाण नय तत्त्वालोक, वादिदेवसूरि, 6/3

23. प्रमाण नय तत्त्वालोक, वादिदेवसूरि 6/4
24. शेष प्रमाणानां पुनरुपादान हानोपेक्षाबुद्धयः॥ 5॥ प्रमाण नय तत्त्वालोक, वादिदेवसूरि 6/5
25. राजप्रश्नीयसूत्र, सूत्र 165
26. उत्तराध्ययनसूत्र, 23/33
27. भगवती सूत्र, 88/2/317
28. राजप्रश्नीय, सूत्र 165
29. स्थानांगसूत्र सूत्र, सूत्र 71
30. तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, 1/10-12
31. प्रमाणनय तत्त्वालोक, वादिदेवसूरि 2/19
32. "एवं अट्ठावीसइविहस्स अभिनिबोहियनाणस्स" नन्दीसूत्र, 35
33. स्थानांग में ये दो भेद मिलते हैं, किन्तु वह नन्दी सूत्र से प्रभावित हो तो कोई आश्चर्य नहीं। स्थानांग सूत्र
34. नन्दी सूत्र, देवर्द्धिगणि, सूत्र 1-5, 26, 36
35. एगन्तेणं परोक्खं तिंगियमोहाइयं च पच्चक्खं।
इन्द्रियमणो भवं जं तं सं ववहार पच्चक्खं॥ विशेषावश्यक 95, इसकी स्वोपज्ञवृत्ति।
36. प्रवचनसार, कुन्दकुन्दाचार्य, गाथा 58
37. भगवती सूत्र, 5/3/191-192
38. स्थानांगसूत्र, सू॰ 338
39. चरक संहिता, चरक, विमानस्थान 8/33
40. चरक संहित, चरक, 8/41
41. स्थानांग सूत्र, सूत्र 258
42. चरक संहिता, चरक, विमान स्थान 8/84
43. स्थनांग सूत्र, सूत्र 185
44. सन्मतिटीका, अभयदेवसूरि, पृ॰ 520
45. न्यायवतारः, सिद्धसेन दिवाकर, सूत्र 4
46. अनेकान्त ज॰टी॰, हरिभद्रसूरि, पृ॰ 142, 215
47. प्रमाण नय- तत्त्वालोक, वादिदेवसूरि, सू॰ 2
48. अनुयोगद्वार सूत्र, आर्यरक्षित स्थविर, सू॰ 75
49. वही, 92
50. वही, 313
51. वही, 427
52. वही, 428, 435, 436
53. वही, 437, 438, 439
54. वही, 440
55. वही, 458

56. वही, 467
57. तत्त्वार्थसूत्र, वाचक उमास्वाति, 1/10, 11, 12
58. Pr-Dinnaga Buddhist Texts : Intro. P. XVII
59. प्रमाण नय तत्त्वालोक, वादिदेवसूरि 1/18
60. वही, 1/19
61. प्रमाणनयतत्त्व रत्नावतारिका, यशोविजय 1/20
62. प्रमाण मीमांसा, हेमचन्द्रसूरि 1/8
63. प्रमाण नय तत्त्वालोक, वादिदेवसूरि 1/19
64. वही, 1/7, 8
65. वही 1/9
66. रस्सी में साँप का ज्ञान होता है, वह वास्तव में ज्ञान द्वय का मिश्रित रूप है। रस्सी का प्रत्यक्ष और साँप की स्मृति। दृष्टा इन्द्रिय आदि के दोष से प्रत्यक्ष और स्मृति विवेक भेद को भूल जाता है, यही अख्याति या विवेकाख्याति है।
67. रस्सी में साँप का ज्ञान होता है, वह सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है, इसलिए अनिर्वचनीय सदसत् विलक्षण है। वेदान्ती किसी भी ज्ञान को निर्विषय नहीं मानते, इसलिए इनकी धारणा है, कि भ्रमज्ञान में एक ऐसा पदार्थ उत्पन्न होता है, जिसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता।
68. ज्ञान रूप आन्तरिक पदार्थ की बाह्य रूप में प्रतीति होती है, यानी मानसिक विज्ञान ही बाहर सर्पाकार में परिणत हो जाता है, यह आत्मख्याति है।
69. दृष्टा इन्द्रिय आदि के दोष वश रस्सी में पूर्वानुभूत साँप के गुणों का समारोप करता है, इसलिए उसे रस्सी सर्पाकार दिखने लगती है। इस प्रकार रस्सी का साँप के रूप में जो ग्रहण होता है, वह विपरीत ख्याति है।
70. प्रमाणमीमांसा, आचार्य हेमचंद्र, 1/5
71. प्रमाण नयतत्त्वालोक, वादिदेव सूरि 1/13
72. प्रज्ञापना सूत्र, श्यामाचार्य 23/1/1667
73. वही, 23/1/1667
74. प्रमाणनयतत्त्वरत्नावतारिका, यशोविजय 1/7/8
75. प्रज्ञापना सूत्र, श्यामाचार्य, 23/1/1679
76. वही, 23/1/1667
77. अनुयोगद्वार, आर्यरक्षित, सूत्र 126
78. नन्दीसूत्र, देवर्द्धिगणि, सूत्र 25
79. अनुयोगद्वार, आर्यरक्षित, सूत्र 126
80. जैन सिद्धान्त दीपिका, 8/4
81. प्रमाण मीमांसा, हेमचन्द्रसूरि 1/9, 10
82. प्रमाण नय तत्त्वालोक, वादिदेवसूरि, 2/2
83. प्रवचनसार, कुन्दकुन्दाचार्य, गाथा 58

84. सर्वार्थसिद्धि, पूज्यपादस्वामी, पृ० 59
85. परदव्वं ते अक्खा णेव सहावोत्ति अप्पणो भणिदा
उवलद्धं तेहि कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि॥ प्रवचनसार, गा० 57
86. तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, 1/13
87. प्रमाणनय तत्त्वालोक, वादिदेवसूरि 2/5
88. आवश्यक निर्युक्ति, भद्रबाहु, गा० 5
89. तत्त्वार्थ सूत्र, उमास्वाति, 1/15
90. वही, 1/16
91. नन्दीसूत्र, मलयगिरी टीका, पृ० 183
92. तत्त्वार्थसूत्र, राजवार्तिक टीका 1/16
93. वही 1/16
94. नन्दीसूत्र, मलयगिरी टीका, पृ० 183
95. तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, 1/17
96. प्रवचनसार, कुन्दकुन्दाचार्य, गाथा 57
97. नन्दीसूत्र, देवर्द्धिगणि, सूत्र 27
98. वही, 28
99. तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, 2/17
100. नंदीसूत्र, देवर्द्धिगणि, सू० 29
101. प्रमाणनय तत्त्वालोक, वादिदेवसूरि 2/18
102. नो इंदियपच्चक्खं तिविहं पण्णत्तं, तंजहा-ओहिनाणपच्चक्खं 1, मणपज्जवनाण पच्चक्खं 2, केवलनाणपच्चक्खं 3। - नन्दीसूत्र, देवर्द्धिगणि, 5
103. णोइंदिय पच्चक्खे तिविहे पं.। तं - ओहिणाणपच्चक्खे, मणपज्जवणाण पच्चक्खे, केवलणाणपच्चक्खे। से तं णोइंदियपच्चक्खे। से तं पच्चक्खे। - अनुयोगद्वार सूत्र, आर्यरक्षित, सू० 439
104. प्रवचनसार, कुन्दकुन्दाचार्य, गाथा 54
105. प्रमाण-नय-तत्त्वालोक, वादिदेवसूरि, 2/19
106. वही, 2/21
107. नन्दीसूत्र, देवर्द्धिगणि, सूत्र 6
108. वही, 7
109. वही, 8
110. वही, 9
111. वही, 10
112. वही 11-15
तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, 1/21-23
113. नन्दीसूत्र, देवर्द्धिगणि, सूत्र 18, गाथा 65
114. ऋजु विपुलमति मनः पर्ययः। तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति 1/24

115. प्रवचनसार, कुन्दकुन्दाचार्य, सूत्र 59
116. आचारांगसूत्र, 1/23
117. प्रवचनसार, कुन्दकुन्दाचार्य, 51
118. तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, 1/27
119. वही, 1/28
120. वही, 1/29
121. वही, 1/30
122. वही, 1/31
123. प्रवचनसार, कुन्दकुन्दाचार्य, गाथा 58
124. 'आद्ये परोक्षम्', तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, 1/10
125. मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्॥ तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, 1/13
126. प्रमाण मीमांसा, हेमचन्द्राचार्य, 1/2/1
127. प्रमाणनय तत्त्वालोक, वादिदेवसूरि, 3/1
128. प्रमाणनय तत्त्वालोक, वादिदेवसूरि, 3/2
129. वही, 3/3
130. न्यायमंजरी, भट्टजयंत, पृ॰ 23
131. प्रमाण मीमांसा, आचार्य हेमचन्द्र, 1/2/4
132. वही, 1/2/5
133. वही, 1/2/7
134. प्रमाण नय तत्त्वालोक, वादिदेवसूरि, 3/11
135. वचही, 3/14
136. अनुयोगद्वार सूत्र, आर्यरक्षित, 440
137. वही, 441
138. उपायहृदय, नागार्जुन, पृ॰ 13
139. अनुयोगद्वार सूत्र, आर्यरक्षित, सू॰ 442
140. वही, 448
141. वही, 451-453
142. दशवैकालिकनिर्युक्ति, भद्रबाहु, गाथा 49, 50, 89-92, 137
143. प्रमाणनय तत्त्वालोक, वादिदेव सूरि, 3/11
144. वही, 3/30-31
145. स्थानांग सूत्र 4/3/504
146. वैशेषिक सूत्र, वात्स्यायन, 3/1/9
147. वही, 3/1/13
148. वही, 3/1/12
149. वही, 3/1/11
150. वही, 1/2/1

151. अनुयोगद्वार सूत्र, आर्यरक्षित, सू० 458
152. वही, 458-466
153. वही, 467
154. वही 470
155. दशवैकालिक निर्युक्ति, भद्रबाहु, सू० 49
156. मूलाचार, वट्टकेराचार्य, 5/80
157. नंदीसूत्र, विजयदानसूरि संशोधित चूर्णि, पृ० 111
158. जैनसूत्राज़, डॉ० हर्मन जैकोबी, प्रस्तावना, पृ० 44
159. नन्दीसूत्र, विजयदान सूरि संशोधित चूर्णि, पृ० 109
160. षट्खण्डागम (धवलाटीका) पु० 1, पुष्पदन्त, पृ० 114
161. जैन सूत्राज़, भाग 1, (कल्पसूत्र 5)- डॉ० हर्मन जैकोबी, पृ० 268
162. न्यायावतार:, सिद्धसेन दिवाकर, सू० 29
163. प्रमाणनय तत्त्वालोक, वादिदेवसूरि 7/2
164. वही, 7/3
165. वही 7/5-45
166. तत्त्वार्थ सूत्र, वाचकउमास्वाति, 1/34
167. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा 2264-67
168. समयसार, कुन्दकुन्दाचार्य, गाथा 11
169. सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरिसीहिं।-समयसार, कुन्दकुन्दाचार्य, गाथा 12
170. समयसार, कुन्दकुन्दाचार्य, गाथा 6
171. वही, 12
172. वही, 8
173. वही, 414
174. अनुयोगद्वार सूत्र, आर्य रक्षित, गाथा 606
175. समयसार टीका (आत्मख्याति), अमृतचन्द्राचार्य, गाथा 4

तत्त्व मीमांसा

विश्व के बाह्य और आन्तरिक स्वरुप के संबंध में तथा उसके सामान्य एवं व्यापक नियमों के सम्बन्ध में जो तात्विक दृष्टि से विचार किए जाते हैं, उनको तत्व मीमांसा के अन्तर्गत रखा जाता है। विचार करना मानव-स्वभाव है, अतएव प्रत्येक देश में निवास करने वाली प्रत्येक प्रकार की मानव प्रजा में इस प्रकार के विचार अल्प या अधिक मात्रा में उद्‌भूत होते ही हैं।

मानव जब प्रकृति की गोद में आया तब यह विश्व अद्‌भुत और चमत्कारी वस्तुओं तथा घटनाओं से परिपूर्ण एक अप्रतिम कृति के रुप में उसके समक्ष प्रस्तुत था। एक ओर सूर्य, चन्द्र और अगणित तारामंडल तथा दूसरी ओर समुद्र, पर्वत, विशाल नदी प्रवाह, मेघ गर्जनाएं और विद्युत चमत्कारों ने मानव की जिजिविषा को जाग्रत किया। ज्यों-ज्यों मानव का बौद्धिक विकास हुआ, वह इन विविधताओं एवं आश्चर्यों से परिपूर्ण स्थूल बाह्य जगत के सूक्ष्म चिन्तन में प्रवृत्त हुआ। मानव-मस्तिष्क के बाह्य विश्व के गूढ़ तथा अतिसूक्ष्म स्वरुप के विषय में और उनके सामान्य नियमों के विषय में विविध प्रश्न उठने लगे। जैसे कि यह अद्‌भुत विविधताओं से परिपूर्ण जगत कहाँ से आया? किसने इसका निर्माण किया? मनुष्य स्वयं कहाँ से आया है और कहाँ जाएगा? ये सब चिर स्थायी और शाश्वत है अथवा नश्वर है? आदि-आदि। इन प्रश्नों की उत्पत्ति ही तत्वज्ञान के उद्‌भव का प्रथम सोपान है।

पूर्वी तथा पश्चिमी तत्वज्ञान की प्रकृति की तुलना:- भौगोलिक, सांस्कृतिक एवं दार्शनिक अभिरुचियों की समानता एवं असमानता के आधार पर दर्शन को दो भागों में विभाजित किया जाता है। भारतीय अथवा पूर्वी दर्शन तथा पाश्चात्य अथवा पश्चिमी दर्शन का तत्वज्ञान केवल जगत, जीव और ईश्वर के स्वरुप चिन्तन में ही पूर्ण नहीं होता, अपितु उनमें चारित्र का विचार भी सम्मिलित होता है। अल्प या अधिक अंश प्रत्येक तत्वज्ञान अपने में जीवन शोधन की विविध मीमांसा का समावेश करता है। फिर भी पूर्वी तथा पाश्चात्य तत्व ज्ञान के विकास में थोड़ी भिन्नता भी है।

ग्रीक तत्व चिन्तन का प्रारंभ केवल विश्व के स्वरुप संबंधी प्रश्नों से होता है। आगे जाकर क्रिश्चियेनिटी के साथ इसका संबंध होने पर इसमें जीवन शोधन का भी प्रश्न समाविष्ट होता है। इसके विपरीत भारतीय अथवा आर्य तत्वज्ञान के इतिहास में यह विशेषता है, कि इसका प्रारंभ ही जीवन शोधन के प्रश्न से होता है। तत्वज्ञान की

वैदिक, बौद्ध और जैन इन तीन मुख्य शाखाओं में समान रीति से विश्व-चिन्तन के साथ ही जीवन-शोधन का चिन्तन संकलित है।

पाश्चात्य दर्शन में नीतिदर्शन के अन्तर्गत नैतिक मानदण्डों के आधार पर जीवन शोधन को सम्मिलित किया जाता है। जीवन-शोधन दर्शन का एक अंश मात्र होता है, दर्शन का उद्देश्य अथवा परिणति नहीं। जबकि कोई भी पूर्वी दर्शन ऐसा नहीं, कि जो केवल विश्व चिन्तन करके ही संतोष धारण करता हो। प्रत्येक मुख्य या शाखारुप पूर्वी दर्शन जगत, जीवन और ईश्वर संबंधी अपने विशिष्ट विचार दिखला करके अंत में जीवन-शोधन की प्रक्रिया दिखला कर ही अपने दार्शनिक विवेचन को पूर्ण करता है। तात्पर्य यह है, कि पूर्वी दर्शनों में उनका संपूर्ण दर्शन ही जीवन-शोधन के प्रश्न के गिर्द पल्लवित होता है। इसीलिए हम पूर्वी दर्शनों में प्रत्येक दर्शन के मूल ग्रन्थ में प्रारंभ में मोक्ष का उद्देश्य और अंत में उसका ही उपसंहार देखते हैं। जैसे कि वेदान्तसार में-

प्रारंभ ''अखंडं सच्चिदानन्दमवाङ्मानसगोचरम्,
आत्मानमखिलाधारमाश्रये भीष्टसिद्धये।''
समाप्ति - ''विमुक्तश्च विमुच्यते इत्यादि श्रुतेः''[12]

सांख्यकारिका में -

प्रारंभ - ''दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हैतो।''[13]

समाप्ति - ऐकान्तिक मात्यन्तमुभयं कैवल्यामाप्नोति।[14]

जैन दर्शन में :

प्रारंभ - 'निब्बाण सेट्ठा जह सव्व धम्मा।'[15] सूत्रकृतांग अ० 6

समाप्ति - 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।'[16] तत्त्वार्थ 1/1

इस प्रकार समस्त पूर्वी दर्शनों में जीवन शोधन एवं मुक्तिलाभ के लक्ष्य को समान रूप से स्वीकार किया गया है। जबकि पाश्चात्य दर्शनों में आवश्यक रूप से मोक्ष तत्त्व को सम्मिलित नहीं किया गया है। जीवन-शोधन का विचार भी नैतिक दर्शन का अंश मात्र है। पूर्वी दर्शनों की भाँति वहाँ संपूर्ण दर्शन अर्थात तत्त्वज्ञान, प्रमाण शास्त्र आदि दर्शन की सभी शाखाओं का विकास जीवन-शोध के निमित्त से न होकर केवल मनवीय जिज्ञासा के फलस्वरूप हुआ है। पाश्चात्य दर्शनों में तत्त्व चिंतन का विकास भी जगत के मौलिक स्वरूप तथा उसके आधारभूत तत्त्वों को जानने की जिज्ञासा के फलस्वरूप हुआ है। जबकि पूर्वी दर्शनों के अन्तर्गत आत्मा के मूल स्वरूप को संपूर्ण रूप से जानने एवं उसको प्राप्त करने के उद्देश्य से तत्त्वज्ञान का विकास हुआ है।

भारतीय (पूर्वी) दर्शन में तत्त्व-विचार का स्वरूप : भारतीय दर्शन आध्यात्मिक चिंतन से ओत-प्रोत है। किन्तु मानव जिस भौतिक जगत में रहता है,

उससे परे जाकर नहीं वरन् वहीं से उसका दार्शनिक चिंतन प्रारम्भ होता है, जिसकी अन्तिम परिणति भौतिक जगत से परे हो सकती है। मानव मस्तिष्क ने विश्व के स्वरूप को विविध आयामों से जानने का प्रयास किया है। इसका साक्षी ऋग्वेद से लेकर उपनिषद् और बाद का समस्त दार्शनिक सूत्र और टीका साहित्य है। इनके अतिरिक्त जैन और बौद्ध दर्शन भी इसी बात का प्रमाण है।

ऋग्वेद के दीर्घतमा ऋषि विश्व के मूल कारण और स्वरूप की खोज में लीन होकर प्रश्न करते हैं, कि इस विश्व की उत्पत्ति कैसे हुई है, इसे कौन जानता है? कोई ऐसा जो जानकार से पूछकर पता लगावे? वह फिर कहते हैं, कि मैं तो नहीं जानता, किंतु खोज में इधर-उधर विचरता हूँ, तो वचन के द्वारा सत्य के दर्शन होते हैं। खोज करते दीर्घतमा ने अन्त में कह दिया कि, "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।" सत् तो एक ही है, किन्तु विद्वान् उसका वर्णन कई प्रकार से करते हैं। अर्थात् एक ही तत्त्व के विषय में नाना प्रकार से विवेचन किया गया है।

दीर्घतमा के इस उद्‌गार में ही मनुष्य स्वभाव की उस विशेषता का हमें दर्शन होता है, जिसे हम समन्वयशीलता कहते हैं। इसी समन्वयशीलता का शास्त्रीय रूप जैन दर्शन सम्मत स्याद्वाद या अनेकान्तवाद है।

नासादीय सूक्त के एक ऋषि जगत के आदि कारण रूप उस परम गंभीर तत्त्व को जब न सत् कहना चाहते हैं और न असत्। तब यह नहीं समझना चाहिये कि, वह ऋषि अज्ञानी या संशयवादी थे, अपितु इतना ही समझना चाहिये, कि ऋषि के पास उस परम तत्त्व के प्रकाशन के लिए उपयुक्त शब्द न थे। शब्द की इतनी शक्ति नहीं है, कि वह परम तत्त्व को संपूर्ण रूप से प्राकाशित कर सके। इसलिए ऋषि ने कह दिया, कि उस समय न सत् था न असत्। शब्द-शक्ति की इस मर्यादा के स्वीकार में से ही स्याद्‌वाद का और अस्वीकार में से ही एकान्तवादों का जन्म होता है।

विश्व के कारण की जिज्ञासा में से अनेक विरोधी मतवाद उत्पन्न हुए। जगत का मूल कारण क्या है? वह सत् है और असत्? सत् है तो पुरुष है या पुरुषेतर-जल, वायु, अग्नि, आकाश आदि में से कोई एक है या फिर सभी?

प्रत्येक दर्शन अपने-अपने दृष्टिकोण से इन तत्त्वमीमांसीय समस्याओं का समाधान करने का प्रयास करता है। विभिन्न दार्शनिक अपनी बौद्धिक व आध्यात्मिक पहुँच के अनुरूप ही विभिन्न रूपों में परमसत्ता का विवेचन करते हैं। उसी परमसत्ता के आधार पर ही संपूर्ण दृष्टि का विवेचन करते हैं। कुछ दार्शनिक एक ही परमसत्ता में विश्वास करते हैं, यथा अद्वैतवेदान्ती एकमात्र ब्रह्म को ही मूल सत्ता मानते हैं। कुछ दर्शनों में अनेकात्मक सत्ता का प्रतिपादन किया गया है, तो कोई दो परमसत्ताओं यथा जड़ व चेतन में विश्वास करते हैं, जैसे सांख्य दर्शन। इसके अतिरिक्त स्वरूप की दृष्टि से कुछ दार्शनिक सत्ता को परिवर्तनशील मानते हैं, तो कुछ कूटस्थ नित्य ही मानते हैं।

उपर्युक्त मतों में सत्ता के स्वरूप का विवेचन एकान्तिक रूप से ही किया गया है। जैन दर्शन में सत्ता का स्वरूप समन्वयात्मक है, जो उनके अनेकान्तवाद पर आधारित है।

जैन तत्त्व विचार की प्राचीनता : वैदिक और बौद्ध दार्शनिक पूर्व भूमिका के पश्चात् जैन दर्शन के तत्त्व विचारों का विवेचन करेंगे। चूँकि जैनदर्शन किसी एक दार्शनिक द्वारा प्रणीत नहीं है। वरन् जैन अनुश्रुति के अनुसार 24 तीर्थंकर जैन दर्शन के प्रणेता हैं। प्रत्येक तीर्थंकर अपने समय में परम्परा से चले आ रहे दार्शनिक सिद्धान्तों को ही अपने कालानुसार नवीन रूप से प्रतिपादित करते रहे हैं। यद्यपि सभी के द्वारा प्रणीत दार्शनिक परम्परा एक सी ही होती है। प्रत्येक तीर्थंकर अपने से पूर्व हुए तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित परम्परा को ही पुनरुत्थित करते हैं। फिर भी वह सर्वथा मौलिक ही होता है, क्योंकि प्रत्येक तीर्थंकर अपने आत्मज्ञान के द्वारा समस्त विषयों को जानते हैं, केवलज्ञान के रूप में और उस स्वज्ञान को प्रतिपादित करते हैं। पूर्व के तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिपादित ज्ञान को श्रुति द्वारा जानकर उसका प्रचार नहीं करते। चूँकि केवल ज्ञान अथवा आत्मज्ञान संपूर्ण ज्ञान है, उसका स्वरूप एक ही है। अतः दीर्घकालीन अन्तराल के बावजूद सभी तीर्थंकरों ने एक ही दार्शनिक परम्परा को प्रतिपादित किया है।

इस प्रकार संपूर्ण जैन दर्शन की भाँति ही जैन तत्त्व-विचार भी भगवान महावीर के पूर्व से ही विद्यमान थे। जैन अनुश्रुति के अनुसार भगवान महावीर ने किसी नये तत्त्व दर्शन का प्रतिपादन नहीं किया था वरन् उनसे 250 वर्ष पहले होने वाले तीर्थंकर पार्श्वनाथ के तत्त्व विचार का ही प्रचार किया है। भगवान पार्श्वनाथ द्वारा प्ररुपित आचार परम्परा में तो भगवान महावीर ने कुछ परिवर्तन किए, जिसका ज्ञान हमें आगमों से ही होता है। किंतु पार्श्वनाथ के तत्त्वज्ञान से उनका कोई मतभेद जैनागमों में भी नहीं बताया गया है। इससे यह सिद्ध हो जाता है, कि जैन तत्त्व विचार के मूल तत्त्व पार्श्वनाथ जितने तो पुराने अवश्य हैं।

जैन अनुश्रुति तो इसे इससे भी आगे ले जाती है। उसके अनुसार अपने से पहले हुए श्री कृष्ण के समकालीन तीर्थंकर अरिष्टनेमि ने प्रागैतिहासिक काल में होने वाले नमिनाथ की परम्परा को स्वीकार किया। इस प्रकार वह अनश्रुति हमें ऋषभदेव जो कि भरत चक्रवर्ती के पिता थे, तक पहुँचा देती है। वर्तमान वेद से लेकर उपनिषद् पर्यंत संपूर्ण साहित्य का मूल स्रोत ऋषभदेव प्रणीत जैन तत्त्व-विचार में ही है।

इस जैन अनुश्रुति के प्रामाण्य को ऐतिहासिक दृष्टि से सिद्ध करना संभव नहीं है, क्योंकि मध्यकालीन तीर्थंकरों का संपूर्ण विवेचन हमें प्राप्त नहीं होता है। फिर भी ऋषभदेव की प्रामाणिकता तो वेदों एवं पुरातात्विक आधारों पर सिद्ध हो ही चुकी है। अतः अनुश्रुति प्रतिपादित जैन तत्त्व विचार की प्राचीनता में संदेह का कोई स्थान नहीं है। जैन तत्त्व विचार की स्वतंत्रता इसी से सिद्ध है, कि उपनिषदों में अन्य दर्शन-शास्त्र

के बीज मिलते हैं, जबकि जैन तत्त्वविचार के बीज नहीं मिलते। इस प्रकार जैन दर्शन का उपनिषद्-प्रतिपादित अनेक मतों से पार्थक्य और स्वातंत्र्य स्वयंसिद्ध है।

जैन दर्शन में तत्त्व-मीमांसा (द्रव्य-विचार) : तत्त्व अथवा द्रव्य का बोध जीवन की प्रक्रिया का मूलभूत अंग है। श्रमण संस्कृति में तत्व निरुपण का उद्देश्य मात्र जिज्ञासा पूर्ति नहीं है, वरन् चारित्र लाभ है। इस ज्ञानधारा का उपयोग, साधक आत्मविशुद्धि के लिए और प्रतिबन्धक तत्त्वों के उच्छेद के लिए करता है।

जैन धर्म वैज्ञानिक धर्म है। उसका साहित्य निगूढ़ वैज्ञानिक मीमांसा प्रस्तुत करता है। द्रव्य व्यवस्था जैन विज्ञान का विलक्षण आविष्कार है। आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधान जैन विज्ञान के अकाट्य तथ्यों की सत्यता को प्रमाणित करता जा रहा है। जैन तत्त्वज्ञान और आधुनिक विज्ञान की समताएँ अनेक बार विद्वानों के विस्मय का विषय बन जाती हैं। भौतिक साधनों द्वारा तत्त्व अन्वेषण करने वाले वैज्ञानिकों से आत्मज्ञानी महात्मा कहीं आगे भी बढ़ गये, यही तो आत्म साक्षात्कार करने वाले दिव्य द्रष्टाओं का चमत्कार है।

जहाँ दोनों के तत्त्व निरुपण में बहुत कुछ साम्य है, वहीं से दोनों के उद्देश्य में बहुत बड़ा वैषम्य भी है। जैन धर्म के अनुसार तत्त्वज्ञान मुक्ति लाभ का एक अनिवार्य साधन है, जबकि विज्ञान का लक्ष्य विज्ञान ही है। अर्थात् विज्ञान का अन्वेषण केवल यह जानने के लिए होता है, कि वह परम तत्त्व अथवा परमसत्ता क्या है, जिसके आधार पर यह विविध रुपात्मक सृष्टि संरचित है, अवस्थित है और गतिमान है।

लोक व्यवस्था का आधार - (सत्ता का स्वरूप) : जैन दर्शन में इस लोक व्यवस्था के मौलिक आधार अथवा परमसत्ता को द्रव्य कहा गया है। अब प्रश्न उठता है, कि 'द्रव्य क्या है?' द्रव्य शब्द द्रव्य धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है, द्रवित होना, प्रवाहित होना संसार के समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं, समय पाकर नष्ट होते हैं, फिर भी उनका प्रवाह सतत गति से चलता ही रहता है। इस प्रकार सत्ता का स्वरूप उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यात्मक कहा गया है।[10] उत्पन्न होना, नष्ट होना एवं अपने मूल स्वरूप में ध्रुव रहना, यही द्रव्य है।

"दव्वं सल्लक्खणियं उप्पाद व्वय धुवत्तसंजुतं।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू॥"[11]

अर्थात् जो सत् लक्षण वाला है, जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त है अथवा जो गुण पर्यायों का आश्रय है, उसे सर्वज्ञ द्रव्य कहते हैं।

समस्त द्रव्यों का एक सामान्य लक्षण सत् है। सत् अस्तित्व का सूचक है और अस्तीत्व स्वभाव को ही सत्ता कहते हैं। इस प्रकार अस्तित्व सामान्य की दृष्टि से सब द्रव्य एक हो जाते हैं। अर्थात् जगत की एक ही मूल सत्ता है और वह द्रव्य है। प्रत्येक द्रव्य की सामान्य सत्ता उसी द्रव्य में विद्यमान रहती है। सत्ता और द्रव्य पृथक्-पृथक्

नहीं है, उनमें बाह्य संबंध नहीं है। ऐसा कभी नहीं है, कि अस्तित्व बिछी हुई चादर की तरह एक अखण्ड चीज हो और उस पर बैठे हुए मनुष्यों की तरह सब द्रव्य हों जो उस सत्ता सामान्य को स्वीकार करते हुए भी उससे पृथक् है।

द्रव्य तथा सत्ता तो सूर्य एवं उसके प्रकाश के समान है। कोई भी द्रव्य सत्ता विहिन न तो कभी हुआ है, न ही है और न ही होगा, क्योंकि सत्ता द्रव्य का स्वभाव है। जो सत्ताविहीन है, वह द्रव्य ही नहीं है, जैसे वंध्यापुत्र। इस प्रकार सत्ता के रूप में द्रव्य को स्वीकार किया गया है। यद्यपि समस्त द्रव्य पृथक्-पृथक् अस्तित्त्वमान है, किन्तु अस्तित्व सामान्य की दृष्टि से अर्थात् सभी द्रव्यों में एक ही प्रकार की सत्ता होने से सब द्रव्य एक तथा उनकी सत्ता भी एक कही गई है।[12]

द्रव्य प्रतिक्षण परिणमन करता है। वह एक पर्याय रूप से नष्ट होकर अन्य पर्याय रूप में उत्पन्न होता है, फिर भी अपने मूल स्वरूप में ध्रुव ही रहता है। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है, कि किसी भाव अर्थात् सत् का आत्यांतिक विनाश नहीं होता और न ही किसी अभाव अर्थात् असत् का उत्पाद होता है। सभी द्रव्य अपने गुण और पर्याय रूप से उत्पाद, व्यय करते रहते हैं। लोक में जितने सत् (द्रव्य) हैं, वे त्रैकालिक सत हैं। उनकी संख्या में परिवर्तन नहीं होता। उनकी गुण-पर्यायों में परिवर्तन अवश्यम्भावी है, उसका कोई अपवाद नहीं हो सकता।

द्रव्य के इस उत्पाद-व्यय ध्रौव्यात्मक स्वरुप को एक उदाहरण के द्वारा बहुत अच्छी तरह समझा जा सकता है। जैसे एक स्वर्णकार एक स्वर्णकंगन को गलाकर उससे स्वर्णहार बनाता है। तब हार की उत्पत्ति होती है, कंगन का नाश होता है तथा दोनों ही अवस्थाओं में मूल तत्व स्वर्ण स्थिर रुप से विद्यमान रहता है।

तात्पर्य यह है, कि उत्पत्ति और विनाश की अविरत गतिशील धारा में भी पदार्थ का मूल स्थयी रहता है। इसी ज्ञान को भगवान महावीर ने 'मातृका त्रिपदी'[13] कहा है। इन तीन अंशों का समन्वय होना ही सत् का लक्षण है। इस असीम और अनन्त विश्व का कण-कण तीनों अंशों से समन्वित है, जिसमें यह तीनों अंश नहीं, ऐसी वस्तु की सत्ता संभव नहीं है।

हम जिसे वस्तु कहते हैं, उसमें तीन अंश विद्यमान होते हैं- द्रव्य, गुण और पर्याय।[14] वस्तु का नित्य अंश द्रव्य है, सहभावी अंश गुण है तथा क्रमभावी अंश पर्याय है। एक उदाहरण द्वारा इन तीनों का स्वरुप समझें- जीव द्रव्य है, उसका सदा विद्यमान रहने वाला ज्ञान, चैतन्य गुण है और मनुष्य, पशु, कीट, पतंग आदि दशाएँ पर्याय हैं। यह तीनों अंश सदैव परस्पर अनुस्यूत रहते हैं और वस्तु कहलाते हैं। संक्षेप में द्रव्य वह है, जो गुण और पर्याय से युक्त हो, अथवा जो उत्पाद और विनाश से युक्त होकर भी अपने मूल स्वभाव का त्याग न करने के कारण ध्रुव हो।

वस्तुओं में पायी जाने वाली भिन्नता दो प्रकार की होती है-'अन्यत्वरुप' तथा

'पृथक्रुप'। दूध और दही की भिन्नता अन्यत्व रुप और कागज तथा कलम की भिन्नता पृथकत्व रुप है। दूध और दही के पर्याय में अन्तर है, मगर मूल द्रव्य-प्रदेशों में नहीं, जबकि कागज और कलम के प्रदेश मूलतः पृथक्-पृथक् हैं। मनुष्य बालक है, युवा है, वृद्ध है। इन दशाओं में अन्यत्व तो है, किन्तु पृथकत्व नहीं, क्योंकि इन तीन अवस्थाओं में मूलतः मनुष्य एक ही है।

द्रव्य, गुण और पर्याय में भी पृथकत्व रुप भिन्नता नहीं हैं। द्रव्य की वह अनादिनिधन शक्तियाँ जो द्रव्य में व्याप्त होकर वर्तमान रहती है, गुण कहलाती हैं, और उत्पन्न-विनष्ट होने वाले विविध परिणाम 'पर्याय' कहलाते हैं। इन दोनों का समूह द्रव्य कहलाता है।

मौलिक एवं तात्विक दृष्टि से विश्व का विश्लेषण किया जाए, तो दो द्रव्य उपलब्ध होते हैं- चेतन और जड़।[1] कतिपय दार्शनिक जगत के मूल में एक मात्र चैतन्यमय तत्व की सत्ता अंगीकार करते हैं, तो दूसरे एक मात्र जड़ तत्व की। लेकिन जैन दर्शन न अद्वैतवादी हैं, और न अनात्मवादी। अतएव वह दोनों तत्वों के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करता है। जड़ तत्व में इतनी विविधता और व्यापकता है, कि उसे समझने के लिए थोड़े पृथक्करण की आवश्यकता होती है। अतः उसको पांच भागों में विभक्त कर दिया गया है। जीव के साथ उन पाँच प्रकार के अजीवों की गणना करने से सत् पदार्थों अथवा द्रव्यों की संख्या छह हो जाती है, जो निम्नलिखित है- 1. जीव, 2. पुद्गल, 3. धर्मास्तिकाय, 4. अधर्मास्तिकाय, 5. आकाश, 6. काल।

यह समग्र चराचर लोक इन्हीं षट्द्रव्यों का प्रपंच है। इनके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। द्रव्य नित्य है, अतएव लोक भी नित्य है। उसका किसी भी भौतिक लोकोत्तर शक्ति द्वारा निर्माण नहीं किया गया है। उनके कारणों से समय-समय पर उसमें परिवर्तन हुआ करते हैं, किन्तु मूल-द्रव्यों का न नाश होता है और न उत्पाद ही। इसी कारण जैन धर्म अनेक परमात्मा (मुक्त-आत्माओं) की सत्ता स्वीकार करता हुआ भी उन्हें सृष्टि कर्ता नहीं मानता।

जीव, पुद्गल आदि को द्रव्य कहने का कारण, उनका विविध परिणामों से द्रवित होना है। परिणाम या पर्याय के बिना द्रव्य नहीं रहता और बिना द्रव्य के पदार्थ का अस्तित्व नहीं होता।

परिणमनों के प्रकार : द्रव्य (सत्) के परिणाम दो प्रकार के होते हैं- एक स्वभावात्मक और दूसरा विभाव रुप। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और अनन्त कालाणुद्रव्य ये सदा शुद्ध स्वभाव रुप परिणमन करते हैं। इनमें पूर्व पर्याय नष्ट होकर भी जो नयी उत्तर पर्याय उत्पन्न होती है, वह सदृश और स्वभवात्मक ही होता है, उसमें विलक्षणता नहीं आती। प्रत्येक द्रव्य में एक 'अगुरुलघु' गुण या शक्ति है, जिसके कारण द्रव्य की समतुला बनी रहती है, वह न तो गुरु होता है और न लघु।

यह गुण द्रव्य की निजरूप में स्थिर-मौलिकता कायम रखता है। इसी गुण में अनन्त भाग वृद्धि आदि षड्गुणी हानि-वृद्धि होती रहती है, जिससे ये द्रव्य अपने ध्रौव्यात्मक परिणामी स्वभाव को धारण करते हैं और कभी अपने द्रव्यत्व को नहीं छोड़ते। इनमें कभी भी विभाव या विलक्षण परिणमन नहीं होता और न कहने योग्य कोई ऐसा फर्क आता है, जिससे प्रथम क्षण के परिणमन से द्वितीय क्षण के परिणमन का भेद बताया जा सके।

जब हम एक सत्- पुद्गल परमाणु में प्रतिक्षण परिवर्तन को उसके स्कन्धादि कार्यों द्वारा जानते हैं, एक सत्-आत्मा में ज्ञानादि गुणों के परिवर्तन को स्वयं अनुभव करते हैं तथा दृश्य विश्व में सत् की उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यशीलता प्रमाणसिद्ध है, तब लोक के किसी भी सत् को उत्पादादि से रहित होने की कल्पना नहीं की जा सकती।

इस प्रकार लोक में अनन्त सत् स्वयं अपने स्वभाव के कारण परस्पर निमित्त नैमित्तिक बनकर प्रतिक्षण परिवर्तित होते हैं। उनमें परस्पर कार्य कारण भाव भी बनते हैं। बाह्य और आभ्यान्तर सामग्री के अनुसार समस्त कार्य उत्पन्न होते और नष्ट होते हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने में परिपूर्ण और स्वतंत्र है। वह अपने गुण और पर्याय का स्वामी है और अपनी पर्यायों का आधार। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कोई नया परिणमन नहीं ला सकता। जैसा कि समयसार में कुन्दकुन्दाचार्य ने लिखा है[१०], कि

'अण्णदविएण अण्णदव्वस्सणो कीरदे गुणुप्पादो।
तम्हा दु सव्वदव्वा उप्पज्जन्ते सहावेण॥'

अर्थात - एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कोई भी गुणोत्पाद नहीं कर सकता। सभी द्रव्य अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं।

यह विश्व जो षड्द्रव्यों से निर्मित है, वह इन द्रव्यों के गुणों की आस्थाओं के निरन्तर परिवर्तन से ही परिवर्तनशील दिखाई देता है। इन द्रव्यों में से धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल ये चार द्रव्य सदैव शुद्ध अवस्था में ही पाये जाते हैं, इनके परिणमन सदैव एक से होते हैं, उनमें बाहरी प्रभाव नहीं आता, क्योंकि इनमें वैभाविक शक्ति नहीं है। शुद्ध जीवों में भी वैभाविक शक्ति का सदा स्वाभाविक परिणमन ही होता है। किन्तु जीव और पुद्गल की मिश्र या अशुद्ध अवस्था के कारण ही संसार, दुःख, बन्धन एवं मोक्ष होते हैं तथा इसलिए इनकी व्याख्या की आवश्यकता उत्पन्न हुई। विभिन्न दर्शनों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से जीव और पुद्गल के संबंधों एवं सम्बन्ध-विच्छेद के सिद्धान्त प्रतिपादित किए हैं।

जैन दर्शन के अनुसार संसारी जीव तथा पुद्गल द्रव्य में वैभाविकी शक्ति होती है। अतः ये स्वभाव तथा विभाव दोनों प्रकार से परिणमन करते हैं। विभाव परिणमन का तात्पर्य यह नहीं है, कि एक द्रव्य के परिणमन दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्य रूप हो जाए और अपनी पर्याय परम्परा का उल्लंघन कर जाए, वरन् सिर्फ इतना ही,

कि जिस प्रकार की सामग्री जिस समय उपस्थित होती है, उसकी शक्ति की तरतमता से वैसे-वैसे उपादान बदलता जाता है। निमित्त भूत सामग्री किसी सर्वथा असद्भूत परिणमन को उस द्रव्य में नहीं लाती। किन्तु उस द्रव्य के जो शक्य-संभाव्य परिणमन हैं, उन्हीं में से उस पर्याय से होने वाला अमुक परिणमन उत्पन्न हो जाता है। जैसे प्रत्येक पुद्गल अणु में समान रुप से पुद्गल जन्य यावत् परिणमनों की योग्यता है। प्रत्येक अणु अपनी स्कन्ध अवस्था में कपड़ा बन सकता है, सोना बन सकता है, घड़ा बन सकता है और पत्थर बन सकता है तथा तैल के आकार का हो सकता है। परन्तु लाख प्रयत्न करने पर भी पत्थर रुप पुद्गल से तैल नहीं निकल सकता, यद्यपि तैल पुद्गल की ही पर्याय है। लेकिन जब पत्थर स्कन्ध के पुद्गलाणु खिरकर मिट्टी में मिल जाएँ और खाद बनकर तैल के पौधे में पहुँचकर तिल बीज बन जाएँ तो उससे तैल निकल सकता है। तात्पर्य यह है, कि पुद्गलाणुओं में समान शक्ति होने पर भी विशेष स्कन्धों से साक्षात् उन्हीं कार्यों का विकास हो सकता है, जो उस पर्याय से शक्य हों और जिनकी निमित्त सामग्री उपस्थित हो। अतः संसारी जीव और पुद्गलों की स्थिति उस मोम जैसी है, जिसे संभव सांचों में ढ़ाला जा सकता है और जो विभिन्न साँचों में ढ़लते जाते हैं।

''तद्भावः परिणामः।''[17] अर्थात् उस सत् का उसी रुप में होना, अपनी सीमा में ही प्रतिक्षण पर्याय रुप से प्रवाहमान होना ही परिणाम है। जैन दर्शन ने इसी आधार पर जगत की परिवर्तनशीलता की समुचित व्याख्या की है। सत्ता को न तो बौद्ध दार्शनिकों की भाँति सर्वथा क्षणिक ही माना है और न अद्वैत-वेदान्तियों और उपनिषद् वादियों की भाँति सर्वथा नित्य ही। यदि वस्तु को सर्वथा नित्य मानें तो क्रमभावी भावों का अभाव होने से विकार (परिणाम, परिवर्तन)का अभाव हो जाता और जगत परिवर्तनशील नहीं स्थिर होता। इसके विपरीत यदि वस्तु सर्वथा क्षणिक होती, तो प्रत्यभिज्ञान अर्थात् 'जो वस्तु पहले प्रत्यक्ष हुई वह वही वस्तु है।' इस ज्ञान का अभाव हो जाता। इससे धारावाहिकता समाप्त हो जाती और ज्ञान असंभव हो जाता। इस प्रकार सत्ता में उत्पाद-व्यय-ध्रुवता के लक्षण की तार्किक युक्तियुक्तता को स्पष्ट किया है तथा उपनिषदों एवं बौद्ध दर्शन दोनों के एकान्तिक मतों का खण्डन किया है।

जैन दर्शन में सत्ता को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मिका कहकर उसकी परिणामी नित्यता स्वीकार की है। द्रव्य की दृष्टि से सत्ता को एक कहा है, जो समस्त विश्व में समस्त पदार्थों में व्याप्त है, अनन्त पर्यायमय है तथा साथ ही सप्रतिपक्ष है। अर्थात् सत्ता निरंकुश नहीं है, वरन् उसका भी विरुद्ध पक्ष विद्यमान है। सत्ता को 'सप्पडिवक्खा'[18] कहकर सत्ता का निरुपण निषेध विधि से किया है। अर्थात् यदि सत्ता के अभाव का अस्तित्व कहीं है, तो वह भी सत्तारुप ही होगा, क्योंकि अस्तित्व तो अपने आप में ही सत्ता को निहित करता है। जैसे किसी द्रव्य को उसकी समग्रता में

जानने के लिए उस द्रव्य की सत्ता को उसके स्वचतुष्टय के सद्भाव के रुप में जाना जा सकता है।

इस प्रकार सप्रतिपक्ष होने के कारण सत्ता द्विविध कही गई है- 1. महासत्ता (सादृश्यास्तित्व), 2. अवान्तर सत्ता (स्वरुपास्तित्व)

द्रव्यार्थिक दृष्टि से सत्ता को महासत्ता कहा गया है, जिसकी व्याख्या समस्त द्रव्यों के सामान्य स्वरुप की दृष्टि से की गई है। पर्यायार्थिक दृष्टि से सत्ता को अवान्तर सत्ता कहा गया है, जिसके अन्तर्गत विशिष्ट द्रव्य की दृष्टि से सत्ता की व्याख्या की जाती है। सत्ता की सप्रतिपक्षता का कथन व्यवहारनय से ही किया गया है। निश्चयनय से तो सत्ता एक ही है। यहाँ सत्ता के विवेचन में अनेकान्तवाद शैली का संकेत मिलता है। सापेक्ष दृष्टि से ही सत्ता को सप्रतिपक्ष कहा गया है। सत्ता के सप्रतिपक्ष स्वरुप को द्वन्द्वात्मक कहा जा सकता है, क्योंकि दोनों ही सत्ताएँ एक दूसरे के विरोध या निषेध को अभिव्यक्त करती हैं, इसे इस प्रकार से समझाया गया है-

1. महासत्ता अवान्तर सत्तारुप से असत्ता है और अवान्तर सत्ता महासत्ता रुप से असत्ता है।
2. महासत्ता उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ऐसे तीन लक्षण वाली है और अवान्तर सत्ता तीनों ही संदर्भ में एक लक्षणा होने से अत्रिलक्षणा है।
3. महासत्ता समस्त पदार्थ समूह में एक सत् रुप में ही विद्यमान है, जबकि अवान्तर सत्ता प्रत्येक वस्तु की अलग-अलग होने से अनेक है।
4. सत् स्वरुप महासत्ता समस्त पदार्थों में विद्यमान है, जबकि प्रत्येक वस्तु का विशिष्ट स्वरुप भिन्न होता है, अतः उस वस्तु की अवान्तर सत्ता उसी में सीमित होती है, अन्य वस्तुओं में नहीं पायी जाती है।
5. महासत्ता समस्त विश्व में सत्ता रुप से विद्यमान होने से सविश्वरुपा है, जबकि अवान्तर सत्ता विशिष्ट वस्तु तक ही सीमित होती है।
6. महासत्ता सभी पर्यायों में स्थित होने से अनन्त पर्यायमय है, जबकि प्रत्येक पर्याय की अवान्तर सत्ता उस एक पर्यायमय ही है।

इस प्रकार यह सामान्य विशेषात्मक सत्ता सप्रतिपक्ष है, जो सत्ता की कूटस्थ नित्यता का खण्डन करके परिणामी नित्यता का प्रतिपादन करती है।

इस प्रकार समग्र रुप से इस जगत व्यवस्था में कुछ बातें नियत हैं, जिनका उल्लंघन कोई नहीं कर सकता है। यथा-

1. यह नियत है, कि जगत में जितने सत् हैं, उनमें कोई नया सत् उत्पन्न नहीं हो सकता और न मौजूदा सत् का समूल विनाश ही हो सकता है। वे सत् हैं- अनन्त चेतन, अनन्त पुद्गलाणु, एक आकाश, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य और असंख्य कालद्रव्य। इनकी संख्या में न तो एक की वृद्धि

होती है और न एक की कमी ही। अनादिकाल से इतने ही द्रव्य थे, हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे।

2. प्रत्येक द्रव्य अपने निज स्वभाव के कारण पुरानी पर्याय को छोड़ता है, नई को ग्रहण करता है और अपने प्रवाही सत्व की अनुवृत्ति रखता है। चाहे वह शुद्ध हो या अशुद्ध, इस परिवर्तन चक्र से अछूता नहीं रह सकता। कोई भी किसी भी पदार्थ के उत्पाद और व्ययरुप इस परिवर्तन को रोक नहीं सकता और न इतना विलक्षण परिणमन ही कर सकता है, कि वह अपने सत्व को ही समाप्त कर दे और सर्वथा उच्छिन्न हो जाए।
3. कोई भी द्रव्य किसी सजातीय या विजातीय द्रव्यान्तर रुप से परिणमन नहीं कर सकता। एक चेतन न तो अचेतन हो सकता है और न चेतानान्तर ही। वह चेतन 'तच्चेत्तन' ही रहेगा और वह अचेतन 'तदचेतन' ही।
4. जिस प्रकार दो या अनेक अचेतन पुद्गल परमाणु मिलकर एक संयुक्त समान स्कन्धरुप पर्याय उत्पन्न कर लेते हैं, उस तरह से चेतन मिलकर संयुक्त पर्याय उत्पन्न नहीं कर सकते, प्रत्येक चेतन का सदा स्वतन्त्र परिणमन रहेगा।
5. प्रत्येक द्रव्य की अपनी मूल द्रव्य-शक्तियाँ और योग्यताएँ समान रुप से सुनिश्चित है, उनमें हेर-फेर नहीं हो सकता। कोई नई शक्ति कारणान्तर से ऐसी नहीं आ सकती, जिसका अस्तित्व द्रव्य में न हो। इसी तरह कोई विद्यमान शक्ति सर्वथा विनष्ट नहीं हो सकती।
6. द्रव्यगत शक्तियों के समान होने पर भी अमुक चेतन या अचेतन में स्थूल-पर्याय-सम्बन्धी अमुक योग्यताएँ भी नियत हैं। उनमें जिसकी सामग्री मिल जाती है, उसका विकास हो जाता है। जैसे कि प्रत्येक पुद्गलाणु में पुद्गल की सभी द्रव्य योग्याताएँ रहने पर भी मिट्टी के पुद्गल ही साक्षात् घड़ा बन सकते हैं, कंकड़ों के पुद्गल नहीं, तन्तु के पुद्गल ही साक्षात् कपड़ा बन सकते हैं, मिट्टी के पुद्गल नहीं। यद्यपि घड़ा और कपड़ा दोनों ही पुद्गल की पर्यायें हैं। हाँ, कालान्तर में परम्परा से बदलते हुए मिट्टी के पुद्गल भी कपड़ा बन सकते हैं, और तन्तु के पुद्गल भी घड़ा। तात्पर्य यह है, कि- संसारी जीव और पुद्गलों की मूलतः समान शक्तियाँ होने पर भी विशिष्ट स्थूल पर्याय में विशेष शक्तियाँ ही साक्षात् विकसित हो सकती हैं। शेष शक्तियाँ बाह्य सामग्री मिलने पर भी तत्काल विकसित नहीं हो सकती।
7. यह नियत है, कि- किसी द्रव्य की उस स्थूल पर्याय में जितनी पर्याय-योग्यताएँ हैं, उनमें से ही जिस-जिसकी अनुकूल सामग्री मिलती है, उस-उसका विकास होता है, शेष पर्याय योग्यताएँ द्रव्य की मूल योग्यताओं की

तरह सद्भाव में ही रहती है।

8. यह भी नियत है, कि- अगले क्षण में जिस प्रकार की सामग्री उपस्थित होगी, द्रव्य का परिणमन उससे प्रभावित होगा। सामग्री के अन्तर्गत जो भी द्रव्य हैं, उनके परिणमन भी इस द्रव्य से प्रभावित होंगे। जैसे कि ऑक्सिजन के परमाणु को यदि हाइड्रोजन का निमित्त नहीं मिलता तो वह ऑक्सिजन के रुप में ही परिणमन करता है, किंतु यदि हाइड्रोजन का निमित्त मिल जाता है, तो दोनों का ही जल रुप से परिवर्तन हो जाता है। तात्पर्य यह है, कि पुद्गल और संसारी जीवों के परिणमन अपनी तत्कालीन सामग्री के अनुसार परस्पर प्रभावित होते रहते हैं। किन्तु केवल यही अनिश्चित है, कि अगले क्षण में किसका क्या परिणाम होगा? कौनसी पर्याय का विकास होगा? या किस प्रकार की सामग्री उपस्थित होगी? यह परिस्थिति और योगायोग पर निर्भर करता है।
9. यह निश्चित है, कि कोई भी द्रव्य अपनी ही विविध पर्यायों में परिणमन करता है। किसी अन्य द्रव्य की पर्याय रुप परिणमन नहीं करता। जैसे जीव जीव की ही विविध पर्यायों जैसे- मनुष्य, गाय, बतख आदि रूप से परिणमन करता है, वस्त्र या घट रुप से कभी भी जीव का परिणमन नहीं होगा। इसी प्रकार पुद्गल पुद्गल की ही विविध पर्यायों जैसे- वस्त्र, तन्तु आदि रुप परिणमन करेगा, मनुष्य, पशु आदि जीव पर्यायों के रुप में नहीं।

इस प्रकार जैन दर्शन में सामान्य रुप से सत्ता के परिणामी नित्य स्वरुप को प्रतिपादित किया गया है। अब उसके विशेषात्मक स्वरुप का अध्ययन भी आवश्यक है।

षट्द्रव्य- निरुपण : जैन दर्शन ने लोक में समस्त पदार्थों को द्रव्यानुसार छः वर्गों में विभाजित किया है- जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन छः द्रव्यों में से प्रत्येक द्रव्य शेष से पूर्णतः भिन्न हैं और उसकी स्वतन्त्र सत्ता है। द्रव्य की सत्ता का परिचायक उसका चतुष्टय है और यह चतुष्टय ही उसकी सीमा निर्धारित करता है। स्व-चतुष्टय या स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से परे यदि किसी द्रव्य की सत्ता है, तो वह पर द्रव्य है, जो स्वद्रव्य से नितान्त भिन्न है। यद्यपि ये द्रव्य एक दूसरे में प्रवेश करते हैं, एक दूसरे को अवकाश देते हैं तथा परस्पर दूध-पानी की तरह मिल जाते हैं, फिर भी वे कभी भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते।

पंचास्तिकाय-निरुपण : जैन दर्शन ने समस्त द्रव्यों को बहुप्रदेशी अस्तित्व वाले तथा एक प्रदेशी अस्तित्व वाले द्रव्यों में वर्गीकृत किया है। बहुप्रदेशी द्रव्यों को प्रदेश पचय होने से कायवत् काय कहा जाता है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा आकाश द्रव्य कायवत् अस्तित्व के कारण पंचास्तिकाय कहलाते हैं। कालद्रव्य एक

प्रदेशी होने से अस्तिकाय नहीं है। पंचास्तिकाय अस्तित्व से नियत, अनन्यमय तथा अणु-महान है।[8] अर्थात् पर्यायार्थिक नय से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी सामान्य-विशेष सत्ता में अपने से कदाचित भिन्न होने के कारण अस्तित्व में नियत हैं। द्रव्यार्थिक नय से स्वयंसत् होने के कारण वे अस्तित्व से अनन्य है। अणुमहान कहने का तात्पर्य है, कि प्रदेश में बड़े अर्थात् अनेक प्रदेशी है। पंचास्तिकाय चाहे द्रव्य रुप में हो अथवा शक्ति अपेक्षा से हो अनेक प्रदेशी होते हैं। पुद्गल यद्यपि अणुरुप भी होता है, किंतु शक्ति की अपेक्षा से स्कन्ध रुप या अनेक प्रदेशी भी होता है। अन्य चार द्रव्य द्रव्यरुप से ही अनेक प्रदेशी होते हैं।

पंचास्तिकाय सहित कालद्रव्य रुप से षट्द्रव्य के सामान्य स्वरुप को जानने के पश्चात् अब उनके पृथक-पृथक् विशेष स्वरुप को समझना भी आवश्यक है।

जीव द्रव्यास्तिकाय : आत्मा के स्वरुप के संबंध में दार्शनिकों में मतभेद पाये जाते हैं। कोई आत्मा को सर्वव्यापक मानते हैं, तो कोई अणुरुप मानते हैं, कोई उसे स्वदेह प्रमाण बतलाते हैं। कोई आत्मा को अंगुष्ठ मात्र मानते हैं। कोई आत्मा को नित्य मानते हैं, तो कोई अनित्य। कोई आत्मा को कर्ता और भोक्त मानते हैं, तो कोई अकर्ता मानते हैं।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा उपयोगमय, परिणामी, नित्य, अमूर्त, कर्ता, साक्षात्, भोक्ता, स्वदेह परिमाण, असंख्यात प्रदेशी, पौद्गलिक अदृष्टवान है।

'नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
वीरिअं उपओगो य एयं जीवस्स लक्खणं॥'[9]

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग- जीव के लक्षण हैं। जीव का असाधारण गुण, जिसके कारण यह अन्य द्रव्यों से पृथक् सिद्ध होता है। वह चेतना (उपयोग) है। उपयोग का अर्थ है, बोधरुप व्यापार। उपयोग दो प्रकार का है - ज्ञानोपयोग तथा दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग को साकार उपयोग कहा जाता है तथा दर्शनोपयोग को अनाकार उपयोग। साकार उपयोग के आठ भेद हैं- 1. मतिज्ञान, 2. श्रुतज्ञान, 3. अवधिज्ञान, 4. मनः पर्यय ज्ञान, 5. केवल ज्ञान, 6. मति-अज्ञान, 7. श्रुत अज्ञान व 8. विभंग ज्ञान।

अनाकार उपयोग के चार भेद हैं- 1. चक्षु दर्शन, 2. अचक्षु दर्शन, 3. अवधि दर्शन, 4. केवल दर्शन। नेत्र जन्य सामान्य बोध को चक्षु दर्शन कहते हैं।[10] नेत्र के अतिरिक्त अन्य किसी इन्द्रिय या मन से होने वाला सामान्य बोध अचक्षु दर्शन, 3. अवधि लब्धि से मूर्त पदार्थों का सामान्य बोध अवधि दर्शन, 4. केवल लब्धि से समस्त पदार्थों का सामान्य बोध केवल दर्शन है। इस प्रकार उपयोग के कुल बारह भेद हैं।

जिस समय चैतन्य 'स्वयं' से भिन्न किसी श्रेय को जानता है, उस समय वह

'ज्ञान' कहलाता है। जब चैतन्य मात्र चैतन्याकार रहता है, तब 'दर्शन' कहलाता है। दूसरे शब्दों में जो बोध ग्राह्य वस्तु को सामान्य रुप से जानने वाला होता है, वह अनाकारोपयोग है। इसे दर्शन या निर्विकल्पक बोध कहते हैं। जो बोध ग्राह्य वस्तु को विशेष रुप से जानने वाला होता है, वह साकारोपयोग है। इसे ज्ञान या सविकल्पक बोध कहा जाता है। उपयोग के उक्त बारह भेदों में से केवलज्ञान और केवलदर्शन पूर्ण विकसित चेतन शक्ति के व्यापार हैं और शेष अपूर्ण विकसित चेतना के व्यापार हैं। केवलज्ञान और केवलदर्शन रुप से उपयोग भेद मानने का कारण केवल ग्राह्य-विषय की द्विरुपता है। अर्थात् प्रत्येक विषय सामान्य और विशेष रुप से उभयस्वभावी है, इसलिए उसको जानने वाला चेतना व्यापार भी ज्ञान और दर्शन के रुप में दो प्रकार का होता है।

चेतना शक्ति सब जीवों में समान होने पर भी उपयोग में अन्तर पाया जाता है। उपयोग की यह विविधता बाह्य-अभ्यान्तर कारणों पर आधारित है। विषय भेद, इन्द्रियादि साधनों का भेद, देशकाल भेद आदि बाह्य-सामग्री की विविधता है और आवरण की तीव्रता-मन्दता का तारतम्य आन्तरिक सामग्री की विविधता है। इस सामग्री की विविधता से ही उपयोग की विविधता आ जाती है। फिर भी उपयोग जीव का ऐसा असाधारण धर्म है, जो सभी जीवों में पाया जाता है।

परिणामी नित्य- जैन दर्शन में आत्मा को परिणामी नित्य माना गया है। आत्मा न तो सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य। वह आत्म द्रव्य की अपेक्षा नित्य है, तो उसकी विविध पर्यायों की अपेक्षा अनित्य है। विविध पर्यायों में होने वाले परिवर्तनों के बावजूद भी आत्मतत्व ध्रौव्य है। इसके विपरीत सांख्य और वेदान्त दर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते है और उसमें कोई परिणमन नहीं मानते। वे ज्ञान, सुख, दुःखादि परिणामों को प्रकृति या अविद्या मानते हैं। वैशैषिक और नैयायिक आत्मा को एकान्त नित्य (अपरिणामी) मानते हैं। मीमांसक भी लगभग ऐसा ही मानते हैं। इन सबसे विपरीत मान्यता है, बौद्ध दर्शन की। बौद्ध दर्शन आत्मा को एकान्त क्षणिक मानता है। वह आत्मादि पदार्थ को निरन्वय परिणामों का प्रवाह-मात्र मानता है।

जैन दर्शन इन सबका खण्डन करते हुए कहता है, कि आत्मा को सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य मानने पर उसमें अर्थ क्रिया घटित नहीं हो सकती। बन्ध-मोक्ष, आस्रव-संवर आदि कोई व्यवहार संगत नहीं हो सकते। अतः आत्मा को एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य न मानकर परिणामी नित्य ही मानना चाहिए। ऐसा मानने पर ही सारे आध्यात्मिक और लौकिक व्यवहार सार्थक माने जा सकते हैं।

अमूर्त : जीव को अमूर्त कहा गया है। भगवान महावीर कहते हैं, कि 'हे गौतम जीव इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता, क्योंकि वह अमूर्त है। अमूर्त होने से वह नित्य भी है।'[27]

'जीव न दीर्घ है, न लघु है, न गोल है, न त्रिकोण है, न चौकोर है, न परिमण्डल है। वह न काला, न नीला, न पीला, न लाल और न ही सफेद है। वह न सुगन्ध युक्त है और न दुर्गन्ध युक्त। वह न तीखा है, न कसैला है, न खट्टा है, और न मीठा है। वह न कर्कश है, न मृदु, न भारी है, न हल्का, न ठण्डा, न गर्म, न चिकना, न रुखा है। वह कायवान् नहीं है, जन्म धर्मा नहीं है, निःसंग है, वह न स्त्री, न पुरुष, न नपुंसक है। वह परिज्ञा वाला है (केवल दर्शन), संज्ञा (केवल ज्ञान), वाला है। वह उपमा से अतीत है, वह अरुपी (अमूर्त) सत्ता है, वह पदातीत (शब्दातीत) है। वह न शब्द है, न रुप है, न गन्ध है, न रस है, और न स्पर्श है।' इसलिए वह इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है।[23]

इस प्रकार द्रव्यार्थिक नय से तो आत्मा पुद्गल के समस्त गुणों से रहित है। अतः अपने शुद्ध स्वरुप की दृष्टि से तो आत्मा अरुपी और अमूर्त्त है। किन्तु पर्यायार्थिक नय से संसार-परिणत जीव पौद्गलिक पर्यायों से संयुक्त कहा गया है। जीव का वर्तमान विकास और जीवन जिन आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छवास, भाषा और मन पर्याप्तियों के सहारे होता है, वे सब पौद्गलिक हैं। मुमुक्षु जीव को अपने शुद्ध स्वरुप को पाने के लिए जो साधना करनी होती है, उसके लिए भी उसे शरीरादि पौद्गलिक पर्यायों का अवलम्बन लेना पड़ता है। इस प्रकार दीर्घकालीन संसर्ग की अपेक्षा से जीव को रुपी भी माना गया है। शरीरादि की क्रियाएँ भी जीव के संसर्ग से ही हो सकती है, अन्यथा नहीं। निर्जीव शरीर आदि में स्वयं क्रिया नहीं हो सकती है। इस प्रकार चिरकाल से जीव तथा पुद्गल एक दूसरे को प्रभावित करते हैं, तथा एक दूसरे से संयुक्त हैं। इस अपेक्षा से शरीरादि की पौद्गलिक क्रियाओं को आत्मा की पर्याय भी माना गया है, जैसा कि भगवती सूत्र में कहा गया है।[24]

भगवन! प्राणातिपात, मृषावाद, यावत् मिथ्यादर्शनशल्य विवेक, औत्पत्तिकी यावत् परिणामिकी बुद्धि, अवग्रह यावत् धारणा, उत्थान-कर्म-बल-वीर्य, पुरुषाकार, पराक्रम, नैरायिकत्व यावत् वैमानिकत्व, ज्ञानावरणीय यावत् अन्तराय, कृष्ण लेश्या यावत् शुक्ल लेश्या, चक्षुदर्शन आदि 4. मतिज्ञान यावत् विभंग ज्ञान, आहारादि संज्ञा, औदारिकादि शरीर, मनोयोगादि योग, साकारोपयोग अनाकारोपयोग तथा अन्य इस प्रकार की पर्यायें क्या आत्मा की पर्याय कही जा सकती है?

हाँ गौतम! वे सब पर्यायें आत्मा की है, आत्मा के अतिरिक्त ऐसा परिणमन नहीं होता है।

इस प्रकार आत्मा अपने शुद्ध मौलिक रुप में अमूर्तिक (अरुपी) है तथा पर्यायार्थिक नय से पौद्गलिक संसर्ग के कारण कथञ्चित रुपी भी है।

स्वदेह परिमाणत्व : जीव असंख्यात प्रदेश वाला है। चूँकि उसका अनादिकाल से सूक्ष्म कार्मण शरीर से सम्बन्ध है, अतः वह कर्मोदय से प्राप्त शरीर के आकार के

अनुसार छोटे- बड़े आकार को धारण करता है। जिस जीव का जितना छोटा या बड़ा शरीर है, उस सारे शरीर में आत्मा के असंख्यात प्रदेश व्याप्त रहते हैं। आत्म प्रदेशों में दीपक की प्रभा के समान संकोच या विस्तार का गुण रहा हुआ है। जैसे दीपक की प्रभा अभी कमरे में व्याप्त है, उस दीपक पर यदि बड़े बर्तन का आवरण डाल दिया जाये, तो वह प्रभा बर्तन के अन्दर ही सिमट जाएगी। यदि बर्तन हटा लिया जाए, तो वह फिर पूरे कमरे में फैल जाती है। इसी तरह आत्म प्रदेश, सब जीवों के बराबर होने पर भी वे हाथी में हाथी शरीर प्रमाण और चींटी में चींटी शरीर प्रमाण हो जाते हैं। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा शरीर रुप में न होकर भी स्वदेह परिमाण है।

यह सामान्य सा नियम है, कि जिस द्रव्य के गुण जहाँ पाये जाते हैं, उसका सद्भाव वहीं होता है, अन्यत्र नहीं। जैसे जहाँ घटादि के रुपादि गुण पाये जाते हैं, वहीं घटादि का अस्तित्व पाया जाता है, अन्यत्र नहीं। वैसे ही आत्मा के ज्ञानादि गुण शरीर के बाहर नहीं देखे जाते। जहाँ गुण नहीं है, वहाँ गुणी नहीं माना जा सकता। अतः आत्मा स्वदेह परिमाण है, स्वदेह से बाहर उसका अस्तित्व नहीं माना जा सकता।

वैदिक दर्शनों में प्रायः आत्मा को अमूर्त्त और व्यापक स्वीकार किया गया है। उपनिषद् में आत्मा के सर्वगत और व्यापक होने का जहाँ उल्लेख है, वहाँ उसके अंगुष्ठमात्र तथा अणुरुप होने का भी कथन है। इन दोनों ही विरोधी मतों का जैन दर्शन ने खण्डन किया है। एक ही व्यापक आत्मा से एक ही समय में पृथक्-पृथक् जीवों की पृथक्-पृथक् अनुभूतियों की युक्ति युक्तता को प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। तथा उसे अणु मात्र मानने पर एक ही समय में एक शरीर के विभिन्न अंगों में होने वाली पृथक्- पृथक् अनुभूतियों का युक्तिपूर्ण विवेचन नहीं हो सकता। अतः आत्मा को स्वदेह परिमाण मानना ही औचित्य पूर्ण है। इससे दोनों ही समस्याओं का समाधान हो जाता है।

कर्त्ता और भोक्ता : जैन दर्शन के अनुसार आत्मा कर्मों का कर्त्ता है तथा अपने किए कर्मों के फल का भोक्ता भी है। जैसा कि आगम में कहा गया है-

"अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाणय सुहाणय।
अप्पा मित्त ममित्तं च दुपट्ठिओ सुपट्ठिओ॥"[25]

अर्थात् आत्मा सुख और दुःखों का कर्त्ता और उसके फल का भोक्ता है। शुभ में प्रवृत्त अपनी आत्मा अपनी मित्र है, तथा दुःख में प्रवृत्त अपनी आत्मा अपनी शत्रु है। इस निरन्तर परिणामी जगत में प्रत्येक पदार्थ का परिणमन चक्र प्राप्त सामग्री से प्रभावित होकर और अन्य को प्रभावित करके प्रतिक्षण चल रहा है। आत्मा की कोई भी क्रिया चाहे वह मन से विचारात्मक हो, या वचन व्यवहार रुप हो, या शरीर की प्रवृत्ति रुप हो, अपने कार्मण शरीर में और आस-पास के वातावरण में निश्चित असर डालती है। अतः जिस जीव के द्वारा जैसे कर्म किए जाते हैं, उन्हीं के प्रतिफलों का

वह जीव भोक्ता होता है। सांख्य की तरह वह अकर्त्ता और अपरिणामी नहीं है और न प्रकृत्ति के द्वारा किए गए कर्मों का भोक्ता ही। यदि आत्मा कर्त्ता नहीं है, तो निष्क्रिय आत्मा कर्मफल भोगने की क्रिया कैसे कर सकता है। कर्ता कोई और हो तथा भोक्ता कोई और हो, तो यह सिद्धांत तर्क संगत भी प्रतीत नहीं होता। अतः जैन दर्शन ने आत्मा को कर्त्ता और भोक्ता दोनों ही माना है।

आत्मा अदृष्टवान है : संसारी आत्माएँ अनादिकाल से कार्मण वर्गणाओं के सम्बद्ध है। आत्मा के द्वारा किए गए शुभाशुभ कर्म अदृष्ट का निर्माण करते हैं। उस अदृष्ट के कारण ही आत्मा को शुभाशुभ फल की प्राप्ति होती है। हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश आदि अच्छे-बुरे सब परिणाम अदृष्ट के अधीन होते हैं। जगत में पाया जाने वाला वैषम्य और वैचित्र्य अदृष्ट कर्म के निमित्त से ही है। प्रत्येक संसारवर्ती आत्मा अपने अदृष्ट से बंधा हुआ है, यद्यपि वह अदृष्ट भी उसी के द्वारा निर्मित किया गया है। जीव को शुभाशुभ फल देने वाली कोई ईश्वर जैसी सत्ता नहीं है, वरन् उसका स्वयं का निर्मित अदृष्ट है। इसीलिए संसारवर्ती आत्मा को पौद्गलिक अदृष्टवान कहा गया है।

मनुष्य अपनी क्रियाओं से जितने गहरे या उथले संस्कार, प्रभाव और वातावरण अपनी आत्मा पर डालता है, उसी के तारतम्य से जीवों का इष्टानिष्ट चक्र चलता है। तत्काल किसी कार्य का ठीक कार्य-कारण भाव हमारी समझ में न भी आए, पर कोई भी कार्य अकारण नहीं हो सकता, यह एक अटल सिद्धान्त है। इसी तरह जीवन और मरण के क्रम में भी कुछ हमारे पुराने संस्कार और कुछ संस्कार प्रेरित प्रवृत्तियाँ तथा लोक का जीवन-व्यापार सब मिलकर कारण बनते हैं।

इस प्रकार से स्पष्ट है, कि संसारी आत्माएँ कार्माण-पुद्गलों से कितना अधिक प्रभावित हैं, इसीलिए जीवों को पौद्गलिक अदृष्टवान कहा गया है।

इस प्रकार जीव द्रव्य उपयोगमय, परिणामी नित्य, अमूर्त्त, कर्त्ता, भोक्ता, स्वदेह परिमाण, असंख्यात् प्रदेशी तथा पौद्गलिक अदृष्टवान आदि गुणों से युक्त है।

जीवों के भेद : लोक में अनन्त जीव हैं। वे सब स्वभावतः समान शक्तियों के धारक हैं, किन्तु कर्मों एवं आवरणों ने उनमें अनेकरुपता उत्पन्न कर दी है। उसके आधार पर मुख्यतः जीव के दो भेद बताए गए हैं- मुक्त और संसारी जीव।[5]

जो जीव कर्म-बन्धनों से बंधे हुए नाना योनियों में शरीर धारण करके जन्म-मरण रुप से संसरण कर रहे हैं, वे संसारी जीव कहलाते हैं। जो समस्त कर्म-संस्कारों से छूटकर अपने शुद्ध चैतन्य स्वरुप में अवस्थित हैं तथा स्वरुप रमण में लीन हैं, वे सिद्ध या मुक्त कहलाते हैं।

मुक्त (सिद्ध) जीव : जब संसारी जीव समस्त कर्म-क्लेशों से और सांसारिक उपाधियों से छूट जाता है, तब वह अपने स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करता हुआ लोकाग्र

भाग में जाकर स्थित हो जाता है। जीव का सहज स्वभाव उर्ध्वगमन करने का है। कर्मों के भार से भारी होकर ही वह अधोगमन या तिर्यक गमन करता है। जब कर्मों का संबंध नहीं रहता है, तब वह अपनी स्वाभाविक उर्ध्वगति करता है। समस्त शरीर के बन्धनों को तोड़कर लोकाग्र में जा पहुँचता है और वहीं अनन्तकाल तक शुद्ध चैतन्य स्वरुप में परिणमन करता है। यद्यपि जीव का स्वभाव ऊपर की ओर गति करने का है, किन्तु गति में सहायक धर्मस्तिकाय चूंकि लोक के अन्तिम भाग तक ही है, अतः जीव की गति लोकाग्र तक ही होती है, आगे नहीं।

सिद्धों के आठ गुण : सिद्ध भगवान में मुख्य रुप से आठ गुण बताए गए हैं-

1. समग्र ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होने से अनन्त केवलज्ञान गुण प्रकट होता है।
2. समग्र दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से अनन्त केवल दर्शन गुण प्रकट होता है।
3. वेदनीय कर्म के समूल क्षय होने से निराबाध गुण प्रकट होता है।
4. दो प्रकार के मोहनीय कर्म के नष्ट होने से क्षायिक-सम्यक्त्व-स्वरूपरमण रूप क्षायिक चारित्र प्रकट होता है।
5. चारों प्रकार के आयुष्य कर्म का क्षय होने से अजर-अमर गुण प्रकट होता है।
6. शुभ-अशुभ नाम कर्म के क्षय से अमूर्तत्व गुण प्रकट होता है।
7. दो प्रकार के गोत्र कर्म के क्षीण होने से अपलक्षण रहितत्व गुण प्रकट होता है।
8. पाँच प्रकार के अन्तराय कर्म के क्षय से अनन्त शक्तिमत्व गुण प्रकट होता है।

सिद्ध समस्त प्रकार की पौद्गलिक पर्यायों से अतीत हैं। अतः उनमें न वर्ण है, न गन्ध है, न रस है, न स्पर्श है। न उनका कोई संस्थान या आकार है। न वहाँ शरीर है, न किसी प्रकार का संग है, न वेद है, न लेश्या है। वहाँ शब्दों की गति भी नहीं है। सिद्ध परमात्मा का वर्णन करने में कोई शब्द समर्थ नहीं है, कोई तर्क वहाँ तक नहीं पहुँचता, बुद्धि उसको ग्रहण नहीं कर सकती। केवल संपूर्ण ज्ञानमय आत्मा ही सिद्धावस्था में है।

सिद्ध जीव अव्याबाध, शाश्वत, निरुपम सुख की अनुभूति करते हुए अनन्तकाल तक स्वरूप परिणमन में निरत रहते हैं। जैसे ज्योति में ज्योति मिलती है, इसी तरह एक में अनेक और अनेक में एक सिद्ध विराजमान रहते हैं। सिद्ध अवस्था में आत्मा, आत्मा को, आत्मा द्वारा आत्मा के लिए आत्मा में से आत्मा में जानता है। यहाँ द्रव्य और गुण एक रूप हो जाते हैं। सिद्ध किसी कारण से उत्पन्न नहीं होते, अतः

किसी के कार्य नहीं है और वे किसी अन्य कार्य को उत्पन्न नहीं करते, इसलिए वे किसी के कारण भी नहीं है। सिद्ध भावकर्म व द्रव्यकर्म दोनों कर्मों का क्षय होने पर स्वयं अपने को सिद्ध रूप से उत्पन्न करते हैं, अन्य कुछ भी उत्पन्न नहीं करते। अर्थात् सिद्ध कारण कार्य संबंध से परे है।

संसारी जीव : जो जीव कर्म बन्धनों से बन्धे हुए नाना योनियों में शरीर धारण करके जन्म-मरण रूप से संसरण कर रहे हैं, वे संसारी जीव कहलाते हैं। पर्याय-विशेष की भिन्नता को लेकर उसके कई अपेक्षाओं से विविध भेद किए जाते हैं। विविध पर्यायों की दृष्टि से जीव एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः प्रकार का भी है, चौदह प्रकार का भी है, और पाँच सौ त्रेसठ प्रकार का भी है। यहाँ पृथक्-पृथक् पर्यायों के आधार से ही जीवों के प्रकारान्तर का विवेचन किया जा रहा है।

1. **गति** : संसारी जीव जिन-जिन अवस्थाओं में निरन्तर गमन (भ्रमण) करता है, वे गति कहलाती है। गति चार है- नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति और देवगति।[१] गति के आधार से जीव 4 प्रकार के होते हैं। पृथ्वी के नीचे सात नरक हैं, उनमें जो जीव निवास करते हैं, वे नारकी कहलाते हैं। स्वर्गों में जो जीव निवास करते हैं, वे देव कहलाते हैं। जो नरक और स्वर्ग के बीच मध्यलोक में निवास करते हैं तथा जिन्होंने मनुष्य योनि में जन्म पाया है, वे मनुष्य हैं। देव, नारकी तथा मनुष्य को छोड़ जितने संसारी जीव हैं, वे सब तिर्यंच कहलाते हैं।

अपेक्षा विशेष से नारक के 14, तिर्यंच के 48, मनुष्य के 303 और देव के 118 भेद मिलकर जीव के 563 भेद होते हैं।

2. **इन्द्रिय** : जीवों को जो अर्थ ग्रहण (ज्ञान) में सहायक होती हैं, वे इन्द्रियाँ कही जाती हैं। जैन दर्शन में पाँच इन्द्रियाँ स्वीकार की गई हैं - 1. स्पर्शन, 2. रसना, 3. घ्राण, 4. चक्षु और 5 श्रोत्र। इन्द्रिय की अपेक्षा से जीव पाँच प्रकार के होते हैं - एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। इन्द्रियों की गणना में इनका क्रम अपना विशेष महत्त्व रखता है।

इन्द्रिय की अपेक्षा से जीवों का अन्य प्रकार से भी वर्गीकरण किया गया है। इस अपेक्षा से जीव दो प्रकार के होते हैं - त्रस और स्थावर। जिन्हें सिर्फ एक स्पर्शन इन्द्रिय ही प्राप्त है, वे स्थावर जीव होते हैं। जिनको दो, तीन, चार तथा पाँच इन्द्रियाँ प्राप्त हैं, वे त्रस जीव कहलाते हैं।

जिन जीवों को सिर्फ एक स्पर्शन इन्द्रिय प्राप्त है, उनमें चैतन्य की मात्रा स्वल्पतम है। अतएव साधारण लोगों ने ही नहीं, अधिकांश तत्त्व चिन्तकों ने भी उनके जीवत्व को स्वीकार नहीं किया। जैन दर्शन के अनुसार तारतम्य होने पर भी एकेन्द्रिय स्थावर-जीवों में चेतना के सम्पूर्ण विकार उपलब्ध होते हैं। उनमें चैतन्य, सुख-दुःखानुभूति, जन्ममरण, क्रोध, कषाय संज्ञा आदि विद्यमान है, जिनसे उनके जीवत्व

का समर्थन होता है। ऐसे जीव पाँच प्रकार के होते हैं।[19]

1. **पृथ्वीकाय** : मिट्टी-कंकर आदि पृथ्वीकायिक जीवों के शरीर का पिण्ड है।
2. **जलकाय** : जल भी जलकायिक जीवों के शरीर का पिण्ड है।
3. **अपकाय** : अग्नि अग्निकायिक जीवों के शरीर का पिण्ड है।
4. **वायुकाय** : वायु वायुकायिक जीवों के शरीर का पिण्ड है।
5. **वनस्पतिकाय** : वनस्पति, पेड़-पौधे, फल-फूल आदि सभी वनस्पति कायिक जीव हैं।
6. **त्रसकाय** : द्विन्द्रिय, त्रिन्द्रिय चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय सभी जीव त्रस जीवों की श्रेणी में आते हैं। एकेन्द्रिय जीवों में केवल स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है।

1. **द्विन्द्रिय जीव** : द्विन्द्रिय जीव वे हैं, जिनके स्पर्शन एवं रसना दो इन्द्रियाँ होती हैं। जैसे, शंख, लट आदि।
2. **त्रीन्द्रिय जीव** : त्रिन्द्रिय जीव वे हैं, जिनके स्पर्शन, रसना एवं घ्राण तीन इन्द्रियाँ होती हैं, जैसे चींटी आदि।
3. **चतुरिन्द्रिय जीव** : चतुरिन्द्रिय जीव वे हैं, जिनके प्रथम चार इन्द्रियाँ स्पर्शन, रसना, घ्राण एवं चक्षु होते हैं। जैसे भौंरा आदि।
4. **पंचेन्द्रिय जीव** : पंचेन्द्रिय जीव वे होते हैं, जिनके पाँचों इन्द्रियाँ स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु तथा श्रोत्र होती हैं। मनुष्य, सर्प, नेवला, पशु-पक्षी आदि सभी पंचेन्द्रिय जीव ही हैं।

इन्द्रियों के द्वारा सभी जीव अपने-अपने योग्य स्पर्श, रस, गंध, रूप शब्द आदि का ज्ञान करते हैं। इस प्रकार इन्द्रियों की अपेक्षा से जीवों के 5 भेद होते हैं तथा काय की अपेक्षा से 6 भेद होते हैं।

3. **वेद** : वेद की अपेक्षा से जीव तीन प्रकार के होते हैं। 1. स्त्री वेद, 2. पुरुष वेद तथा 3. नपुंसकवेद। ये तीनों वेद द्रव्य और भाव की अपेक्षा से दो-दो प्रकार के होते हैं। द्रव्य वेद से तात्पर्य लिंग के बाह्य चिन्ह से है तथा भाव वेद का तात्पर्य काम-भोग की अभिलाषा से है।

1. **स्त्री वेद** : स्त्री की पहिचान का साधन द्रव्य स्त्री वेद होता है तथा पुरुष के संसर्ग की अभिलाषा भाव-स्त्री वेद है।
2. **पुरुष वेद** : जिस चिह्न से पुरुष की पहिचान होती है, वह द्रव्य पुरुष वेद है और स्त्री के संसर्ग सुख की अभिलाषा भाव-पुरुषवेद है।
3. **नपुंसक वेद** : जिसमें कुछ स्त्री वेद तथा कुछ पुरुष वेद के चिह्न हों वह द्रव्य नपुंसक वेद और स्त्री-पुरुष दोनों के संसर्ग की कामना भाव-नपुंसक

वेद है।

नारकी जीव तथा समूर्च्छन जन्म वाले जीव नपुंसक वेद वाले होते हैं। देवों में स्त्री तथा पुरुष वेद ही होता है, नपुंसक वेद नहीं होता है। शेष समस्त संसारी प्राणी तीनों वेदों वाले हो सकते हैं।[10] समस्त संसारी प्राणीयों में इन तीनों वेद में से एक वेद अवश्य होता है। केवल सिद्ध जीव ही वेद-रहित होते हैं।

4. जन्म : जन्म की अपेक्षा से भी जीव तीन प्रकार का होता है। सभी संसारी जीवों का जन्म होता है, ये जन्म तीन प्रकार से होते हैं- 1. समूर्च्छन, 2. गर्भ तथा 3. उपपात द्वारा।

1. गर्भ : गर्भ द्वारा जीव तीन प्रकार से जन्म लेते हैं :- जरायुज, अण्डज तथा पोतज।

1. **जरायुज** : गर्भ वेष्टन के साथ जो प्राणी उत्पन्न होते हैं, वे जरायुज कहलाते हैं, जैसे मनुष्य, गाय आदि।
2. **अण्डज** : अण्डे से पैदा होने वाले जीव अण्डज कहलाते हैं। जैसे सांप, मोर, चिड़िया आदि।
3. **पोतज** : जो किसी प्रकार के आवरण से वेष्टित न होकर ही जन्म लेते हैं, वे पोतज जीव कहलाते हैं। जैसे हाथी, नेवला, शशक, चूहा आदि।

2. उपपात जन्म : स्वर्ग तथा नरक में देव तथा नारकियों के जन्म के लिए नियत स्थान विशेष उपपात कहा जाता है। देव तथा नारकियों का उपपात जन्म होता है। क्योंकि वे उपपात क्षेत्र में स्थित वैक्रिय पुद्गलों को शरीर के लिए ग्रहण करते हैं। इन दो जन्मों से अतिरिक्त जन्म वाले समस्त प्राणियों का जन्म समूर्च्छन जन्म कहलाता है।[11]

5. भाव : भाव की अपेक्षा से जीव पाँच प्रकार के होते हैं। आत्मा के सभी पर्याय किसी एक भी अवस्था वाले नहीं पाये जाते हैं। कुछ पर्याय किसी एक अवस्था में हैं, तो दूसरे कुछ पर्याय किसी दूसरी अवस्था में। पर्यायों की वे भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ भाव कहलाती हैं। आत्मा के पर्याय अधिक से अधिक पाँच भाव वाले होते हैं, जो निम्न लिखित हैं – 1. औपशमिक, 2. क्षायिक, 3. क्षयोपशमिक, 4. औदयिक व 5. पारिणामिक।

1. **औपशमिक भाव** : औपशमिक भाव वह है, जो कर्म के उपशम से पैदा होता है। उपशम एक प्रकार की आत्म शुद्धि है, जो कर्म का उदय बिल्कुल रुक जाने पर वैसी ही होती है, जैसी कचरा नीचे बैठ जाने पर जल में स्वच्छता होती है।
2. **क्षायिक भाव** : क्षायिक भाव वह है, जो कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है, क्षय आत्मा की वह परम विशुद्धि है, जो कर्म का सम्बन्ध पूर्ण रूप से छूट

जाने पर वैसे ही प्रकट होती है, जैसे जल में से कचरा बाहर निकाल लेने पर जल पूर्ण रूप से स्वच्छ हो जाता है।

3. **क्षायोपशमिक भाव** : क्षायोपशमिक भाव कर्म के क्षय तथा उपशम दोनों से पैदा होता है। यह भी एक प्रकार की आत्मिक शुद्धि है, जो कर्म के एक अंश का क्षय होने पर प्रकट होती। यह विशुद्धि वैसी ही मिश्रित है, जैसे वस्त्र को धोने पर उस पर पड़े कोई दाग के कुछ हल्का हो जाने पर भी कुछ रह जाता है।
4. **औदयिक भाव** : औदयिक भाव वह है, कि जो कर्म के उदय से उत्पन्न होता है। उदय एक प्रकार की आत्मिक मलिनता है, जो कर्म के विपाकानुभव से वैसे ही होती है, जैसे मल के मिल जाने पर जल गंदा हो जाता है।
5. **पारिणामिक भाव** : पारिणामिक भाव द्रव्य का वह भाव है, जो द्रव्य का स्वभाव रूप से परिणमन होता है। यह स्वभाव परिणमन आत्मा की सिद्ध अवस्था में होता है।

ये ही पाँच भाव आत्मा के स्वरूप है अर्थात् संसारी या मुक्त कोई भी आत्मा हो, इसके सभी पर्याय उक्त पाँचों भावों में से किसी न किसी भाव वाले अवश्य होंगे।[32]

6. **लेश्या** : लेश्या की अपेक्षा से जीव छः प्रकार के होते हैं। क्रोध, मान, माया तथा लोभ रूप कषायों के सद्भाव में मन, वचन तथा काय की प्रवृत्ति को प्रेरित करने वाले आत्म परिणाम लेश्या कहलाते हैं। लेश्या औदयिक भाव हैं, जो कर्म के उदय होने पर ही होती है। आत्मा के भाव असंख्य हो सकते हैं, इस दृष्टि से लेश्याएँ भी असंख्य हैं, किन्तु व्यवहार के लिए उनको मुख्य रूप से छह भागों में विभक्त किया गया है। वे छह भाग निम्न प्रकार हैं – 1. कृष्ण लेश्या, 2. नील लेश्या, 3. कापोत लेश्या, 4. तेजोलेश्या, 5. पद्मलेश्या, 6. शुक्ल लेश्या।

कषाय की तीव्रता के कारण अति मलिन आत्म परिणाम कृष्ण लेश्या है। कषाय की कुछ अल्पता हो जाने से मलिन आत्म परिणाम नील लेश्या है। कापोत लेश्या में परिणामों की मलिनता नील लेश्या की अपेक्षा और भी कम होती है। इसी प्रकार तेजस्, पद्म और शुक्ल लेश्या में मलिनता की मात्रा अपेक्षाकृत अल्प से अल्पतर होती चली जाती हैं।[33]

7. **शरीर** : जीव के क्रिया करने के साधन को शरीर कहते हैं। संसारी जीवों के पाँच प्रकार के शरीर होते हैं – औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण।

1. **औदारिक शरीर** : जो शरीर उदार (स्थूल) हों, जो जलाया जा सके, जिसका छेदन भेदन हो सके, वह औदारिक शरीर कहलाता है।

2. **वैक्रिय शरीर** : जो शरीर छोटा-बड़ा, मोटा-पतला, एक अथवा अनेक रूप में विविध प्रकार की विक्रिया कर सके, वह वैक्रिय शरीर है।
3. **आहरक शरीर** : जो शरीर केवल किसी विशेष ऋद्धिधारी (चतुर्दशपूर्वी) मुनियों द्वारा रचा जा सके, वह आहारक शरीर कहलाता है।
4. **तैजस शरीर** : जो शरीर तैजोमय होने के कारण ग्रहण किए गए आहार आदि के परिपाक का हेतु और दीप्ति का निमित्त हो, वह तेजस शरीर है।
5. **कार्मण शरीर** : क्षण-प्रतिक्षण ग्रहण किया जाने वाला कर्म का समूह ही कार्मण शरीर कहलाता है।

तैजस और कार्मण शरीर प्रत्येक संसारी जीव के होते हैं। औदारिक शरीर केवल देव तथा नारकियों के होता है। आहारक शरीर का निर्माण विशेष ऋद्धिधारी मुनि ही कर सकते हैं। जब कभी चतुर्दशपूर्व पाठी मुनि को किसी सूक्ष्म विषय में संदेह हो जाता है और जब सर्वज्ञ का सन्निधान नहीं होता, तब वे अपना संदेह निवारण करने के लिए औदारिक शरीर से क्षेत्रांतर में जाना असंभव समझकर अपनी विशिष्ट ऋद्धि का प्रयोग करते हुए जो हस्त प्रमाण छोटे शरीर का निर्माण करते हैं, वह आहारक शरीर कहलाता है।[4] इस प्रकार शरीर की अपेक्षा से जीव पाँच प्रकार के होते हैं।

8. चौदह भूतग्राम भेद : जीवों के भेदों का इससे भी सूक्ष्म विवेचन जैन सूत्रों में है। समवायांग[5] में चौदह भूतग्राम (जीवों के समूह) कहे गए हैं ये भेद जीवों के पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक, सूक्ष्म तथा बादर (स्थूल) एवं संज्ञी तथा असंज्ञी रूप को ध्यान में रखकर किए गए हैं। पर्याप्तक जीव उन्हें कहते हैं, जो जन्म से पूर्व शरीरादि छह पर्याप्तियों को पूर्ण कर लेते हैं। जो इन पर्याप्तियों को पूर्ण किए बिना मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं, वे अपर्याप्तक कहलाते हैं। एकेन्द्रिय जीवों में सूक्ष्म तथा बादर भेद होते हैं। शेष जीवों के केवल स्थूल होने के कारण उनमें सूक्ष्म भेद नहीं पाया जाता। पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं-असंज्ञी तथा संज्ञी। असंज्ञी जीवों के मन नहीं होता और संज्ञी जीवों के मन होता है। मन का सद्भाव केवल पंचेन्द्रिय प्राणियों में ही है। अतः संज्ञी-असंज्ञी का भेद भी केवल उन्हीं में है। इस प्रकार से ये कुल चौदह भूत ग्राम निम्नलिखित हैं-

1. सूक्ष्म अपर्याप्तक एकेन्द्रिय
2. सूक्ष्म पर्याप्तक एकेन्द्रिय
3. बादर अपर्याप्तक एकेन्द्रिय
4. बादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय
5. अपर्याप्तक द्वीन्द्रिय
6. पर्याप्तक द्वीन्द्रिय

7. अपर्याप्तक त्रिन्द्रिय
8. पर्याप्तक त्रिन्द्रिय
9. अपर्याप्तक चतुरिन्द्रिय
10. पर्याप्तक चतुरिन्द्रिय
11. असंज्ञी अपर्याप्तक पंचेन्द्रिय
12. असंज्ञी पर्याप्तक पंचेन्द्रिय
13. संज्ञी अपर्याप्तक पंचेन्द्रिय
14. संज्ञी पर्याप्तक पंचेन्द्रिय

यहाँ यह भी दृष्टव्य है, कि जैन दर्शन जीव बहुत्ववादी है। वह प्रत्येक जीव को स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करता है। स्थानांग[२५] में कहा गया है, कि प्रत्येक शरीर के अनुसार एक जीव है। जीवों की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को देखकर सांख्य ने भी 'पुरुष' की अनेकता को स्वीकार किया है।[२६]

इस प्रकार जीव द्रव्य संसारी और मुक्त दो प्रकारों में विभाजित होकर भी मूल रूप से समान गुण और शक्ति वाला है।

2. पुद्गलास्तिकाय - पुद्गल द्रव्य का सामान्य लक्षण है - रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से युक्त होना।[२७] जो द्रव्य स्कंध अवस्था में पूरण अर्थात् अन्य-अन्य परमाणुओं से मिलना और गलन अर्थात् कुछ परमाणुओं का बिछुड़ना, इस तरह उपचय और अपचय को प्राप्त होता है, वह पुद्गल कहलाता है। समस्त दृश्य जगत् इस पुद्गल का ही विस्तार है। मूल दृष्टि से पुद्गल द्रव्य परमाणु रूप ही है। अनेक परमाणुओं से मिलकर जो स्कन्ध बनता है, वह संयुक्त द्रव्य है। स्कन्ध पर्याय स्कन्धान्तर्गत सभी पुद्गल-परमाणुओं की संयुक्त पर्याय है। वे पुद्गल-परमाणु जब तक अपनी बंध शक्ति से शिथिल या निबिड़ रूप में एक-दूसरे से जुटे रहते हैं, तब तक स्कन्ध कहे जाते हैं। इन स्कन्धों का निर्माण और बिखराव परमाणुओं की बंधशक्ति और देशशक्ति के कारण होता है।

पुद्गल द्रव्य के चार भेद होते हैं -1. स्कन्ध, 2. स्कन्धदेश, 3. स्कन्ध प्रदेश, 4. परमाणु।

पुद्गल पिण्डात्मक सम्पूर्ण वस्तु को स्कन्ध कहते हैं, जो अनन्तानन्त परमाणुओं के संयोग से बनता है। स्कन्ध के आधे को स्कन्ध देश कहते हैं और स्कन्ध देश के आधे को स्कन्ध प्रदेश कहते हैं। इस प्रकार विभाजन करते हुए अंततः जो अविभागी अंश प्राप्त होता है, उसे परमाणु कहते हैं।[२८]

परमाणु : परमाणु अविभाज्य, एक, शाश्वत, अशब्द, मूर्त रूप से उत्पन्न होने वाला तथा मूर्त स्कन्ध रूप पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु का समान कारण भी है। वह परिणमनशील नित्य स्कन्धों का निर्माण करने वाला है, काल तथा संख्या को

विभाजित करने वाला है। परमाणु स्कन्ध के भीतर है, किन्तु द्रव्य है।

परमाणु के अंश न होने का कथन द्रव्य की अपेक्षा से ही किया गया है। पर्याय रुप में तो उसके भी अंशो की कल्पना की गई है, क्योंकि एक ही परमाणु में वर्ण, रस, गन्ध आदि अनेक पर्याय हैं और वे सभी उस द्रव्य के भावरुप अंश हैं। इसलिए एक परमाणु के भी अनेक भाव परमाणु माने जाते हैं। प्रत्येक परमाणु में स्वभाव से एक रस, एक रुप, एक गन्ध और दो स्पर्श होते हैं। लाल, पीला, नीला, सफेद और काला इन पांच रुपों में से कोई एक रुप परमाणु में होता है, जो बदलता भी रहता है। तीता, कडुवा, कषायला, खट्टा, और मीठा इन पाँच रसों में से कोई एक रस परमाणुओं में होता है, जो परिवर्तित भी होता रहता है। सुगन्ध और दुर्गन्ध इन दो गन्धों में से कोई एक गन्ध परमाणु में अवश्य होती है। शीत और उष्ण में से एक, स्निग्ध और रुक्ष में से एक इस प्रकार कोई दो स्पर्श प्रत्येक परमाणु में अवश्य होते हैं। शेष मृदु, कर्कश, गुरु और लघु ये चार स्पर्श स्कन्ध अवस्था के हैं। परमाणु अवस्था में ये नहीं होते हैं। यह एक प्रदेशी होता है। यह स्कन्धों का कारण भी है और स्कन्धों के भेद से उत्पन्न होने के कारण उनका कार्य भी है। पुद्गल की परमाणु अवस्था स्वाभाविक पर्याय है और स्कन्ध अवस्था विभाव-पर्याय है।

परमाणु स्वयं अशब्द होते हुए भी शब्द का कारण है। शब्द स्कन्धों के परस्पर स्पर्श से उत्पन्न होते हैं तथा स्कन्ध परमाणु दल का संघात है। इस प्रकार शब्द पुद्गल स्कन्ध पर्याय के रुप में नियत रूप से उत्पन्न होता है।[10] शब्द की उत्पत्ति आकाश से नहीं होती, अपितु भाषा वर्गणा के स्कन्धों से होती है। आकाश अमूर्त द्रव्य है, अतः उसका गुण भी अमूर्त होना चाहिए। इन्द्रियाँ मूर्त हैं, तथा मूर्त पदार्थों का ही ज्ञान कराने में सक्षम हैं। अतः श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाने वाला शब्द पुद्गलात्मक सिद्ध होता है। शब्द के दो भेद हैं-

1. **प्रायोगिक** : मनुष्यादि के प्रयोग से उत्पन्न होने वाला शब्द प्रायोगिक है।
2. **वैश्रासिक** : मेघादि से उत्पन्न होने वाला शब्द वैश्रासिक है। परमाणु दो प्रकार के होते हैं - सूक्ष्म और व्यवहारिक। सूक्ष्म परमाणु स्थाप्य है अर्थात् व्याख्या के अयोग्य।[11] अनन्तानन्त सूक्ष्म परमाणुओं के समुदायों के सम्मिलन से एक व्यावहारिक परमाणु होता है। जो तीक्ष्ण से तीक्ष्ण शस्त्र से भी छेदन-भेदन को प्राप्त नहीं होता है, उसे केवलज्ञानियों ने व्यावहारिक परमाणु कहा है।

परमाणु द्वयणुक, त्र्यणुक आदि स्कन्धों का कारण होता है, किन्तु उसका कोई कारण नहीं होता। वह सूक्ष्म और नित्य होता है। उसके द्वारा निष्पन्न कार्यों से ही उसकी पहचान होती है। अभव्यराशि से अनन्तगुणा अधिक और सिद्ध राशि से अनन्तवें भाग कम परमाणुओं का जो स्कन्ध बनता है। वही जीव द्वारा ग्रहण करने

योग्य होता है।

स्कंध : एक से अधिक परमाणुओं के संयोग से स्कंध बनता है। दो परमाणुओं के मिलने से द्विप्रदेशी स्कन्ध, द्वयणुक, तीन परमाणुओं के मिलने से त्रिप्रदेशी स्कंध त्र्यणुक यावत् संख्यात् परमाणुओं के मिलने से संख्यात प्रदेशी स्कंध असंख्यात परमाणुओं के मिलने से असंख्यात प्रदेशी स्कंध और अनन्त परमाणुओं के मिलने से अनन्त प्रदेशी स्कंध बनता है। इन स्कन्धों में भेद होने से न्यूनता होती है और संयोग होने से वृद्धि होती है। इस प्रकार पुद्गलों में भेद और संघात होते रहते हैं। अतः पुद्गल द्रव्य के स्कन्ध अन्य द्रव्यों की तरह नियत रूप नहीं है।

पुद्गल तथा अन्य द्रव्यों में अन्तर यह है, कि पुद्गल के प्रदेश अपने स्कन्ध से पृथक् हो सकते हैं, लेकिन अन्य चार द्रव्यों के प्रदेश अपने-अपने स्कन्ध से अलग नहीं हो सकते क्योंकि पुद्गल के अतिरिक्त अन्य द्रव्य अमूर्त है। अमूर्त का स्वभाव खण्डित न होना है। पुद्गल द्रव्य मूर्त है। मूर्त के विभाग हो सकते हैं। संश्लेष द्वारा मिलने की तथा विश्लेष के द्वारा अलग होने की शक्ति मूर्त द्रव्य में होती है। इसी अन्तर के कारण पुद्गल स्कन्ध के छोटे-बड़े सभी अंशों को अवयव कहते हैं। अवयव अर्थात् अलग होने वाला अंश। तीनों लोकों की रचना जिन स्कन्धों से मिलकर हुई है, वे स्कंध परिणमन की अपेक्षा से छः प्रकार के बताए गए हैं[41] -

1. **अति बादर-बादर (स्थूल-स्थूल)** : जो स्कंध दो खण्ड करने पर पुनः न मिल सकें, वे लकड़ी, पत्थर, पर्वत आदि अतिस्थूल-स्थूल हैं।
2. **बादर (स्थूल)** : जो स्कन्ध खण्डित होने पर भी अपने-आप मिल जावे, वे स्थूल स्कन्ध है, जैसे जल, दूध, घी आदि।
3. **बादर-सूक्ष्म** : जो स्कन्ध दिखने में तो स्थूल हों, लेकिन छेदने भेदने और ग्रहण करने में न आवे, वे छाया, प्रकाश, अन्धकार, चाँदनी आदि बादर-सूक्ष्म स्कंध हैं।
4. **सूक्ष्म-बादर** : जो चक्षुरिन्द्रिय से अग्राह्य होने से कारण सूक्ष्म किन्तु अन्य इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य हो। अर्थात् जो सूक्ष्म होने पर भी पंचेन्द्रिय द्वारा स्थूल रूप से अनुभव की जा सके, वे पाँचों इन्द्रियों के विषय-स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण तथा शब्द सूक्ष्म-बादर स्कंध हैं।
5. **सूक्ष्म** : जो सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रियों से ग्रहण न किये जा सकें, वे कर्म वर्गणा आदि सूक्ष्म स्कन्ध हैं।
6. **सूक्ष्म-सूक्ष्म** : कर्म वर्गणा से भी छोटे द्वयणुक स्कन्ध तक पुद्गल द्रव्य सूक्ष्म-सूक्ष्म हैं।

जैन दर्शन के अनुसार वीतराग अतीन्द्रिय सुख के अनुभव से रहित जीवों की उपभोग्य पंचेन्द्रिय विषय, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच शरीर, मन, अष्ट कर्म तथा अन्य भी जो

कुछ मूर्त पदार्थ हों, वे सभी पुद्गल हैं ।

एक ही पुद्गल मौलिक है : पुद्गलों के अनेक प्रकार से भिन्न-भिन्न रूप में परिणमन होते रहते हैं। अतः पुद्गलों के अनन्तानन्त भेद हैं। तथापि सभी में मौलिक रूप से एक ही पुद्गल द्रव्य है। आधुनिक विज्ञान ने पहले 92 मौलिक तत्त्व (Elements) खोजे थे। उन्होंने इनके वजन और शक्ति के अंश निश्चित किए थे। मौलिक तत्त्व का अर्थ होता है - 'एक तत्त्व का दूसरे रूप न होना।' परन्तु आगे शोधकार्य से अब एक एटम (Atom) ही मूल तत्त्व बच गया है। यही एटम अपने में चारों ओर गतिशील इलेक्ट्रोन और प्रोटोन की संख्या के भेद से ऑक्सीजन, हाइड्रोजन, चाँदी, सोना, लोहा, ताँबा, यूरेनियम, रेडियम आदि अवस्थाओं को धारण कर लेता है। ऑक्सीजन के अमुक इलेक्ट्रोन या प्रोटोन को तोड़ने या मिलाने पर वही हाइड्रोजन बन जाता है। इस तरह ऑक्सीजन और हाइड्रोजन दो मौलिक न होकर एक तत्त्व की अवस्था विशेष ही सिद्ध होते हैं। मूलतत्त्व केवल (Atom) परमाणु है। यह मूल तत्त्व विज्ञान ने अब खोजा है, जिसे जैन दार्शनिकों ने सदियों पहले जान लिया था और एक ही मूल तत्त्व पुद्गल परमाणु का प्रतिपादन किया था।

पुद्गल के कार्य : पुद्गलों के विभिन्न प्रकार से परिणमन होते हैं, अतएव उनके कार्य भी अनेक प्रकार के हैं। यह सब शब्द, आकृति, प्रकाश, गर्मी, छाया, अन्धकार आदि का परिवहन तीव्र गतिशील पुद्गल स्कन्धों के द्वारा ही हो रहा है। परमाणु बम की विनाशक शक्ति और हाइड्रोजन बम की महाप्रलय शक्ति से हम पुद्गल परमाणु की अनन्त शक्तियों का कुछ अनुमान लगा सकते हैं।

एक दूसरे के साथ बँधना, सूक्ष्मता, स्थूलता, चौकोण, षट्कोण आदि विविध आकृतियाँ, सुहावनी चाँदनी, मंगलमय उषा की लाली आदि सभी कुछ पुद्गल स्कंधों की पर्यायें हैं। निरन्तर गतिशील और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणमन वाले अनन्तानन्त परमाणुओं के परस्पर संयोग और विभाग से कुछ नैसर्गिक और कुछ प्रायोगिक परिणमन इस विश्व के रंगमंच पर प्रतिक्षण हो रहे हैं। यह सब कुछ माया या अविद्या नहीं है, ठोस सत्य है। स्वप्न की तरह काल्पनिक नहीं है। अपितु अपने में वास्तविक अस्तित्व रखने वाले पदार्थ हैं। विज्ञान ने एटम में जिन इलेक्ट्रोन और प्रोटोन को अविराम गति से चक्कर लगाते रखा है, वह सूक्ष्म या अतिसूक्ष्म पुद्गल स्कन्ध में बँधे हुए परमाणुओं का ही गतिचक्र है। सब अपने-अपने क्रम से जब जैसी कारण सामग्री पा लेते हैं, वैसा परिणमन करते हुए अपनी अनन्त यात्रा कर रहे हैं। मनुष्य की कितनी सी शक्ति! वह कहाँ तक इन परिणामों को प्रभावित कर सकता है। हाँ, जहाँ तक अपनी सूझबूझ और शक्ति के अनुसार वह यन्त्रों के द्वारा इन्हें प्रभावित और नियन्त्रित कर सकता था, वहाँ तक उसने किया भी है। पुद्गल का नियन्त्रण पौद्गलिक साधनों से ही हो सकता है और वे साधन भी परिणमनशील हैं। अतः हमें

द्रव्य की मूल स्थिति के आधार से ही विश्वव्यवस्था के आधारभूत तत्त्वों को जानने का प्रयास करना चाहिये।

जैन दर्शन के अनुसार पुद्गल शब्द जड़ पदार्थ के अर्थ में रूढ़ है। बौद्ध दर्शन में पुद्गल शब्द जीव के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैन दर्शन में ऐसा नहीं है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक मूर्त वस्तु समान रूप से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श युक्त हैं। वैशेषिक आदि दर्शनों में पृथ्वी को चतुर्गुण, जल को गन्ध रहित त्रिगुण, तेज को गन्ध-रस रहित द्विगुण और वायु को केवल स्पर्श गुण युक्त माना गया है। मन को भी उन्होंने स्पर्शादि चारों गुण युक्त नहीं माना है। उनका निषेध करते हुए जैन दर्शन यह बताता है, कि जितनी भी मूर्त वस्तुएँ हैं, वे सब स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण वाली हैं। मन भी पुद्गलमय होने के कारण स्पर्शादि गुण वाला है। वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श के क्रमशः पाँच, दो, पाँच और आठ भेद हैं। इन बीस भेदों में भी प्रत्येक के संख्यात, असंख्यात और अनन्तभेद तरतम भाव से होते हैं। जैसे मृदुत्व एक गुण है, पर प्रत्येक वस्तु की मृदुता में कुछ न कुछ तरतमता होती है। इस तारतम्य के कारण उसके संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद हो जाते हैं।

इस प्रकार पुद्गल द्रव्य की अनन्त पर्यायें हैं, उन सबका विवेचन सम्भव नहीं है। यहाँ कुछ ऐसी पुद्गल पर्यायों का विवेचन करेंगे, जिनको अन्य दार्शनिक पुद्गल पर्याय नहीं मानते, किन्तु वे सभी वास्तव में पौद्गलिक पर्यायें ही हैं।

1. **शब्द** : जैन दर्शन ने शब्द को भाषा वर्गणा के पुद्गलों का एक विशिष्ट प्रकार के परिणाम के रूप में प्रतिपादित किया है। वैशेषिक और नैयायिक आदि दर्शनों ने शब्द को आकाश का गुण माना है। आकाश अमूर्त है, इसलिए उसका गुण भी अमूर्त होना चाहिये। परन्तु शब्द तो पौद्गलिक है, वह आकाश का गुण कैसे हो सकता है? शब्द की पौद्गलिकता आज विज्ञान के द्वारा भी सिद्ध हो चुकी है। रेडियो और ग्रामोफोन आदि विविध यन्त्रों से शब्द को पकड़कर और उसे इष्ट स्थान में भेजकर उसकी पौद्गलिकता प्रयोग सिद्ध कर दी है। यह शब्द पुद्गल के द्वारा ग्रहण किया जाता है, पुद्गल से धारण किया जाता है, पुद्गलों से रूकता है, पुद्गलों को रोकता है, पुद्गल कर्ण आदि के पर्दों को फाड़ देता है और पौद्गलिक वातावरण में अनुकम्पन पैदा करता है, अतः पौद्गलिक है। स्कन्धों के परस्पर संयोग, संघर्षण और विभाग से शब्द उत्पन्न होते हैं। जिह्वा और तालु आदि के संयोग से नाना प्रकार के भाषात्मक प्रायोगिक शब्द उत्पन्न होते हैं। इसके उत्पादक उपादान कारण तथा स्थूल निमित्त कारण दोनों ही पौद्गलिक हैं। शब्द दो प्रकार के होते हैं –

1. **प्रयोगज** : जो शब्द आत्मा के प्रयत्न से उत्पन्न होता है, वह प्रयोगज है।
2. **वैश्रसिक** : जो प्रयत्न के बिना ही प्राकृतिक रूप से स्कंधों के घर्षण से उत्पन्न होता है, वह वैश्रासिक हैं, जैसे मेघ की गर्जना आदि।

प्रयोगज शब्द छः प्रकार के होते हैं -

1. **भाषा** : मनुष्यादि की व्यक्त और पशु-पक्षियों की अव्यक्त ऐसी अनेक विध भाषाएँ हैं।
2. **तत** : चमड़े से लिपटे हुए वाद्यों का शब्द जैसे-ढोल, मृदंग आदि।
3. **वितत** : तार वाले वीणा, सारंगी आदि वाद्यों का शब्द।
4. **घन** : झालर घंटे आदि का शब्द
5. **शुषिर** : फूँककर बजाये जाने वाले शंखादि का शब्द।
6. **संघर्ष** : घर्षण से उत्पन्न शब्द जैसे-लकड़ी आदि के घर्ष का शब्द।

2. **छाया** : प्रकाश पर आवरण आ जाने से छाया होती है। इसके दो प्रकार हैं - 1. दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थों में साफ-साफ दिखाई देने वाला बिम्ब और 2. अस्वच्छ वस्तुओं पर पड़ने वाली परछाई प्रतिबिम्ब रूप छाया है। छाया पुद्गलों का कार्य है - प्रकाश का अभाव मात्र नहीं है, जैसा कि नैयायिकादि दर्शन मानते हैं।

3. **तम** : अन्धकार भी पुद्गलों का कार्य है। यह प्रकाश का अभाव मात्र नहीं है, अपितु कृष्णवर्णादि वाले पुद्गलों का पिण्ड है। नैयायिकादि दर्शन तम को प्रकाश का अभाव मात्र मानते हैं। उनका खण्डन इस विधान द्वारा होता है।

4. **आतप-उद्योत** : सूर्य आदि का उष्ण प्रकाश आतप है और चन्द्रमणि खद्योत आदि का शीतल प्रकाश उद्योत है। यद्यपि विज्ञान प्रकाश, गर्मी और शब्द को भी अभी केवल शक्ति ही मानता है। लेकिन ये केवल शक्तियाँ नहीं है, क्योंकि शक्तियाँ निराश्रय नहीं रह सकतीं। वे तो किसी न किसी आधार में ही रहेंगी और उनका आधार है - यह पुद्गल द्रव्य। प्रकाश और गर्मी के स्कन्ध एक प्रदेश से सुदूर देश तक जाते हुए अपने वेग (Force) के अनुसार वातावरण को प्रकाशमय और गर्म बनाते हुए जाते हैं। यों तो जब प्रत्येक परमाणु गतिशील है और उत्पाद-व्यय स्वभाव के कारण प्रतिक्षण नूतन पर्यायों को धारण कर रहा है, तब शब्द, प्रकाश और गर्मी को इन्हीं परमाणुओं की पर्याय मानने में ही वस्तु स्वरूप का संरक्षण रह पाता है।

5. **पृथ्वी आदि स्वतंत्र द्रव्य नहीं** : नैयायिक वैशेपिक पृथ्वी के परमाणुओं में रुप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि चारों गुण, जल के परमाणुओं में रूप, रस और स्पर्श ये तीन गुण, अग्नि के परमाणुओं में रूप और स्पर्श ये दो गुण और वायु में केवल स्पर्श इस प्रकार गुण भेद मानकर चारों को स्वतंत्र द्रव्य मानते हैं। किन्तु जब प्रत्यक्ष से सीप में पड़ा हुआ जल, पार्थिव मोती बन जाता है। पार्थिव लकड़ी अग्नि बन जाती है। पार्थिव हिम पिघलकर जल बन जाता है और ऑक्सीजन व हाइड्रोजन दोनों वायु मिलकर जल बन जाती है। तब इनमें परस्पर गुण भेद कृत जाति भेद मानकर पृथक् द्रव्यत्व कैसे सिद्ध हो सकता है। जैन दर्शन ने पहले से ही समस्त परमाणुओं का परस्पर परिणमन देखकर एक ही पुद्गल द्रव्य स्वीकार किया है। यह तो हो सकता है,

कि अवस्था विशेष में कोई गुण प्रकट हों और कोई अप्रकट। जैसे अग्नि में रस अप्रकट रह सकता है। इस प्रकार जिन दो पदार्थों का एक-दूसरे के रूप में परिणमन हो जाता है, वे दोनों पृथक् जातीय द्रव्य नहीं हो सकते। इसीलिए आज के विज्ञान को अपने प्रयोगों से उसी एक जातिक अणुवाद पर आना पड़ा है।

6. **भेद** : स्कन्ध रूप में परिणत पुद्गलपिण्ड का विभाग होना भेद है। इसके पाँच प्रकार हैं-

1. **आत्करिक** : चीरे या खोदे जाने पर होने वाला लकड़ी या पत्थर का भेदन।
2. **चौणिक** : कण-कण रूप में चूर्ण हो जाना, जैसे सत्तू, आटा आदि।
3. **खण्ड** : टुकड़े-टुकड़ होकर टूट जाना, जैसे घड़े के कपालादि।
4. **प्रतर** : परते या तहें निकालना जैसे अभ्रक, भोज्यपत्र आदि।
5. **अनुतट** : छाल निकालना-जैसे बाँस, ईख आदि।

7. **संस्थान** :

संस्थान दो प्रकार का है -इत्थंत्व और अनित्थंत्व। जिस आकार की किसी के साथ तुलना की जा सके वह इत्थंत्व है और जिसकी तुलना न की जा सके वह अनित्थंत्व हैं। मेघ आदि का संस्थान अनित्थंत्व है, क्यों अनियताकार होने से किसी एक प्रकार से उसका निरुपण नहीं किया जा सकता। अन्य पदार्थों का संस्थान इत्थंत्व रूप है, जैसे गेंद, सिंघाड़ा आदि गोल, त्रिकोण, दीर्घ, परिमण्डल (वलयाकार) आदि रूप में इत्थंत्व रूप संस्थान के अनेक भेद हैं।

8. **स्थूलत्व-सूक्ष्मत्व** : इनके दो-दो भेद हैं, अन्त्य और आपेक्षिका। जो सूक्ष्मत्व या स्थूलत्व अपेक्षा-भेद से घटित न होवें अन्त्य और जो अपेक्षाभेद से घटित होवें आपेक्षिक हैं। परमाणुओं का सूक्ष्मत्व तथा अचित महास्कंध का स्थूलत्व अन्त्य हैं, क्योंकि परमाणुओं से अधिक सूक्ष्म और कोई नहीं है। अचित्त महास्कन्ध से स्थूलतर कोई नहीं है इसलिए ये दोनों अन्त्य हैं, मध्यवर्ती स्कन्धों में सूक्ष्मत्व-स्थूलत्व आपेक्षिक है, जैसे आँवले का सूक्ष्मत्व और बिल्व आँवले से बड़ा है अतः स्थूल है। लेकिन वही आँवला बेर की अपेक्षा स्थूल है और वही बिल्व की अपेक्षा से सूक्ष्म है।

9. **स्निग्धत्व और रुक्षत्व** : ये दोनों स्पर्श विशेष हैं। ये परिणमन की तरतमता के कारण अनेक प्रकार के होते हैं। तरतमता यहाँ तक होती है, कि निकृष्ट स्निग्धत्व और निकृष्ट रुक्षत्व तथा उत्कृष्ट स्निग्धत्व और उत्कृष्ट रुक्षत्व के बीच अनन्तानन्त अंशों का अन्तर रहता है। सबसे निकृष्ट अंश को जघन्य कहते हैं। सबसे अधिक अंश को उत्कृष्ट कहते हैं, शेष सब मध्यम अंश हैं।

10. **बंध** : पुद्गलों के पारस्परिक संबंध को बन्ध कहते हैं। यह बन्ध दो प्रकार से होता है - 1. प्रायोगिक बन्ध तथा 2. वैस्रसिक बन्ध। जीव और शरीर का

सम्बन्ध तथा लाख और लकड़ी का सम्बन्ध प्रयत्न सापेक्ष होने से प्रायोगिक बन्ध है। बिजली, मेघ, इन्द्रधनुष आदि का पौद्गलिक संश्लेष प्रयत्न निरपेक्ष होने से वैश्रसिक बन्ध है। पुद्गल-परमाणुओं में पाये जाने वाले स्वाभाविक स्निग्धता और रुक्षता के कारण ही उनमें परस्पर बंध होता है, जिसके द्वारा स्कन्धों की उत्पत्ति होती है।

स्निग्ध और रुक्ष अवयवों का बन्ध दो प्रकार का होता है - सदृश और विसदृश। स्निग्ध का स्निग्ध के साथ तथा रुक्ष का रुक्ष के साथ बन्ध होना सदृश बन्ध है और स्निग्ध का रुक्ष के साथ संबंध होना विसदृश बन्ध है।

बन्ध के कुछ विशेष नियम और अपवाद हैं। जघन्य अंश वाले स्निग्ध और रुक्ष अवयवों का बन्ध नहीं होता। समान अंश वाले स्निग्ध का स्निग्ध के साथ और रुक्ष का रुक्ष के साथ बंध नहीं होता। दो अंश अधिक वाले आदि अवयवों का ही बन्ध होता है। सदृश-विसदृश बंध में जो अधिकांश होता है, वह ही नाश को अपने रूप में बदल देता है। जैसे- पांच अंश स्निग्धत्व तीन अंश रूक्षत्व को स्निग्धत्व में बदल देता है। रूक्षत्व अधिक हो तो वह स्निग्धत्व को रूक्षत्व में बदल देता है। विसदृश बंध में समांश होने पर कोई भी एक सम दूसरे सम को अपने रूप में परिणत कर लेता है। अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार कभी स्निग्धत्व रूक्षत्व को स्निग्धत्व में बदल देता है, कभी रूक्षत्व स्निग्धत्व को रूक्षत्व में बदल देता है। समांश में सदृश बन्ध तो होता ही नहीं, विसदृश बन्ध ही होता है। इस प्रकार से पुद्गल परमाणुओं के बन्ध की प्रक्रिया के फलस्वरुप ही विविध प्रकार के स्कन्धों का निर्माण होता है।

जैन ग्रन्थों में पुद्गल द्रव्यों की जिन-कर्मवर्गणा, नोकर्मवर्गणा, आहार वर्गणा, भाषा वर्गणा आदि रूप से 23 प्रकार की वर्गणाओं का वर्णन मिलता है, वे सभी स्वतन्त्र द्रव्य नहीं हैं। एक ही पुद्गल जातीय स्कन्धों में ये विभिन्न प्रकार के परिणमन, विभिन्न समाग्री के अनुसार विभिन्न परिस्थितियों में बन जाते हैं। संक्षेप में वीतराग अतीन्द्रिय सुख के अनुभव से रहित जीवों की उपभोग्य पंचेन्द्रिय विषय, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच शरीर, मन, अष्ट कर्म तथा अन्य भी जो कुछ मूर्त पदार्थ हों वे सभी पुद्गल हैं।

3. धर्मास्तिकाय: धर्मास्तिकाय को चेतना शून्य होने के कारण अजीव द्रव्य के अन्तर्गत रखा गया है। धर्मास्तिकाय स्पर्श, गन्ध, रस और वर्ण गुणों से रहित होने के कारण अमूर्त स्वभाव वाला द्रव्य है, इसीलिए अशब्द हैं। समस्त लोकाकाश में व्याप्त होकर रहने से लोकव्यापी असंख्य प्रदेशी हैं।[1] लोकाकाश से बाहर इसकी सत्ता नहीं है। अयुतसिद्ध प्रदेश के कारण सम्पूर्ण लोकाकाश में धर्मास्तिकाय का अखण्ड अवगाहन है। इसी कारण उसे पंचास्तिकाय में सृष्ट कहा गया है।

धर्मास्तिकाय अगुरु लघु, गुण, अंश रुप से सदैव परिणमित होता है। वह नित्य है, कारणभूत है तथा स्वयं कार्य नहीं है। धर्मास्तिकाय को गति क्रिया युक्त कहा गया है। जिस प्रकार जल मछलियों के गमन में सहायक होता है, उसी प्रकार धर्मद्रव्य

जीव तथा पुद्गलों के गमन में उदासीन अविनाभावी सहाय मात्र है। गति में सहायक तत्व होने से ही धर्मास्तिकाय को गति क्रिया युक्त कहा गया है। यह स्वयं गमन न करते हुए भी गमन में सहायक होता है। जीव कर्म, नोकर्म पुद्गलों के बाह्य निमित्त से सक्रिय हैं। ये दोनों स्वयं गति करते हैं, धर्मास्तिकाय उसी प्रकार सहाय मात्र है, जैसे जीवों के गमनागमन के लिए पृथ्वी सहायक है। जो भी गति रूप हलन- चलनात्मक प्रवृत्तियाँ हैं, वे सब धर्मास्तिकाय के अस्तित्व में ही संभव हैं।

धर्मास्तिकाय की सिद्धि : जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य किसी भी दर्शनकार ने धर्मास्तिकाय के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया है। अतएव धर्मास्तिकाय के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए जो प्रमाण दिए गए हैं, वे इस प्रकार हैं-

जैन दर्शन ने गतिशील जीव और पुद्गलों की गति को नियमित करने वाले नियामक तत्व के रुप में धर्मास्तिकाय के अस्तित्व को स्वीकार किया है। यदि ऐसे किसी नियामक तत्व को न माना जाय तो इस विश्व का नियत संस्थान घटित नहीं हो सकता। जड़ और चेतन द्रव्य की गतिशीलता अनुभवसिद्ध है।

यदि वे अनन्त आकाश में चले जावें तो इस विश्व का नियत संस्थान कभी सामान्य रूप से एक सा दिखाई नहीं देगा। क्योंकि इकाई रूप में अनन्त पुद्गल और अनन्त जीव अनन्त आकाश में बेरोकटोक संचार के कारण इस तरह अलग-अलग हो जायेंगे, कि उनका मिलना और नियत सृष्टि के रूप में दिखाई देना असंभव हो जायेगा। इसलिए जैन दर्शन ने जीव और पुद्गलों की सहज गतिशीलता को नियमित करने वाला नियामक तत्त्व धर्मास्तिकाय माना है। इस प्रकार स्थिति मर्यादा के नियामक के रूप में अधर्मास्तिकाय को स्वीकार किया है। धर्म-अधर्म द्रव्यों का यह कार्य आकाश द्रव्य के मानने से सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि आकाश द्रव्य अनन्त और अखण्ड होने से जड़ तथा चेतन द्रव्यों को अपने में सर्वत्र गति, स्थिति करने से रोक नहीं सकता। इसी प्रकार दृश्यादृश्य विश्व के संस्थान की अनुपपत्ति बनी रहेगी। इसलिए धर्म-अधर्म द्रव्यों को आकाश से भिन्न एवं स्वतंत्र मानना न्याय संगत एवं तर्क सम्मत है। जबकि जड़ और चेतन स्वयं गतिशील हैं, तब मर्यादित आकाश क्षेत्र में उनकी गति अपने स्वभाववश नहीं मानी जा सकती, उनके लिए किसी नियामक की आवश्यकता है। इसीलिए गति और स्थिति के नियामक के रूप में जैन दर्शन ने क्रमशः धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय के अस्तित्व को माना है।

धर्म द्रव्य और इथर (Ether) : जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य किसी भारतीय-दर्शन में गतिशल एवं स्थित होने वाले पदार्थों की गति और स्थिति में सहायक धर्म और अधर्म द्रव्य को स्वीकार नहीं किया गया है। लेकिन विज्ञान ने ऐसा ही कुछ स्वीकार किया है।

वैज्ञानिकों ने जब भौतिक पदार्थों का गहराई से अन्वेषण किया, तब वे सोचने

लगे, कि सूर्य, चन्द्र, ग्रहों एवं तारों के मध्य में जो बहुत लम्बा चौड़ा शून्य क्षेत्र खाली पड़ा है, उसमें से होकर प्रकाश किरणें (Ray of Light) एक स्थान से दूसरे स्थान की दूरी को किस माध्यम (Medium) से पूरा करती है। प्रकाश (Light) भारवान पदार्थ है, अतः यह कदापि संभव नहीं हो सकता, कि बिना किसी माध्यम के वह स्वतः ही एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँच जाए। इस समस्या के उत्पन्न होने पर माध्यम को ढूँढ निकालने का प्रयास प्रारम्भ हुआ और इस अन्वेषण के परिणामस्वरूप वैज्ञानिकों ने (Light) प्रकाश की गति में इथर (Ether) को माध्यम स्वीकार किया। जिस प्रकार जैन दर्शन ने गति में धर्मद्रव्य को सहायक माना, उसी प्रकार विज्ञान ने Ether को प्रकाश की गति में माध्यम (Medium of Motion for light) स्वीकार किया है। गति में सहायक होने पर भी जैन दर्शन द्वारा मान्य धर्म और विज्ञान द्वारा स्वीकृत इथर के स्वरूप में कुछ भिन्नता भी है। सर्व प्रथम इथर को वैज्ञानिक अभौतिक नहीं, भौतिक पदार्थ मानते थे। उसमें विशेष प्रकार और परिमाण में लचक एवं घनता भी है। इस लचक एवं घनता का परिणाम भी बताया जाता था, परन्तु वह सन्देह से परे नहीं था।

बीसवीं शताब्दी में इस सम्बन्ध में जो वैज्ञानिक अन्वेषण हुए उसने वैज्ञानिकों की पुरानी परिभाषाओं को बदल दिया है। आइन्सटीन के सापेक्षवाद (Theory of relaticity) के अनुसार इथर (Ether) अभौतिक (Non Moterial Non Atomic) है, लोक में व्याप्त है, नहीं देखा जा सकने वाला एक अखण्ड द्रव्य जो अन्य भौतिक द्रव्यों (Material Substance) से भिन्न है।

एडविन एडसर (Eduin Edser) ने अपनी पुस्तक Light में लिखा है - इथर किस प्रकार का था? इसके सम्बन्ध में तुरन्त कठिनायाँ परिलक्षित होने लगीं। क्योंकि यह सिद्ध हो चुका था -

1. इथर सब गैसों से पतला है - Tinner than the thinest gas
2. फौलाद से भी अधिक सघन है - More rigid than steel.
3. सर्वत्र नितान्त एक सा है - Absolutely the same every where.
4. भार-शून्य है - Absolutely weightless.
5. किसी पड़ौसी इलेक्ट्रोन के निकट शीशे से भी अधिक भारी है - In the neighbourhood of any electron cmmensely heavier than lead.

धर्म द्रव्य और इथर की तुलना करते हुए प्रो॰ जी॰आर॰ जैन, एम॰सी॰ ने अपनी पुस्तक में लिखा है - 'यह प्रामाणित हो चुका है, कि जैन दार्शनिक और आधुनिक वैज्ञनिक द्वारा यहाँ तक पूर्णतः एकमत है, कि धर्म द्रव्य या विज्ञान द्वारा मान्य इथर अभौतिक, अपरमाणिक, अविभाज्य, अखण्ड, अरुप, आकाश के समान व्याप्तगति

का अनिवार्य माध्यम और अपने आप में स्थित है।'

'Thus it is proved that science and Jain Physics agree absolutely so for as they call Dharm (Ether) non material, non-atomic, non discreet, continuous, co-extensive with space, indivisible and as a necessary medium for motion and one which does not it self move.[44]

इस प्रकार विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है, कि जीव और पुद्गल (Matter) जो गतिशील है, उनकी गति में सहायक द्रव्य अवश्य है। जिस प्रकार सभी द्रव्यों को स्थान या आकाश देने वाला आकाश द्रव्य है, उसी प्रकार गति का माध्यम भी एक द्रव्य है। उसे जैन आगमों में धर्म-द्रव्य कहा है और वैज्ञानिक उसे इथर कहते हैं। इथर या धर्म द्रव्य के अभाव में कोई भी पदार्थ भले ही वह जड़ हो या चेतन, गति नहीं कर सकता।[45]

4. अधर्मास्तिकाय : जीव और पुद्गलों की स्थिति में सहायक होने वाला तत्त्व अधर्मास्तिकाय कहा जाता है। जैसे वृक्ष की छाया पथिक के ठहरने में निमित्त कारण होती है, इसी तरह अधर्मास्तिकाय जीव व पुद्गलों की स्थिति में सहायक होता है। अधर्मास्तिकाय स्थिति में प्रेरक नहीं है, अपितु उपकारक-सहायमात्र है। स्थिति का नियामक तत्त्व होने से उसका अस्तित्व सिद्ध होता है। जो भी स्थिति रूप भाव है, वे सब अधर्मास्तिकाय के होने पर ही होते हैं। धर्म तथा अधर्म दोनों द्रव्य ही लोक और अलोक का विभाजन करते हैं। लोक में इन दोनों की उपस्थिति से ही पुद्गल व जीवों का गमन और स्थिति होते हैं। अलोक में इन दोनों की अनुपस्थिति के कारण ही अन्य कोई भी द्रव्य का गमनागमन या स्थिति संभव नहीं है। अधर्मास्तिकाय के असंख्यात प्रदेश हैं। यह सम्पूर्ण लोकाकाश व्यापी है। धर्मास्तिकाय की तरह यह एक अखण्ड अविभाज्य इकाई है। इसके भी तीन भेद हैं - स्कन्ध, देश और प्रदेश। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण की अपेक्षा इसके पाँच भेद हैं। अधर्मास्तिकाय द्रव्य से एक है, क्षेत्र से सम्पूर्ण लोक व्यापी है, काल से अनादि-अनन्त है, भाव से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श से रहित है और गुण से जीव और पुद्गलों की स्थिति में सहायक है।

अधर्म द्रव्य (Medium of rest for soul and matter) : जैन विचारक प्रसंग के अनुसार यह प्रश्न करते हैं, कि अणु-परमाणु (Atoms) एक साथ मिलकर संसार में लोक (Universe) में ही महास्कन्ध का निर्माण क्यों करते हैं? वे महास्कन्ध से परे बिखरकर अनन्त आकाश (Infinite Space)अथवा अलोक-आकाश में क्यों नहीं जाते?

इससे यह स्पष्ट होता है, कि लोक आकाश (Finite Space) के आगे संसार (niverse) नहीं है। वास्तविक सत्य यह है, कि लोक का निर्माण स्थायी है।

इसलिए लोक क्रमबद्ध या नियमबद्ध है। उसमें अन्य द्रव्यों की उपस्थिति इस बात का संकेत है, कि उनमें परस्पर संघर्ष नहीं है अथवा वे एक दूसरे के अवरोधक नहीं हैं, जो इस बात का प्रमाण देता है, कि लोक का ढाँचा स्थायी है। यह एक सैद्धान्तिक सर्तय तथ्य है, कि लोक के मध्य में गतिशील अणु द्रव्य की शक्ति के सिद्धान्त से आबद्ध हैं। यह द्रव्य-शक्ति गतिमान अणु को संसार में ही रोके रखती है, बाहर नहीं जाने देती। इस शक्ति या द्रव्य (Substance) को अधर्म द्रव्य (Medium of rest for soul and matter) कहा गया है।

अधर्म द्रव्य और गुरुत्वाकर्षण (Gravitation)- वैज्ञानिकों की यह जिज्ञासा, कि पदार्थ किस शक्ति से आकर्षित होकर पृथ्वी की ओर आते हैं और गृह, नक्षत्र एवं तारे आदि किस आकर्षण के कारण सूर्य के चारों ओर घूमते हैं। यह आकर्षण-शक्ति (Cementry force) क्या है? इस अन्वेषण के परिणाम स्वरूप जो समाधान सामने आया है, उसे विज्ञान में Theory of Gravitation गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त माना गया है। न्यूटन ने Letters to Bentlsy पुस्तक में इसके सम्बन्ध में लिखा है - "पदार्थों के लिए गुरुत्व आकर्षण आवश्यक एवं स्वाभाविक या अन्तर्वर्ती शक्ति है।..... गुरुत्वाकर्षण कुछ स्थिर और निश्चल साधनों का माध्यम है, जो निश्चित नियमों से आबद्ध है। ये साधन भौतिक हैं या अभौतिक, यह मैं पाठकों के विचार विमर्श के लिए छोड़ देता हूँ।" न्यूटन यह निश्चय नहीं कर पाया था, कि यह शक्ति अभौतिक है अथवा भौतिक है। परन्तु पदार्थों के नीचे गिरने, ठहरने एवं चन्द्र आदि का पृथ्वी के चारों ओर चक्कर लगाने आदि में गुरुत्वाकर्षण को वह माध्यम स्वीकार करता है।

वैज्ञानिकों के अनुसार ब्रह्माण्ड की स्थिरता (Stability of Macroscopic) का कारण गुरुत्वाकर्षण की शक्ति है। इस पर वैज्ञानिकों ने पदार्थों में होने वाली स्थिरता एवं पारस्परिक आकर्षण के लिए थ्योरी ऑफ ग्रेविटेशन (Theory of gravitation) को स्वीकार किया। पहले वे उसे भौतिक मानते थे, लेकिन बाद में उसे (Non Material) अभौतिक स्वीकार किया है। न्यूटन उसे Active Force तो मानता था, किन्तु साथ ही उसे Invisible agency अदृश्य या आकार रहित साधन मानता था। इसके बाद आइन्स्टीन ने गुरुत्वाकर्षण को आकार रहित और निष्क्रिय साधन माना है। Invisible के साथ Inactive को जोड़कर आइन्स्टीन गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त की मान्यता को जैन दर्शन द्वारा मान्य अधर्म द्रव्य की व्याख्या के निकट ले आये हैं। प्रो. जी.आर. जैन के शब्दों में जैन दर्शन द्वारा अधर्म द्रव्य के सम्बन्ध में प्रतिपादित सिद्धान्त की विजय है, कि विज्ञान (Science) ने विश्व की स्थिरता में अदृश्य एवं निष्क्रिय गुरुत्वाकर्षण (Gravitation) की शक्ति की उपस्थिति को स्वीकार कर लिया है अथवा उसे स्थिरता में माध्यम के रूप में स्वयंसिद्ध प्रमाण मान

लिया है। आइन्स्टीन के पूर्व के वैज्ञानिक गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त को सक्रिय साधन मानते थे। इस मान्यता को आइन्स्टीन ने पूर्णतः बदल दिया है। अथवा उसे निष्क्रिय साधन मान लिया है। अब गुरुत्वाकर्षण को पदार्थों के स्थिर होने में सहायक या उपकारी कारण अथवा माध्यम (Aweiliary Cause) मान लिया गया और उसे निष्क्रिय अदृश्य एवं आकार रहित माना।

5. **आकाशास्तिकाय** : आकाश द्रव्य के अस्तित्व को सभी दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। आकाश का लक्षण है -

"**आकाशस्यावगाहः**"[46]

अर्थात् आकाश का लक्षण है, अवगाह प्रदान करना-स्थान देना। इस लोक में समस्त जीवों, पुद्गलों, धर्म, अधर्म तथा काल द्रव्यों को आकाश ही अवगाहन प्रदान करता है। आकाश अखण्ड, निष्क्रिय, चेतना रहित अमूर्तद्रव्य है। आकाश अन्य सब द्रव्यों को आधार प्रदान करता है, लेकिन वह स्वयं स्वप्रतिष्ठ है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण की अपेक्षा से आकाशास्तिकाय के पाँच भेद हैं। द्रव्य से आकाश एक इकाई है, क्षेत्र से वह लोक-अलोक में सर्वत्र व्याप्त है, काल से आदि अन्त रहित है, भाव से रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-वर्ण रहित है और गुण से अवगाहना स्वभाव वाला है अर्थात् अन्य सब द्रव्यों को अवकाश देता है।

आकाश के अनन्त प्रदेश हैं। यह सर्वव्यापक है। इसके दो भेद हैं - लोकाकाश और अलोकाकाश।

1. **लोकाकाश** : अनन्त आकाश के मध्य भाग में चौदह रज्जू ऊँचा पुरुषाकार लोक के, उस क्षेत्र को लोकाकाश कहते हैं। जिस आकाश खण्ड में धर्म-अधर्म, जीव, पुद्गल, काल व आकाश आदि द्रव्य विद्यमान है, वह लोकाकाश कहा जाता है। अस्तिकायों के आधार-आधेय का सम्बन्ध का विचार लोकाकाश को लेकर ही किया गया है। धर्म और अधर्म ये दोनों अस्तिकाय ऐसे अखण्ड स्कन्ध हैं, जो सम्पूर्ण लोकाकाश में स्थित हैं। वस्तुतः अखण्ड आकाश के लोक-अलोक की कल्पना भी धर्म-अधर्म द्रव्यों के सम्बन्ध के कारण ही है। जहाँ धर्म-अधर्म द्रव्यों का सम्बन्ध न हो वहाँ अलोक और जहाँ इनका सम्बन्ध हो वह लोक है। लोकाकाश असंख्यात प्रदेशों में है।
2. **अलोकाकाश** : अलोकाकाश अनन्त प्रदेशी है। जहाँ केवल आकाश ही आकाश है। अलोकाकाश में अन्य किसी द्रव्य की उपस्थिति नहीं होती। चूँकि धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय लोक तक ही सीमित है। अतः जीव और पुद्गल आदि का भी अलोकाकाश में गमन अथवा स्थिति संभव नहीं है। अर्थात् अलोकाकाश केवल आकाश मात्र है।

आकाश अनन्त : जैन दर्शन की आकाश द्रव्य की अवधारण भी विज्ञान सम्मत है। विज्ञान के अनुसार आकाश (Space) एक शुद्ध द्रव्य है। उसमें न तो वर्ण है, न गंध है, न रस है, न स्पर्श है। जैन दर्शन ने आकाश को दो भागों में विभक्त किया है - लोक-आकाश और अलोक-आकाश। लोक आकाश सीमित और सान्त है और अलोक आकाश असीम एवं अनन्त है। गणित-विज्ञान में निष्णात H. Ward भी इस विचार को स्वीकार करते हुए लिखते हैं - "सम्पूर्ण पदार्थ सम्पूर्ण आकाश की एक सीमा में रहते हैं, इसलिए विश्व सान्त है। इससे यह स्वीकार नहीं किया जा सकता, कि जिस सीमा में पदार्थ रहते है, उसके आगे आकाश नहीं है। लेकिन यह सम्पूर्ण आकाश इस प्रकार घुमावदार (कर्वड) है, कि प्रकाश की एक किरण आकाश की एक सीधी रेखा में लम्बे समय तक यात्रा करने के पश्चात् पुनः अपने बिन्दु पर आ जायेगी। गणितज्ञों का अनुमान है, कि प्रकाश की एक किरण को आकाश के इस चक्कर को पूरा करने में दस ट्रिलियन वर्ष से कम नहीं लगते। इससे यह प्रमाणित होता है, कि आकाश ससीम है, सान्त है।" इसी पुस्तक में वार्ड ने आगे लिखा है, कि यह पूर्णतः अकथनीय, अचिन्तनीय (Inconceiable) है, कि कोई भी खगोल विद्या में निपुण व्यक्ति आकाश की सीमा (Boundary of Space) को लांघकर कूद सके और देख सके, कि वहाँ आकाश नहीं है। इसलिए गणितज्ञ यह निश्चय नहीं कर पाये, कि आकाश सान्त है या अनन्त। अर्थात् H. Ward का कहना है, कि जब हम यह कहते हैं, कि (Space is Finite) तो इसका यह अर्थ नहीं है, कि इस विश्व में जिस सीमित आकाश का हम अनुभव करते हैं, उसके आगे वह है ही नहीं। हम इतना ही कह सकते हैं, कि विश्व की जो सीमा हमें ज्ञात है, उसके आगे आकाश का जो भाग है, वह अज्ञात है।[४]

इस सम्बन्ध में आइन्स्टीन के सिद्धान्त को स्वीकार करने वाले महान् वैज्ञानिक प्रो॰ एडिंगटन[५] ने लिखा है, कि मैं सोचता हूँ, कि विचारक दो प्रश्नों के साथ आकाश के सम्बन्ध में कल्पना करते है। It there an end to space? क्या आकाश एक अन्त है? If space cames to an end, what is beyond the end? यदि आकाश का एक अन्त है, तो क्या यह अन्त सीमा में आबद्ध है? इस सम्बन्ध में वैज्ञानिकों की एक मान्यता यह है, कि There is no end but space beyond space for every. आकाश का कोई अन्त नहीं है, आकाश सदैव आकाश की सीमा में आबद्ध है। सापेक्षवाद सिद्धान्त के पूर्व यह मान्यता थी, कि आकाश अनन्त है। लेकिन कोई भी व्यक्ति अनन्त आकाश को प्राप्त नहीं कर पाता। इस भौतिक जगत में हमारा सम्बन्ध सीमित आकाश से ही होता है, अनन्त से नहीं। इस सम्बन्ध में आइन्स्टीन का सिद्धान्त यह है, कि Is space infinite or does it came to an end? क्या आकाश अनन्त है या क्या यह अन्त को प्राप्त होता है? इसका उत्तर उसने

जैन दर्शन की तरह सापेक्ष दृष्टि से दिया है। उसने कहा, कि वह न एकान्त रूप से अनन्त है और न सान्त है। आकाश ससीम है, लेकिन उसका कोई अन्त भी नहीं है। आकाश ससीम है, लेकिन सीमा से आबद्ध नहीं है। विज्ञान का यह सिद्धान्त जैन दर्शन द्वारा मान्य लोक-आकाश और अलोक-आकाश के निकट है। क्योंकि लोक-आकाश एक सीमा में आबद्ध है, उसका अन्त भी है, परन्तु अलोक आकाश की कोई सीमा नहीं है-वह अन्तरहित है, अनन्त है।[50]

धर्म, अधर्म व आकाश ये तीनों द्रव्य व्यवहारनय से एक क्षेत्रावगाही, असंख्यात प्रदेशी कहे गए हैं। फिर भी अपने-अपने स्वरुप की अपेक्षा से अर्थात् स्वचतुष्टय की अपेक्षा से धर्म, अधर्म व आकाश ये तीनों द्रव्य भी भिन्न-भिन्न ही हैं।

6. **काल द्रव्य:** काल द्रव्य अस्तित्ववान होने पर भी एक प्रदेशी होने के कारण 'काय' नहीं कहलाता, अतः काल द्रव्य को अस्तिकाय नहीं माना जाता है।[51] काल द्रव्य में वर्तना, हेतुत्व, अमूर्तत्व, अचेतनत्व गुण पाये जाते हैं। जैसा कि तत्वार्थ सूत्र में कहा है-

''वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य।''[52]

अर्थात् वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये काल के उपकार हैं। अपने अपने पर्याय की उत्पत्ति में स्वयमेव प्रवर्तमान धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों को निमित्त रुप से प्रेरणा करना वर्तना है। स्वरुप का त्याग किए बिना पूर्व पर्याय को छोड़कर उत्तर पर्याय को धारण करना परिणाम है। ऐसा परिणाम जीव में ज्ञानादि तथा क्रोधादिरुप, पुद्गल में नील-पीतादि रूप और धर्मास्तिकायादि शेष द्रव्यों में अगुरु लघु गुण की हानि वृद्धि रूप है। परिस्पन्द को गति कहा जाता है। ज्येष्ठत्व को परत्व और कनिष्ठत्व को अपरत्व कहा जाता है। इन सबका निमित्त हेतु काल ही है।

काल के दो भेद किए गए हैं- 1. व्यवहार काल तथा 2. निश्चय काल।

जीव और पुद्गलों के परिणाम से समयादि रूप में उत्पन्न होने वाला काल व्यवहार काल है। व्यवहार काल क्षणभंगुर है। समय, निमिष, काल, घड़ी, दिन-रात, मास, ऋतु, अयन, वर्ष आदि संख्यात काल व्यवहार काल कहा जाता है। व्यवहार परद्रव्य परिणमन सापेक्ष है, अतः यह पराधीन है।

निश्चयकाल अविनाशी है। निश्चयकाल पंचवर्ण, पंचरस सहित, दो गन्ध और अष्ट स्पर्श रहित, अगुरु लघु, अमूर्त और वर्तना लक्षण वाला है। काल की स्वभाव पर्याय होने से यह स्वाधीन है। पल्य, सागर आदि असंख्यात या अनन्त काल को निश्चयकाल कहा जाता है। अन्य द्रव्यों के परिणमन में बाह्य निमित्त कारण कालाणु रूप निश्चयकाल द्रव्य है। जिस प्रकार स्वयं परिभ्रमणशील कुम्हार के चाक की गति में आधारभूत कीली निमित्त होती है, उसी प्रकार समस्त द्रव्यों की परिणति में काल द्रव्य निमित्त है।

भगवती सूत्र (व्याख्या प्रज्ञप्ति)[54] में व्यवहार काल के विषय में निम्न प्रकार से विस्तृत विवरण मिलता है। आकाश के एक प्रदेश में स्थित पुद्गल परमाणु मंद गति से जितनी देर में उस प्रदेश में लगे हुए पास के दूसरे प्रदेश पर पहुँचता है, उसे 'समय' कहते हैं। असंख्यात समयों का समुदाय एक 'आवलिका' कहलाता है। असंख्यात आवलिकाओं का एक 'उच्छवास' और उतनी ही आवलिकाओं का एक निःश्वास होता है। सशक्त और निरोग मनुष्य के एक 'श्वासोच्छवास' को 'प्राण' कहते हैं। इस प्रकार के सात प्राणों का एक स्तोक, सात स्तोकों का एक लव और 77 लवों का एक मुहूर्त होता है। इस प्रकार एक मुहूर्त में 3773 श्वासोच्छवास होते हैं। 30 मुहूर्तों का एक अहोरात्र 'रात-दिन', 15 अहोरात्र का एक पक्ष, दो पक्ष का एक मास, दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतुओं का एक अयन, दो अयन का एक संवत्सर 'वर्ष' तथा पाँच संवत्सर का एक युग होता है।

औपमिक काल दो प्रकार का होता है- पल्योपम और सागरोपम।

पल्योपम : एक योजन (चार कोस) प्रमाण लंबा चौड़ा और गहरा एक पल्य (गड्ढा) ठूंस-ठूंस कर बालाग्रों (जिसका दूसरा अणु न हो सके, ऐसे बाल) से भरा जाए उस पल्य में से सौ-सौ वर्ष के अन्तर से एक-एक बालाग्र निकाला जाए और इस प्रकार जितने काल में वह पल्य खाली हो जाए उतने को एक पल्योपम कहते हैं।

सागरोपम : दस कोटाकोटि (एक करोड़ गुणा एक करोड़) पल्योपमों का एक सागरोपम होता है।

काल के अन्य छह भेद किए गए हैं- 1. सुषमा-सुषमा, 2. सुषमा, 3. सुषम-दुषमा, 4. दुषम-सुषमा, 5. दुःषमा, 6. दुःषम-दुषमा।

चार कोटा कोटि सागरोपम का सुषम सुषम काल है। तीन कोटा कोटि सागरोपम का सुषमा काल है। दो कोटा कोटि सागरोपम का सुषम दुःषमा काल होता है। बयालीस हजार वर्ष कम एक कोटा कोटि सागरोपम का दुःषमा सुषमा काल होता है। इक्कीस हजार-इक्कीस हजार वर्ष का ही दुषमा, दुःषमा-दुःषमा काला होता है। इन ह्रासोन्मुख छहकालों के समुदाय को अवसर्पिणी कहते हैं। इसी प्रकार दुःषमा-दुषमा से लेकर सुषम-सुषमा तक का विकासोन्मुख काल उत्सर्पिणी कहलाता है। इस प्रकार दस कोटाकोटि सागरोपम उत्सर्पिणी काल तथा दस कोटा कोटि सागरोपम ही अवसर्पिणी काल होता है।[55]

यहाँ एक समस्या उठायी जाती है, कि काल द्रव्य तो लोकाकाश में ही उपस्थित है, फिर आलोकाकाश में परिणमन किस निमित्त से होता है? इस प्रश्न का जैनाचार्यों ने यह उत्तर दिया है, कि जिस प्रकार लटकती हुई लम्बी रस्सी को या कुम्हार के चाक को एक स्थान से हिलाने पर भी सर्वत्र चलन होता है और जिस प्रकार सर्पदंश शरीर के एक ही भाग में होने पर भी संपूर्ण शरीर पर उसका प्रभाव

होता है, उसी प्रकार काल द्रव्य लोकाकाश में ही होने पर भी सारे आकाश में परिणमन होता है, क्योंकि आकाश अखण्ड एक द्रव्य है।

काल द्रव्य को षड्द्रव्यों के परिणमन का निमित्त कहा गया है, किन्तु वह स्वयं अपने परिणमन का निमित्त कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है, कि जैसे आकाश को आकाश का ही आधार है, सूर्य स्व-पर प्रकाशक है, कोई अन्य उसे प्रकाशित नहीं करता, उसी प्रकार काल भी स्व-पर परिणमन में निमित्त है।

धर्म और अधर्म द्रव्य की तरह वह लोकाकाशव्यापी एक द्रव्य नहीं है, क्योंकि प्रत्येक आकाश प्रदेश पर समय भेद इसे अनेक द्रव्य माने बिना नहीं बन सकता। लंका और कुरुक्षेत्र में दिन-रात आदि का पृथक्-पृथक् व्यवहार तत् स्थानों के काल भेद के कारण ही होता है। एक अखण्ड द्रव्य मानने पर काल भेद नहीं हो सकता। यह काल भेद का आधार व्यवहार काल है।

वैदिक दर्शनों में काल के सम्बन्ध में दो मुख्य पक्ष हैं- न्याय-वैशेषिक दर्शन काल को सर्वव्यापी स्वतंत्र और एक द्रव्य मानते हैं। सांख्य, योग तथा वेदान्त आदि दर्शन काल को सर्वव्यापी, स्वतंत्र द्रव्य न मानकर उसे प्रकृति पुरुष (जड़-चेतन) का ही रूप मानते हैं। बौद्ध दर्शन के अनुसार काल नामक कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है, वह केवल लौकिक दृष्टि वालों की व्यवहार निर्वाह के लिए क्षणानुक्रम के विषय में की हुई कल्पना मात्र है। अब तक विज्ञान भी काल को दिशा की तरह काल्पनिक मानते हैं, वास्तविक नहीं।

उपर्युक्त विवेचन व आगमों में उल्लिखित तथ्यों पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है, कि निश्चयनय की दृष्टि से काल को स्वतन्त्र द्रव्य कहा जाता है। जबकि व्यवहार काल व्यावहारिक उपयोगितानुसार कल्पित है। निश्चय और व्यवहार दृष्टि के समन्वय से तत्व का निर्णय करना चाहिए।

इस प्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छः द्रव्य अनादि-सिद्ध मौलिक द्रव्य हैं। सबका एक ही सामान्य लक्षण है- उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तता। इस लक्षण का अपवाद कोई भी द्रव्य कभी नहीं हो सकता। द्रव्य चाहे शुद्ध हो या अशुद्ध, वे इस सामान्य लक्षण से हर समय संयुक्त रहते हैं। जैन दर्शन की दृष्टि में द्रव्य ही एकमात्र मौलिक पदार्थ हैं, शेष गुण, कर्म, सामान्य, समवाय आदि उसी द्रव्य की पर्यायें हैं, स्वतंत्र पदार्थ नहीं हैं।

नव तत्व-विवेचन : विश्व व्यवस्था की दृष्टि से यह विश्व षट्द्रव्य मय है, परन्तु मुमुक्षु को जिस तत्वज्ञान की आवश्यकता मुक्ति के लिए है, वे पदार्थ नौ हैं। जैन दर्शन में आत्मा के वास्तविक स्वरुप को अभिव्यक्त करने तथा उसमें श्रद्धान उत्पन्न करने के उद्देश्य से नव-पदार्थों का विशद् विवेचन किया है। चूँकि समस्त पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होने पर ही जीव आत्म द्रव्य को पर से पूर्णतया भिन्न एवं

विलक्षण जान पाता है। जैसा कि प्रवचनसार में कहा गया है, कि 'सच्चा श्रमण वही है, जिसे अपने आत्मा में एकाग्रता प्राप्त हो। एकाग्रता उसे ही प्राप्त होती है, जिसने पदार्थों का निश्चय किया हो।'

जीव तथा अजीव दो मूल पदार्थ हैं तथा जीव और पुद्गल के संयोग परिणाम से उत्पन्न होने वाले सात अन्य पदार्थ - पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष हैं। इस प्रकार ये नौ पदार्थ हैं।[55] इस संसार में जीव तथा अजीव दोनों एक साथ रहते हैं। मिथ्या दृष्टि जीव इस भेद को नहीं जान पाते हैं। वे आत्मा को न जानते हुए पर को आत्मा कहते हैं। कोई अध्यवसाय को, कोई कर्म को, कोई नौकर्म को ही आत्मा मानते हैं। उन्हें निश्चय से परमार्थवादी नहीं कहा जा सकता है। अज्ञानी जन आत्मा के असाधारण लक्षण को न जानने के कारण ही पर को भी आत्मा कहते हैं।

अज्ञानियों को प्रतिबोधनार्थ चैतन्य स्वभाव रूप जीव को सभी पर भावों से भिन्न कहा गया है, जो कि भेदज्ञानियों का अनुभव गोचर है। मात्र व्यवहार से ही नहीं वरन् निश्चयनय से नव पदार्थों को जानने एवं उसमें श्रद्धान को ही सम्यग्दर्शन कहते हैं। मिथ्यादर्शन के निवृत होने पर, नव पदार्थों के सम्यग्दर्शन से जो अवबोध प्राप्त होता है, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। जो सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके स्वत्व में रहता हुआ इन्द्रिय और मन के विषयभूत पदार्थों के प्रति निर्विकार ज्ञान स्वभाव वाला समभाव होता है, वही सम्यग्चारित्र है तथा मोक्ष का कारण भूत है। अतः मोक्षमार्ग के प्रथम दो अंग सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के विषयभूत नव पदार्थों का निश्चयनय से ज्ञान आवश्यक है।

जीव: जिसमें चेतना-उपयोग शक्ति पाई जाती है, वह जीव तत्त्व है। यह अनादि, अनन्त, शाश्वत तत्त्व है। यह स्वयं सिद्ध है। न इसे किसी ने बनाया है और न किसी द्वारा कभी इसका नाश हो सकता है। यह सदा जीवित रहने से जीव कहलाता है। चेतना इसका मुख्य लक्षण बताया गया है। जैसे -

'उपयोगो लक्षणम्' - तत्त्वार्थसूत्र[56]
'उवओग लक्खणे जीवे' - भगवती शतक[57]
'जीवो उवओग लक्खणो' - उत्तराध्ययन[58]

चेतना आत्मा का मुख्य गुण है। यह मुख्य गुण उससे कभी भी पृथक् नहीं हो सकता। जैसे अग्नि का गुण उष्णता या प्रकाशकता उससे किसी भी स्थिति में अलग नहीं हो सकते उसी प्रकार आत्मा का चेतना गुण कभी उससे विलग नहीं हो सकता। सूर्य का प्रकाश सूर्य से अलग नहीं हो सकता। उस पर चाहे जितने घने मेघों का आवरण आ जाए, उसकी प्रकाशकता न्यूनाधिक रूप में बनी रहती है, जिससे दिन-रात का अन्तर दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार जीव का चैतन्य स्वरूप चाहे जितना ज्ञानावरणादि कर्मों से आवृत हो जाए, उसका कोई न कोई अंश खुला ही रहता है,

जिसके कारण जीव-अजीव का भेद होता है। यह जीव तत्त्व ही आध्यात्मिक जगत के रंग-मंच का मुख्य पात्र है। यही विभाव में परिणत होकर जड़ कर्मों से बंधता है और यही अपने पुरुषार्थ द्वारा मुक्त होता है।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा उपयोगमय, परिणामी, नित्य, अमूर्त, कर्त्ता, साक्षात्, भोक्ता, स्वदेह परिमाण, असंख्यात प्रदेशी, पौद्गलिक अदृष्टवान है।

'नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
वीरिअं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं॥[159]

अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग जीव के लक्षण हैं।

अद्वैत वेदान्त व सांख्य दर्शन में भी आत्मा को चैतन्य स्वरूप कहा गया है। रामानुजाचार्य भी चेतना को आत्मा का आवश्यक गुण मानते हैं। इसके विपरीत न्याय-वैशेषिक चेतना को आत्मा का आगन्तुक गुण मानते हैं, स्वरूप गुण नहीं। चार्वाक दर्शन तो चेतना को शरीर का ही गुण मानते हैं तथा आत्म तत्त्व का निषेध ही करते हैं।

जीव की सिद्धि : चार्वाक दर्शन आत्मा को स्वीकार नहीं करता है। अतः आत्मा के अस्तीत्व को सिद्ध करने के लिए विविध प्रमाण दिए गए हैं। लेकिन इससे पूर्व चार्वाक के भूतवादी दर्शन का खण्डन किया गया है।

चैतन्य भूतों का गुण नहीं है : चार्वाक दर्शन मानता है, कि पृथ्वी जल, अग्नि और वायु रूप भूत चतुष्टय की विशिष्ट रासायनिक प्रक्रिया से शरीर में चैतन्य की उत्पत्ति हो जाती है। लेकिन यह मत नितान्त मिथ्या है, चैतन्य, चेतना शक्ति का ही परिणाम हो सकता है, किसी जड़ वस्तु का नहीं। जैसे बालु में स्निग्धता नहीं होती, तो उसके समुदाय में स्निग्धता गुण वाला तेल नहीं निकल सकता। वैसे ही भूतों में पृथक्-पृथक् चैतन्य न होने से उनके समुदाय से चैतन्य की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती।

यदि चैतन्य को भूतों का गुण माना जाए, तो किसी का मरण नहीं होना चाहिये, क्योंकि मृत शरीर में भी पंच भूतों का अस्तीत्व होता है। वे पंचभूत वहाँ कायाकार रूप में हैं, परन्तु वहाँ चैतन्य नहीं देखा जाता, जिससे यह सिद्ध होता है, कि चैतन्य भूतों का गुण नहीं है। फिर भी जीवों में चेतना देखी जाती है, अतः यह सिद्ध होता है, कि चैतन्य आत्मा का धर्म है। चैतन्य गुण के प्रत्यक्ष होने से आत्मा स्वयंसिद्ध है, क्योंकि गुण और गुणी कथंचित अभिन्न है।

आत्मा की प्रत्यक्ष से सिद्धि : आत्मा की सिद्धि में स्वानुभूति सबसे ठोस प्रमाण है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने अस्तित्व की अनुभूति होती है। सभी यह अनुभव करते हैं, कि 'मैं हूँ'। 'मैं सुखी हूँ' अथवा 'मैं दुःखी हूँ' ऐसा स्वसंवेदन प्रत्येक प्राणी को होता है। कोई भी जड़ पदार्थ ऐसी अनुभूति नहीं कर सकता। यह स्वसंवेदन चेतन

तत्त्व में ही पाया जाता है। चेतना आत्मा का गुण है, अतएव आत्मा के चेतना गुण का प्रत्यक्ष अनुभव होने से आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से हो जाती है।

संसार में प्रतिपक्षी दो तत्त्वों का पाया जाना प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध है। जैसे सुख-दुःख, बन्ध-मोक्ष, धनी-निर्धन, ज्ञानी-अज्ञानी, चर-अचर, क्षर-अक्षर आदि। जड़ पुद्गलों का अस्तीत्व सर्व मान्य है। उनका प्रतिपक्षी तत्त्व भी होना चाहिये। जो जड़ अचेतन तत्त्वों का प्रतिपक्षी तत्त्व है, वही चेतनाशील जीव या आत्मा है।

अनुमान से आत्मसिद्धि :

1. आत्मा का अस्तित्व है, क्योंकि इसका असाधारण गुण चैतन्य देखा जाता है। जिसका असाधारण गुण देखा जाता है, उसका अस्तित्व अवश्य होता है। जैसे चक्षुरिन्द्रिय। चक्षु सूक्ष्म होने से साक्षात् दिखाई नहीं देती, किन्तु अन्य इन्द्रियों से न होने वाले रूप विज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति से उसका अनुमान होता है। वैसे ही आत्मा का भूतों में न पाये जाने वाले चैतन्य गुण को देखकर अनुमान किया जाता है।
2. आत्मा है, क्योंकि समस्त इन्द्रियों का संकलनात्मक ज्ञान देखा जाता है। 'मैंने शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श को जाना' यह संकलनात्मक ज्ञान सब विषयों को जानने वाले एक आत्मा को माने बिना नहीं हो सकता। इन्द्रियों के द्वारा ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय अपने एक-एक विषय को ही जानती है। जैसे आंख रूप को ग्रहण कर सकती है, शब्द, रसादि को नहीं। स्पर्शनेन्द्रिय स्पर्श को ग्रहण कर सकती है, रूपादि को नहीं। अतः इन्द्रियों द्वारा गृहित सब अर्थों को एक साथ ग्रहण करने वाला एक आत्मा अवश्य मानना चाहिये। जैसे पाँच खिड़कियों वाले मकान में बैठकर पाँचों खिड़कियों द्वारा दिखाई देने वाले पदार्थों का ज्ञाता एक जिनदत्त है। उसी प्रकार पाँच इन्द्रिय रूपी खिड़कियों वाले शरीर रूपी मकान में बैठकर आत्मा भिन्न-भिन्न विषयों को जानता है।

उपमान : इन्द्रियाँ स्वयं पदार्थ को जानने वाली नहीं हैं। वे तो साधन मात्र है। जैसे खिड़कियाँ स्वयं पदार्थों को देखने वाली नहीं है। वे तो केवल माध्यम हैं। इन्द्रिय के चले जाने पर भी पर्वानुभूत पदार्थ का स्मरण होता है। यह स्मरण आत्मा को माने बिना कैसे हो सकता है। जिसने पदार्थ का पहले अनुभव किया है, उसको ही कालान्तर में उसका स्मरण हो सकता है। देवदत्त के देखे हुए पदार्थ को यज्ञदत्त स्मरण नहीं कर सकता। अतः इससे सिद्ध होता है, कि नेत्र द्वारा पहले देखे हुए पदार्थ को नेत्र के चले जाने के बाद स्मरण करने वाला एक ही आत्मा अवश्य होना चाहिये।

आगम : आगमों में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। आगमवाणी विश्वसनीय व्यक्तियों के वचन हैं। आगमानुसार कतिपय प्राणियों को यह

भी ज्ञात होता है, कि मेरी आत्मा भवान्तर में अनुसंचरण करने वाली है, जो इन दिशाओं-अनुदिशाओं में कर्मानुसार संचरण करती है। जो सब दिशाओं और विदिशाओं में गमनागमन करती हैं, वही आत्मा है। वही मैं हूँ।[6] अतः आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित होता है।

अर्थापत्ति : जिसके बिना जो पदार्थ अनुपपन्न है, उसे देखकर उस पदार्थ की कल्पना करना अर्थापत्ति प्रमाण है। जैसे ऊपर पहाड़ पर हुई वर्षा के बिना गिरी नदी में बाढ़ सम्भव नहीं है, तो गिरि-नदी में आई हुई बाढ़ को देखकर पहाड़ पर हुई वर्षा का बोध होना अर्थापत्ति प्रमाण है। आत्मा के बिना हर्ष, शोक, इच्छा, प्रयत्न, सुख-दुःख आदि भावों की अनुपपत्ति है। ये भाव स्पष्टतया प्रतिभासित होते हैं, अतएव वे आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं।

इनके अतिरिक्त अध्यवसाय इच्छा, संकल्प शक्ति और भावनाएँ केवल भौतिक मस्तिष्क की उपज नहीं कही जा सकती। क्योंकि किसी भी भौतिक यन्त्र में स्वयं चलने, टूटने पर स्वयं को सुधारने और अपने सजातीय को उत्पन्न करने की क्षमता नहीं देखी जाती। अवस्था के अनुसार बढ़ना, घाव का अपने आप भर जाना, जीर्ण हो जाना आदि ऐसी अवस्थाएँ हैं, जिनका समाधान केवल भौतिकता से नहीं हो सकता। हजारों प्रकार के यन्त्रों का आविष्कार जगत् के विभिन्न कार्य-कारण भावों को स्थिर करना, गणित-ज्योतिष-साहित्य-विज्ञान सम्बन्धी तरह-तरह की नई-नई स्थापनाएँ किसी चैतन्यशाली द्रव्य का ही कार्य हो सकता है। कोई जड़ तत्त्व ये क्रियाएँ नहीं कर सकता।

उपर्युक्त बातें आत्मा के अस्तित्व को प्रबलता के साथ प्रमाणित करती हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम और अर्थापत्ति रूप प्रमाण पञ्चक तथा अन्य अनुभवों से भी आत्मा सर्व प्रमाण सिद्ध प्रमाता है।

आत्मा के सन्दर्भ में कुछ आधुनिक विचारकों के मत भी अब सकारात्मक रूप मे अधिक मिलने लगे हैं - वैज्ञानिक मैकडूगल - कहते हैं, कि "हम इस बात को मानने के लिए बाध्य हैं, कि कथित मानसिक चेष्टाओं का कोई स्वतन्त्र अस्तीत्व नहीं हैं, वरन् ये एक ही पदार्थ या मूलतत्त्व की अवस्थाएँ विशेष हैं। हमको यह पदार्थ अमूर्तिक मानना होगा। क्योंकि यही पदार्थ मनुष्य के सम्पूर्ण ज्ञान का आधार है, इसलिए इस पदार्थ को मनुष्य की आत्मा कह सकते हैं।"[7]

प्रो॰ अलबर्ट आइंस्टीन - "मेरा विश्वास है, कि सारी प्रकृति में चेतना काम कर रही है।"[8]

जे.ए. थॉमसन - पृथ्वी पर जीवन कैसे प्रारंभ हुआ? इसका विज्ञान के पास कोई उत्तर नहीं है।[9]

'दि ग्रेट डिजाइन' एक पुस्तक है, जिसमें विश्व के प्रमुख वैज्ञानिकों ने अपनी

सामूहिक राय दी है - "यह जगत् बिना रुह की मशीन नहीं है। इत्तफाक से यों ही नहीं बन गया है। जड़ के पैंदे के पीछे एक दिमाग, एक चेतना शक्ति काम कर रही है, चाहे उसका कुछ भी नाम क्यों न रखें।"

सांइस एण्ड रिलीजन - "जड़वाद के जितने भी मत गत बीस वर्षों में रखे गए हैं, वे सब आत्मवाद पर आधारित हैं, वही विज्ञान का अन्तिम विश्वास है।"

कुछ समय पूर्व वैज्ञानिक क्षेत्र में किसी सीमा तक यह फैशन था, कि चेतना के सम्बन्ध में अपने को अज्ञात कहे, परन्तु आज भी व्यक्ति अपनी अज्ञानता पर गर्व करे, उसे बुरा समझा जाता है और उस पर अंगुली उठाई जाती है, अब पहले वाला दृष्टिकोण नहीं है। इसका श्रेय विज्ञान को है।

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है, कि विज्ञान धीरे-धीरे आत्मवादी बनता जा रहा है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है, कि आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में दर्शन व विज्ञान एक होते जा रहे हैं।

जीव के भेद : जीव दो प्रकार के कहे गए हैं - संसारी एवं सिद्ध। सिद्ध देह रहित होते हैं तथा अपने शुद्ध आत्मस्वरूप अर्थात् स्वचतुष्टय में परिणमन करते हैं। इसके विपरीत संसारी जीव देहयुक्त होते हैं। अतः विशुद्ध होते हैं, क्योंकि वे व्यवहार से अजीव तत्वों व भावों से सम्बन्धित होते हैं। इन वर्णादिक भावों के साथ जीव का सम्बन्ध यद्यपि दूध और पानी का एक क्षेत्रावगाह रूप संयोग सम्बन्ध है। स्वलक्षण भूत उपयोग गुण के द्वारा व्याप्त होने से आत्मा सभी द्रव्यों से युक्त प्रतीत होता है, किन्तु वे उस जीव के नहीं है। जैसा अग्नि का उष्णता के साथ तादात्म्य संबंध है, वैसा वर्णादि के साथ जीव का संबंध नहीं है।

जीव के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण नहीं है, शरीर संस्थान, सहनन नहीं है, राग-द्वेष व मोह नहीं है, प्रत्यय कर्म, नोकर्म नहीं है, वर्ग, वर्गणा, स्पर्शक नहीं है, अध्यात्म स्थान, अनुभाग स्थान, योग स्थान, बंध स्थान, उदय स्थान, मार्गणा स्थान, स्थिति बंध स्थान, संक्लेश स्थान, विशुद्ध स्थान, संयम लब्धि स्थान नहीं है और न ही जीव के जीव स्थान व गुणस्थान ही हैं, क्योंकि ये पुद्गल के परिणाम हैं। यह नियम है, कि जो वस्तु जिसका परिणाम होती है, वह उसी रूप होती है। अतः वे वर्णादिक जो पुद्गल के परिणाम हैं, पुद्गल रूप ही है, उन्हें जीव मानना न्यायोचित नहीं है।

वर्णादिक से लेकर गुणस्थान पर्यंत के ये भाव व्यवहारनय से जीव के हैं, परन्तु निश्चयनय से कोई भी जीव के नहीं है। ये सभी भाव आत्मा से भिन्न हैं, इसलिए परमार्थ से अन्तःकरण में अवलोकन करने वाले जीव को ये सब भाव नहीं दिखते, केवल एक आत्म तत्त्व ही दिखाई देता है। वर्णादिक भाव संसार स्थित जीवों के होते हैं, संसार से मुक्त हुए जीवों के वर्णादिक कोई भी नहीं है। अर्थात् संसारस्थ जीव पुद्गल से संयुक्त होने के कारण ही पुद्गल के वर्णादिक भाव जीव पर आरोपित हो

जाते हैं, यद्यपि जीव का उनके साथ तादात्म्य नहीं होता। यदि इन भावों को निश्चय से जीव का मान लिया जाए, तब तो जीव और अजीव में कोई भेद ही नहीं रह जाएगा।

आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व के सम्बन्ध में जैनों का मन्तव्य इस प्रकार है, कि निश्चय से आत्मा आत्मा को ही करता है तथा आत्मा आत्मा को ही भोगता है। अज्ञान दशा में भी आत्मा जिस शुभ-अशुभ भाव को करता है, निश्चय से वह उसका कर्त्ता होता है और वह भाव उस आत्मा का कर्म होता है तथा वही आत्मा उस भाव का भोक्ता होता है। शुभ अशुभ दोनों भाव आत्मा के अज्ञानमय भाव हैं, जो वास्तव में आत्म स्वभाव से भिन्न हैं, किन्तु आदि काल अज्ञान के कारण जीव उन्हें स्वकीय मानता है। इस प्रकार अज्ञान दशा में भी जीव अपने ही कृत कर्म का भोक्ता हो सकता है, अपने ही शुभ-अशुभ भावों का कर्त्ता हो सकता है, पर द्रव्य का कर्त्ता और भोक्ता नहीं हो सकता। यद्यपि परमार्थ से तो जीव शुभ-अशुभ भावों का भी कर्त्ता और भोक्ता नहीं है। यहाँ अशुद्ध उपादान की अपेक्षा से ही उसे उनका कर्त्ता और भोक्ता कहा गया है। किन्तु परभाव का कर्त्ता तो वह कदापि नहीं हो सकता। अर्थात् पुद्गल कर्म का कर्त्ता तो वह कदापि नहीं हो सकता। अर्थात् पुद्गल कर्म का कर्त्ता व भोक्ता जीव नहीं है, यद्यपि व्यवहार से कभी-कभी ऐसा कथन भी किया जाता है। किन्तु निश्चयनय से यह कदापि स्वीकार्य नहीं है।

संसारी जीव दो प्रकार के होते हैं - भव्य और अभव्य। जो जीव मुक्त होकर भविष्य में मोक्ष जाने की योग्यता रखते हैं, वे भव्य जीव है तथा जिनमें शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि की शक्ति का असद्भाव है, उन्हें अभव्य कहा जाता है। यहाँ प्रश्न उठता है, कि यह कैसे संभव है, कि कुछ जीव द्रव्य अपने स्वभाव को ही प्राप्त नहीं कर सकते? इसके उत्तर में कहा गया है, कि जिस प्रकार स्त्रियों में प्रजनन क्षमता होती है, किन्तु कुछ स्त्रियों में इसका अभाव होता है, उसी प्रकार कुछ जीवों में शुद्ध अवस्था की प्राप्ति की क्षमता नहीं होती है।

आत्मा तीन प्रकार के होते हैं - बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जो शरीर आदि पर पदार्थों को अपना रुप मानकर उनकी ही प्रियभोग सामग्री में आसक्त हैं, वे बहिर्मुख जीव बहिरात्मा हैं। जिन्हें स्व-पर विवेक या भेद विज्ञान उत्पन्न हो गया है, जिनकी शरीर आदि बाह्य पदार्थों से आत्म दृष्टि हट गई है, वे सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा हैं। जो समस्त कर्ममल कलंकों से रहित होकर शुद्ध चिन्मात्र स्वरूप में मग्न हैं, वे परमात्मा हैं। संसारी आत्मा ही अपने स्वरूप का यथार्थ परिज्ञान कर, अन्तर्दृष्टि हो क्रमशः परमात्मा बन जाता है। अतः आत्मधर्म की प्राप्ति या बन्धन-मुक्ति के लिए आत्मतत्त्व का परिज्ञान नितान्त आवश्यक है।

2. अजीव : जिस प्रकार मोक्ष प्राप्ति के लिए आत्मतत्त्व का ज्ञान आवश्यक है, उसी प्रकार जिस अजीव के सम्बन्ध से आत्मा विकृत होता है, उसमें विभाव परिणति

होती है, वह बन्धन में पड़ता है, उस अजीव तत्त्व के ज्ञान की भी आवश्यकता है। जीव तत्त्व का प्रतिपक्षी अजीव तत्त्व है। इसमें चेतना शक्ति का सर्वथा अभाव है। जिसमें उपयोग न हो, जानने की शक्ति न हो, वह जड़ पदार्थ अजीव कहलाता है। अजीव जीव का विरोधी भावात्मक भाव है, वह सर्वथा अभावात्मक नहीं है। यह चेतनारहित, अकर्त्ता, अभोक्ता, अनादि, अनन्त, सदा शाश्वत तत्त्व है। यह सदाकाल निर्जीव रहने से अजीव कहलाता है।

अजीव तत्त्व मूलतः दो प्रकार का है - 1. रूपी अजीव तथा 2. अरूपी अजीव। रूपी अजीव तो एकमात्र पुद्गल द्रव्य एवं उसकी पर्यायें हैं। अरूपी अजीव के चार भेद हैं - 1. धर्म, 2. अधर्म, 3. आकाश तथा 4. काल। ये चार द्रव्य वर्णादि रहित होने से अरूपी अजीव है। इन चार अरूपी अजीवों का सामान्य ज्ञान जीव और अजीव के भेदज्ञान के रूप में एक कड़ी अवश्य है, फिर भी इनसे जीवों का कोई भला-बुरा नहीं होता है। पुद्गल द्रव्य का किंचित विशेष ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि पुद्गल ही जीव के बन्धन का निमित्त है।

जीव पुद्गल के संयोग से बन्धन में पड़ता है। अजीव पुद्गल पर्यायों के प्रति राग-द्वेष व मोह के कारण ही संसार भ्रमण करता है। जीव अज्ञानवश पुद्गल पर्यायों को अपना जानता है। व्यवहार में जो पुद्गल पर्याय जीव की जानी जाती हैं, वे वास्तव में जीव नहीं है, क्योंकि पुद्गल स्वयं अजीव है। अतः उसकी पर्यायें भी अजीव ही हैं। शरीर, इन्द्रियाँ, वर्ण, रूप, रस, गन्ध-स्पर्श आदि पुद्गल पर्यायें भी अजीव ही हैं। राग-द्वेष-मोह आदि पौद्गलिक मोह कर्म के परिणाम हैं। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग रूप जो प्रत्यय हैं, वे कर्म-बन्धन के निमित्त होने से आस्रव कहे जाते हैं। ये भी पुद्गल के ही परिणाम विशेष हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गौत्र व अन्तराय रूप जो आठ कर्म हैं, पुद्गल परिणाम हैं। जो कर्म फल देकर आत्म प्रदेशों से पृथक् हो गए हैं या जो अभी कर्म रूप में परिणत नहीं हुए हैं, ऐसे छह पर्याप्ति योग्य और तीन शरीर के योग्य वस्तुभूत जो नोकर्म हैं, वे भी पुद्गल परिणाम हैं।

कर्म परमाणुओं का समूह रूप स्पर्धक, वर्ग, वर्ग का समूह रूप वर्गणा तथा वर्गणा का समूह रूप स्पर्धक आदि सभी पुद्गल परिणाम होने से अजीव हैं। विशुद्ध चैतन्य परिणाम से भिन्न जो स्व-पर में एकत्व के अध्यास से आध्यात्मिक स्थान जाने जाते हैं, वह भी पुद्गल परिणाम के होने के कारण अजीव ही हैं। भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के इस परिणाम रूप अनुभाग स्थान, मन, वचन, काय वर्गणा के निमित्त से आत्म प्रदेश में होने वाले स्पन्द, रूप योग स्थान भी अजीव है। आत्मा के कर्म पुद्गल के आस्रव से जो बंध स्थान है तथा प्रारब्ध कर्मों की फल प्रदायी अवस्था रूप जो उदय स्थान है, वे सभी अजीव हैं।

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहार भेद से जो चौदह प्रकार के मार्गणा स्थान हैं, सभी अजीव हैं। आत्मा जितने काल तक कर्म परमाणुओं से बद्ध रहता है, वह काल की सीमा रूप स्थिति बन्ध स्थान भी अजीव ही है। राग-द्वेष आदि कषायों के तीव्र उदय रूप संक्लेश स्थान तथा कषाय-शमन रूप विशुद्ध स्थान भी अजीव हैं। बादर एकेन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्विन्द्रीय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय व असंज्ञी पंचेन्द्रिय इन सात के पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद से चौदह जीव स्थान होते हैं, ये जीव स्थान भी जीव न होकर अजीव ही होते हैं। मिथ्या दृष्टि, सासादन-समदृष्टि, सम्यग्मिथ्या दृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्त संयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्व करण उपशमक तथा क्षपक, सूक्ष्म सांपराय-उपशमक तथा क्षपक उपशान्त कषाय, क्षीण कषाय, सयोगी केवली और अयोगी केवली ये। जो जीव के चौदह गुणस्थान हैं, वे भी वस्तुतः अजीव ही हैं।

शरीर, मन, इन्द्रियाँ, श्वासोच्छवास और वचन आदि सब पुद्गल परिणाम ही हैं। जिसमें शरीर तो चेतन के संसर्ग से चेतनायमान हो रहा है। जगत् में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाले यावत् पदार्थ पौद्गलिक हैं। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि सभी पौद्गलिक हैं। शब्द, प्रकाश, छाया, अन्धकार, सर्दी-गर्मी सभी पुद्गल स्कन्धों की अवस्थाएँ हैं। मुमुक्षु के लिए शरीर की पौद्गलिकता का ज्ञान तो इसलिए अत्यन्त आवश्यक है, कि उसके जीवन की आसक्ति का केन्द्र वही है। यद्यपि वर्तमान में आत्मा का 99 प्रतिशत विकास और प्रकाश शरीर के माध्यम से ही सम्भव है। शरीर के पुर्जों के बिगड़ते ही वर्तमान ज्ञान विकास रूक जाता है, और शरीर के नाश होने पर वर्तमान शक्तियाँ प्रायः समाप्त हो जाती हैं, फिर भी आत्मा का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व तेल-बत्ती से भिन्न ज्योति की तरह है ही। शरीर का अणु-अणु जिसकी शक्ति से संचालित और चेतनायमान हो रहा है, वह अन्तःज्योति दूसरी ही है। यह आत्मा अपने सूक्ष्म कार्मण शरीर के अनुसार वर्तमान स्थूल शरीर के नष्ट हो जाने पर दूसरे स्थूल शरीर को धारण करता है। आज तो आत्मा के सात्विक, राजस और तामस सभी प्रकार के विचार और संस्कार कार्मण शरीर और प्राप्त स्थूल शरीर के अनुसार ही विकसित हो रहे हैं। अतः मुमुक्षु के लिए इस शरीर-पुद्गल की प्रकृति का परिज्ञान अत्यंत आवश्यक है, जिससे वह इसका उपयोग आत्मा के विकास में कर सके, ह्रास में नहीं। यदि आहार-विहार उत्तेजक होता है, तो कितना ही पवित्र विचार करने का प्रयास किया जाये, लेकिन सफलता नहीं मिल सकती। इसलिए बुरे संस्कार और विचारों का शमन करने के लिए या क्षीण करने के लिए उनके प्रबल निमित्तभूत शरीर की स्थिति आदि का परिज्ञान करना ही होगा। जिन पर पदार्थों से आत्मा को विरक्त होना है और जिन्हें पर समझ कर उनकी छीना झपटी की द्वन्द्व दशा से ऊपर उठाना है

और उनके परिग्रह और संग्रह में ही जीवन के बहु भाव को नष्ट नहीं करना है। वरन् उस पर को पर समझ कर ही जीव और अजीव का भेदज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इसी आशय से अजीव तत्त्व का विस्तृत विवेचन किया गया है।

3. **पुण्य** : पुण्य को जैन दर्शन में स्वतंत्र तत्त्व के रूप में स्थान दिया है। वैसे तो जो कुछ विश्व में है, वह सब जीव और अजीव तत्त्व में समाहित हो जाता है, जैसा कि आगम में कहा गया है -

''**जमत्थिणं लोगे तं सव्वं दुपओ आरं, तंजहा, जीवच्चेव अजीवाच्चेव।**''[85]

अर्थात् समस्त लोक में जो कुछ भी सत् है, वह सब दो तत्त्वों में समाविष्ट हो जाता है - जीव और अजीव।

ऐसा कथन संग्रह नय की दृष्टि से किया गया है। लेकिन मुमुक्षु जीवों को मोक्ष मार्ग का ज्ञान कराने की अपेक्षा से ही नव तत्त्व रूप से तत्त्वों का विवेचन किया गया है। इस प्रकार जीव-अजीव के साथ ही पुण्य-पाप आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष को भी जैन दर्शन में तत्त्व की संज्ञा दी गई है।

जैन दर्शन सम्मत नवतत्त्वों में से तीसरा तत्त्व पुण्य है। जो आत्मा को शुभ करता है अथवा उसे पवित्र बनाता है, वह शुभ कर्म पुण्य है। सारी शुभ प्रवृत्तियाँ और शुभ प्रकृतियाँ पुण्य के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाती हैं। साक्षात या परम्परा से पुण्य आत्मा के लिए उपकारक है। यहाँ तक कि तीर्थंकरत्व की प्राप्ति का कारण भी तीर्थंकर नाम कर्म नामक पुण्य-प्रकृति है।

जिस प्रकार सांसारिक सुख के साधनभूत भोजन, वस्त्र, और आवास आदि पदार्थों को प्राप्त करने में पहले कुछ कष्ट उठाना पड़ता है, किन्तु बाद में लम्बे समय तक उनसे सुख मिलता है। इस प्रकार पुण्य उपार्जन करने में प्रथम तो कष्ट उठाना पड़ता है, किन्तु बाद में लम्बे समय तक उनसे सुख मिलता है। पुण्य उपार्जन करना सरल नहीं है। पुद्गलों की ममता त्यागे बिना, गुणज्ञ हुए बिना, योगों को शुभ कार्यों में लगाए बिना, दूसरों के दुःख को अपना दुःख मानकर उसे दूर करने की भावना और प्रवृत्ति किए बिना पुण्य का उपार्जन नहीं होता है।

पुण्य के नव-प्रकार : पुण्य उपार्जन करने के लिए शास्त्रकार ने नव-प्रकार बताए हैं - जैसा कि आगम में कहा गया है -

''नव विहे पुन्ने पण्णत्ते तं जहा-अन्न पुन्ने 1, पाणपुन्ने 2, वत्थपुन्ने 3, लेण पुन्ने 4, सयणपुन्ने 5, मण पुन्ने 6, वइ पुने 7, काय पुन्ने 8, नमोक्कार पुण्णे 9।''[86]

अर्थात् पुण्य निम्नलिखित नौ प्रकार का कहा गया है -

1. **अन्नपुणे** : निस्वार्थ भाव से अन्न दान करने से जो पुण्य बन्ध होता है, वह अन्न पुण्य है- उसमें विधि द्रव्य-देय वस्तु, दाता और पात्र लेने वाले के वैशिष्ट्य से पुण्य-बन्ध में विशिष्टता आती है।

2. **पाणपुण्णे** : पानी का दान करने से जो पुण्य-प्रकृति का बंध होता है, वह पान पुण्य है।
3. **वत्थपुण्णे** : वस्त्रों का दान करने से जो पुण्य का बंध होता है, वह वस्त्र पुण्य है।
4. **लयणपुण्णे** : मकान आदि स्थान का दान करने से जो पुण्य प्रकृति का बंध होता है, वह लयण पुण्य है।
5. **सयण पुण्णे** 3 पाट-पाटला, बिछौना आदि संस्तारक देने से जो पुण्य बंध होता है, वह सयण पुण्य है।
6. **मणपुण्णे** : मन से दूसरों की, गुणी जनों की, भलाई चाहने से गुणियों के प्रति तुष्टि-प्रमोद भावना रखने से मन पुण्य होता है।
7. **वइ पुण्णे** : वचनों द्वारा गुणी जनों का कीर्तन करने से, उनकी प्रशंसा करने से तथा हित-मित प्रिय वचन बोलने से वचन पुण्य होता है।
8. **काय पुण्णे** : शरीर द्वारा दूसरों की सेवा करने से, अन्य जीवों को साता पहुँचाने से, पराया दुःख दूर करने से गुणीजनों की सेवा-सुश्रुषा, पुर्यपासना करने से जो पुण्य प्रकृति का बन्ध होता है, वह काय पुण्य है।
9. **नमोक्कार पुण्णे** : योग्य पात्र को नमस्कार करने से सबके साथ विनम्र व्यवहार करने से जो पुण्य-प्रकृति का बंध होता है, वह नमस्कार पुण्य है।

उपर्युक्त नौ प्रकार का पुण्य करते समय शुभ भावपूर्वक पौद्गलिक पदार्थों पर से ममता उतारनी पड़ती है, परिश्रम भी करना पड़ता है, किन्तु पुण्य का फल प्राप्त होने पर दीर्घ समय तक आराम एवं सुख की प्राप्ति होती है तथा शुद्ध धर्म की आराधना का सुअवसर प्राप्त होता है।

पुण्य के चार प्रकार : पुण्य का फल सुख माना गया है, परन्तु लोक व्यवहार में देखा जाता है, कि अनेक पुण्य कर्म करने वाले व्यक्ति दुःखी देखे जाते हैं और अनेक पापकर्म करने वाले व्यक्ति-लौकिक समृद्धि से परिपूर्ण देखे जाते हैं। इस विसंवाद का क्या कारण है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए जैनाचार्यों ने पाप-पुण्य के चार प्रकार बताए हैं – 1. पुण्यानुबंधी-पुण्य, 2. पापानुबंधी पुण्य, 3. पापानुबंधी पाप, 4. पुण्यानुबंधी पाप।

1. **पुण्यानुबंधी पुण्य** : जिस पुण्य के कारण से वर्तमान में भी शुभ सामग्री प्राप्त हुई है और आगे के लिए भी जिस पुण्य से अधिक शुभ सामग्री प्राप्त होने वाली है, वह पुण्यानुबंधी पुण्य है। जैसे किसी व्यक्ति ने पूर्वोपार्जित पुण्य प्रकृति से मनुष्य भव में अच्छी सामग्री प्राप्त की और आगामी भव में देवगति रूप और भी अधिक अच्छी सामग्री प्राप्त करने वाला है, तो वह पुण्य आगामी शुभानुभाव का कारण होने से पुण्यानुबंधी

पुण्य कहा जाता है।

2. **पापानुबंधी पुण्य** : पूर्वोपार्जित पुण्य प्रकृति के कारण वर्तमान में तो शुभ सामग्री प्राप्त हुई हो, किन्तु अपने अच्छे वर्तमान भव से असद्धर्म का आचरण कर आगे नरकादिक भव में जाता है, तो वह पापानुबंधी पुण्य है।
3. **पापानुबंधी पाप** : पूर्वोपार्जित अशुभ कर्म से वर्तमान भव में भी तिर्यंच आदि अशुभ अनुभाव की प्राप्ति जिससे हुई हो, तथा जो आगामी भव में भी नरकादि अशुभतर अनुभव की प्राप्ति का निमित्त बने वह कर्म पापानुबंधी पाप है।
4. **पुण्यानुबंधी पाप** : जिससे पूर्वोपार्जित अशुभ कर्म के कारण से वर्तमान में अशुभ अनुभाव का अनुभव जिससे हो, लेकिन वर्तमान में अशुभ अनुभाव का अनुभव करके वह सद्धर्म का आचरण करता हुआ आगामी भव के लिए शुभ अनुभाव की भूमिका तैयार करता है, वह पुण्यानुबंधी पाप कहा जाता है।

इससे यही निष्कर्ष निकलता है, कि मनुष्य को सदैव शुद्ध साध्य के लिए भी पुण्यानुबंधी पुण्य का ही आचरण करना चाहिये। क्योंकि इसके माध्यम से नर नश्वर-अमर-निर्वाण एवं अविनश्वर स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। ज्ञान वृद्ध श्रुत स्थविरों की सम्यक् उपासना के कारण प्राप्त विशुद्ध आगम के ज्ञान द्वारा जिसका चित्त निर्मल हो गया है, वही व्यक्ति पुण्यानुबंधी पुण्य का अनुष्ठान कर सकता है। चित्तरत्न की निर्मलता ही अभ्यान्तर धन कहा जाता है। जिसका निर्मल चित्त रूपी रत्न दोषों के द्वारा चुरा लिया गया हो, उसके लिए केवल विपत्तियाँ ही बची रहती हैं। सब जीवों पर दया करना, वैराग्यभाव धारण करना (राग-द्वेष रहितता) विधिपूर्वक गुरु की उपासना करना, निरतिचार व्रतों का पालन करना आदि पुण्यानुबंधी पुण्यबंध के उपाय हैं।

पुण्य की 42 प्रकृतियाँ : पुण्य का पूर्वोक्त अन्न पुण्णे आदि नौ प्रकार से बंध होता है और निम्नोक्त 42 शुभ प्रकृतियों के रूप में पुण्य का फल प्राप्त होता है। इन 42 शुभकर्म प्रकृतियों को ही पुण्य प्रकृति के रूप में पहचाना जाता हैं - 1. साता वेदनीय, 2. उच्चगोत्र, 3. मनुष्यगति, 4. मनुष्यानुपूर्वी, 5. देवगति, 6. देवानुपूर्वी, 7. पंचेन्द्रिय जाति, 8. औदारिक शरीर, 9. वैक्रियक शरीर, 10. आहारक शरीर, 11. तैजस शरीर, 12. कार्मण शरीर, 13. औदारिक अंगोपांग, 14. वैक्रियक अंगोपांग, 15. आहारक अंगोपांग, 16. वज्र ऋषभनाराच संहनन, 17. समचतुरस्र संस्थान, 18. शुभ वर्ण, 19. शुभ गंध, 20. शुभ रस, 21. शुभ स्पर्श, 22. अगुरु लघुत्व, 23. पराघात नाम, 24. उच्छ्वास नाम, 25. आतप नाम, 26. उद्योत नाम, 27. शुभ विहायोगति (चलने की गति), 28. शुभ निर्माणनाम, 29. त्रस नाम, 30. बादर नाम, 31. पर्याप्त नाम, 32. प्रत्येक नाम, 33. स्थिर नाम, 34. शुभ नाम, 35. सुभग नाम, 36.

सुस्वरनाम, 37. आदेय नाम, 38. यशोकिर्ति नाम, 39. देवायु, 40. मनुष्यायु, 41. तिर्यंचायु और42. तीर्थंकर नाम।[7]

उपर्युक्त पुण्य की 42 प्रकृतियों में पंचेन्द्रिय जाति, मनुष्य शरीर, वज्र ऋषभ नाराच संहनन आदि मोक्ष की सामग्री सम्मिलित है। अन्तराय कर्म क्षयोपशम सहित पुण्य के बिना यह सामग्री नहीं मिलती और इस सामग्री के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव विवेक के साथ पुण्य तत्त्व का स्वरूप समझकर उसको यथोचित रूप से ग्रहण करना चाहिये।

पुण्य की हेय-ज्ञेय उपादेयता - पुण्य तत्त्व को गहराई से समझना चाहिये, क्योंकि यह मोक्षमार्ग प्रशस्त करता है। यह ऐसा तत्त्व है, जो विविध भूमिकाओं में उपादेय-ज्ञेय और हेय बन जाता है। चारित्र (सर्व-विरति) प्राप्ति की भूमिकाओं में पुण्य तत्त्व उपादेय है, क्योंकि पंचेन्द्रियत्व, मनुष्यभव, आर्यक्षेत्र आदि संयम ग्रहण की सामग्री पुण्य के बिना प्राप्त नहीं होती। जब तक पुण्य का सहारा नहीं लिया जाता, तब तक यह सामग्री प्राप्त नहीं होती। इस सामग्री के अभाव में संयम की प्राप्ति नहीं हो सकती। सर्व विरति रूप चारित्र स्वीकार करने के पश्चात् संयमावस्था में पुण्य तत्त्व ज्ञेय एवं उपादेय है, हेय नहीं। चारित्र की पूर्णता होने पर अर्थात् चौदहवें गुणस्थान में वह हेय हो जाता है। क्योंकि शरीर को छोड़े बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। सब कर्म-प्रकृतियों के सर्वथा क्षय होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

जिस प्रकार समुद्र के एक किनारे से दूसरे किनारे पर जाने के लिए जहाज पर चढ़ना आवश्यक है और किनारे पहुँचकर उसका त्याग करना भी आवश्यक है। दोनों का अवलम्बन लिए बिना पार पहुँचना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार प्राथमिक भूमिका में पुण्य तत्त्व को अपनाना आवश्यक है और आत्म-विकास की चरम सीमा के निकट पहुँचने पर उसे छोड़ देना भी आवश्यक है। जहाज में बैठे हुए व्यक्ति के लिए वह ज्ञेय है और उपादेय है, हेय नहीं। संसार रूपी समुद्र के पार होने के लिए पुण्य रूपी पोत (जहाज) की आवश्यकता है, किन्तु चौदहवें गुणस्थान में पहुँचने के पश्चात् मोक्षरूपी नगर की प्राप्ति के समय पुण्य हेय हो जाता है।

जो व्यक्ति या जो समुदाय विशेष इस भूमिका के भेद को समझे बिना पहले से ही पुण्य को हेय समझकर त्याग देता है उसकी वही दशा होती है, जो किनारे पहुँचने से पहले ही जहाज को छोड़ देता है। बीच में जहाज को त्याग देने वाला समुद्र में डूबता है और पुण्य को त्याग देने वाला संसार-समुद्र में डूबता है।

जो पक्ष पुण्य को एकान्ततः हेय बतलाता है, क्योंकि पुण्य भी पाप की ही भाँति बन्धन का धारक है और मोक्ष के लिए तो बन्धन का सर्वथा अभाव ही श्रेय है, वह पुण्य को नहीं जाने। ऐसे लोग सीधे ही छलांग मारकर लक्ष्य प्राप्ति की बात करते हैं, बीच के साधन अथवा मार्ग के बारे में सोचते ही नहीं। उनके अनुसार तो तीर्थंकर

नामकर्म भी त्याज्य ही होगा। लेकिन वस्तुतः जब तक मोक्ष सन्निकट नहीं है, तब तक पुण्य कर्म आदरने योग्य है। शास्त्रों में स्थान-स्थान पर पुण्य की महिमा प्रकट की गई है। तेरहवें गुणस्थान तक पुण्य प्रकृति रहती और बंधती है। सारांश यह है, कि पुण्य के विषय में एकान्त पक्ष ग्रहण करना उचित नहीं है। जो तत्त्व सर्वोच्च स्थिति पर पहुँचते समय छोड़ने योग्य होता है, उसे प्राथमिक और माध्यमिक स्तर पर ही छोड़ने योग्य मान लेना कदापि संगत नहीं है। मोक्ष प्राप्ति की स्थिति में पुण्य तत्त्व स्वयंमेव छूट जाता है, उसे छोड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अतः सर्वोच्च स्थिति के पूर्व तक पुण्य उपादेय, आदरणीय व ग्राह्य है, यद्यपि वह अन्तिम लक्ष्य नहीं है।

4. पाप तत्त्व : पुण्य का प्रतिपक्षी तत्त्व पाप है। पाप शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए स्थानांग सूत्र की टीका में कहा गया है, कि जो आत्मा को जाल में फंसावे अथवा आत्मा को गिरावे अथवा आत्मा के आनन्दरस को सुखावे, वह पाप है। संसार में जो कुछ भी अशुभ है, वह सब पाप और उसके फल में समाविष्ट हो जाता है।

जैन दर्शन में पाप तत्त्व का भी स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया गया है। वह केवल पुण्य का अभाव नहीं है। कर्म के शुभ-अशुभ रूप से दो भेद हैं। शुभ कर्म पुण्य रूप हैं और अशुभ कर्म पाप रूप हैं। शुभ फल सुखादि का कारण पुण्य है और अशुभ फल दुखादि का कारण पाप है। संसार में दुःख आदि अशुभ कार्य दृष्टिगोचर होते हैं, उनका कोई कारण होना चाहिये, क्योंकि वे कार्य हैं। जो कार्य होता है, उसका कोई कारण अवश्य होता है, जैसे अंकुर का कारण बीज। जो दुःखादि अशुभ फल का कारण है, वही पाप कर्म है। कहा जा सकता है, कि अनिष्ट संयोग और इष्ट वियोग रूप दृष्ट कारणों को छोड़कर पाप रूपी अदृष्ट कारण की कल्पना करना निरर्थक है। किंतु यह कथन युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि इष्ट कारण रूप बाह्य साधनों की तुल्यता होने पर भी फल में वैचित्र्य देखा जाता है। दो व्यक्तियों को समान साधन सामग्री प्राप्त होने पर भी फल में अन्तर देखा जाता है। एक व्यक्ति साधनों की समानता के बावजूद सफलता प्राप्त करता है और दूसरा असफल हो जाता है। अतः तुल्य सामग्री के सद्भाव में होने वाला फलभेद किसी अदृष्ट कारण की सत्ता को सिद्ध करता है। अशुभ दुःखादि फल का जो बीज (कारण) है, वही पाप तत्त्व है।

पुण्य-पाप को लेकर चिन्तकों में कई प्रकार के मत पाये जाते हैं। कोई कहता है, कि पुण्य ही एकमात्र तत्त्व है, पाप नहीं। कोई कहता है, कि पाप ही तत्त्व है, पुण्य नहीं। कोई कहते हैं, कि पुण्य-पाप अलग-अलग नहीं हैं, परन्तु पुण्य-पाप नामक एक ही वस्तु है। कोई कहते हैं, कि ये अलग-अलग सुख-दुःख के कारण हैं, अतएव दोनों स्वतन्त्र तत्त्व है। कोई कहते हैं, कि कार्य का मूल से ही कोई अस्तित्व नहीं है, क्योंकि यह सारा जगत व्यवहार स्वभाव सिद्ध है। इन तरह-तरह के विकल्पों से जीवों में संशय की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अतः आगमों में यथार्थ विकल्प का विवेचन

किया गया है।

आगमानुसार पुण्य और पाप दोनों स्वतंत्र तत्त्व हैं, क्योंकि दोनों के फल भिन्न-भिन्न ही होते हैं। पुण्य का फल सुख है और पाप का फल दुःख है। ये दोनों भिन्न फल वाले हैं, अतएव ये दोनों पृथक्-पृथक् तत्त्व हैं। यह चतुर्थ विकल्प ही यथार्थ है।

प्रत्येक प्राणी द्वारा अर्जित पाप भिन्न प्रकार का होने से पाप के अनन्त भेद हो सकते हैं। फिर भी पाप के अठारह भेदों के नाम इस प्रकार हैं।

पाप के भेद: 1. प्राणातिपात, 2. मृषावाद, 3. अदत्तादान, 4. मैथुन, 5. परिग्रह, 6. क्रोध, 7. मान, 8. माया, 9. लोभ, 10. राग, 11. द्वेष, 12. कलह, 13. अभ्याख्यान, 14. पैशुन्य, 15. पर-परिवाद, 16. रति-अरति, 17. माया-मृषावाद, 18. मिथ्यादर्शनशल्य।

ये अठारह मुख्य पाप हैं। इनके सेवन करने से आत्मा भारी होती है और अधोगति में जाती है। इन अठारह मुख्य पापों और अन्य सामान्य पापों का फल जीव को 82 पाप-प्रकृतियों के रूप में भोगना पड़ता है। पाप की 82 प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं -

पाप की 82 प्रकृतियाँ : 1. मतिज्ञानावरणीय, 2. श्रुतज्ञानावरणीय, 3. अवधिज्ञानावरणीय, 4. मनःपर्याय ज्ञानावरणीय, 5. केवलज्ञानावरणीय, 6. दानान्तराय, 7. लाभान्तराय, 8. भोगान्तराय, 9. उपभोगान्तराय, 10. वीर्यान्तराय, 11. निद्रा, 12. निद्रानिद्रा, 13. प्रचला, 14. प्रचला-प्रचला, 15. सत्यानगृद्धि, 16. चक्षुदर्शनावरण, 17. अचक्षुदर्शनावरण, 18. अवधि दर्शनावरण, 19. केवलदर्शनावरण, 20. असातावेदनीय, 21. नीचगोत्र, 22. मिथ्यात्व मोहनीय, 23. स्थावर, 24. सूक्ष्म, 25. अपर्याप्त, 26. साधारण, 27. अस्थिर, 28. अशुभ, 29. दुर्भग, 30. दुस्वर, 31. अनादेय, 32. अयशोकीर्ति, 33. नरकगति, 34. नरकायु, 35. नरकानुपूर्वी, 36. अनन्तानुबन्धीक्रोध, 37. अनन्तानुबंधी मान, 38. अनन्तानुबंधी माया, 39. अनन्तानुबंधी लोभ, 40. अप्रत्याख्यान क्रोध, 41. अप्रत्याख्यान मान, 42. अप्रत्याख्यान माया, 43. अप्रत्याख्यान लोभ, 44. प्रत्याख्यान क्रोध, 45. प्रत्याख्यान मान, 46. प्रत्याख्यान माया, 47. प्रत्याख्यान लोभ, 48. संज्वलन क्रोध, 49. संज्वलन मान, 50. संज्वलन माया, 51. संज्वलन लोभ, 52. हास्य, 53. रति, 54. अरति, 55. भय, 56. शोक, 57. जुगुप्सा, 58. स्त्रीवेद, 59. पुरुषवेद, 60. नपुंसकवेद, 61. तिर्यंचगति, 62. तिर्यंचानुपूर्वी, 63. एकेन्द्रिय जाति, 64. बेइन्द्रिय जाति, 65. त्रीन्द्रिय जाति, 66. चतुरिन्द्र जाति, 67. अशुभ विहायोगति, 68. उपघात, 69. अशुभवर्ण, 70. अशुभ गंध, 71. अशुभ रस, 72. अशुभ स्पर्श, 73. ऋषभनाराचसंहनन, 74. नाराचसंहनन, 75. अर्धनाराच संहनन, 76. कीलक संहनन, 77. सेवार्त संहनन, 78. न्यूग्रोध परिमण्डल

संस्थान, 79. सादि संस्थान, 80. वामन संस्थान, 81. कुब्ज संस्थान और 82. हुण्ड संस्थान।

उपर्युक्त बयासी प्रकार से पाप के फल को भोगना पड़ता है।

यहाँ एक शंका हो सकती है, कि पुण्य की प्रकृतियाँ 42 और पाप की प्रकृतियाँ 82 बताई है। दोनों मिलाकर 124 होती हैं, जबकि कर्मबंध योग्य प्रकतियाँ 120 ही बताई गई है। इसका समाधान यह है, कि वर्ण, गंध, रस व स्पर्श ये चार प्रकृतियाँ बंधाधिकार में सामान्य रूप से बतायी गई हैं। लेकिन पुण्य प्रकृतियों में शुभ रूप से तथा पाप प्रकृतियों में अशुभ रूप से इनका पृथक्-पृथक् रूप से वर्णन किया गया है। तात्पर्य यह है, कि बंध तो शुभाशुभ में एक का ही होता है। या तो शुभवर्णादि का होता है या अशुभ का। इसलिए बंध योग्य प्रकृतियों में चार प्रकृतियों का ही ग्रहण किया है, आठ का नहीं। अतएव बंध योग्य प्रकृतियाँ 120 ही है।

पाप प्रकृतियों को जानकर इनका त्याग करना चाहिये। पाप तत्त्व हेय है। इसके परिणाम अति कटु होते हैं। अतः आत्म कल्याण के लिए जीव को सदैव पाप प्रकृतियों से बचना चाहिये।

5. आस्रव : जिसके द्वारा कर्म आत्मा में प्रवेश करते हैं, वह आस्रव है अर्थात् कर्मबन्ध के हेतु आस्रव हैं। आस्रव के द्वार पाँच कहे गए हैं - 1. मिथ्यात्व, 2. अविरति, 3. प्रमाद, 4. कषाय व 5. योग। ये पाँच बन्ध के कारण हैं, अतः इन्हें आस्रव-प्रत्यय भी कहते हैं। जीव में पदार्थों की यथार्थता के प्रति श्रद्धान नहीं होना मिथ्यादर्शन है।[1] हिंसादि पापों के त्याग रूप व्रत का अभाव अविरति है। धर्म के प्रति अश्रद्धा के कारण धर्माचरण आलस्य प्रमाद है।[2] क्रोध, मान, माया तथा लोभ आत्मा को दुःख देने के कारण कषाय कहे गये हैं।[3] मन, वचन तथा काया की प्रवृत्ति योग है।[4] आत्मा प्रतिक्षण मिथ्यादर्शनादि के द्वारा कर्म का आकर्षण करता रहता है।

आस्रव दो प्रकार से होता है - भावास्रव तथा द्रव्यास्रव। जिन भावों से कर्मों का आस्रव होता है, उन्हें भावास्रव कहते हैं और कर्मद्रव्य का आना द्रव्यास्रव कहलाता है। पुद्गलों में कर्मत्व पर्याय का विकास होना भी द्रव्यास्रव कहा जाता है। आत्मप्रदेशों तक उनका आना भी द्रव्यास्रव है। यद्यपि इन्हीं मिथ्यात्व आदि भावों को भावबन्ध कहा है, परन्तु प्रथम क्षणभावी ये भाव चूँकि कर्मों को खींचने की साक्षात् कारणभूत योग क्रिया में निमित्त होते हैं, अतः भावास्रव जैसा तीव्र, मन्द और मध्यम होता है, तज्जन्य आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द अर्थात् योग क्रिया से कर्म भी वैसे ही आते हैं और आत्म प्रदेशों से बन्धते हैं।

मिथ्यात्वादि पुद्गल परिणामों में ज्ञानावरणादि कर्मों के आस्रवण का जो निमित्त है, उसका भी निमित्त कारण राग-द्वेष-मोह आदि जीव के अज्ञानमय भाव है। अतः पुद्गल परिणामों के आस्रव के निमित्त भूत होने से रागादि भाव ही निश्चय से आस्रव

हैं। रागादि भाव चिद्विकार कहे जाते हैं, जो अज्ञानी जीवों में ही होते हैं। अतः अज्ञानी जीव के ही राग-द्वेष मोह रूप आस्रव होते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव के रागादि भावास्रव नहीं होते। अतः उनके आस्रवों से होने वाले बन्धन भी नहीं होते। सम्यग्दृष्टि जीव नवीन कर्मों को नहीं बाँधता है तथा सत्ता में विद्यमान पूर्वबद्ध कर्मों को जानता मात्र है। ज्ञानी जीव के रागादि भावास्रव का अभाव हो जाता है तथा द्रव्यास्रव तो ज्ञानी के स्वयमेव ही भिन्न ही है, क्योंकि द्रव्यास्रव पुद्गल परिणाम है और ज्ञानी चैतन्य स्वरुप होता है। ज्ञानी के पूर्वबद्ध द्रव्यास्रव मिट्टी के ढेले के समान है, जो मात्र कार्माण शरीर के साथ ही बंधे हुए हैं, जीव के साथ नहीं। अतः शरीर के नष्ट होते ही वह पूर्ण मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार के सम्यग्ज्ञानी के मात्र योग से होने वाला आस्रव ईर्यापथ आस्रव कहलाता है, जो कषाय से सम्बद्ध न होने के कारण आगे बन्धन नहीं कराता। इसके विपरीत अज्ञानी जीवों के जो कषायानुरंजित योग से होने वाला साम्परायिक आस्रव होता है, जो बन्ध का हेतु बनकर संसार की वृद्धि करता है। पर भव में शरीरादि के प्राप्ति के लिए आयु कर्म का आस्रव वर्तमान आयु के त्रिभाग में होता है। शेष सात कर्मों का आस्रव प्रति समय होता रहता है।

साम्परायिक आस्रव दो प्रकार के कहे गए हैं --पुण्यास्रव तथा पापास्रव।

1. पुण्यास्रव : प्रशस्त राग, अनुकम्पा, परिणति तथा चित्त की अकलुषता आदि परिणामों से पुण्य का आस्रव होता है।
2. पापास्रव : अधिक प्रमादवाली चर्या, कलुषता, विषयों के प्रति आसिक्त, पर को कष्ट पहुँचाने और पर को अपशब्द बोलने से पाप का आस्रव होता है।

आस्रव के 42 भेद : आस्रव के इन्द्रिय, कषाय, अव्रत, क्रिया और योग - ये पाँच मूल भेद हैं। इनके क्रमशः पाँच, चार, पाँच, पच्चीस और तीन भेद हैं। ये सब मिलकर आस्रव के 42 भेद हो जाते हैं।

1. पाँच इन्द्रियों के आस्रव : पाँच इन्द्रियों को यहाँ आस्रव कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है, कि इंद्रियों द्वारा ग्राह्य शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में राग-द्वेष रूप प्रवृत्ति करने से जो कर्म का आस्रव होता है, वह इन्द्रिय आस्रव है। स्वरूप मात्र से तो कोई इन्द्रिय कर्मबन्ध का कारण नहीं होती और न इन्द्रियों की राग-द्वेष रहित प्रवृत्ति ही कर्म बंध का कारण होती है। जैसे-श्रोत्रेन्द्रिय का स्वभाव है, कि वह शब्द को ग्रहण करे। यह तो संभव नहीं, कि श्रोत्रेन्द्रिय शब्दों को ग्रहण ही न करे। श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किये जाने वाले मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दों में राग भाव और द्वेष करने से ही श्रोत्रेन्द्रिय-आस्रव होता है। ऐसा ही अन्य इन्द्रियों के सम्बध में भी होता है।

2. कषाय-आस्रव : क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं, जिनके द्वारा जीव कर्मों का आस्रव करता है।

3. अव्रत-आस्रव : 1. प्राणातिपात, 2. मृषावाद, 3. अदत्तादान, 4. मैथुन, 5. परिग्रह ये पाँच अव्रत हैं। इनके निमित्त से होने वाला कर्मबन्धन अव्रत आस्रव है।

4. 25 क्रिया आस्रव: जिससे कर्म का आस्रव होता है, ऐसी प्रवृत्ति को क्रिया कहते हैं। क्रियाएँ दो प्रकार की कही गई है- जीव क्रिया और अजीव क्रिया। यहाँ क्रिया शब्द का अर्थ व्यापार है। अर्थात् जीव के द्वारा जो किया जाय, वह जीव क्रिया है। कर्मरुप से परिणाम अजीव- पुद्गल द्वारा जो की जाय, वह अजीव क्रिया है। जीव क्रिया के दो भेद हैं-सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया। तत्त्व श्रद्धान रूप सम्यक्त्व जीव-व्यापार होने से जीव क्रिया है। इसी तरह अतत्व श्रद्धान रूप मिथ्यात्व भी जीव व्यापार होने से जीव क्रिया है। अथवा सम्यग्दर्शन के होने पर जो क्रियाएँ होती हैं, वह सम्यक्त्व क्रिया है और मिथ्यादर्शन के होने पर जो क्रियाएँ होती हैं, वह मिथ्यात्व क्रिया है।

अजीव क्रिया के दो भेद हैं - ईर्यापथिक क्रिया और साम्परायिक क्रिया। केवल योग के निमित्त से उपशान्त मोह आदि ग्यारहवें से लेकर तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीवों के अजीव पुद्गल राशि कर्म का साता वेदनीय के रूप में परिणत होना ईर्यापथिक क्रिया है। यहाँ जीव व्यापार रूप होने पर भी अजीव की प्रधान रूप से विवक्षा होने से अजीव क्रिया कही जाती है। ईर्यापथिक क्रिया दो प्रकार की है-बध्यमान और वेद्यमान। यह प्रथम समय में बँधती है और द्वितीय समय में इसका वेदन होता है। यह बद्ध-स्पष्ट, वेदित और निर्जीर्ण होकर तीसरे समय में अकर्म रूप हो जाती है। ईर्यापथ क्रिया एक प्रकार की ही है और साम्परायिक क्रिया 24 प्रकार की हैं। इस प्रकार 25 क्रियाएँ हैं। साम्परायिक क्रियाओं के 24 भेद इस प्रकार हैं :-

1. **कायिकी क्रिया** : दुष्ट भाव से युक्त होकर प्रयत्न करना, अयतनापूर्वक काय की प्रवृत्ति करना, व्रत नियमादि का पालन न करके आरम्भजनक कामों में लगना कायिकी क्रिया है।
2. **आधिकरणिकी क्रिया** : तलवार, बन्दूक आदि शास्त्रों का संग्रह या प्रयोग करने से अथवा इनका निर्माण करने या करवाने से तथा कठोर दुर्वचन बोलकर झगड़ा पैदा करने से लगने वाली क्रिया आधिकरणिकी क्रिया है।
3. **प्राद्वेषिकी** : ईर्ष्या-द्वेष के निमित्त से लगने वाली क्रिया को प्राद्वेषिकी क्रिया कहते हैं।
4. **पारितापनिकी** : हाथ या लकड़ी आदि से किसी को ताड़ित करके या करवा के किसी को दुःख पहुँचाने से पारितापनिकी क्रिया लगती है।
5. **प्राणातिपातिकी क्रिया**: जीवों के दस प्रकार के प्राणों का हनन करने से

या आत्महत्या करने से प्राणातिपातिकी क्रिया लगती है।

6. **आरंभिकी** : षट्काय के जीवों का उपमर्दन-छेदन-भेदन आदि करने से लगने वाली क्रिया आरंभिकी क्रिया है।
7. **परिग्रहिकी** : सचित्त या अचित्त परिग्रह रखने से लगने वाली क्रिया परिग्रहीकी है। धन, धान्य, द्विपद, चौपद आदि परिग्रह का त्याग या मर्यादा न करने से यह क्रिया लगती है।
8. **माया-प्रव्यया** : स्वयं के अथवा दूसरों के प्रति कपट या धूर्तता करने से लगने वाली क्रिया को माया प्रव्यया कहते हैं।
9. **अप्रत्याख्यान-प्रव्यया** : जीव-अजीव आदि भोगोपभोग की समस्त वस्तुओं के लिए जब तक व्रत नियम, त्याग, प्रत्याख्यान या विरति न करने से लगने वाली क्रिया अप्रत्याख्यान-प्रव्यया क्रिया है।
10. **मिथ्यादर्शन-प्रव्यया** : तत्त्व अश्रद्धान, तत्त्व की विपरीत प्ररुपणा अथवा तत्त्व के स्वरूप से उसे न्यूनाधिक समझना आदि मिथ्यादर्शन के कारण लगने वाली क्रिया मिथ्यादर्शन प्रव्यया है।
11. **दृष्टिका क्रिया** : जीव-अजीव रूप किसी भी रमणीय वस्तु को राग-दृष्टि से देखने से लगने वाली क्रिया अथवा किसी दर्शनीय वस्तु को देखने जाने के निमित्त से लगने वाली क्रिया दृष्टिका क्रिया है।
12. **स्पृष्टिका** : सचित्त व अचित्त किसी भी वस्तु को राग भाव से स्पर्श करने से लगने वाली क्रिया को स्पृष्टिका क्रिया कहते हैं। राग-द्वेष की भावना को लेकर प्रश्न पूछने से लगने वाली क्रिया स्पृष्टिका क्रिया है।
13. **प्रातीत्यिकी** : जीव या अजीव रूप किसी बाह्य वस्तु के निमित्त से जो राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, उससे लगने वाली क्रिया प्रातीत्यिकी क्रिया है।
14. **सामान्तोपनिपातिकी क्रिया** : जनसमूह की प्रशंसा प्राप्त करने के लिए जीव तथा अजीव किसी भी संग्रहणीय और दर्शनीय सावद्य वस्तुओं का संग्रह करना और उन वस्तुओं की दर्शकों के द्वारा प्रशंसा किए जाने पर प्रसन्न होना सामन्तोपनिपातिकी क्रिया है।
15. **साहत्थिया (स्वहस्तिकी) क्रिया** : अपने हाथ में किसी शिकारी जीव को लेकर उसके द्वारा किसी जीव को मारने तथा तलवार, पत्थर आदि किसी भी निर्जीव वस्तु के द्वारा भी किसी जीव को मारने से जो क्रिया लगती है, वह स्वहस्तिकी क्रिया है।
16. **नैसृष्टिकी**: किसी जीवाजीवादि वस्तु को निर्दयतापूर्वक और अयतनापूर्वक फेंकने या पटकने से लगने वाली क्रिया नैसृष्टिकी क्रिया है। अथवा पापकारी प्रवृत्ति के लिए अनुमति देना भी नैसृष्टिकी क्रिया है।

17. **आज्ञापनिका** : किसी को आज्ञा देने अथवा आज्ञा देकर कोई भी सचित्त-अचित्त वस्तु मंगवाने से आज्ञापनिका क्रिया लगती है।
18. **वैदारणिका** : जीव-अजीव किसी भी वस्तु के विदारण से, चीरने-फाड़ने से लगने वाली क्रिया को वैदारणिका क्रिया कहते हैं। अन्य के पापों को प्रकाशित करने से लगने वाली क्रिया को भी विदारण-क्रिया कहते है।
19. **अनाभोग-प्रत्यया** : अज्ञान या असावधानी से कार्य करने पर लगने वाली क्रिया को अनाभोग प्रत्यया क्रिया कहते हैं।
20. **अनवकांक्षा प्रत्यया** : जिनोक्त कर्त्तव्य-विधियों में प्रमाद के कारण अनादर भाव रखने से लगने वाली क्रिया को अनवकांक्षा-प्रत्यया क्रिया कहते हैं।
21. **प्रेम प्रत्यया** : राग रूप, माया एवं लोभ से लगने वाली क्रिया को पेज्जवत्तिया कहते हैं। इसके दो भेद हैं - माया करने से लगने वाली क्रिया और लोभ करने से लगने वाली क्रिया।
22. **द्वेष प्रत्यया** : द्वेष रूप क्रोध और मान से लगने वाली क्रिया को द्वेष प्रत्यया कहते हैं।
23. **प्रयोग क्रिया** : अयतना के साथ गमन करना, आकुंचन प्रसारण करना आदि शारीरिक चेष्टाओं से लगने वाली क्रिया को प्रयोग क्रिया कहते हैं।
24. **समुदान क्रिया** : तीनों योगों द्वारा जो कर्मों का उपादान होता है, वह समुदान या समादान क्रिया है।
    समुदाविया क्रिया का बहुप्रचलित अर्थ है-बहुत से लोगों द्वारा एक साथ एक क्रिया का किया जाना और उसके निमित्त से सबको एक सरीखी क्रिया का लगना तथा सबको एक साथ उसका परिणाम भी भुगताना। जैसे टोली बनाकर खेलना, कम्पनी बनाकर सावद्य व्यवसाय करना।
    इस प्रकार उक्त चौबीस क्रियाएँ साम्परायिक आस्रव की निमित्तभूत हैं।
25. **ईर्यापथ क्रिया** : पच्चीसवीं क्रिया ईर्यापथ क्रिया है, जो कषाय रहित आत्माओं को केवल योग के निमित्त से लगती है।

3. योग सम्बन्धी आस्रव : मन, वचन और काया की प्रवृत्ति द्वारा जो तीन प्रकार से कर्मों का आस्रव होता है, वह योगास्रव है।

इस प्रकार 5 इन्द्रियों के आस्रव, 4 कषायों के आस्रव 5 अव्रत सम्बन्धी आस्रव, 25 क्रिया आस्रव तथा 3 योग आस्रव कुल 42 आस्रव होते हैं।

6. संवर : कर्मों के आस्रवण को रोकना ही संवर है। आत्मा से संबद्ध होने के लिए जिन आस्रव द्वारों से कर्मों का आगमन होता है, उन द्वारों का निरोध कर देना संवर कहलाता है। जिसे सभी द्रव्यों के प्रति राग, द्वेष या मोह नहीं है, जो इन्द्रिय

कषाय और संज्ञाओं का निग्रह करता है, ऐसे सुख-दुःख के प्रति समभाव वाले के शुभ-अशुभ कर्म का आस्रव नहीं होता है। जो सर्वथा निवृत्त आचरण करता है, उसके वास्तव में पुण्य और पाप नहीं होते, जिससे उसके शुभाशुभ भाव द्वारा होने वाले कर्मों का संवर होता है। अर्थात् संवर राग-द्वेष आदि आस्रव को रोककर आगामी कर्मों के आगमन को रोक देता है।

संवर आस्रव का विरोधी है। आस्रव अनादिकालीन अज्ञान के कारण होता है, अतः अनादि है। इस अनादि आस्रव का अन्त पाँच आस्रव द्वारों 1. मिथ्यात्व, 2. अविरति, 3. प्रमाद, 4. कषाय एवं 5. योग, के निषेध द्वारा ही संभव है। इस प्रकार से आस्रव निरोध का प्रयास जीव तभी कर सकता है, जबकि उसे तत्त्व का सम्यग्ज्ञान हो, आत्मा तथा अनात्मा का भेद ज्ञान हो। शुद्ध आत्मा को जानता हुआ जीव शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है तथा अशुद्ध आत्मा को जानता हुआ जीव अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है। जीव उपयोग लक्षण वाला है। अतः जीव के लिए उपयोग तथा अन्य भावों में भेद को जानना आवश्यक है। उपयोग उपयोग में ही है, क्रोधादि में कोई उपयोग नहीं है, निश्चय से क्रोध में ही क्रोध है, उपयोग में क्रोध नहीं है, आठ प्रकार के कर्म तथा शरीर रूप नोकर्म में उपयोग नहीं है तथा उपयोग में कर्म तथा नोकर्म नहीं है।' इस प्रकार का सम्यग्ज्ञान जब जीव को हो जाता है, तब वह शुद्धोपयोग में स्थित हो जाता है तथा विभाव परिणमन का अभाव रूप संवर हो जाता है। अर्थात् जीव ज्ञान चेतन्य रूप को धारण करके राग-द्वेष-मोह आदि आस्रवों को भेद विज्ञान रूपी तीक्ष्ण छैनी से पृथक् कर अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है।

जीव को तत्त्वों का सम्यग्ज्ञान हो जाने पर ही वह सम्यग्चारित्र को अपनाकर व्यवहार में आस्रव निरोध करके संवर करता है। सम्यग्ज्ञानी अपने मन, वचन और काय की क्रियाओं को आत्मोन्मुखी बनाता है। चुँकि मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को सर्वथा रोकना तो संभव नहीं है। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आहार करना, मलमूत्र का विसर्जन करना, चलना-फिरना, बोलना, रखना, उठाना आदि क्रियाएँ करना ही पड़ती है। अतः जितने अंशों में मन, वचन और काय की क्रियाओं का निरोध है, उतने अंश को गुप्ति कहते हैं। गुप्ति अर्थात् रक्षा। मन, वचन और काय की अकुशल प्रवृत्तियों से रक्षा करना। यह गुप्ति ही संवरण का साक्षात् कारण है। गुप्ति के अतिरिक्त समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र आदि से भी संवर होता है। समिति आदि में जितना निवृत्ति का अंश होता है, उतना संवर का कारण होता है और प्रवृत्ति का अंश शुभ बन्ध का हेतु होता है। भेदज्ञानी अपने आचरण को अधिक निवृत्ति परक बना सकता है।

समिति : समिति अर्थात् सम्यक् प्रवृत्ति, सावधानी से कार्य करना। समिति पाँच प्रकार की है। 1. ईर्या समिति-चार हाथ आगे देखकर चलना। 2. भाषा समिति -

हित-मित-प्रिय वचन बोलना। 3. **एषणा समिति** - विधि पूर्वक निर्दोष आहार लेना। 4. **आदान-निक्षेपण समिति** - देख-शोध करके किसी वस्तु को रखना, उठाना। 5. **उत्सर्ग समिति**- देख-शोधकर निर्जन्तु स्थान पर मलमूत्रादि का विसर्जन करना।

धर्म : आत्म स्वरूप की ओर ले जाने वाले और समाज को संधारण करने वाले विचार और प्रवृतियाँ धर्म हैं। धर्म दश हैं।

1. **क्षान्ति** : क्षमा अर्थात् क्रोध का त्याग करके सहनशील बनना।
2. **मुक्ति** : शुचिता, पवित्रता तथा निर्लोभता ही मुक्ति है।
3. **आर्जव** : सरलता अर्थात् मन, वचन व काय की कुटिलता का त्याग।
4. **मार्दव** : चित्त में मृदुता तथा बाह्य व्यवहार में नम्रता ही मार्दव है।
5. **लाघव (आकिंचन्य)** : बाह्य तथा आभ्यान्तर पदार्थों के प्रति ममत्व एवं परिग्रह का त्याग।
6. **सम** : प्रामाणिकता, विश्वास, परिपालन, तथ्य और स्पष्ट भाषण।
7. **संयम** : इन्द्रिय-विजय। पाँचों इन्द्रियों की विषय-कषाय में प्रवृत्ति को नियंत्रित रखना।
8. **तप** : इच्छा-निरोध। मन की तृष्णाओं को रोककर प्रायश्चित, विनय तथा वैयावृत्य (सेवा) में चित्तवृत्ति को संलग्न करना। उपवास, एकासन, कायक्लेश, मौन, एकान्तवास आदि बाह्य तप है।
9. **त्याग** : वस्तुओं के प्रति आसक्ति भाव का त्याग करके दान आदि देना।
10. **ब्रह्मचर्य** : बाह्य काम भोगों से अपना चित्त हटाकर ब्रह्म अर्थात् आत्मा में रमण करना।

अनुप्रेक्षा : सद्विचार, उत्तम भावनाएँ और आत्मचिन्तन अनुप्रेक्षा है। जगत् की अनित्यता, अशरणता, संसार का स्वरूप, आत्मा का अकेला ही फल भोगना, देह की भिन्नता और उसकी अपवित्रता रागादि भावों की हेयता, सदाचार की उपादेयता, लोक स्वरूप का चिन्तन और बोधि की दुर्लभता आदि का बार-बार विचार करके चित्त को सुसंस्कारी बनाना, जिससे वह द्वन्द्व दशा में समताभाव रख सके। ये भावनाएँ चित्त को आस्रव की ओर से हटाकर संवर की तरफ झुकाती हैं।

परिषह जय : साधक का स्वीकृत धर्म मार्ग से चलित न होने, स्थिर रहने और कर्मबन्धन के क्षय के लिए जो स्थितियाँ समभाव पूर्वक सहन करने योग्य है, उसे परिषह कहते हैं। जैसे भूख, प्यास, सर्दी-गर्मी, मच्छर, चलने फिरने में कंकड़-कांटे आदि की बाधाएँ, वध, आक्रोश आदि बाधाओं को शान्ति से सहना चाहिए। चिर तपस्या करने पर भी सफलता प्राप्त न होने पर तप के प्रति अनादर भाव नहीं होना चाहिए तथा सफलता मिलने पर गर्वित नहीं होना चाहिए। किसी के सत्कार-पुरस्कार में हर्ष और अपमान में खेद नहीं करना, भिक्षा भोजन करते हुए भी आत्मा में दीनता

नहीं आने देना आदि परिषहों के जय से चारित्र में दृढ़ निष्ठा होती है और कर्मों का आस्रव रूककर संवर होता है।

चारित्र : अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का सम्पूर्ण परिपालन करना पूर्ण चारित्र है। चारित्र के सामायिक आदि अनेक भेद हैं। सामायिक-समस्त पाप क्रियाओं का त्याग और समताभाव की आराधना। छेदोपस्थापना- व्रतों में दूषण लग जाने पर दोष का परिहार कर पुनः व्रतों में स्थिर होना। परिहार विशुद्धि- इस चारित्र के धारक व्यक्ति के शरीर में इतना हल्कापन आ जाता है, कि सर्वत्र गमन आदि प्रवृत्तियाँ करने पर भी उसके शरीर से जीवों की विराधना हिंसा नहीं होती। सूक्ष्मसम्पराय -समस्त क्रोधादि कषायों का नाश होने पर बचे हुए सूक्ष्म लोभ के नाश की तैयारी करना। यथाख्यात - समस्त कषायों के क्षय होने पर जीवन्मुक्त व्यक्ति का पूर्ण आत्मस्वरूप में विचरण करना।

इस प्रकार गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र से कर्मशत्रु के आने के द्वार बन्द हो जाते हैं। कर्मों के निरोध से नोकर्म का निरोध और नोकर्म के निरोध से संसार का अभाव रूप संवर होता है।

7. निर्जरा : पूर्वबद्ध कर्मों का प्रयास पूर्वक क्षय करना निर्जरा है। योग और संवर से युक्त जो जीव बहुविध तप करता है, वह आत्म ज्ञान में निश्चल रूप से स्थित होता है, वह नियम से अनेक कर्मों की निर्जरा करता है। निर्जरा संवर पूर्वक ही होती है। गुप्ति आदि से सर्वतः संवृत व्यक्ति आगे आने वाले कर्मों के आस्रव को तो रोक ही देता है, साथ ही पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करके क्रमशः मोक्ष को प्राप्त करता है। निर्जरा दो प्रकार से होती है-एक औपक्रमिक या अविपाक निर्जरा और दूसरी अनौपक्रमिक या सविपाक निर्जरा। तप आदि साधनाओं के द्वारा कर्मों को बलात् उदय में लाकर बिना फल दिये झड़ा देना अविपाक निर्जरा है। स्वाभाविक क्रम से प्रति समय कर्मों का फल देकर झड़ते जाना सविपाक निर्जरा है। यह सविपाक निर्जरा प्रति समय हर प्राणी के होती ही रहती है। इसमें पुराने कर्मों की जगह नूतन कर्म लेते जाते हैं। गुप्ति, समिति और खासकर तप रूपी अग्नि से कर्मों को फल देने के पहले ही भस्म कर देना अविपाक या औपक्रमिक निर्जरा है। कर्मों की गति टल ही नहीं सकती। यह एकान्त नियम नहीं है। आखिर कर्म है क्या? अपने पुराने संस्कार ही वस्तुतः कर्म हैं। यदि आत्मा में पुरुषार्थ है और वह साधना करे, तो क्षण मात्र में पुरानी वासनाएँ क्षीण हो सकती हैं।

"नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।"

अर्थात् सैकड़ों कल्पकाल बीत जाने पर भी बिना भोगे कर्मों का नाश नहीं हो सकता। यह मत साधारण प्राणियों के लागू होता है। लेकिन जो आत्म पुरुषार्थी साधक हैं, उनकी ध्यान रूपी अग्नि तो क्षणमात्र में समस्त कर्मों को भस्म कर सकती है-

"ध्यानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात्कुरुते क्षणात्"

ऐसे अनेक महात्मा हुए हैं, जिन्होंने अपनी साधना का इतना बल प्राप्त कर लिया था, कि साधु दीक्षा लेते ही, उन्हें केवल्य की प्राप्ति हो गई थी। पुरानी वासनाओं और राग-द्वेष तथा मोह के कुसंस्कारों को नष्ट करने का एकमात्र मुख्य साधन है – 'ध्यान' अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध करके उसे एकाग्र करना। ध्यान के माध्यम से चैतन्य स्वभावी, तीनों कालों में स्थिर रहने वाले आत्म तत्त्व में राग-द्वेष रूप कषायों का अभाव होने पर शुद्ध स्वरूप की वृद्धि ही निर्जरा तत्त्व है। निर्जरा तप से होती है। लेकिन सम्यग्ज्ञान के अभाव में कषायों के रहते जो तप किया जाता है, वह बालतप कहा जाता है तथा निर्जरा में सहायक नहीं होता है। किन्तु सम्यग्ज्ञान के होने पर कषाय के अभाव में होने वाली परिणामों की शुद्धता ही वास्तविक तप है। इसी अकषाय रूप तप से निर्जरा होती है, जो दो प्रकार की कही गई है- द्रव्य निर्जरा तथा भाव निर्जरा।

जिसे स्व-पर विवेक रूप से सम्यग्ज्ञान हो जाता है, वह चेतन तथा अचेतन द्रव्यों का इन्द्रियों द्वारा जो उपभोग करता है, वह सब निर्जरा का ही निमित्त होता है! रागादि कषायों से युक्त मिथ्यादृष्टि जीवों के लिए यही उपभोग बंध का कारण होता है। यद्यपि पूर्व कर्मों के भोग द्वारा उनकी तो निर्जरा होती है, किन्तु भोग में आसक्ति होने के कारण मिथ्यादृष्टि के नवीन कर्मों का बन्ध हो जाता है। लेकिन रागादि के अभाव के कारण ज्ञानी के लिए वह द्रव्य निर्जरा होती है। अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव के कर्म विपाक अवस्था आने पर अपना फल देकर समाप्त हो जाते हैं व आसक्ति भाव न होने से नवीन बन्धन का कारण नहीं बनते हैं।

पूर्वबद्ध कर्मों के उदय में आने पर द्रव्य के उपभोग से जीव में सुख या दुःख के भाव नियम से उत्पन्न होते हैं। मिथ्यादृष्टि जीवों के पूर्व कर्मों की निर्जरा के साथ-साथ नवीन बन्ध भी होता रहता है। किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव के रागादि कषायों के अभाव में आगामी बन्ध हुए बिना ही भाव निर्जरा होती है। इस प्रकार ज्ञान की महिमा है, जिसके कारण जीव कर्मों का भोग करता हुआ भी कर्मों को नहीं बाँधता है। जैसे वैद्य विष का सेवन करता हुआ भी नहीं मरता है, उसी प्रकार ज्ञानी आत्मा पुद्गल कर्म का भोक्ता बनकर भी नवीन कर्मों को नहीं बाँधता है।

इस प्रकार ज्ञानी की समस्त व्रत तपादि की क्रियाएँ इच्छा रहित होती हैं। अतः वह उनके फल को प्राप्त नहीं करता है तथा कर्म निर्जरा करके शुद्धात्म स्वरूप को प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है, कि राग-द्वेष मोह आदि कषायों से मुक्त होकर ही जीव कर्मों की निर्जरा कर सकता है। सम्यग्दर्शन होते ही निर्जरा प्रारम्भ हो जाती है। स्व-पर विवेक रूप सम्यक् दर्शन होने पर रागादि स्वतः ही लुप्त हो जाते हैं। फलतः विषयों को भोगते हुए भी जीव कर्म बन्ध नहीं करता है, तथा भोग के माध्यम से

प्रारब्ध कर्मों की निर्जरा करता है तथा सम्यग्दृष्टि जीव के संचीयमान कर्मों का संवर हो जाता है। प्रारब्ध कर्मों की भोग के द्वारा ही निर्जरा हो जाती है तथा संचित कर्मों की निर्जरा व्रत-तपादि से होती है। वेदान्त दर्शन में भी निर्जरा या कर्मक्षय का प्रतिपादन कुछ इसी रूप में हुआ है। संपूर्ण कर्मों की निर्जरा होने पर जीव मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

8. बंध : बंध ही संसार का कारण है। जीव जो कर्म बांधता है, उन्हीं के फल भोगने के लिए संसार में पुनः पुनः जन्म लेता है। दो पदार्थों के विशिष्ट सम्बन्ध को बन्ध कहते हैं, जिससे उनमें दूध-पानी की तरह तादात्म्य हो जाता है। जब आत्मा शुभाशुभ भाव रुप से विभाव परिणमन करता है, तो वह उस भाव के निमित्त से विविध पुद्गल कर्मों से बद्ध हो जाता है। अज्ञानी जीवों में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष मोह आदि भावों का निमित्त पाकर कर्माणुओं का आत्म प्रदेशों के साथ दूध-पानी के समान तादात्म्य हो जाना ही बंध है।[13] जीव का कर्माणुओं के साथ बंध होने का बहिरंग कारण मन-वचन-काय जनित योग है और अन्तरंग कारण राग-द्वेष-मोह से युक्त आत्म परिणाम है।

कषाय-परिणत आत्मा कर्म-योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। इस अनादि कालीन कर्म-पुद्गलों के सम्बन्ध के कारण स्वभावतः अमूर्त आत्मा मूर्तवत् हो जाता है। अतः वह मूर्त कर्म-दलिकों को ग्रहण करता है। जैसे दीपक बत्ती के द्वारा तेल को ग्रहण कर अपनी उष्णता द्वारा उसे ज्वाला में परिणत करता है वैसे ही आत्मा कार्पाथिक विकार द्वारा कर्मयोग्य पुद्गलों को ग्रहण कर लेता है तथा उन्हें कर्म रूप में परिणत कर लेता है। आत्म-प्रदेशों के साथ कर्म-पुद्गलों का यह सम्बन्ध ही बन्ध कहलाता है। जैसे कोई व्यक्ति शरीर पर तेल लगाकर अखाड़े की मिट्टी में लोटता है, तो उसके शरीर पर मिट्टी चिपक जाती है, उसी तरह कषाय आदि विकारों की चिकनाई के कारण कर्म-पुद्गल आत्मा के साथ चिपक जाते हैं, बंध जाते हैं।

कर्म और आत्मा का यह संबंध सर्प कंचुकीवत् ऊपर-ऊपर से ही स्पृष्ट नहीं होता वरन् दूध-पानी की तरह तादात्म्य रूप बंध होता है। जैसे तप्त लोहे के पिण्ड में अणु-अणु में अग्निका प्रवेश हो जाता है, इसी प्रकार तप्त घी या तेल में छोड़ी हुई पूड़ी सब ओर से तेल को ग्रहण करती है, उसी प्रकार आत्मा स्वक्षेत्रावगाह कर्म-पुद्गलों को कषायादि कारणों से सर्वात्म प्रदेशों से ग्रहण करता है।

कर्म-बन्ध के पाँच हेतु कहे गए हैं- 1. मिथ्यात्व, 2. अविरति, 3. प्रमाद, 4. कषाय और 5. योग।[14] कहीं-कहीं कषाय और योग को ही कर्मबन्ध का कारण माना गया है। इस कथन में मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद को कषाय के अन्तर्गत समाविष्ट कर लिया जाता है, क्योंकि ये कषाय के स्वरूप से भिन्न नहीं है। कहीं मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, ये चार कर्मबन्ध के कारण कहे गए हैं। यहाँ प्रमाद का

अविरति में समावेश कर दिया गया।

भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से बन्ध के कारणों की संख्या में अन्तर होते हुए भी तात्विक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। कषाय और योग, इन दो हेतुओं के कथन की परम्परा किसी एक ही कर्म में सम्भावित चार अंशों के कारण का पृथक्करण करने के लिए है। प्रत्येक कर्म-बन्ध में चार अंशों का निर्माण होता है- 1. प्रकृति, 2. स्थिति, 3. अनुभाग और प्रदेश।[5] इन चार अंशों में से प्रकृति और प्रदेश बंध का हेतु योग होता है तथा स्थिति एवं अनुभाग बंध का हेतु कषाय होता है। इस दृष्टि से कषाय एवं योग को बंध का हेतु कहा गया है।

निश्चय दृष्टि से तो मन-वचन-काय जनित योग भी बंध का कारण नहीं है, वरन् रागादि भाव ही बंध का कारण है। रागादि से मुक्त सम्यादृष्टि जीव के बन्ध नहीं होते। लेकिन मिथ्या-दृष्टि जीव के उपयोग में रागादि भाव होने से उसके कर्मों का आस्रवण रूप बन्ध होता है। रागादि से युक्त होकर जीव विविध चेष्टाएँ करता हुआ उसी प्रकार कर्म बन्धन को प्राप्त करता है, जिस प्रकार शरीर पर तेल मला हुआ व्यक्ति मिट्टी में व्यायामादि करता है, तब मिट्टी से लिप्त हो जाता है। फिर तेल रहित होकर वही व्यक्ति मिट्टी में व्यायामादि करता है, तब उससे लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार राग रहित उपयोग होने पर जीव विविध कर्म करता हुआ भी बन्धन को प्राप्त नहीं करता है।[6] अर्थात् कषाय ही बन्ध का मूल कारण है।

जीव में शुभ अथवा अशुभ कर्मों के प्रति उत्पन्न हुआ मिथ्या अहंकार ही बन्ध का कारण है। इसे अध्यवसाय कहते हैं। कोई भी जीव वास्तव में परजीव का कुछ भी भला या बुरा नहीं कर सकता है। अन्य जीवों के अपने कर्मों के उदय से ही उन्हें मृत्यु अथवा जीवन मिलता है, लेकिन मिथ्या-दृष्टि जीव का यह भाव कि 'मैंने उसे मारा।' अथवा 'मैंने उसे जीवन दान दिया।' ऐसा मिथ्या अहंकार ही शुभ अथवा अशुभ कर्मों का बन्धन करता है।[7] प्राणातिपात (हिंसा), मृषावाद (असत्य), अदत्तादान (चोरी), मैथुन व परिग्रह विषयक किया गया अध्यवसाय (मिथ्या-अहंकार) पाप का बन्ध कराता है। इसके विपरीत पंच महाव्रत रूप अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, एवं अपरिग्रह विषयक किये गए अध्यवसाय से पुण्य का बन्ध होता है।

बन्ध दो प्रकार के होते हैं- 1. भाव बन्ध तथा 2. द्रव्य बंध। जिस राग-द्वेष मोह आदि विकारी भावों से जीव के जो भाव होते हैं, उन भावों के द्वारा परिणमन करता हुआ जीव भाव बन्ध करता है। फिर उन्हीं कषायों के कारण जब कर्म-पुद्गलों का आत्मप्रदेशों से सम्बन्ध होता है, वह द्रव्य बन्ध कहलाता है।[8]

प्रत्येक कर्म-बंध में चार अंशों का निर्माण होता है- प्रकृति बंध, अनुभाग बंध स्थिति बंध और प्रदेश बंध। ये चार ही बंध के भेद हैं। जैसे गाय आदि के द्वारा खाई हुई घास आदि वस्तुएँ जब दूध के रूप में परिणत होती हैं, तब उसमें मधुरता का

स्वभाव पैदा होता है, वह स्वभाव अमुक समय तक उसी रूप में रहेगा, ऐसी काल मर्यादा निर्मित होती है, मधुरता में तीव्रता या मन्दता आदि विशेषताएँ भी होती हैं और उस बनने वाले दूध की मात्रा भी न्यूनाधिक होती है। इस प्रकार जीव द्वारा गृहित एवं बद्ध कर्म-पुद्गलों में चार अंशों का निर्माण होता है।

1. **प्रकृति बंध**: कर्म-पुद्गलों में अलग-अलग स्वभाव का उत्पन्न होना प्रकृतिबंध है। जैसे मेथी के लड्डू कफ-विकारों को दूर करते हैं, काली-मिर्च आदि का बना लड्डू पित्त को दूर करता है, उड़द का लड्डू पौष्टिकता देता है। इसी प्रकार कर्म-पुद्गलों में अलग-अलग स्वभाव का पैदा होना प्रकृति बंध कहलाता है। जैसे ज्ञानावरणीय कर्म में ज्ञान को आवृत करने का, दर्शनावरणीय में दर्शन को रोकने का, वेदनीय में सुख-दुःख देने का, मोहनीय में सम्यक्त्व एवं चारित्र को रोकने का, आयु में नियत भव को रोक रखने का, नाम में विविध आकृतियाँ रचने का, गोत्र में ऊँची-नीची अवस्थाएँ बनने का और अन्तराय में जीव की शक्ति को रोकने का स्वभाव प्रकृतिबंध है।

2. **स्थिति बंध** : जैसे कोई मोदक दो चार दिन तक टिकता है (उसी रूप में बना रहता है, फिर खराब हो जाता है), कोई मोदक सप्ताह तक, कोई पक्ष तक और कोई मास भर तक टिक सकता है। उसी प्रकार जीव के द्वारा जो शुभाशुभ कर्म-पुद्गल ग्रहण किए गए हैं, वे अमुक काल तक अपने स्वभाव को कायम रखते हुए जीव प्रदेशों के साथ बन्धे रहेंगे, उसके बाद वे शुभ या अशुभ रूप में उदित (फलित) होंगे, इस प्रकार से कर्मों का निश्चित काल तक के लिए जीव के साथ बंध जाना-स्थिति बंध है। जैसे ज्ञानावरणीय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहुर्त और उत्कृष्ट तीस कोटा-कोटी सागरोपम की है।

3. **अनुभाग-बंध** : कुछ कर्म तीव्र रस से बन्धते है तथा कुछ मन्द रस से। शुभाशुभ कार्य करते समय जीव की जितनी तीव्र या मन्द प्रवृत्ति होती है, उसी के अनुरूप कर्म बंधते और उनमें फल देने की वैसी ही शक्ति होती है मृदु-कटु, तीव्र-मन्द। जैसे कोई फल मधुर रस वाला होता है, कोई कटु रस वाला, कोई खट्टा, इसी प्रकार कर्म-पुद्गलों में शुभ या अशुभ, तीव्र या मंद रस का पैदा होना अनुभाग बन्ध कहलाता है।

4. **प्रदेश बंध** : भिन्न-भिन्न कर्म-वर्गणाओं में परमाणुओं की संख्या का न्यूनाधिक होना प्रदेश बंध है। जीव द्वारा ग्रहण किए जाने पर भिन्न-भिन्न स्वभाव में परिणत होने वाली कर्म-पुद्गल राशि स्वभावानुसार अमुक-अमुक परिमाण में बंट जाती है, यह परिमाण विभाग ही प्रदेश बंध कहलाता है। जैसे-एक व्यक्ति का वजन 50 किलो है, अन्य किसी का 45 किलो है। इसी प्रकार बंधने वाले कर्म पुद्गलों के परिमाण में न्यूनाधिकता होती है, उसे ही प्रदेश बन्ध कहते हैं। चूंकि जीव संख्यात

परमाणुओं से बने हुए कर्म पुद्गलों को ग्रहण नहीं करता, अपितु अनन्त परमाणु वाले स्कन्ध को ग्रहण करता है।

इस प्रकार कर्मों में अलग-अलग स्वभाव को प्रकृतिबंध, कालमर्यादा को स्थिति बंध, रस को अनुभाग बंध और कर्म पुद्गलों के समूह को प्रदेश बन्ध कहते हैं।

बंध के इन चार प्रकारों में से प्रकृति बंध और प्रदेश बन्ध योग के आश्रित हैं। योग के तरतम भाव पर प्रकृति एवं प्रदेश बंध का तरतमभाव अवलम्बित है। स्थिति बंध और अनुभाग बंध का आधार कषाय है, क्योंकि कषायों की तीव्रता या मन्दता पर ही स्थिति और अनुभाग बन्ध की न्यूनाधिकता अवलम्बित है। कषाय यदि मंद है, तो कर्म की स्थिति और अनुभाग भी मंद रहेंगे और यदि कषाय तीव्र होंगे तो कर्म की स्थिति दीर्घ और अनुभाग भी तीव्र होगा।

इस प्रकार रागादि रूप विभाव परिणमन से जीव बन्ध करता है तथा वीतरागता को धारण करके जो सम्यग्दृष्टि बन जाता है, वही मोक्ष प्राप्त करता है।

9. मोक्ष : बंध का सर्वथा अभाव ही मोक्ष है। जैन साधना की सम्पूर्ण सफलता सिद्धि एवं मुक्ति की प्राप्ति में सन्निहित है। मोक्ष प्राप्त करना ही साधकों का सर्वोत्कृष्ट साध्य है। यही सर्वोत्तम पुरुषार्थ है। समस्त जप-तप-यम-नियम-ध्यान आदि मोक्ष के लिए ही किए जाते हैं। समस्त साधकों एवं मुमुक्षुओं का एकमात्र लक्ष्यबिन्दु मोक्ष ही है। मोक्ष आत्मा का पूर्ण विकास है और आत्यान्तिक रूप से दुःख मुक्ति है।

संसारवर्ती आत्मा अनादिकाल से कर्म रूपी मैल से उसी प्रकार मलिन है, जिस प्रकार मिट्टी में रहा हुआ सोना। जिस प्रकार मृतिका से मिश्रित स्वर्ण को क्षार, पुट और अग्नि के सम्पर्क से विशिष्ट प्रयोग से मिट्टी से अलग किया जा सकता है, उसे शुद्ध स्वर्ण का रूप दिया जा सकता है। इसी प्रकार कर्ममिश्रित आत्मा को संवर, निर्जरा और तप के विशिष्ट प्रयोग द्वारा निर्मल बनाया जा सकता है। इस प्रकार निर्मल बनी हुई आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप-अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य को प्राप्त करके लोकाग्र पर स्थिति सिद्धशिला पर विराजित होकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाती है।

समस्त कर्मों का क्षय ही मोक्ष है। मिथ्यात्व, कषाय आदि बंध के हेतुओं का सर्वथा अभाव तथा निर्जरा से पूर्वबद्ध समस्त कर्मों का आत्यांतिक क्षय ही मोक्ष है। अर्थात् कर्म पुद्गलों का आत्मा से वियोग ही मोक्ष है। जब तक नवीन कर्म आते रहेंगे, तब तक कर्म का आत्यंतिक क्षय संभव नहीं हो सकता। नवीन कर्मों का आस्रव (आगमन) संवर द्वारा रुकता है और पूर्वबद्ध कर्म निर्जरा द्वारा क्षीण होते हैं। इस प्रकार संवर तथा निर्जरा पूर्वक संपूर्ण कर्मों का क्षय होने पर ही मोक्ष होता है।

कर्मक्षय की शृंखला में सर्वप्रथम मोहनीय कर्म क्षीण होता है और उसके क्षीण होने के अन्तर्मुहुर्त बाद ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मों का भी क्षय हो जाता है। इस प्रकार चार घाति कर्मों का क्षय होने पर केवलज्ञान, केवलदर्शन प्रकट होता है और आत्मा सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन जाती है। फिर सभी वेदनीय आदि चार अघाति कर्म अत्यन्त विरल रूप में विद्यमान रहते हैं, जिनके कारण मोक्ष नहीं होता। जब इन अघाति कर्मों का भी क्षय होता है, तभी मोक्ष होता है और तब यह जन्म मरण का चक्र समाप्त हो जाता है।

मोक्ष दो प्रकार के कहे गए हैं – द्रव्य मोक्ष तथा भाव मोक्ष। पौद्गलिक कर्मों के आत्यांतिक नाश की तरह कर्म सापेक्ष कितने ही भावों का नाश भी मोक्ष प्राप्ति के पूर्व आवश्यक है। औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और कतिपय पारिणामिक भावों का नाश होने पर मोक्ष होता है। चूँकि सम्यग्ज्ञानी के आस्रव के हेतु राग-द्वेष-मोह आदि भावों का अभाव होने से आस्रव भाव का अभाव होता है। आस्रव के अभाव से कर्मबंध का अभाव होता है। कर्म बन्ध का अभाव होने तथा बद्ध कर्मों की निरन्तर अनासक्त भोग से निर्जरा होने से जीव भाव-मोक्ष को प्राप्त करता है। अद्वैत वेदान्त की जीवन्मुक्ति इसी प्रकार की मानी गई है। भाव मोक्ष की अवस्था में जीव सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अव्याबाध-इन्द्रिय क्रियाओं से परे अनन्त आनन्दमय स्थिति में होता है। भाव मोक्ष-द्रव्य मोक्ष का हेतु भूत है।

चार घातिय कर्मों का क्षय करके जीव भाव मोक्ष को प्राप्त करता है। जो जीव संवर मय होता हुआ सर्व कर्मों की निर्जरा करता हुआ वेदनीय, आयु, नाम-गोत्र आदि चार अघातिय कर्मों का भी क्षय करके भव को छोड़ता है, उसे द्रव्य मोक्ष कहते हैं। द्रव्य मोक्ष वेदान्त दर्शन में प्रतिपादित विदेह मुक्ति के समकक्ष है। द्रव्य-मोक्ष पूर्ण मुक्ति है। लेकिन इस मोक्ष अवस्था में भी समस्त कर्मों का ही नाश होता है, समस्त भावों का नाश नहीं होता। जैसे पारिणामिक भावों में भव्यत्व का नाश होता है, लेकिन जीवत्व, अस्तित्व आदि पारिणामिक भाव मोक्ष अवस्था में भी विद्यमान रहते हैं। क्षायिक भाव कर्मसापेक्ष होने पर भी मोक्ष में उनका अभाव नहीं होता, इसलिए क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, क्षायिक वीर्य, क्षायिक सुख आदि भाव मोक्ष में बने रहते हैं।

मोक्ष मार्ग : मोक्ष ही प्रत्येक जीव के लिए परम उपादेय साध्य तत्व है। इस मोक्ष की प्राप्ति के लिए रत्नत्रयी रूप मोक्षमार्ग का प्रतिपादन किया गया है। रत्नत्रयी का अर्थ है- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्र। इस रत्नत्रयी में आत्मा के समग्र आध्यात्म गुणों का समावेश हो जाता है, आत्मिक शक्तियों की अभिव्यक्ति के लिए इस रत्नत्रयी की साधना ही सम्पूर्ण साधना है। भावों अथवा पदार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है और उनका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है तथा पंचेन्द्रिय के विषयों के प्रति वर्तता

हुआ आत्मा का समभाव ही सम्यग्चारित्र है। वस्तुतः रत्नत्रय आत्मा की ही विविध अवस्थाएँ हैं।

सम्यग्दर्शनः आत्म स्वरूप की प्रतीति, आत्मस्वरूप का विश्वास और आत्म स्वरूप, वीतराग एवं वीतराग-प्ररूपित तत्वों पर सच्ची श्रद्धा एवं दृढ़ विश्वास होना ही सम्यग्दर्शन है। मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय के अभाव में ही सम्यग्दर्शन सम्भव है। जड़ और चेतन में, स्व और पर में, आत्मा और पुद्गल में भेद विज्ञान करना आदि सम्यग्दर्शन का कार्य है। जीव और अजीव द्रव्य तत्व हैं और शेष सभी पर्याय तत्व हैं। पर द्रव्यों और पर्यायों से भिन्न निज आत्मा ही परम उपादेय तत्व है। निज आत्मा को छोड़कर शेष सभी तत्व मात्र ज्ञेय ही हैं। वे न तो हेय हैं न ही उपादेय ही वरन् मात्र जानने योग्य ही हैं। जो द्रव्य-गुण-पर्याय से अपनी आत्मा को जानता है, उसका दर्शन मोह नष्ट हो जाता है और सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है। मोक्षमार्ग में सर्व प्रथम स्थान सम्यग्दर्शन को ही दिया गया है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान व चारित्र में सम्यक्त्व असम्भव है। सम्यक्त्व के अभाव में ज्ञान व चारित्र मोक्ष के मार्ग नहीं बन सकते।

सम्यग्ज्ञान : सम्यग्दर्शन युक्त ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। यहाँ सम्यक् का अर्थ लोक प्रचलित सत्य नहीं है, अपितु आत्मानुभूति से प्राप्त सम्यक्त्व की उपस्थिति से है। सम्यक्त्व युक्त सम्यग्ज्ञान है। इसके विपरीत सम्यक्त्व रहित संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय युक्त ज्ञान मिथ्याज्ञान होता है।

ज्ञान पांच प्रकार का कहा गया है- मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान। इनमें मनः पर्यय और केवल ज्ञान पूर्ण रूप से अन्तरिम रूप से आत्मा में प्रकट होते हैं, अतः ये दोनों सम्यग्ज्ञान ही होते हैं। मति, श्रुत तथा अवधिज्ञान बाह्य कारण जन्य होने के कारण सम्यक् भी हो सकते हैं तथा मिथ्या भी हो सकते हैं। अतः विशुद्ध रूप से सम्यग्ज्ञान दो ही है- मनः पर्यय और केवल ज्ञान।

मनः पर्यय ज्ञान वह ज्ञान है, जिसके द्वारा दूसरे जीवों के मन की बात का सही सही ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। केवलज्ञान अतीन्द्रिय एवं साक्षात् ज्ञान है, जिसके द्वारा मूर्त, अमूर्त, चेतन-अचेतन द्रव्यों का स्व का तथा समस्त का युगपत ज्ञान प्राप्त होता है। केवलज्ञान पूर्ण रूप से सम्यक्त्वयुक्त होता है, जिसमें सभी पदार्थों का अनेकान्तिक ज्ञान युगपत रूप से प्राप्त होता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ भेद-विज्ञान सम्यग्ज्ञान का जनक है। नव-पदार्थों का सम्यक् अवबोध, जीव-अजीव का भेद-विज्ञान पूर्वक ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान में परद्रव्यों को जानना इतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना कि आत्मतत्व का। सम्यग्ज्ञान का मूल ज्ञेय तो पर से विभक्त तथा स्व से अविभक्त आत्मा ही है। जब तक ज्ञान परभावों से छूटकर आत्मा में न लग जावे, तब तक भेद-विज्ञान

की उपासना निरन्तर करनी चाहिये, जिससे सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो सके।

सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति आगम के सेवन, युक्ति के अवलम्बन, परम्परा गुरु के उपदेश एवं आत्मा के अनुभव से होती है तथा सम्यग्ज्ञान के द्वारा जाना गया वस्तु का अनेकात्मक सम्यक् स्वरूप स्यादवाद शैली में अभिव्यक्त होता है।[1]

जीव के चारित्र में सम्यक्त्व तभी आ सकता है, जबकि वह सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। आत्म तत्व के ज्ञान रूप अन्तरंग में होने वाला परमबोध ही सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्चारित्र : सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान सम्यग्चारित्र के पूर्व सोपान है तथा सम्यग्चारित्र में ही इनकी सार्थकता है। मोह, राग-द्वेष आदि विकारी परिणामों से रहित आत्मा का परिणाम ही साम्यभाव है और वही सम्यग्चारित्र है।

चारित्र के दो भेद किए गए हैं- सम्यक्त्वाचारण चारित्र और संयमाचरण चारित्र। मन, वचन, काय से शंकादि दोषों को दूर कर निःशंकादि गुणों सहित ज्ञान युक्त आचरण करने वाले का सम्यक्त्वाचरण चारित्र होता है। संयमाचरण चारित्र सम्यक्त्वाचरण चारित्र पूर्वक ही होता है। संयमाचरण चारित्र दो प्रकार का कहा गया है- सागार और अनागार। परिग्रह सहित श्रावक सागार चारित्र का धारक होता है। वह श्रावक पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार बारह व्रतों का धारक होता है। अपरिग्रही मुनि के अनागार चारित्र होता है। मुनि के पाँच इन्द्रियों का संवर, पाँच महाव्रत, पाँच व्रतों की पच्चीस क्रियाएँ, पांच समिति और तीन गुप्ति के सद्भाव होने पर अनागार संयमाचरण होता है।

यहाँ चारित्र का अर्थ केवल बाह्य क्रियाएँ ही नहीं है। बाह्य क्रियाओं का आचरण सम्यक्त्वरहित तो अनन्तकाल से और अनन्त प्रकार से किया गया, लेकिन उससे लक्ष्य की पूर्ति नहीं होती। आध्यात्मसाधना में सम्यक्त्वयुक्त बाह्य क्रियाएँ यथावसर उपयोगी एवं सहायक तो होती हैं, किन्तु वही सब कुछ नहीं है। बाह्य क्रियाओं में उपयोगरहित आत्मा का चारित्र द्रव्य चरित्र कहा गया है और उपयोग सहित स्वरूप में रमणता के साथ भाव चारित्र कहा गया है। जीवन के विकास के लिए द्रव्य और भाव दोनों की आवश्यकता होती है। लेकिन मोक्ष के लिए भाव ही अपरिहार्य है। यदि भाव है, तो द्रव्य मूल्यवान होता है, किन्तु भावशून्य द्रव्य का विशेष महत्व नहीं है। इसी प्रकार द्रव्य के अभाव में केवल भाव भी उतना महत्वपूर्ण नहीं रह जाता। अर्थात् चारित्र सम्यक्त्वयुक्त ही मोक्ष तक ले जाता है। चारित्र सम्यक् हो इसके लिए सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान का होना आवश्यक है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्चारित्र रूप रत्नत्रय सम्मिलित रूप से ही मोक्ष को प्रतिफलित कर सकते हैं। तीनों को संयुक्त रूप से धारण करने वाला जीव ही निज आत्मा की प्राप्ति रूप मोक्ष को प्राप्त करता है। लेकिन सम्यग्दर्शन-

ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति सहज ही नहीं होती। बन्धन में पड़ी हुई आत्मा को विकास की उन ऊंचाइयों को छूने के लिए विकास की एक लम्बी प्रक्रिया में से गुजरना पड़ता है। इस कर्म क्षय की प्रक्रिया के गुणस्थान कहा गया है। ये गुणस्थान 14 बताए गए हैं, जिनसे होकर आत्मा रत्नत्रय रूप से मोक्ष को प्राप्त करता है।

गुणस्थान (कर्म क्षय की प्रक्रिया): मोक्ष प्राप्त करने के लिए आत्मा को चौदह सोपान चढ़ने पड़ते हैं, जिन्हें गुणस्थान कहते हैं। ये गुणस्थान आत्म विकास का एक सुनिश्चित क्रम है।

अविकसित या सर्वथा अधःपतित आत्मा की अवस्था प्रथम भूमिका (गुणस्थान) है। इसमें आत्मा के प्रबलतम शत्रु मोह की शक्ति बड़ी सशक्त होती है और आत्मा की आध्यात्मिक स्थिति बिल्कुल क्षीण होती है। इस गुणस्थान में आत्मा पररूप को स्वरूप समझकर उसी को पाने के लिए लालायित रहता है। मिथ्यादृष्टि के कारण राग-द्वेष में जकड़ा रहता है। इस प्रथम गुणस्थान में आत्मा भौतिक उत्कर्ष कितना ही कर ले, लेकिन उसकी प्रवृत्ति तात्विक लक्ष्य से सर्वथा शून्य होती है। यह भूमिका बहिरात्म भाव या मिथ्या दर्शन की है।

इस भूमिका के सभी जीव भी एक सी स्थिति के नहीं होते। उनमें भी मोह दशा की तरतमता पाई जाती है। कोई मोह की गाढ़तम अवस्था में होते हैं, कोई गाढ़तर स्थिति में और कुछ इससे भी कम मोहासक्त होते हैं। गिरि-नदी-पाषाण न्याय से जानते अजानते जब भी जीव पर मोह का प्रभाव कम होने लगता है, तब वह विकास की ओर अग्रसर हो जाता है और तीव्रतम राग-द्वेष को कुछ मन्द करता हुआ मोह की प्रथम शक्ति दर्शनमोह को समाप्त करने योग्य आत्मबल प्राप्त कर लेता है। इस द्वितीय गुणस्थान को ग्रन्थिभेद कहा जाता है।

ग्रन्थिभेद का कार्य बड़ा विषम है। राग-द्वेष की तीव्रतम विष-ग्रन्थि एक बार शिथिल हो जाए, तो दर्शन मोह को शिथिल होने में देर नहीं लगती। दर्शन मोह की शिथिलता के पश्चात चारित्र मोह की शिथिलता का मार्ग स्वयमेव खुल जाता है। लेकिन इसके लिए एक आध्यात्मिक युद्ध होता है। इसमें एक तरफ राग-द्वेष अपने पूर्ण बल का प्रयोग करते हैं और दूसरी ओर विकासोन्मुख आत्मा अपने वीर्य-बल का प्रयोग करता है। कई बार यह युद्ध अनिर्णीत ही रहता है, कभी मोह प्रबल होकर विजयी होता है और कभी आत्मा अपने प्रबल पौरूष बल से राग-द्वेष की ग्रन्थि को शिथिल कर विजय लाभ प्राप्त करता है।

आत्मा का यह राग-द्वेष से रहित होने का प्रयत्न करण कहलाता है। करण तीन प्रकार के हैं- 1. यथा प्रवृत्ति करण, 2. अपूर्व करण और 3. अनिवृत्ति करण।

अनन्तकाल से दुःख सहते-सहते आत्मा कोमल एवं स्नेहिल बन जाता है। उस परिणाम शुद्धि के कारण जीव आयुकर्म के अतिरिक्त शेष सात कर्मों की स्थिति

पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम एक कोड़ा-कोड़ी सागरोपम जितनी कर देता है। इसे ही यथा प्रवृत्तिकरण कहते हैं। इस करण वाला जीव ग्रन्थिदेश को प्राप्त कर लेता है, किन्तु उसे भेद नहीं सकता।

अपूर्व करण उस अध्यवसाय को कहते हैं, जिसके द्वारा भव्य जीव राग-द्वेष की दुर्भेद्य ग्रन्थि को तोड़ देते हैं।

अपूर्व करण द्वारा राग-द्वेष की ग्रन्थि तोड़ने के पश्चात् जीव के परिणाम अधिक शुद्ध हो जाते हैं और वह सम्यक्त्व की प्राप्ति कर लेता है, इसे ही अनिवृत्तिकरण कहते हैं।

इस प्रकार अपूर्वकरण एवं अनवृत्तिकरण द्वारा आत्मा में इतना वीर्योल्लास प्रकट हो जाता है, कि वह दर्शन मोह पर विजय प्राप्त कर लेता है। दर्शन मोह को जीतते ही प्रथम गुणस्थान मिथ्यात्व की समाप्ति हो जाती है। आत्मा को पहली बार सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है। यह अवस्था तृतीय गुणस्थान की है। सम्यग्दृष्टि को स्वरूप दर्शन हो जाता है। इस दशा को अन्तरात्म भाव कहते हैं।

आत्मा के इस विकास क्रम के चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन के द्वारा स्वरूप दर्शन हो जाने के पश्चात् जीव स्वरूप लाभ के लिए लालायित हो जाता है। इस अवस्था में आत्मा आध्यात्मिक शान्ति का अनुभव करता है।

पाँचवे गुणस्थान में आत्मा देशविरति चारित्र को प्राप्त करता है। चूँकि दर्शन मोह के पश्चात् चारित्र मोह को क्षीण करने पर ही स्वरूप लाभ होता है। इस चारित्र मोह को अंशतः शिथिल करना ही देशविरति है।

देशविरति की प्राप्ति के पश्चात् जब आत्मा चारित्र मोह को अधिकांश में शिथिल करके पहले की अपेक्षा अधिक स्वरूप स्थिरता एवं स्वरूप-लाभ प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इस प्रयत्न में सफल होने पर वह सर्वविरति रूप छठे गुणस्थान में पहुँच जाता है। इसमें कभी-कभी थोड़ी बहुत मात्रा में प्रमाद आ जाता है। विकासोन्मुख आत्मा इस प्रमाद को भी सह नहीं पाता और वह प्रमाद का त्याग करता है। यह अप्रमत्त संयत नामक सातवाँ गुणस्थान है।

सातवें गुणस्थान में पहुँचने पर एक ओर अप्रमादजन्य उत्कृष्ट सुख का अनुभव आत्मा को उस स्थिति में बने रहने के लिए प्रेरित करता है और दूसरी ओर प्रमादजन्य पूर्व वासनाएँ उसे अपनी ओर आकर्षित करती है। इस द्वन्द्वयुद्ध में आत्मा कभी प्रमाद की तन्द्रा में और कभी अप्रमाद की जागृति में अनेक बार आता जाता है। यदि इसमें आत्मा अपना चारित्र बल विशेष प्रकाशित करता है, तो वह अप्रमत्त अवस्था प्राप्त कर लेता है। अर्थात् आत्मा ऐसी तैयारी कर लेता है जिससे मोह पर विजय प्राप्त कर सके। यह आठवाँ गुणस्थान है। इसमें अपूर्व आत्मशुद्धि हो जाती है और पाँच अपूर्व शक्तियाँ आत्मा को प्राप्त हो जाती है जिनके कारण वह - 1. अपूर्व स्थिति घात, 2.

अपूर्व रसघात, 3. गुणश्रेणी, 4. गुण संक्रमण, 5. अपूर्व स्थिति बंध करता है।

इन पाँच अपूर्व बातों के कारण आत्मा की विशुद्धि बहुत बढ़ जाती है। इस आठवें गुणस्थान से आगे बढ़ने वाली आत्माएँ दो श्रेणियों में विभक्त हो जाती है - एक उपशम श्रेणी वाली तथा दूसरी क्षपक श्रेणी वाली। उपशम श्रेणी वाले जीव चारित्र मोह की प्रकृतियों को उपशान्त करते हुए ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँचते हैं। लेकिन वहाँ दबाया हुआ मोह पुनः शक्तिशाली हो जाता है और आन्तरिक युद्ध में थके हुए उपशम श्रेणी वाली आत्माओं को नीचे गिरा देता है। यह ग्यारहवाँ गुणस्थान अधः पतन का स्थान है, क्योंकि उसे पाने वाला आत्मा आगे न बढ़कर एक बार तो अवश्य गिरता है।

आठवें गुणस्थान से आगे क्षपक श्रेणी चढ़ने वाले जीव चारित्रमोह की प्रकृतियों को क्षीण करते हुए नौवें और दसवें गुणस्थान में पहुँचते हैं और वहाँ से सीधे बारहवें गुणस्थान में चले जाते हैं, इस गुणस्थान में मोहकर्म सर्वथा निर्मूल हो जाता है। इसके पश्चात् आत्मा नीचे नहीं गिरता अपितु ऊपर ही चढ़ता है।

उपशम श्रेणी से गिरने वाला जीव चाहे प्रथम गुणस्थान तक ही क्यों न चला जाए, पर उसकी वह गिरी हुई स्थिति कायम नहीं रहती। कभी न कभी वह दुगुने उत्साह से तैयार होकर मोह का सामना करता है और क्षपक श्रेणी की योग्यता प्राप्त कर मोह का सर्वथा क्षय कर देता है।

मोक्ष प्राप्ति में मुख्य रूप से मोह ही बाधक है। मोह का सर्वथा नाश होते ही अन्य ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय रूप घाति कर्म उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जैसे प्रधान सेनापति के मारे जाने पर सैनिक हथियार डाल देते हैं। घातिकर्मों के नष्ट होते ही आत्मा परमात्मभाव का पूर्ण आध्यात्मिक साम्राज्य पाकर निरतिशय केवलज्ञान, केवलदर्शन, यथाख्यात चारित्र एवं अनिर्वचनीय सह आनन्द को प्राप्त कर लेता है। जैसे पूर्णिमा की रात्रि में निरभ्रचन्द्र की सम्पूर्ण कलाएँ प्रकाशमान होती हैं, वैसे ही उस समय आत्मा की चेतना आदि समस्त शक्तियाँ पूर्ण विकसित हो जाती हैं। यह सयोगी केवली नामक तेरहवाँ गुणस्थान है।

इस गुणस्थान में चिरकाल तक रहने के पश्चात् आत्मा दग्धरज्जु के समान शेष अघातिकर्मों का क्षय करने के लिए सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती शुक्ल ध्यान रूप पवन का आश्रय लेकर मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापारों को सर्वथा रोक देता है। यही आध्यात्मिक विकास की पराकाष्ठा रूप चौदहवाँ गुणस्थान है। इसमें आत्मा समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती शुक्ल ध्यान द्वारा सुमेरु की तरह निष्प्रकम्प स्थिति प्राप्त करके अन्त में शरीर को त्यागकर लोकोत्तर मोक्ष स्थान को प्राप्त कर लेता है। यही पूर्ण कृतकृत्यता है, यही परम पुरुषार्थ की अन्तिम सिद्धि है।

इस प्रकार जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रयी का अवलम्बन लेकर

आत्मा के क्रमिक विकास रूपी गुणस्थानों को प्राप्त करते हुए ही अन्त में मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। मोक्ष प्राप्ति के साधन को जानने के पश्चात् उसके स्वरूप को भी जानना चाहिये।

मुक्त आत्मा शरीर रहित है, अतएव शरीर सम्बन्धी किसी भी प्रकार की उपाधि वहाँ नहीं है। वहाँ जन्म नहीं, जरा नहीं, मरण नहीं, भय नहीं, रोग नहीं, शोक नहीं, दुःख नहीं, दारिद्र नहीं, कर्म नहीं, काया नहीं, मोह नहीं, माया नहीं, चाकर नहीं, ठाकर नहीं, भूख नहीं, तृषा नहीं, रूप नहीं, रस नहीं, गंध नहीं, स्पर्श नहीं, वह न छोटा है, न बड़ा है, न गोल है, न चौरस है, न त्रिकोण है, न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है। वरन् वह ज्ञाता है, परिज्ञाता है, वह जीवघन है, ज्ञान घन और आनन्द घन है।

मुक्तात्मा की स्थिति का शब्दों द्वारा वर्णन नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द की वहाँ गति नहीं है, तर्क वहाँ तक नहीं दौड़ता, कल्पना वहाँ तक नहीं उड़ती और बुद्धि वहाँ तक नहीं पहुँचती। वह दशा गूँगे के गुड़ की तरह अनुभव गम्य है। जैसा कि वेदान्त में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन नेति-नेति कहकर किया है, वैसा ही कुछ मुक्तात्मा का स्वरूप है।

मुक्तात्मा अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त चारित्र, अनन्त सुख, अटल अवगहना वाले, अमूर्त, अगुरुलघु और अनन्तवीर्य वाले हैं। वे ज्योति में ज्योति की तरह एक दूसरे में समाए हुए हैं। पौद्गलिक सुख-दुःखों से अतीत होकर अनन्त आत्मिक अव्याबाध सुखों का निरन्तर अनुभव करते हैं।

इस प्रकार आत्मा का पर पदार्थों से असम्बद्ध होकर स्वरूप को प्राप्त कर लेना तथा सदाकाल स्वरूप परिणमन करना ही मोक्ष है।

उपर्युक्त विवेचित नव तत्त्वों में जीव और अजीव द्रव्य तत्त्व हैं, शेष सभी सात पदार्थ पर्याय तत्त्व हैं? पर द्रव्यों और पर्याय तत्त्वों से भिन्न आत्मा परम उपादेय तत्त्व हैं। संवर, निर्जरा और मोक्ष आदि आत्म स्वरूप की प्राप्ति में साधक तत्त्व होने के कारण ही उपादेय कहे गए हैं। संवर, निर्जरा एक देश से शुद्ध होने के कारण एक देश से ही उपादेय है तथा मोक्ष पूर्णतः शुद्ध होने के कारण पूर्ण उपादेय है। निज आत्मा के अतिरिक्त शेष सभी तत्त्व मात्र जानने योग्य ही हैं। मात्र आत्म तत्त्व ही प्राप्त करने योग्य श्रेय तत्त्व हैं।

लोक का स्वरूप : तत्व मीमांसा के अन्तर्गत जैन दर्शन ने मौलिक तत्त्वों के साथ-साथ इस चराचर जगत का भी विवेचन किया है। किसी भी संस्कृति के विकास में उसकी प्राकृतिक एवं भौगोलिक परिस्थितियों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। अतः किसी भी देश के समाज, संस्कृति, राजनीति, अर्थनीति, रहन-सहन, आचार-विचार एवं सुख-समृद्धि का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन भौगोलिक दशाओं को

जानना आवश्यक है, जिनमें उनका विकास हुआ। जैन दर्शन में संपूर्ण जगत के विस्तार का जो नक्शा हमें मिलता है, उसका मोटे तौर पर अध्ययन करना आवश्यक है।

जैन दर्शन में जगत के स्वरूप एवं विस्तार का निरूपण अन्य दर्शनों की अपेक्षा भिन्न रूप से किया गया है। यद्यपि कुछ स्थानों पर समानता भी परिलक्षित होती है। जैन दर्शन में जो लोकस्वरूप का विवेचन हुआ है, उसके अध्ययन के पश्चात् ही हम तुलनात्मक अध्ययन करेंगे। जैन दर्शन में यह जगत अकृत्रिम, नित्य और प्रलय से रहित माना गया है। आदि पुराण में जगत की आकृति दोनों पैर फैलाकर और कमर पर दोनों हाथ रखकर खड़े हुए पुरुष के समान बतायी गई है।[3] (परिशिष्ट 7)

यह जगत अपने आप बना हुआ है और अनन्त आकाश के ठीक मध्य में स्थित है।[4] यह उत्पत्ति, स्थिति और नाशमान पर्यायों वाले द्रव्यों से भरा हुआ है। घनोदधि, धनवात और तनुवात इन तीन प्रकार के विस्तृत वातवलयों से घिरा हुआ है। इन वातवलयों के कारण यह लोक रस्सियों से बने हुए छींके के तुल्य प्रतीत होता है।[5] लोक के तीन भाग हैं- अधोलोक, मध्यलोक और उर्ध्वलोक। अधोलोक वेत्रासन के समान नीचे विस्तृत और ऊपर संकीर्ण हैं। मध्य लोक झल्लरी (झालर) के समान सभी ओर से विस्तृत है तथा उर्ध्वलोक मृदंग के समान बीच में चौड़ा तथा दोनों भागों में संकीर्ण है।[6]

मध्यलोक के मध्य में जम्बूद्वीप है, जो लवण समुद्र से घिरा हुआ है। लवण-समुद्र के चारों ओर घातकी खण्ड नामक महाद्वीप स्थली का आकार गोल है और इसके बीच में नाभि के समान सुमेरु पर्वत है। यह मेरु एक लाख योजन विस्तार वाला है।[7] एक हजार योजन तो पृथ्वीतल के नीचे है और शेष निन्यानवे हजार योजन पृथ्वीतल के ऊपर है। मेरु या सुमेरु के ऊपर उर्ध्वलोक, मेरु से नीचे अधोलोक और मेरु की जड़ से चोटी पर्यन्त मध्यलोक है।

घातकी खण्ड को कालोदधि समुद्र वेष्टित किए हुए है। अनन्तर पुष्करवर द्वीप, पुष्करवर-समुद्र आदि असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। पुष्करवर द्वीप के मध्य में मानषोत्तर पर्वत है, जिससे इस द्वीप के दो भाग होते हैं। अतः जम्बूद्वीप, घातकीखण्ड और पुष्कराद्ध द्वीप मनुष्य क्षेत्र कहा गया है। तात्पर्य यह है, कि ढ़ाई द्वीप और दो समुद्र मनुष्य क्षेत्र के अन्तर्गत हैं।[8] (परिशिष्ट-8)

आठवें नन्दीश्वर द्वीप में अत्यन्त स्वच्छ जल से परिपूर्ण नन्दोत्तरा आदि वापिकाएँ हैं, जिनका जल आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के राज्याभिषेक के समय व्यवहार में लाया गया था।[9] क्षीर समुद्र, नन्दीश्वर समुद्र तथा स्वयंभूरमण समुद्र का जल भी स्वर्ण कलशों में भरकर राज्याभिषेक के लिए लाया गया था। इस द्वीप का विस्तार तिरेसठ करोड़ चौरासी लाख योजन बताया गया है। नन्दीश्वर द्वीप की बाह्य परिधि दो

हजार बहत्तर करोड़, तैंसीस लाख, चौवन हजार, एक सौ नब्बे योजन एवं आभ्यन्तर परिधि एक हजार छत्तीस करोड़, बारह लाख, दो हजार, सात सौ योजन गहरे हैं। ये सभी पर्वत चौरासी हजार योजन ऊँचे इतने ही चौड़े और एक हजार योजन गहरे हैं। ये सभी पर्वत ढोल की आकृति और कृष्ण वर्ण के हैं। पूर्व दिशा के अञ्जन गिरि व पूर्वादि चारों दिशाओं में नन्दा, नन्दवती, नन्दोतरा और नन्दी घोषा ये चार वापिकाएँ, दक्षिण विश्व के अञ्जनगिरि की पूर्वादिक चारों दिशाओं विजया, वैजयन्ती, जयन्ती और अपराजिता ये चार वापिकाएँ, पश्चिम दिशा के अञ्जन गिरि की पूर्वादि चारों दिशाओं में क्रमशः अशोका, सुप्रबुद्धा, कुमुदा और पुण्डरिकिणी एवं उत्तर दिशा में अञ्जनगिरि की पूर्वादि चारों दिशाओं में क्रमशः सुप्रभंकरा, सुमना, आनन्दा एवं सुदर्शना ये चार वापिकाएँ अवस्थित हैं। इन सोलह वापिकाओं के मध्य में एक-एक सहस्र योजन गहरे, दश-दश सहस्र योजन चौड़े, लम्बे तथा ऊँचे सोलह दधिमुख एवं वापिकाओं के बाह्यकोणों में स्थित बत्तीस रतिकर पर्वत हैं। इन वापिकाओं के चारों ओर अशोक वन, सप्तपर्णवन, चम्पक वन और आम्रवन है। प्रत्येक पर्वत पर एक-एक चैत्यालय रहने से अञ्जनगिरि सम्बन्धि चार, दधिमुख सम्बन्धी सोलह और रतिकर सम्बन्धी बत्तीस, इस प्रकार कुल बावन चैत्यालय हैं। ये समस्त चैत्यालय पूर्वाभिमुख, सौ योजन लम्बे, पचास योजन चौड़े पचहत्तर योजन ऊँचे हैं।[1]

नन्दीश्वर द्वीप-समुद्र से आगे अरुणद्वीप-अरुणसागर, अरुणोद्भासद्वीप-अरुणोद्भास-सागर, कुण्डलवरद्वीप-कुण्डलवर सागर, शंखवर द्वीप-शंखवर सागर, रुचकवर-द्वीप-रुचकवर सागर हैं। भुजंगवरद्वीप-भुजंगवरसागर, कुशवरद्वीप-कुशवर सागर और क्रोञ्चवरद्वीप-क्रौञ्चवरसागर हैं। इन सोलह द्वीप सागरों के पश्चात् मनःशील, हरिताल, सिन्दूर, श्यामक, अञ्जनहिंगलक, रुपवर, सुवर्णवर, वज्रवर, वैडूर्यवर, नागवर, भूतवर, यक्षवर, देववर और इन्दुवर नामक द्वीप-सागरों का निर्देश मिलता है। सबसे अन्त में स्वयंभूरमण द्वीप तथा स्वयंभूरमण सागर है।[2] लवण समुद्र, कालोदधि और स्वयंभूरमण इन तीन समुद्रों के अतिरिक्त अन्य समुद्रों में मगर, मत्स्य आदि जलचर जीव नहीं है।[3]

जम्बूद्वीप के अन्तर्गत षट्कुलाचल, सात क्षेत्र और गंगा, सिन्धु आदि चौदह नदियाँ वर्णित है।[4] भरत हेमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यक और ऐरावत ये सात क्षेत्र तथा हिमवन्त, महाहिमवन्त, निषध, नील, रुकमी और शिखरी ये छः कुलाचल हैं। क्षेत्रों में भरत क्षेत्र की स्थिति सबसे दक्षिण में तथा ऐरावत क्षेत्र की सबसे उत्तर में मानी गई है। प्रथम चार क्षेत्रों का विस्तार क्रमशः उत्तरोत्तर दुगुना है और शेष क्षेत्र विस्तार पूर्व के क्षेत्रों के तुल्य हैं। तात्पर्य यह है, कि रम्यक क्षेत्र का विस्तार हरि के तुल्य हैरण्यवत का हैमवत के तुल्य और ऐरावत का भारत के समान है। इसी प्रकार कुलाचलों में प्रथम तीन का विस्तार अन्तिम तीन के तुल्य है। अर्थात् हिमवन्त शिखरी

के समान, महाहिमवन्त रुक्मी के समान और नील निषध के समान हैं। क्षेत्र और कुलाचल द्विगुणित विस्तार वाले हैं।

वैदिक दर्शन में वर्णित भूगोल के साथ तुलनात्मक समीक्षा :

विष्णु पुराण, मत्स्यपुराण, वायुपुराण और ब्रह्माण्डपुराण आदि पुराणों में सप्तद्वीप और सप्तसागर वसुन्धरा का वर्णन आया है। महाभारत में तेरह द्वीपों का उल्लेख मिलता है। यह वर्णन जैन दर्शन की अपेक्षा बहुत भिन्न है। विष्णु पुराण में जम्बूद्वीप, प्लक्षद्वीप शाल्मलद्वीप, कुशद्वीप, क्रौञ्चद्वीप, शाकद्वीप और पुष्करद्वीप के नाम आये हैं।[14] ये द्वीप लवण, इक्षु, सुरा, घृत, दधि, दुग्ध और मधुर जल के सात समुद्रों से घिरे हुए हैं। ये द्वीप और समुद्र गोलाकार हैं और क्रमशः एक दूसरे से द्विगुणित हैं। द्वीपावरोधक वलयाकार समुद्रों का विस्तार द्वीपों के समान है। अर्थात् जम्बूद्वीप का विस्तार लवण समुद्र के समान, प्लक्षद्वीप का इक्षु समुद्र के समान, शाल्मलद्वीप का सुरा समुद्र के समान शाक द्वीप का दुग्ध समुद्र के समान और पुष्कर द्वीप का मधुर जल समुद्र के समान है। जैन मान्यतानुसार प्रतिपादित असंख्यात द्वीप समुद्रों में जम्बूद्वीप, क्रौंचद्वीप और पुष्कर द्वीप के नाम वैदिक दर्शन में सर्वत्र आये हैं।

समुद्रों के वर्णन-प्रसंग में विष्णुपुराण में जल के स्वाद के आधार पर सात समुद्र बतलाये गये हैं। जैन परम्परा में असंख्यात समुद्रों को जल के स्वाद के आधार पर सात ही वर्गों में विभाजित किया गया है। लवण समुद्र के जल का स्वाद लवण के समान, वारुणीवर समुद्र के जल का स्वाद सुरा के समान, घृतवर समुद्र के जल का स्वाद घृत के समान, क्षीरवर समुद्र के जल का स्वाद दुग्ध के समान, कालोदधि तथा स्वयंभूरमण समुद्र के जल का स्वाद शुभ स्वच्छ जल के समान और पुष्करवर समुद्र के जल का स्वाद मधुर जल के समान है।[15] इस प्रकार 1. लवण, 2. सुरा, 3. घृत, 4. दुग्ध, 5. शुभोदक, 6. इक्षु और 7. मधुर जल इन सात वर्गों में समस्त समुद्र विभक्त हैं। विष्णुपुराण में 'दधि' का उल्लेख है, जैन परम्परा में इसी को शुभोदक कहा गया है। अतः जल के स्वाद की दृष्टि से सात प्रकार का वर्गीकरण दोनों ही परम्पराओं में पाया जाता है।

विष्णुपुराण में शाल्मली द्वीप का कथन आया है। हरिवंशपुराण में मेरु पर्वत के दक्षिण-पश्चिम-नैर्ऋत्य कोण में सीतोदा नदी के दूसरे तट पर विपधाचल के समीप रजतमय शाल्मली बताया गया है। जम्बू स्थल की समानता रखने वाले इसी शाल्मली स्थल में शाल्मली वृक्ष है।[16] यह वृक्ष पृथ्वीकाय है। ऐसा लगता है, कि इस शाल्मली स्थल को ही शाल्मली द्वीप कहा गया है।

जिस प्रकार वैदिक मान्यता में अन्तिम द्वीप पुष्करवर माना गया है, उसी प्रकार जैन मान्यता में मनुष्यलोक का सीमान्त यही पुष्करार्द्ध है। मनुष्यलोक की सीमा मानकर ही वैदिक मान्यताओं में द्वीपों का कथन किया गया है। जम्बूद्वीप, धातकी

खण्ड और पुष्करार्द्ध द्वीप के अन्तर्गत ही सातों द्वीप समाविष्ट हो जाते हैं। यद्यपि क्रौञ्च द्वीप का नाम दोनों ही मान्यताओं में समान रूप से आया है, पर स्थान निर्देश की दृष्टि से दोनों में भिन्नता है।

बौद्ध परम्परा में केवल चार द्वीप ही माने गये हैं। वे मानते हैं, कि समुद्र में एक गोलाकार सोने की थाली पर स्वर्ण भरा सुमेरुगिरि स्थिति है। सुमेरु के चारों ओर सात पर्वत और सात खण्ड हैं। उन सात स्वर्णमय पर्वतों के बाहर क्षीर सागर है और सागर में 1. कुरु, 2. गोदान, 3. विदेह और 4. जम्बू नामक चार द्वीप अवस्थित हैं।[१] इन द्वीपों के अतिरिक्त छोटे-छोटे दो हजार द्वीप और भी पाये गये हैं।

जम्बूद्वीप:

जैन परम्परा में जम्बूद्वीप का विशेष महत्व है। जम्बूवृक्ष के कारण इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप पड़ा। इसका आकार गोल है और मध्य में नाभि के समान मेरु पर्वत स्थित है। इस द्वीप का विस्तार एक लाख योजन और परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताइस योजन तीन कोप एक सौ अट्ठाईस धनुष साढे तेरह अंगुल बताई गयी है।[२] जम्बूद्वीप का घनाकार क्षेत्र सात सौ नब्बे करोड़ छप्पन लाख चौरानवे हजार एक सौ पचास योजन है।[३]

जम्बूद्वीप के अन्तर्गत देवकुरु और उत्तर कुरु नामक दो भोग भूमियाँ बतलायी गई हैं। उत्तरकुरु की स्थिति सीतोदा नदी के तट पर है। यहाँ धरणी नाम का सरोवर है। यहाँ के निवासी मंगलावती नामक विशाल भवन में सभाएँ करते हैं। इनकी इच्छाओं और समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति कल्पवृक्षों से होती है। वहाँ दस प्रकार के कल्पवृक्ष, वस्त्र, आभूषण, वाद्य, भोजन आदि समस्त पदार्थ प्रदान करते हैं। यहाँ के मनुष्य स्वभाव से कोमल और भद्र परिणामी होते हैं। अकाल मृत्यु यहाँ नहीं होती। पूर्ण आयु समाप्त करके स्वर्ग प्राप्त करते हैं।

तुलनात्मक समीक्षा :

उत्तर कुरु का उल्लेख महाभारत, विष्णुपुराण, वामनपुराण, ब्रह्माण्ड पुराण आदि ग्रन्थों में भी मिलता है। महाभारत के अनुसार उत्तरकुरु मेरु के उत्तर में स्थित है। जो बालुकार्णव के समीप है और जहाँ हिमवन्त को पार कर पहुँचते हैं। मेरु के पूर्व में सीता और पश्चिम में वंक्षु नदीयाँ प्रवाहित होती हैं।[४]

रामायण और महाभारत के मत में यह स्थान मणिमय और काञ्चन की बालुका के समीप हैं। यहाँ हीरक, वैडूर्य और पद्मराग के जैसे रमणीय भूखण्ड हैं। यहाँ कामफलप्रद वृक्ष समस्त मनोरथों को पूर्ण करने वाले हैं। क्षीरी नामक वृक्ष से क्षीर टपकता है और फल के गर्भ में वस्त्र और आभूषण उत्पन्न होते हैं। यहाँ की पुष्करिणी पंकशून्य एवं मनोरम है। चक्रवाक-चक्रवाकी के समान दम्पत्ती एक काल में जन्म ले समभाव से वृद्धिगत होते हैं। वे एकादश सहस्रवर्ष पर्यन्त जीवित रहते हैं और एक

दूसरे को कभी नहीं छोड़ते। मरने पर भारुण्ड पक्षी उन्हें उठाकर गिरिदरी में फेंक देते हैं।[101]

उत्तरकुरु की स्थिति महाभारत में सुमेरु से उत्तर और नील पर्वत के दक्षिण पार्श्व में मानी है। राजतरंगिणी में बताया गया है, कि काश्मीर राज ललितादित्य के कम्बोज, भूःखार, दरद, स्त्रीराज्य आदि को जीत लेने पर उत्तर कुरुवासियों ने भय से पर्वत प्रदेश का आश्रय लिया। इस कथन से यह ज्ञात होता है, कि उत्तर कुरु की स्थिति स्त्री राज्य के बाद है। स्त्री राज्य गन्धमादन से उत्तर पश्चिम प्रतीत होता है, जिसका वर्तमान स्थान तिब्बत का पश्चिमांश है।[102]

हरिवंशपुराण में नील और सुमेरु के मध्य में उत्तर कुरु की स्थिति मानी गयी है।[103] तथा निषध और सुमेरु मे मध्य में देवकुरु की। अतः जैन दर्शन में वर्णित उत्तर कुरु यारकन्द या जरफशां नदी के तट पर होना चाहिये।

जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही मान्यताओं के आधार पर उत्तरकुरु में भोगभूमि सिद्ध होती है। दीघनिकाय के आटानाटियसुत्त में बताया गया है, कि उत्तर कुरुवासी व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं रखते थे। इन्हें अपने जीवन निर्वाह के लिए परिश्रम नहीं करना पड़ता और अनाज अपने आप उत्पन्न होता है। वहाँ के मनुष्यों का जीवन निश्चिन्त और सुखमय है।[104] अंगुत्तर निकाय और मज्झिम निकाय की अट्ठकथाओं में बताया गया है, कि उत्तरकुरु में कल्पवृक्ष है। कप्परुख जो एक कल्पपर्यन्त रहता है। एक अन्य विवरण के अनुसार इस देश के निवासियों के घर नहीं होते और वे भूमि पर शयन करते है। इसी कारण वे भूमिसया भूमि पर शयन करने वाले कहलाते हैं। सम्पत्ति का परिग्रह वहाँ नहीं है। व्यक्ति निर्लोभ वृत्ति के नियतायुष्क होते हैं।[105]

इस प्रकार यह विदित होता है, कि जैन दर्शन के उत्तरकुरु भोगभूमि के सम्बन्ध में जो रहन-सहन की व्यवस्था दर्शायी गयी है, वही बौद्धागम में भी पायी जाती है तथा वाल्मीकि रामायण एवं महाभारत में भी भोगभूमि की स्थिति का ऐसा ही वर्णन किया गया है। वस्तुतः तीनों परम्पराओं में उत्तरकुरु में भोगभूमि मानी गयी है।

भरत क्षेत्र : जैन परम्परा में भरतक्षेत्र का व्यवहार उसी अर्थ में किया गया है, जिस अर्थ में बौद्ध परम्परा में जम्बूद्वीप का व्यवहार पाया जाता है। आदिपुराण में भरतक्षेत्र को हिमवन्त के दक्षिण और पूर्वी-पश्चिमी समुद्रों के बीच स्थित माना है।

इस क्षेत्र में सुकौशल,अवन्ती, पुण्ड्र, अश्मक, कुरु, काशी, कलिंग, अङ्ग, वङ्ग, सुह्म, समुद्रक, काश्मीर, उशीनर, आनर्त, वत्स, पंचाल, मालव, दशार्ण, कच्छ, मगध, विदर्भ, कुरुजंगल, करहाट, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, आभीर, कोंकण, वनवास, आंध्र, कर्णाटक, कौशल, चोल, केरल, दास, अभिसार, सौवि, शूरसेन, अपरान्तक, विदेह, सिन्धु, गान्धार, यवन, चेदि, पल्लव, कम्बोज, आरट्ट, वाल्हीक, तुरुष्क, शक और कैकय देशों की रचना मानी गयी है।[106] भरत चक्रवर्ती के द्वारा विजित देशों के वर्णन

में उपर्युक्त जनपदों का उल्लेख आया है। गाँवों के समुदाय को जनपद कहा है। जनपदों को एक-दूसरे से पृथक् करने वाली नदी, पर्वतों की प्राकृतिक सीमाएँ थीं। बौद्ध साहित्य[22] में अंग, मगध, काशी, कौशल, वज्ज, मल्ल, चेति, वत्स, कुरु, पांचाल, मत्स्य, सूरसेन, अश्मक, अवन्ती, गन्धार, और कम्बोज इन सोलह जनपदों के नाम मिलते हैं। बृहत्कल्पसूत्र भाष्य[23] में मगध, अंग, वंग, कलिंग, काशी, कोशल, कुरु, कुशार्त, पाँचाल, जंगल, सौराष्ट्र, विदेह, वत्स, शाडिल्य, मलय, मत्स्य, वरणा, दशार्ण, चेदि, सिन्धुसौवीर, शूरसेन, भंगि, वट्टा, कुणाल, लाढ़ और कैकय अर्ध इन साढ़े पच्चीस आर्य देशों का उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार जैन दर्शन ने इस सृष्टि के मौलिक तत्त्वों के विवेचन के साथ-साथ इस जगत की भौगोलिक संरचना का भी संपूर्ण विवेचन किया है।

संदर्भ सूची

1. वेदान्त सार- श्लो॰ 1
2. वही - अन्तिम श्लोक
3. सांख्यकारिका- महर्षि कपिल - श्लोक 1
4. वही -महर्षि कपिल- अन्तिम श्लोक
5. सूत्र कृतांग - सुधर्मा स्वामी - अ॰ 6/ गा॰ 1
6. तत्वार्थ सूत्र- हेमचन्द्रसूरि - 1/6
7. ऋग्वेद - 1/164/4
8. वही - 1/164/37
9. वही - 1/164/46
10. उत्पाद-व्यय ध्रौव्य युक्तं सत् -तत्वार्थ सूत्र- हेमचन्द्र - 5/30
11. पंचास्तिकाय संग्रह - कुन्दकुन्दाचार्य- गा॰ 10
12. प्रवचन सार - कुन्दकुन्दाचार्य- गा॰ 5
13. माउयाणुयोगे, उपन्नेवा, विगये वा धुवेवा। -स्थानांग, स्था॰ 10
14. उत्तराध्ययन सूत्र- सुधर्मास्वामी- अ॰ 28 गा॰ 6
15. जीवदव्वाय, अजीव दव्वाय। - अनुयोगद्वार- सू॰ 141
16. समयसार - कुन्दकुन्दाचार्य- गा॰ 372
17. तत्वार्थ सूत्र- उमास्वाती- 5/42
18. पंचास्तिकाय संग्रह- कुन्दकुन्दाचार्य- गा॰ 8
19. वही- गा॰ 4
20. उत्तराध्ययनसूत्र- सुधर्मास्वामी - अ॰ 28 सू॰ 11
21. भगवती सूत्र- 2/10
22. उत्तराध्ययनसूत्र- सुधर्मास्वामी- 14/19
23. आचारांग सूत्र- 5/6/176

24. भगवती सूत्र- 20/3/665
25. उत्तराध्ययन सूत्र- 20/37
26. (i) संसारिणो मुक्ताश्च - तत्वार्थ सूत्र- 2/10
(ii) दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता तंजहा- सिद्धाचेव, असिद्धाचेव। - स्थानांग सूत्र- 2/1/101
(iii) संसार समावन्नगाचेव असंसार समावन्ना गाचेव।- स्थानांग सूत्र- 2/1/57
27. सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का तत्थ नविज्जइ,
मई तत्थ न गहिया, ओए अपइट्ठाणस्स खेयन्ने। - आचारांग सूत्र- 1/5/6
28. स्थानांग सूत्र- 2/1/267
29. वही - 5/1/364
30. समवायांग सूत्र- सू॰ 156
31. स्थानांगसूत्र - 85/543
32. वही- 85/537
33. (i) समवायांग सूत्र - 6
(ii) स्थनांग सूत्र- 504
34. समवायांग सूत्र- 152
35. वही - 14
36. स्थानांग सूत्र - 17
37. सांख्यकारिका - कपिल ऋषि - का॰ 18 (पुरुष बहुत्वं सिद्धम्)
38. तत्वार्थ सूत्र - उमास्वाति - 5/23
39. पंचास्तिकाय - कुन्दकुन्दाचार्य - गा॰ 74-75
40. वही - कुन्दकुन्दाचार्य - गा॰ 79
41. भगवती सूत्र - 16/8
42. पंचास्तिकाय संग्रह - कुन्दकुन्दाचार्य - गा॰ 76
43. वही- कुन्दकुन्दाचार्य - गा॰ 83
44. नूतन और प्राक्तन सृष्टि विज्ञान- प्रो॰ जी॰आर॰ जैन एवं एम॰ सी॰ जैन - पृ॰ 31
45. अमर भारती (पत्रिका) - जुलाई 1979
46. तत्वार्थ सूत्र - उमास्वाति 5/18
47. Exploring the Universe, by H. ward. P. 16
48. Same, P. 266
49. The nature of the Physical world : by Pr. Edington, P.g. 80
50. अमर भारती, नवम्बर 1978
51. पंचास्तिकाय - कुन्दकुन्दाचार्य - गा॰ 102
52. तत्वार्थ सूत्र - उमास्वाती - अ॰ 5 सू॰ 22
53. व्याख्या प्रज्ञप्ति (अभयदेव वृत्ति) 67/246, पृ॰ 500 से 502
54. श्रमण भगवान महावीर, पृ 85-89

55. (i) स्थानांग सूत्र - स्थान 9, सू॰ 665
(ii) पंचास्तिकाय संग्रह - कुन्दकुन्दाचार्य - गा॰ 108
56. तत्त्वार्थ सूत्र - उमास्वाती - 2/8
57. भगवती शतक - 2/10
58. उत्तराध्ययन सूत्र - अ॰ 28, गा॰ 10
59. वही - अ॰ 28, गा॰ 11
60. आचारांग सूत्र - उ॰ 1-2
61. फिजियोलोजिकल साइकोलोजी - मैकडूगल 1
62. दि मॉर्डन रिव्यू, कलकत्ता, जुलाई 1936
63. इंट्रोडक्शन टू साइंस, जे॰ए॰ थॉमसन, पृ॰ 142
64. समयसार -कुन्दकुन्दाचार्य, गा॰ 83
65. ठाणांग सूत्र, द्वितीय स्थान, सूत्र 1
66. वही, स्थान 9, सूत्र 676
67. स्थानांग टीका, स्थान 1, पृ॰ 15
68. स्थानांग सूत्र, सू॰ 70
69. वही, सू॰ 166
70. वही, सू॰ 48
71. वही, सू॰ 124
72. समयसार-कुन्दकुन्दाचार्य, गा॰ 183
73. स्थानांग सूत्र, 1/4/98
74. तत्त्वार्थसूत्र 8/1
75. स्थानांग सूत्र, 4/3/296
76. ओघनिर्युक्ति, गा॰ 5
77. समयसार, गा॰ 262
78. वही, गा॰ 282
79. तत्त्वार्थ सूत्र, 8/4
80. कर्म ग्रन्थ, 5/85
81. वही, 5/63
82. सर्वार्थसिद्धि, 8/3/379, भगवती सूत्र वृत्ति 1/4/40
83. वैशाखस्थः कटीन्यस्तहस्तः स्याद्यादृशः पुमान्।
तादृशं लोक संस्थानम्॥ आदिपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम सं॰ 4/42
84. वही 4/43
85. वातरज्जुभिरानद्धो लोकस्तिसृभिराशिखम्॥ वही, 4/44
शिक्यैरिवा ततैः - वही, 4/43
86. वही, 4/41
87. वही, 4/48

88. हरिवंशपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सन् 1662, 5/586-591
89. आदिपुराण, 16/214
90. कोटीशतं त्रिषष्टयग्रभशीतिश्चतुरुत्तराः। लक्षा नन्दीश्वरद्वीपो विस्तीर्णो वर्णितो जिनैः॥
पट् त्रिंशच्च सहस्रं च कोटियो नियतानि च। द्वादशैव सहस्रेदे तथा सप्त शतानि च॥
अष्टोत्सेध चतुर्व्यासगाह त्रिद्वार भास्वराः। ते द्विपद्याशदाभान्ति नन्दीश्वर जिनालयः॥ -
हरिवंशपुराण, ज्ञानपीठ सं॰ 5/647, 648, 678, 682
91. अरुणं नवमं द्वीप सागरोद्गरुणक संशकः। अरुणोद् भासनामान् मरुणोद्भास सागरः॥
द्वीपं तु कुण्डलवरो दधिः।.....
ततः शंखवर द्वीपं सशंखवर सागरः॥ स्वयंभूरमणाभिख्यौ सर्वान्त्यौद्वीपसागरौ॥
- वही (हरिवंशपुराण), 5/617, 618, 626
92. जलयरजीवा लवणे काले यंतिमसयंभूरमणे य।
कम्ममहीपडीबद्धेण हि सेसे जलयरा जीवा। आदिपुराण, 4/49
93. त्रिलोकसार, गा॰ 320
94. जम्बू, प्लक्षाद्वयौ द्वीपो शाल्मलश्चापरो द्विजः।
कुशः क्रौञ्चस्तथा शाकः पुष्करश्चैव सप्तमः॥ विष्णुपुराण, 2/5
95. हरिवंशपुराण, 5/628, 629,
त्रिलोकसार, गा॰ 319
96. दक्षिणा परतो मेरोः सीतोदायस्तटे परे। निषधस्य समीपस्थं राजतं शाल्मली स्थल॥
जम्बूस्थल समे तत्र शाल्मली वृक्ष इष्यते। वक्तव्या तस्य निःशेषा जम्बूवृक्षस्य वर्णना॥
- हरिवंशपुराण, 5/187-188
97. Ray chaudhory, H.C. - Studies in Indian Antiquities, 66 P.T. 5
98. हरिवंशपुराण, 5/4-5
99. वही, 5/6-7
100. मार्कण्डेय पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन, डॉ॰ वासुदेव अग्रवाल, पृ॰ 139
101. महाभारत भीष्मपर्व अ॰ 7, वाल्मिकी रामायण, किष्किंधा काण्ड 43 सर्ग
102. स्त्रीराज्यदेवास्तस्याग्रे वीक्ष्यकम्पादि विक्रियाम्। उत्तराकुरवोऽविक्षंस्त द्वयाज्जामपादवान्॥ राज॰ गा॰ 4/175-31, हिन्दी विश्वकोष तृतीय भाग, उत्तराकुरुशब्द, पृ॰ 208
103. नीलमन्दर मध्यस्था उत्तराः कुरवो मताः स्थितास्तु देवकुरवः सुमेरु निषधान्तरे॥ -
हरिवंशपुराण, 5/167
104. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं॰ 2018
105. थेरी गाथा - अट्ठकथा, पृ॰ 187-188
106. आदिपुराण, 16/152-156
107. अंगुत्तर निकाय, पालिटेक्स्ट सोसायटी, पहली जिल्द, पृ॰ 213
108. बृहत्कल्पसूत्र भाष्य - वृत्ति 3263, 3275, 32891

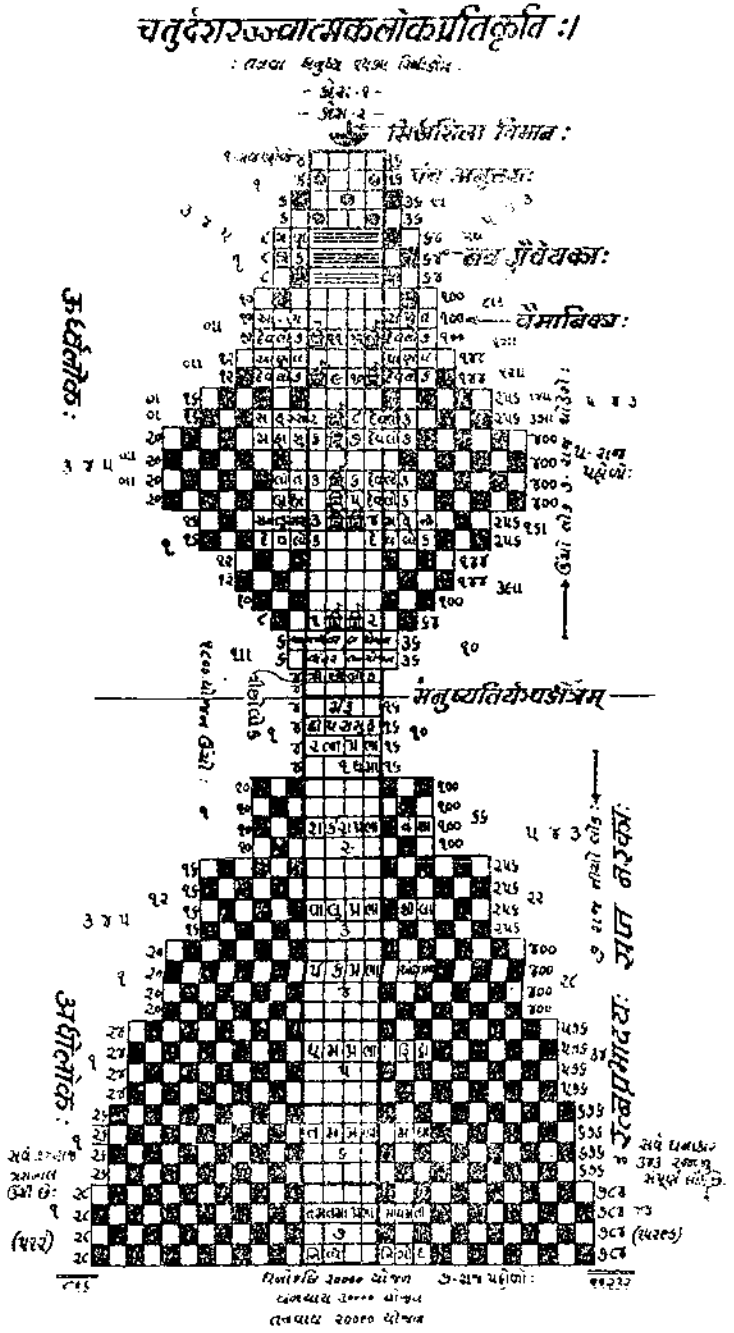
चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकप्रतिकृति :/
ऊर्ध्वलोक :
अधोलोक :
तिर्यग्लोक :
मनुष्यतिर्यग्क्षेत्रम्
सौधर्मेशानौ कल्पौ
सनत्कुमारमाहेन्द्रौ कल्पौ
ब्रह्मब्रह्मोत्तरौ कल्पौ
लान्तवकापिष्टौ कल्पौ
शुक्रमहाशुक्रौ कल्पौ
शतारसहस्रारौ कल्पौ
आनतप्राणतौ कल्पौ
आरणाच्युतौ कल्पौ
नवग्रैवेयकाः
नवानुदिशाः
पञ्चानुत्तराः
सिद्धशिला त्रैलोक्यम्
(५२५)

छह लेश्याओं पर जामुन फल खाने के इच्छुक छह पुरुषों का दृष्टांत :

कोई छह आदमी जामुन के वृक्ष के पास गये। एक ने कहा 'इसे मूल से काटो।' दूसरा बोला- 'मोटी डालियां काटो।' तीसरा बोला- 'छोटी छोटी डालियाँ काटो।' चौथे ने कहा 'गुच्छे तोड़ लो।' पाँचवा बोला- 'पके जामुन तोड़ लो।' छठे ने कहा- 'धरती पर पड़े फल खा लो।'

सार- अध्यवसाय के अनुसार कर्मबन्ध होता है, अतः कर्मबन्ध करते विचार करो।

सुदर्शन सेठ का दृष्टान्त पर्व तिथि में पौषधोपवास करके मौन व्रत धारण करने वाले सुदर्शन सेठ को अभया रानी चौकरी को साथमें ले आई। अपनी इच्छा प्रकट की। सेठ मौनव्रती और शीलवान् होने से बोला नहीं। रानी की कामभोग की इच्छा पूर्ण न हुई तो वह चिल्लाने लगी दौड़ो, दौड़ो यह पुरुष मेरा शीलभंग करना चाहता है। सिपाही दौड़े आये। सेठ को पकड़ कर राजा दधिवाहन के सामने ले गये। राजा के पूछने पर भी सेठ के मौन रहने से राजा ने इसे अपराधी समझा। शूलि पर चढ़ाने का हुक्म दे दिया। पर शील के प्रभाव से देवों ने शूलि का सिंहासन बना दिया। राजा और प्रजा को आश्चर्य हुआ। सेठ का खूब सत्कार किया गया।

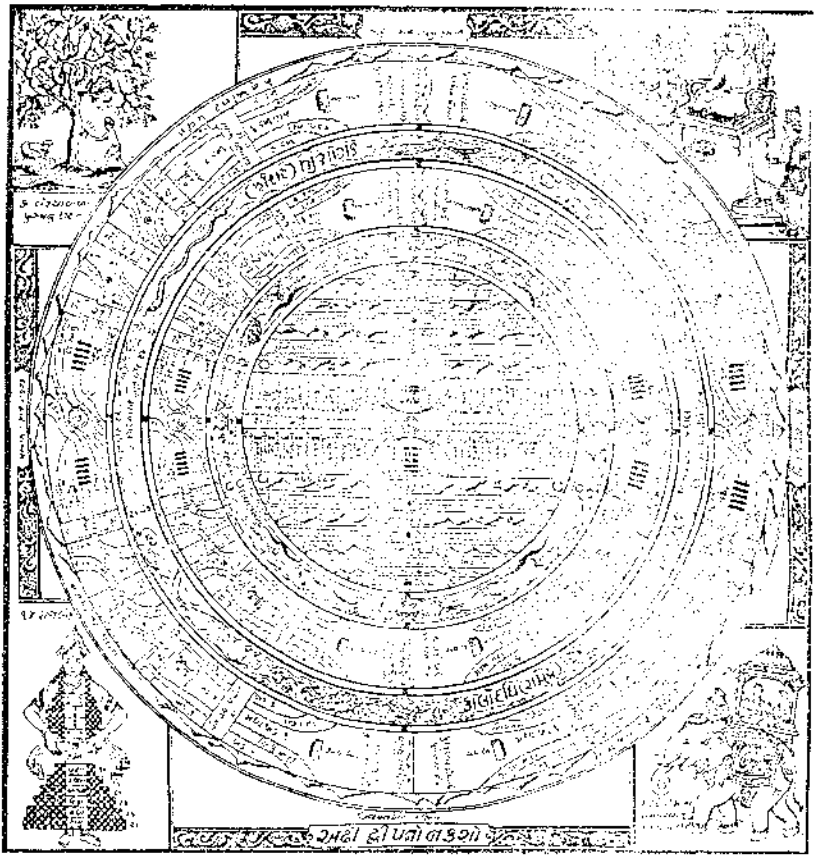

लोकस्वभाव भावना- कमर पर हाथ रख कर खड़े हुए पुरुष की आकृति के समान 14 राजू लोक है। उसके बीचो बीच 14 राजू लम्बी और एक राजू चौड़ी त्रसनाड़ी है उसमें त्रसजीव उत्पन्न होते हैं। चौदे सात राजू लोक में 7 नरक भूमियाँ हैं। नाभि के स्थान पर मनुष्य क्षेत्र (ढाई द्वीप) है उसके ऊपर सौधर्मादि बारह देव लोक हैं। गले के स्थान पर ९ ग्रैवेयक हैं। उसके ऊपर मध्य भाग में गोलाकार सर्वार्थ सिद्धि तथा उसके चारों ओर त्रिकोणकार विजय आदि चार विमान हैं। उसके ऊपर सिद्धशिला और अलोक को स्पर्श करके सिद्ध भगवंत हैं।

अंत राजा, मरुदेवी माता को हाथी पर बिठला कर ऋषभदेव भगवान् की वन्दना करने गये। भगवान ने कहा- दादीजी, देखो अपने पुत्र की ऋद्धि! यह दुःखी नहीं है। अतः शोक न करें। क्षपकश्रेणि मरुदेवी माता अन्यत्व भावना भाकर, केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष पधारी।

नीति मीमांसा

समाज की राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप उसकी नैतिकता से प्रभावित या निर्धारित होता है। यदि समाज हिंसा, चोरी आदि बुराइयों से मुक्त हो, तो वहाँ के लोगों में निर्भयता, प्रेम और विश्वास की भावना रहती है। राष्ट्र में चारों ओर अमन-चैन, आर्थिक समृद्धि एवं खुशहाली का वातावरण रहता है। मानव के व्यक्तित्व का विकास सशक्त एवं सुयोग्य नागरिक के रूप में होता है। फलस्वरूप एक सुदृढ़ समाज एवं राष्ट्र का निर्माण होता है।

नैतिकता समाज की बुनियाद है, आधारशिला है। इस नैतिकता या नीति का मानदण्ड क्या है? इसकी सहज परिभाषा एक मनीषी ने इस प्रकार की है -

"जं इच्छसि अप्पणतो जं च न इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि एत्तियगं जिणसासणं।"[1]

अर्थात् जो तुम अपने लिए अच्छा समझते हो, तुम्हें जो प्रिय है, वही तुम दूसरों के लिए भी सोचो और करो, जो तुम्हें अपने लिए अप्रिय लगता है, वह दूसरों के लिए भी मत करो - धर्मशास्त्र (जिनशासन) का यही, इतना ही रहस्य है, सार है।

आचार्य ने एक सूत्र में समस्त नितिशास्त्र का मूल आधार, सिद्धान्त और केन्द्र बिन्दु दे दिया है। जीवन व्यवहार का एक सुस्पष्ट मानदण्ड निरूपित कर दिया है। श्री जेम्स सेथ नितिशास्त्र को इस प्रकार परिभाषित करते हैं - "शुभ के विज्ञान के रूप में वह (नीतिशास्त्र) आदर्श और चाहिये का सर्वोत्कृष्ट विज्ञान है।"[2]

वस्तुतः एक 'निश्चित शुभ आदर्श' और विभिन्न प्रकार के 'चाहिये' ही मानव की निर्णय क्षमता और कर्तव्य शक्ति, कार्य करने की दिशा का निर्देशन करते हैं, उसकी दिशा को निश्चित करते हैं।

शुभ निर्णय लेने की क्षमता प्रत्येक व्यक्ति में समान नहीं होती। कुछ ही व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो समयानुकूल उचित और नीतिसम्मत निर्णय ले पाते हैं। ऐसे लोग अन्तःप्रज्ञा के धनी होते हैं। लेकिन सभी की अन्तःप्रज्ञा इतनी विकसित नहीं होती, कि वे परिस्थितियों का सही विश्लेषण करके सही निर्णय ले सकें। समाज में ऐसे सामान्य व्यक्तियों की संख्या ही अधिक है। ये सामान्य व्यक्ति कुछ अन्तःप्रज्ञा से, कुछ अनुभव, कुछ शास्त्र के ज्ञान और कुछ गुरु के निर्देशन से निर्णय लेने में सक्षम हो पाते हैं।

इसलिए निर्णय के आधारभूत तत्त्वों और मानदण्डों का ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। इस ज्ञान से उसकी निर्णय क्षमता जागृत होती है और बढ़ती है। इस प्रक्रिया में नीतिशास्त्र का अध्ययन बहुत ही लाभप्रद और उपयोगी है। यह मनुष्य को सही समय पर सही निर्णय लेने में सक्षम बनाता है।

जो मनुष्य सही समय पर सही निर्णय लेकर और उसे सही ढंग से अमल में ले आते हैं। वे जीवन यात्रा में सफल होते हैं, उनका जीवन यशस्वी होता है।

वस्तुतः नीतिशास्त्र एक विचारशीलता है, पारम्परिक व्यवहारों का आधार है। व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, राष्ट्रीय जीवन में जो परस्पर व्यवहार होते हैं, उनके कुछ निश्चित मानदण्ड होते हैं। उन मानदण्डों के आधार पर ही उचित-अनुचित का निर्णय एवं करणीय कार्यों का भी निश्चय होता है। इन मानदण्डों को निश्चित करने का कार्य नीतिशास्त्र करता है।

अतः जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता के लिए नीतिशास्त्र का ज्ञान अनिवार्य है।

नीतिशास्त्र का उद्‌गम एवं विकास : इस धरा पर नीतिशास्त्र के उद्‌गम और विकास को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं- 1. पाश्चात्य नीतिशास्त्र और 2. भारतीय नीतिशास्त्र।

1. पाश्चात्य नीतिशास्त्र : पाश्चात्य नीतिशास्त्र का उद्‌गम सुकरात से माना जाता है। इनका समय ईसा पूर्व छठी शताब्दी का है। अपने नैतिक विचारों का प्रसार करने पर उन्हें मृत्युदण्ड दिया गया। अपने अन्तिम समय में सुकरात ने अपने मित्र क्राइष्टो को तीन सिद्धान्त दिए -

1. किसी को हानि न पहुँचाना।
2. अपने वायदों का पालन करना।
3. माता-पिता तथा शिक्षकों का सम्मान करना।

इन तीन सिद्धान्तों को ही पाश्चात्य नीतिशास्त्र का आधार कहा जा सकता है।

उसके पश्चात प्लेटो ने नीति को समाज का समन्वयकारी तत्त्व या विधि स्वीकार किया तथा नीति के साथ न्याय को भी परिभाषित किया। तदुपरान्त ईसा की सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दी के पश्चात् शॉपेनहावर, कांट, स्पिनोजा आदि ने नीति सम्बन्धी सिद्धांत दिए।

इस ऐतिहासिक विवेचन से स्पष्ट है, कि पाश्चात्य नीतिशास्त्र को जितना भी विकास दिखाई देता है, वह सब आधुनिक काल में ही हुआ है, उसका कोई विशेष सुदृढ़ प्राचीन आधार दृष्टिगोचर नहीं होता।

2. भारतीय नीतिशास्त्र : प्राचीनकाल से ही भारत में संस्कृति की दो धाराएँ चली आ रही है - 1. श्रमण संस्कृति तथा 2. वैदिक संस्कृति। भगवान पार्श्वनाथ के

निर्वाण के पश्चात् श्रमण संस्कृति दो उपधाराओं में विभाजित हो गई – जैन तथा बौद्ध।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति की तीन धाराएँ हो गई – 1. जैन संस्कृति, 2. बौद्ध संस्कृति और 3. वैदिक संस्कृति।

चूंकि बौद्ध संस्कृति नवीन है, अतः नीतिशास्त्र का उद्गम हमें दो ही संस्कृतियों में जानना है– 1. वैदिक संस्कृति तथा 2. जैन संस्कृति।

1. वैदिक संस्कृति : वैदिक संस्कृति का आदि ग्रन्थ ऋग्वेद है। वहीं से वैदिक परम्परा का ज्ञान प्रारम्भ होता है। इसके अतिरिक्त यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये तीन वेद और हैं।

वेद प्रमुख रूप से प्रार्थना ग्रन्थ है। ऐसे मन्त्र बहुत कम हैं, जिनका नीति से सीधा सम्बन्ध जोड़ा जा सके। फिर भी कुछ मंत्र मिल जाते हैं, जैसे "मैं झूठ से सत्य की ओर जाता हूँ।"

वेदों के पश्चात् वैदिक परम्परा में ब्राह्मण और उपनिषद् प्रमुख ग्रन्थ माने जाते हैं। उपनिषदों में नीति संबंधी अनेक सूत्र मिलते हैं। पश्चात्वर्ती साहित्य में स्मृतियों में आचार, व्यवहार और प्रायश्चित का वर्णन है। यद्यपि 18 स्मृतियाँ हैं, लेकिन उनमें प्रमुख हैं मनुस्मृति एवं द्वितीय स्थान है याज्ञवल्क्य स्मृति का। नारी की गरीमा को प्रकट करते हुए मनुस्मृति में कहा है -

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः।"

अर्थात् जिस कुल में स्त्रियों का सम्मान होता है, वहाँ देवताओं का निवास रहता है।

इसी प्रकार राजा के कर्तव्यों के सन्दर्भ में राजनीति कूटनीति का वर्णन है -

"बकवच्चिन्तयेदर्थान्,सिंहवच्च पराक्रमेत।
वृकवाच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत्॥"

अर्थात् राजा का कर्तव्य है, कि बगुले के समान शत्रु का धन लेने की चिन्ता करे, सिंह के समान पराक्रमी बने, भेड़िये के समान अवसर देखकर शत्रु को मारे और (विपरीत) अवसर होने पर खरगोश की तरह चुपचाप निकल जाए।

इनके पश्चात् रामायण, महाभारत आदि महाकाव्यों और पुराणों में भी नीति संबंधी अनेक सूक्त मिलते हैं। आदर्श पुत्र, आदर्श पत्नी, आदर्श भाई, आदर्श सेवक, आदर्श राज्य आदि का सुन्दर वर्णन मिलता है।

महावीर के पश्चात् काल में तो अनेक नीति ग्रंथों की पृथक् से रचना हुई है। जैसे–शुक्रनीति, विदुरनीति आदि।

इस प्रकार वैदिक नीतिशास्त्र का उद्गम भी काफी प्राचीन है। लेकिन जैन नीति व्यवस्था उससे भी पूर्व अधिक व्यवस्थित एवं विकसित रूप में विद्यमान थी।

जैन संस्कृति : भारत की तीनों प्रमुख विचारधाराओं (जैन, बौद्ध और वैदिक) ने मानवीय उन्नति और विकास के सन्दर्भ में एक ऐसा युग स्वीकार किया है, जबकि मानव को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किसी प्रकार का श्रम नहीं करना पड़ता था। उसकी सभी इच्छाएँ और आवश्यकताएँ कल्पवृक्षों से ही पूर्ण हो जाती थीं। इस युग को सभी ने भोग युग कहा है।

जैन विचारधारा ने इस भोग युग को तीन कालों (आरों) में विभक्त किया। प्रथम व द्वितीय आरे में कल्पवृक्षों की प्रचुरता थी। लेकिन तृतीय आरे के अन्त में कल्पवृक्षों की न्यूनता होने लगी। उपलब्ध साधनों से मानव की आवश्यकताएँ पूरी नहीं होती थीं और उनमें वस्तुओं के लिए संघर्ष होने लगा।

इस संघर्ष को नियंत्रित करने के लिए जो नियम कुलकरों (कुल या कबीले के प्रमुख) ने निर्धारित किए, वे जैन दृष्टि से नीति के प्रथम सिद्धान्त थे। प्रारंभ में वे तीन प्रकार के थे -

1. हाकार नीति : प्रथम कुलकर विमलवाहन ने यह 'शब्द-प्रताड़ना' का दण्ड निर्धारित किया।

'ह इत्यधिक्षेपार्थस्तस्य करणं हाकारः।'[17]

अर्थात् जो व्यक्ति नियम को तोड़ता उससे कहा जाता 'हा! तुमने यह क्या किया?' इससे वह व्यक्ति लज्जित हो जाता।

2. माकार नीति : जब हाकार नीति प्रभावहीन होने लगी, तो तीसरे कुलकर यशस्वी ने 'माकार' दण्डनीति का प्रचलन किया, जिसका अभिप्राय था-ऐसा कार्य मत करो। जैसाकि स्थानांग वृत्ति में उल्लेख है-

''मा इत्यस्य निषेधार्थस्य करणं अभिधानं माकारः।''[18]

3. धिक्कार नीति : उपर्युक्त दोनों नीतियों के बावजूद अव्यवस्था व संघर्ष बढ़ते जा रहे थे। अतः पाँचवे कुलकर प्रसेनजीत ने धिक्कार नीति का प्रचलन किया अपराधी से कहा जाता-धिक्कार है, तुमने ऐसा कार्य किया। उस युग में मानव का स्वभाव सरल और कोमल था।[19] अतः उनके लिए धिक्कार शब्द ही दण्ड के रूप में काफी था।

इस प्रकार जैन दृष्टि से यह नीति का प्रारम्भ था, जो तीसरे आरे के अन्तिम चरण में, इस युग के मेधावी पुरुषों-कुलकरों द्वारा मानव समाज पर लागू की गई थी।

वास्तविक रूप में इसके पश्चात् विश्व के प्रथम कुशल प्रशासक, नीति और धर्म-प्रवर्तक के रूप में ऋषभदेव जी जाने गए। वे प्रथम राजा, प्रथम केवली एवं प्रथम तीर्थंकर थे। उनके समय से ही कर्मयुग का प्रारंभ हुआ। कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान और असि, मसि व कृषि का प्रारंभ भगवान ऋषभदेव जी ने ही किया। मानव को कर्म करने की शिक्षा दी। सर्वप्रथम राजनीति, न्याय, दण्डनीति आदि के नियम

होंने ही निश्चित किए।

हाकार, माकार तथा धिक्कार नीति के अतिरिक्त ऋषभदेव जी ने चार दण्डनीतियाँ और निर्धारित कीं -

1. **परिभाष** : कुछ समय के लिए अपराधी को आक्रोशपूर्ण शब्दों में नजरबन्द रहने का दण्ड देना।
2. **मण्डल बंध** : सीमित क्षेत्र में रहने का दण्ड देना।
3. **चारक** : बन्दीगृह में बन्द करने का दण्ड देना।
4. **छविच्छेद** : अंगोपांगों के छेदन का दण्ड देना।[10]

समाज में वर्ण-व्यवस्था का सूत्रपात भी ऋषभदेव जी ने ही किया। उन्होंने ही साम-दाम-दण्ड-भेद राजनीति की ये चार नीतियाँ और इनके सिद्धांत निर्धारित किए। जब वे साधना मार्ग पर जाने लगे, तो उन्होंने उत्तराधिकार की नीति बनाकर अपना संपूर्ण साम्राज्य अपने 100 पुत्रों में बाँट दिया, जिससे राज्य के लिए भाइयों में संघर्ष न हो।

केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् उन्होंने धर्म-धर्मनीति-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि का मर्म बताया। साधु (श्रमण) और श्रावक (गृहस्थ) के धर्म और नीति को समझाया।

इस प्रकार कर्म नीति के पश्चात् धर्मनीति का विकास हुआ। इसलिए आवश्यक चूर्णि में कहा गया है -

"णीतीओ उसभसामिम्मि चेव उप्पन्नाओ।"[11]

अर्थात् ऋषभस्वामी सभी प्रकार की नीतियों के आदि पुरस्कर्त्ता थे। यह मत सिर्फ जैन विद्वानों का ही नहीं अपितु वैदिक दर्शन का भी है। श्रीमद्भागवत् में भी इन्हें नीति और धर्म के संस्थापक के रूप में स्वीकार किया गया है।[12]

भगवान ऋषभदेव का काल अत्यधिक प्राचीन है। वर्षों में इसकी गणना नहीं की जा सकती, लेकिन उनके द्वारा निर्धारित नीति के नियम समय प्रवाह से युगों तक चलते रहे।

भगवान ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर थे। कालान्तर में 23 तीर्थंकर और हुए। उन सभी ने अपने-अपने समयानुसार धर्म-नीति नियमों का प्रवर्तन किया। वर्तमान काल में 5वीं शती ईसापूर्व में हुए चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर द्वारा प्रवर्तित धर्म-नीति नियम ही प्रचलित हैं। वे अपने युग के अप्रतिम व्यक्तित्व थे। उन्होंने पशुवध, हिंसक यज्ञ आदि तथा उस युग में प्रचलित मिथ्या विश्वासों, वर्ण व्यवस्था की जटिलता, दास जैसी घृणित प्रथा की नींव हिलाकर मानव की श्रेष्ठता स्थापित की, स्त्री जाति का गौरव पुनः स्थापित किया और नीति के सार्वभौम सिद्धान्त निर्धारित किये।

नीतिशास्त्र की परिभाषा : व्यावहारिक जीवन की रीढ़ नीति है। जिस प्रकार बिना नींव के मकान की रचना नहीं हो सकती, वैसे ही नीति धर्म का आधार है। अतः प्रत्येक धर्म-प्रवर्तक, धर्मोपदेशक और धर्मसुधारक ने धर्म के साथ नीति का भी उपदेश दिया, जनसाधारण को नैतिक जीवन जीने की प्रेरणा दी।

प्राचीनतम जैन ग्रन्थों के परिशीलन से यह ज्ञात होता है, कि भगवान ऋषभदेव के समय में राजनीति व समाजनीति के व्यापक रूप में ही नीति शब्द प्रयुक्त हुआ है। बाद में नीति शब्द को मर्यादा, व्यवस्था और सामाजिक नियमों के अर्थ में समझा जाने लगा -

"नीति मर्य्यादायाम्।"[114]

शब्द कोष के अनुसार - "निर्देशन, प्रबन्ध, आचरण, चाल-चलन, कार्यक्रम, शालीनता, व्यवहार-कुशलता, योजना, उपाय, आचारशास्त्र आदि सभी नीति शब्द से जाने जा सकते हैं।"[115]

शुक्रनीति में कहा गया है - "नीतिशास्त्र सभी का उपजीक है, लोकस्थिति का व्यवस्थापक है। इसलिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का प्रदायक है।"[116] इसी में आगे कहा गया है - "नीति के बिना लोक व्यवहार असम्भव है।"[117]

पाश्चात्य दार्शनिक मैकेन्जी के अनुसार - "नीतिशास्त्र सत् और शुभ का अध्ययन है।"[118]

सेथ नीतिशास्त्र को शुभ के विज्ञान के रूप में 'आदर्श' और 'चाहिये' का सर्वोत्कृष्ट विज्ञान मानता है।[119]

काण्ट ने 'कर्तव्य के लिए कर्तव्य का सिद्धान्त' प्रस्तुत किया। उनके अनुसार शुभत्व ही एकमात्र शुभ है।

भारतीय एवं पाश्चात्य सभी नीति चिन्तकों ने सत् और शुभ को नीतिशास्त्र का आधार व लक्ष्य माना है। लौकिक रीति-रिवाजों का पालन, कर्तव्य-अकर्तव्य आदि जितनी भी बातें हैं, वे सब सत् और शुभ का सहचरी मात्र हैं - 'चाहिये' भी उस सत्-शुभ की प्राप्ति में सहायक बनते हैं।

दूसरे शब्दों में समाज को स्वस्थ एवं संतुलित पथ पर अग्रसर करने एवं व्यक्ति को प्रेय तथा श्रेय की उचित रीति से प्राप्ति कराने के लिए जिन विधि अथवा निषेधमूलक वैयक्तिक और सामाजिक नियमों का विधान देश, काल और पात्र के सन्दर्भ में किया जाता है, वह नीति है और उन नियमों का संकलन नीतिशास्त्र कहलाता है।

दशवैकालिक सूत्र में कहा है -

"सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।"[120]

अर्थात् इस न्याय मार्ग को सुनकर, पढ़कर, जानकर ही मानव कल्याण अथवा

शुभ को जानता, पहचानता है। संक्षेप में यह जीवन का नियामक विज्ञान है और यह विचार समग्र रूप से सभी नीति विचारकों को इष्ट है।

जैन नीति-मिमांसा :

"सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः।"[21]

अर्थात् आस्तिक दर्शनों का परम और चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है। जैन दर्शन ने मोक्ष प्राप्ति के लिए उपर्युक्त त्रिरत्न रूप मार्ग प्रशस्त किया है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने पर भी जब तक सम्यग्चारित्र की पराकाष्ठा नहीं होती, तब तक मोक्ष नहीं होता। सम्यग्ज्ञान का संबंध ज्ञान से है, सम्यग्दर्शन का संबंध श्रद्धा से सही (सम्यक्) को जानने और उस पर श्रद्धा करने के पश्चात् उस पर आचरण करने से ही मोक्ष प्राप्ति हो सकती है। आचार को ही जैन दर्शन में चारित्र कहा है।

चारित्र का अर्थ है, संयम, वासनाओं तथा भोग विलासों का त्याग, इन्द्रियों का निग्रह, अशुभ प्रवृत्ति की निवृत्ति और शुभ प्रवृत्ति की स्वीकृति। यह चारित्र रूप उपासना का मार्ग अत्यन्त कठिन है। जैसाकि आचारांग सूत्र में कहा है -

"पणया वीरा महावीहिं।"[22]

अर्थात् यही मार्ग (न्याय नीति का मार्ग) ध्रुव है। किन्तु इस पर चलना कठिन है। वीर, संकल्प के धनी, पाप से दूर रहने वाले पवित्र मानव ही एक सिद्धि पथ पर चल सकते हैं।

चारित्र पालन की उपासकों की क्षमताएँ समान नहीं होती। अतः चारित्र धर्म दो प्रकार का कहा गया है- 1. आगार चारित्र तथा 2. अनगार चारित्र।

जैसा कि ठाणांग सूत्र में कहा है -

"चरित्त धम्मे दुविहे पण्णत्ते तं जहा-आगार
चरित्त धम्मे चेव अणगार चरित्त धम्मेचेव।"[23]

आगार धर्म में गृहस्थ के पालन करने योग्य नियमों का निर्देश किया गया है। जबकि अनगार धर्म सर्वविरति रूप सब प्रकार के सावद्ययोगों से सर्वथा विरत होना है।

1. अनगार चारित्र धर्म (श्रमण धर्म) : अनगार धर्म को स्वीकार करने वाला साधक प्रतिज्ञा करता है -

"करेमि भंते! सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं, वायाए, काएणं, न करेमि न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते! पडिक्क मामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।"[24]

अर्थात् भगवान में सर्व सावद्य योग प्रत्याख्यान रूप सामायिक को अंगीकार करता हूँ, जीवन पर्यन्त के लिए तीन करण, तीन योग से नियमों का पालन करूंगा।

तीन करण-करना, कराना, अनुमोदन करना। तीन योग - मन, वचन और कर्म। अर्थात् संपूर्ण रूप से बुराइयों का त्याग करता हूँ। मैं अपने पूर्व पापों का प्रतिक्रमण करता हूँ, उसकी गुरु साक्षी से निन्दा करता हूँ, आत्म साक्षी से गर्हा करता हूँ। मैं अपनी पापयुक्त आत्मा को छोड़ता हूँ।[25]

यही अनगार चारित्र का सूक्ष्म स्वरूप है। जो किसी प्रकार के आगार (अपवाद) से रहित है। जो सांसारिक बन्धनों से पृथक् रहकर आध्यात्म साधना द्वारा अन्तर्मुखी जीवन व्यतीत करते हैं, वे अनगार हैं। तीर्थंकर भगवान इन्द्रिय निग्रह करने वाले, मुक्ति के योग्य और अशुभ योग के त्यागी साधु का चार नामों से वर्णन करते हैं- 1. माहन, 2. श्रमण, 3. भिक्षु और 4. निर्ग्रन्थ। जैसा कि सूत्र कृतांग में उल्लेख है-

"अहाह भगवं एवं से दंते दविए, वोसट्ठकाए त्ति वच्चे माहणेत्तिवा, समणेत्तिवा, भिक्खुत्तिवा, निग्गंथेत्तिवा, तं नो बूहि महागुणी।"[26]

1. माहन : जो समस्त पापों से विरत हो चुका है, किसी से राग-द्वेष नहीं करता, कलह नहीं करता, किसी को झूठा दोष नहीं लगाता, किसी की निंदा नहीं करता, संयम में अप्रीति तथा असंयम में प्रीति नहीं करता, झूठ नहीं बोलता और मिथ्या-दर्शन-शल्य से अलग रहता है, जो पाँच समितियों युक्त है, ज्ञानादि गुणों से युक्त है, सदा जितेन्द्रिय है, किसी प्रकार क्रोध नहीं करता और मान नहीं करता वह माहन कहलाता है।[27]

2. श्रमण : जो साधु पूर्वोक्त गुणों से युक्त है, उसे श्रमण भी कहना चाहिये। साथ ही श्रमण वह है, जो शरीर में आसक्त न हो, किसी भी सांसारिक फल की कामना न करे, हिंसा, मृषावाद, मैथुन और परिग्रह न करे, क्रोध, मान, माय और लोभ तथा राग-द्वेष न करे, इसी प्रकार जिन-जिन बातों से इस लोक और परलोक में हानि दिखती है तथा जो आत्मा के द्वेष के कारण हैं, उन सब कर्म बन्धन के कारणों से जो पहले ही निवृत्त है तथा जो इन्द्रिय जयी, मुक्ति जाने योग्य और शरीर की आसक्ति से रहित है, उसे श्रमण कहना चाहिये।[28]

3. भिक्षु : श्रमण के जो गुण कहे हैं, वे सब भिक्षु में होने चाहिये। उनके अतिरिक्त जो अभिमानी नहीं है, विनीत है, नम्र है, इन्द्रियों को और मन को वश में रखता है, मुक्तिगमन के योग्य गुणों से युक्त है, शरीर ममता का त्यागी है, नाना प्रकार के परीषहों और उपसर्गों को सहन करता है, आध्यात्म योग से शुद्धचारित्र वाला है, उस साधु को भिक्षु कहना चाहिये।[29]

4. निर्ग्रन्थ : निर्ग्रन्थ में उपर्युक्त गुण होने के साथ ही जो रागद्वेष से रहित होकर रहता है, आत्मा के एकत्व को जानता है, वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता है, जिसने आश्रव द्वारों को रोक दिया है, जो बिना प्रयोजन अपने शरीर की क्रिया नहीं

करता, समितियों से युक्त है, शत्रु-मित्र पर समभाव रखता है, जो आत्मा के सच्चे स्वरूप को जानता है, जो समस्त पदार्थों के स्वरूप को जानता है, जिसने संसार के स्रोत को छेद डाला है, जो पूजा-सत्कार और लाभ की इच्छा नहीं करता, जो धर्म का अर्थ जानता है, धर्मज्ञ है, जितेन्द्रिय, मुक्ति योग्य और शरीर ममता के त्यागी हैं, उसे निर्ग्रंथ कहना चाहिये।[1]

जैसा कि प्रवचनसार में भी कहा है - व्रत, समिति, इन्द्रियरोध, लोच, आवश्यक अचेलपना, अस्नान, भूमि शयन, अदंत धावन, खड़े-खड़े भोजन और एक बार आहार-ये वास्तव में श्रमणों के मूल-गुण जिनवरों ने कहे हैं, उनमें प्रमत्त होता हुआ श्रमण छेदोपस्थापक होता है।[2]

आगमों में साधु का संपूर्ण विवेचन करने के लिए, उसके 27 गुण बताए गए हैं।

साधु के सत्ताई गुण -

1-5. पच्चीस भावनाओं के साथ पाँच महाव्रतों का पालन करना।

6-10. पाँच इन्द्रियों का संवर करना-विषयों से निवृत्ति करना।

11-14. चार कषायों से निवृत्त होना।

15. मन समाधारणीया अर्थात् मन को वश में करके धर्म मार्ग में लगाना।

16. वचः समाधारणीया अर्थात् प्रयोजन होने पर परिमित और सत्य वाणी बोलना।

17. काय समाधारणीया अर्थात् शरीर की चपलता को रोकना।

18. भावसत्य-अन्तःकरण के भावों को निर्मल करके धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान में जोड़ना।

19. करण सच्चे - करण सत्तरी के सत्तर बोलों से युक्त हो तथा साधु के लिए जिस-जिस समय जो जो क्रियाएँ करने का विधान शास्त्र में किया गया है, उन्हें उसी समय करना।

20. जोग सच्चे - मन, वचन और काय के योगों की सत्यता व सरलता रखे।

21-23. सम्पन्नतिए - साधु तीन वस्तुओं से सम्पन्न हो। यथा ज्ञानसम्पन्न अर्थात् मति ज्ञान, श्रुतज्ञान, अंग, उपांग, पूर्व आदि जिस काल में जितना श्रुत विद्यमान हो, उसका उत्साह के साथ अध्ययन करे। वाचना, पृच्छना, परिवर्तना आदि करके ज्ञान को दृढ़ करे और यथायोग्य दूसरों को ज्ञान देकर ज्ञान की वृद्धि करे।

साधु सम्यग्दर्शन से सम्पन्न हो अर्थात् देव आदि का भयानक उपसर्ग आने पर भी सम्यक्त्व से चलित न हो। शंका, कांक्षा आदि

दोषों को टालकर निर्मल सम्यक्त्व का पालन करे।
साधु चरित्र सम्पन्न भी हो अर्थात् सामायिक छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म सम्पराय और यथाख्यात चरित्र में से यथासंभव को धारण करे। (इस काल में प्रथम दो चारित्र ही पाले जा सकते हैं।)

24. खंती - क्षमायुक्त हो।
25. संवेग - सदा वैराग्यवान हो। संसार के समस्त संयोगों को इन्द्रजाल के समान कल्पित और स्वप्न के समान क्षणिक समझकर संसार से भयभीत रहना संवेग कहलाता है।
26. वेयणसमहि आसाणिया - क्षुधा, तृष्णा आदि 22 परिषह उत्पन्न हों, तो समभाव से उन्हें सहन करना।
27. मरणंतियसमहि आसणिया अर्थात् मारणान्तिक कष्ट आने पर भी और मृत्यु के अवसर पर तनिक भी भयभीत न होना। वरन् समाधिमरण से आयु पूर्ण करना।

ये हैं - साधु के 27 गुण।[32]

दिगम्बर ग्रंथ मूलाचार में मुनि के 28 गुण बताए गए हैं -

''पंचय महत्वयाइं समिदीओ पंच जिणवरोदिट्ठा।
पंचेविंदियरोहा छप्पि य आवासया लोओ॥ 2॥
आच्चेल कमण्हाणं खिदिसयणमदंतधंसणं चेव।
ठिदिभोयणेभत्तं मूल गुणा अट्ठवीसा दु॥ 3॥''[33]

अर्थात् पाँच महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह), जिनवर कर उपदेशी हुई पाँच समितियाँ (ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदाननिक्षेपण समिति, मूत्र विष्ठादिक का शुद्ध भूमि में क्षेपण अर्थात् प्रतिष्ठापन समिति) पाँच इन्द्रियों का निरोध (चक्षु, कान, नाक, जीभ, स्पर्शन) इन पाँच इन्द्रियों के विषयों का निरोध करना। छह आवश्यक (सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग), लोच, आचेलक्य, अस्नान, पृथ्वीशयन, अदंतघर्षण, स्थिति भोजन, एक भुक्ति-ये जैन साधुओं के अट्ठाईस मूल गुण हैं।

उपर्युक्त मूल अट्ठाईस गुण ऐसे व्यवस्थित नियम हैं, जो मुमुक्षु को निर्विकारी और योगी बना देते हैं। यह मुनि दशा ही साक्षात् मोक्ष का कारण है। इन गुणों के अभाव में कोई जैन साधु नहीं हो सकता। जैन मुनि के आचार्य, उपाध्याय और साधु रूप तीन भेदों के अनुसार उनके कर्तव्य में भेद हैं।

1. **आचार्य** : साधु के गुणों के अतिरिक्त सर्वकाल सम्बन्धी आचार को जानकर स्वयं तद्वत् आचरण करे तथा दूसरों से करावे, जैन धर्म का उपदेश देकर मुमुक्षुओं का संग्रह करे और उनकी सार-संभाल रखे।

2. **उपाध्याय** : उपाध्याय का कार्य साधु कर्म के साथ-साथ जैन शास्त्रों का पठन-पाठन करना है।
3. **साधु** : जो मात्र उपर्युक्त गुणों को पालता हुआ ज्ञान-ध्यान में लीन रहता है, वह साधु है।

इस प्रकार जैन मुनि अपने कर्तव्य के अनुसार ही जीवन यापन करते हैं। यह मुनि धर्म ही श्रमण धर्म या अनगार धर्म है। अतः यहाँ हम श्रमण धर्म के मूलभूत तत्त्वों का विस्तृत विवेचन करेंगे।

1. महाव्रत : श्रमण धर्म की आधारशीला महाव्रत है। महाव्रतों की अनुपालना और उनका निरतिचार अनुशीलन श्रमण के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य आदि ये पाँच महाव्रत कहे गये हैं।[1]

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के काल से लेकर महावीर के समय तक का आचार-विचार का अध्ययन करने पर मानवीय स्वभाव के भिन्न-भिन्न रूप दिखाई देते हैं। काल प्रभाव के अनुरूप ही महाव्रतों का प्रवर्तन किया गया है। भगवान ऋषभदेव के काल में मानव अति सरल स्वभावी एवं जड़बुद्धि था। अतः नियमों का पूर्ण विश्लेषण आवश्यक था। इसी प्रकार महावीर के काल में मानव वक्र स्वभावी एवं जड़बुद्धि होने के कारण नियमों का विस्तार से विश्लेषण करना आवश्यक था। अतः भगवान ऋषभदेव और महावीर स्वामी दोनों ही तीर्थंकरों ने पाँच महाव्रतों का प्रवर्तन किया। मध्य के शेष 22 तीर्थंकरों के काल में मानव सरल स्वभावी एवं प्राज्ञ अर्थात् सूक्ष्म बुद्धि का था, अतः उनमें विषय को सहज ग्रहण करने एवं आचरण करने की प्रवृत्ति थी। अतः उन बाईस तीर्थंकरों ने चार महाव्रतों का ही प्रतिपादन किया तथा पांचवें महाव्रत ब्रह्मचर्य को अपरिग्रह में ही अन्तर्निहित रखा गया। जैसा कि पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म से ज्ञात होता है। उत्तराध्ययन सूत्र के केशी-गौतम संवाद में इस बात को स्पष्ट किया गया है।[2] पार्श्वनाथ से पूर्व के 21 तीर्थंकरों के समय भी इसी चातुर्याम धर्म का प्रवर्तन किया गया था। वर्तमान काल में अनुगमनीय पाँच महाव्रत निम्नलिखित हैं -

1. सर्व प्राणातिपात विरमण व्रत (अहिंसा) : हिंसा का सर्व प्रकार से संपूर्ण त्याग करना ही सर्व प्राणातिपात विरमण व्रत है। श्रमण इस व्रत को धारण करते हुए यह प्रतिज्ञा करते हैं, कि मैं समस्त प्राणातिपात का त्याग करता हूँ। आजीवन तीन करण, तीन योग से समस्त जीवों, चाहे वह सूक्ष्म हो या बादर, त्रस हो या स्थावर, मैं स्वयं किसी के प्राणों का हनन नहीं करूँगा, दूसरों से नहीं कराऊँगा और प्राणातिपात करते हुए अन्य किसी जीव को अच्छा नहीं समझूँगा। भूतकाल में किये गए प्राणातिपात के लिए मैं पश्चाताप (प्रतिक्रमण) करता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और उस पापयुक्त आत्मा को छोड़ता हूँ। इस प्रकार हे! भगवान मैं सब

प्रकार के प्राणातिपात विरमण व्रत को अंगीकार करता हूँ।[36] इस व्रत के निर्दोष पालन के लिए वह सावधानी से गमन करते हैं, मन, वचन, काया के प्रयोग में बहुत सावधान रहते हैं तथा आहार-पानी को बहुत देखभाल कर ग्रहण करते हैं।[37]

2. सर्व मृषावाद विरमण व्रत (सत्य) :

समस्त प्रकार के असत्य (मृषावाद) का पूर्ण रूप से त्याग ही सर्वमृषावाद विरमण व्रत है। मृषावाद चार प्रकार का कहा गया है -

1. **सद्भाव प्रतिषेध** : जो वस्तु है, उसके विषय में कहना नहीं है।
2. **असद्भाव-उद्भावन** : जो नहीं है, उसे कहना कि यह है।
3. **अर्थान्तर** : एक वस्तु को दूसरी कहना। जैसे गाय को घोड़ा कहना।
4. **गर्हा** : सत्य होने पर भी जो पर पीड़ाकारी हो, ऐसा वचन बोलना, गर्हा असत्य है।

इस महाव्रत को धारण करते हुए श्रमण यह प्रतिज्ञा करते हैं, कि मैं सर्व प्रकार के मृषावाद का प्रत्याख्यान करता हूँ। आजीवन तीन करण, तीन योग से मन, वचन, काया से, क्रोध से या लोभ से, भय से या हंसी से मैं स्वयं असत्य नहीं बोलूँगा, दूसरों से असत्य नहीं बुलवाऊँगा तथा असत्य बोलने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा। भंते! मैं अतीत के मृषावाद से निवृत होता हूँ, उसकी निन्दा तथा गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।[38]

3. सर्व अदत्तादान विरमण व्रत (अचौर्य) : किसी के द्वारा न दी हुई वस्तु को ग्रहण करने का संपूर्ण त्याग करना सर्व अदत्तादान विरमण व्रत है। स्थानांग सूत्र की टीका में चार प्रकार के अदत्त कहे गए हैं-

1. **स्वामी अदत्त** : जो वस्तु उसके मालिक द्वारा न दी गई हो।
2. **जीव अदत्त** : स्वामी के द्वारा दिये जाने पर भी स्वयं जीव की स्वीकृति या इच्छा न हो। जैसे माता-पिता द्वारा पुत्र को साधु को दे दिए जाने पर भी स्वयं पुत्र की इच्छा न हो।
3. **तीर्थंकर अदत्त** : तीर्थंकर ने जिस आचरण की अनुमति न दी हो।
4. **गुरु अदत्त** : तीर्थंकर द्वारा अनुज्ञात होने पर भी यदि गुरु की आज्ञा न हो तो उसे ग्रहण करना गुरु अदत्त है।

इस प्रकार तीर्थंकर और गुरु की आज्ञा के विपरीत आचरण करना, अपने मनोभावों को छुपाना भी अदत्तादान है।

इस तीसरे महाव्रत को अंगीकार करते हुए श्रमण प्रतिज्ञा करते हैं, कि भंते! मैं सर्व प्रकार के अदत्तादान का त्याग करता हूँ। आजीवन तीन करण, तीन योग से-मन, वचन, काया से, गाँव में, नगर में या अरण्य में कहीं भी अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त, किसी भी अदत्त वस्तु को मैं स्वयं ग्रहण नहीं करूंगा, दूसरों

से ग्रहण नहीं कराऊँगा तथा अदत्त वस्तु ग्रहण करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा। मैं अतीत के अदत्तादान से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा एवं गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।[10]

इस व्रत के निर्दोष पालन के लिए वह भिक्षा में प्राप्त भोजन आचार्य को दिखाकर सेवन करता है। जीवनोपयोगी वस्तुओं को परिमित मात्रा में सेवन करता है, जीवनोपयोगी वस्तुओं को परिमित मात्रा में तथा बहुत कम बार याचना करता है।[11]

4. सर्व मैथुन विरमण व्रत (ब्रह्मचर्य) : देव, मनुष्य तथा तिर्यंच सम्बन्धी मैथुन का जीवन पर्यंत त्याग करना सर्व मैथुन विरमण व्रत है। इस महाव्रत को धारण करते हुए श्रमण प्रतिज्ञा करते हैं, कि भंते! मैं सब प्रकार के मैथुन का प्रत्याख्यान करता हूँ। आजीवन तीन करण, तीन योग से मन, वचन, काया से देव, मनुष्य व तीर्यंच सम्बन्धी मैथुन का मैं स्वयं सेवन नहीं करूंगा, दूसरों से सेवन नहीं कराऊँगा तथा सेवन करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूंगा। मैं अतीत के मैथुन सेवन से निवृत होता हूँ, उसकी निन्दा व गर्हा करता हूँ तथा आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।[12]

ब्रह्मचर्य व्रत की यह महाप्रतिज्ञा समस्त आध्यात्मिक साधनाओं का मूल है। वैदिक, बौद्ध तथा जैन सभी परम्पराओं में ब्रह्मचर्य को सभी व्रतों में विशिष्ट और बड़ा माना गया है। जैन परम्परा में इस व्रत के निर्दोष पालन के लिए नव विध ब्रह्मचर्य गुप्ति का विधान किया गया है। ये नववाड़ इस प्रकार हैं -

1. स्त्री जनाकीर्ण स्थान का परित्याग करना।
2. मनोरम स्त्री कथा का त्याग करना।
3. स्त्रियों से परिचय न करना, उनके आसन पर न बैठना।
4. स्त्रियों के अंगोपांग न निहारना।
5. स्त्रियों के शब्द-गीत आदि न सुनना।
6. भुक्त भोगों का स्मरण न करना।
7. सरस भक्त पान अर्थात् सरस भोजन का त्याग करना।
8. अतिमात्रा में भोजन न करना।
9. स्वयं के शरीर का शृंगार न करना।[13]

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव तथा अन्तिम महावीर के काल में ही इस व्रत का पृथक् से प्रतिपादन किया गया है। शेष 22 तीर्थंकरों ने स्त्री को परिग्रह रूप मानकर, ब्रह्मचर्य व्रत को परिग्रह परिमाण व्रत में ही सम्मिलित कर दिया था।

5. सर्व परिग्रह विरमण व्रत (अपरिग्रह) : समस्त पदार्थों में ममत्वभाव का सर्वथा परित्याग ही सर्वपरिग्रह विरमण व्रत है। इस पांचवें महाव्रत को अंगीकार करते हुए श्रमण यह प्रतिज्ञा करते हैं, कि भंते! मैं सर्व परिग्रह का प्रत्याख्यान करता हूँ। आजीवन तीन करण, तीन योग से मन, वचन, काया से, गाँव में, नगर में या अरण्य में

अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त-किसी भी परिग्रह का ग्रहण मैं स्वयं नहीं करूँगा, दूसरों से ग्रहण नहीं कराऊँगा, और परिग्रह का ग्रहण करने वालों का अनुमोदन नहीं करूँगा। मैं अतीत के परिग्रह से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा व गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।[43]

शास्त्रकारों ने परिग्रह के दो भेद कहे हैं - बाह्य परिग्रह तथा आभ्यान्तर परिग्रह।

1. **बाह्य परिग्रह** : बाह्य परिग्रह नौ प्रकार का कहा गया है -

"धनं धान्यं स्वर्ण रुप्य, कुप्यानि क्षेत्र वास्तुनी।
द्विपपाच्चतुष्पाच्चेति स्युर्नव बाह्याः परिग्रहाः॥"[44]

अर्थात् धन, धान्य, सोना, चाँदी, कुप्य, क्षेत्र, वास्तु, द्विपद और चतुष्पद ये नौ बाह्य परिग्रह है।

2. **आभ्यान्तर परिग्रह** : श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में अभ्यान्तर परिग्रह के 14 भेद कहे गए हैं - राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यादर्शन, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा और वेद।

उपर्युक्त सभी बाह्य एवं आभ्यांतर परिग्रहों के प्रति ममत्व भाव न रखना ही सच्चा अपरिग्रह है। श्रमण संयम की साधना के लिए वस्त्र-पात्र, रजोहरण आदि सामग्री रखते हैं, लेकिन उनके प्रति ममत्व भाव या आसक्ति नहीं रखते। अतः अपरिग्रही होते हैं। इस महाव्रत के निर्दोष पालन के लिए वह मनोहर शब्द, रूप, रस, गंध तथा स्पर्श में आसक्ति का पूर्ण त्याग करता है।[45]

इस प्रकार पंचमहाव्रतों का जो अनगार यथाश्रुत, यथाकल्प, यथामार्ग भली-भाँति पालन करता है, वह सर्व कर्मबन्धनों से मुक्त होता हुआ अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। इन महाव्रतों की रक्षा के लिए पाँच समिति, तीन गुप्ति रूप आठ प्रवचन माता तथा विभिन्न भावनाओं का निरुपण किया गया है।

2. **अष्ट प्रवचन माताएँ** : पाँच समिति एवं तीन गुप्ति मिलकर अष्ट प्रवचन माता कहलाती है। क्योंकि माता की तरह ही ये श्रमण के लिए हितकारी होती हैं तथा उनके संयम को परिपुष्ट करती है। श्रमण जीवन की आवश्यक क्रियाओं में सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करना समिति है। कायिक, वाचिक तथा मानसिक क्रिया का सभी प्रकार से निग्रह करना गुप्ति है। गुप्ति में अतिक्रिया का निषेध तथा समिति में सत्क्रिया का प्रवर्तन मुख्य है।

तीन गुप्ति :

"सम्यग्योगनिग्रहोगुप्तिः।"[46]

अर्थात् सम्यग रूप से योगनिग्रह को गुप्ति कहते हैं। मन, वचन तथा काया की प्रवृत्तियों रूप योगों को ज्ञान और श्रद्धापूर्वक प्रशस्त रूप से जो निग्रह किया जाए वही

गुप्ति रूप संवर है। गुप्ति के तीन भेद कहे गए हैं - 1. मनोगुप्ति, 2. वचन गुप्ति और 3. काय गुप्ति।

1. मनोगुप्ति : मन की रागादि अशुभ भावों से निवृत्ति को मनोगुप्ति कहते हैं। उत्तराध्ययन में कहा है -

"संरम्भे-समारम्भे आरम्भे य तहेव य।
मणं पवत्तमाणं तु नियत्तेज्ज जयं जई॥"[147]

बुरे संकल्पों का विचार करना मानसिक संरम्भ है। उन बुरे संकल्पों की पूर्ति हेतु उपाय सोचना या उसके साधनों का उच्चाटनादि का चिन्तन करना मानसिक समारंभ है। बुरे संकल्प और बुरे उपायों द्वारा उस दुष्ट संकल्प की पूर्ति हेतु मन की परिणति को बना लेना मानसिक आरंभ है। इस प्रकार मानसिक संरम्भ, समारम्भ और आरंभ से मन को हटा लेना-मनोगुप्ति है।

2. वचनगुप्ति : ऐसे वचन, जिनसे अशुभ कार्य हो, उस वचन में प्रवृत्त न होना ही वचनगुप्ति है। सब प्रकार के वचनों का परिहार करके मौन रहना वचन गुप्ति है। असत्य, कर्कश, कठोर, मर्मभेदी, क्लेशकारी, पर-निन्द्यरूप आत्म-प्रशंसा रूप अथवा विकथा रूप वचन न बोलना श्रमण के लिए वचन गुप्ति है।

3. काय गुप्ति : शरीर की क्रियाओं की निवृत्ति के अथवा शरीर के ममत्व के त्याग या निश्चलता को कायगुप्ति कहते हैं। उठना, बैठना, खड़े होना, सोना आदि सब क्रियाओं को यतना पूर्वक करना, जिससे किसी को कोई हानि या क्षति न हो।

सम्यक् चारित्र की आराधना के लिए साधु को गुप्ति और समिति का पालन करना आवश्यक होता है।

2. समिति : "सम् एकीभावेन इतिः प्रवृत्तिः शोभनैक परिणामस्य चेष्टेत्यर्थः।"

अर्थात् एक निष्ठा के साथ की जाने वाली शुभ प्रवृत्तियों को समिति कहते हैं। इसके अन्तर्गत आचरण करने योग्य उन क्रियाओं का उल्लेख है, जो साधु के संयम पालन करने के लिए आवश्यक है। समिति के पाँच भेद हैं -

"इर्या भाषा एषणादान निक्षेपोत्सर्गाः समितियः।"[148]

अर्थात् इर्या, भाषा, एषणा, आदान, निक्षेप और उत्सर्ग यह पाँच भेद समिति के हैं।

1. इर्या समिति : गति सम्बन्धि जागरूकता एवं यतनापूर्वक चलना इर्या समिति है। अर्थात् चलते समय जीव हिंसा न हो यह साधु के लिए ध्यान रखना आवश्यक है। जैन धर्म में साधुओं के आवागमन को अहिंसक बनाये रखने के लिए विविध नियमों का निर्देश किया गया है। जैसे -

1. **आलम्बन शुद्धि :** साधु को अकारण आवागमन नहीं करना चाहिए। ज्ञान

की वृद्धि के लिए दर्शन की वृद्धि तथा सुरक्षा के लिए तथा चारित्र पालन के लिए आवागमन आवश्यक है, क्योंकि एक स्थान पर रहने से उस स्थान से साधु को लगाव हो सकता है। शारीरिक बाधाओं की निवृत्ति (मल-मूत्र त्याग) के लिए जाना भी चरित्रालंबन में ही आता है।

2. **मार्ग शुद्धि** : साधु को ऐसे मार्ग से विहार करना चाहिये, जहाँ से आवागमन चलता हुआ हो, इससे जीव हिंसा भी नहीं होती व स्वयं की सुरक्षा भी रहती है। दुष्कर मार्ग से जाना साधु के लिए वर्जित है।
3. **काल शुद्धि** : साधु को दिन में ही विचरण करना चाहिये। रात्रि में विचरण करने से जीव हिंसा हो सकती है। रात्रि में शारीरिक निवृत्ति के लिए जाना हो तो दिन में देखे हुए रास्ते में रजोहरण से रास्ते को साफ करते हुए चलना होता है, जिससे जीव हिंसा न हो.
4. **यतनाशुद्धि** : ध्यान पूर्वक चलना यतना शुद्धि है। इसके चार भेद हैं -

अ. **द्रव्य** : नीची दृष्टि रखकर चलना।
ब. **क्षेत्र** : देह प्रमाण भूमि देखते हुए चलना।
स. **काल** : रात्रि में प्रमार्जन (रास्ता साफ) करते हुए चलना।
द. **भाव** : मार्ग में चलते समय अन्य विचारों को हटाकर चलने से हिंसा की सम्भावना नहीं रहती है। साधु को मार्ग में चलते हुए अग्रलिखित दस कार्य नहीं करने चाहिए।

1. शब्द : वार्तालाप करना।
2. रूप : रमणीय वस्तुएँ, खेल तमाशे, शृंगार आदि देखना।
3. रस : रसों का स्वाद करना।
4. गंध : सुगंधित वस्तुएँ सूंघना।
5. स्पर्श : शीत, उष्ण या मृदु स्पर्शों में चित्त लगाना।
6. वाचन : पठन करना।
7. पृच्छा : प्रश्न करना।
8. परिवर्तना : पढ़े हुए की आवृत्ति करना।
9. अनुप्रेक्षा : चिन्तन करना।
10. धर्म कथा : उपदेश देना।

ईर्या समिति के चलते हुए श्रमण से कोई जीव हिंसा हो जाए, तो वह दोषी नहीं माना जाता, क्योंकि वह अपनी तरफ से अहिंसा का पालन कर रहा था। जो ईर्या समिति से नहीं चलते, उनसे हिंसा हो या न हो, किन्तु उन्हें दोष लगता है।

2. भाषा समिति : साधु जीवन में गमनागमन के पश्चात् दूसरी आवश्यक क्रिया बोलने की या भाषा की है। मौन रहना गुप्ति है। विवेक पूर्वक सत्य, हित-मित

एवं असंदिग्ध भाषण करना भाषा समिति है। साधु को क्या बोलना चाहिये, क्या नहीं बोलना चाहिये यह भाषा समिति के अन्तर्गत आता है। उत्तराध्ययन सूत्र में भाषा समिति के विषय में कहा है - क्रोध, मान, माया और लोभ, हास्य, मन मखौर्य *(वाचालता)* और विकथाओं में उदासीन रहना, इन आठ स्थानों को त्याग कर, बुद्धिमान साधु समय पर निरवद्य और परिमित भाषा बोले अर्थात् उपरोक्त क्रोधादि दोषों को छोड़कर समय पर हित-मित और पाप रहित निर्दोष भाषा बोले।[49] साधु को चाहिये, कि वह सदा अतिशय शान्त और वाचालता रहित, कम बोलने वाला हो तथा आचार्यादि के समीप मोक्ष अर्थ वाले आगमों को सीखे और निरर्थक मोक्ष अर्थ से रहित ज्योतिष, वैद्यक तथा स्त्री कथादि का त्याग करे।[50] स्थानांग सूत्र में प्रतिमाधारी अनगार को चार भाषाओं का प्रयोग कल्पता है, ऐसा उल्लेख है।

1. **याचनी भाषा** : वस्त्र पात्रादि की याचना के लिए बोलना।
2. **प्रच्छनी भाषा** : सूत्र का अर्थ और मार्ग आदि पूछने के लिए बोलना।
3. **अनुज्ञापनी भाषा** : स्थान आदि की आज्ञा लेने के लिए बोलना।
4. **प्रश्नव्याकरणी भाषा** : पूछे गये प्रश्न का उत्तर देने के लिए बोलना।

भाषा चार प्रकार की कही गई है -

1. सत्य भाषा : यथार्थ बोलना।
2. मृषा भाषा : अयथार्थ या असत्य मिश्रित बोलना।
3. सत्य-मृषा भाषा : सत्य-असत्य मिश्रित भाषा बोलना।
4. असत्या मृषा भाषा : व्यवहार भाषा बोलना (जिसमें सत्य-असत्य का व्यवहार न हो।)[51]

इस प्रकार साधु को मधुर, हितकारी, परिमित, प्रयोजन योग्य, गर्व रहित, तुच्छ न हो, बुद्धि से विचार कर वचन बोलने चाहिये।

3. एषणा समिति : एषणा समिति में साधु को भिक्षा किस प्रकार ग्रहण करनी चाहिये, इसका विवेचन है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है - आहार, उपधि और शय्या की, गवेषणैसणा और ग्रहणैषणा तथा परिभोगैषणा ये प्रत्येक की, जो तीन-तीन एषणाएँ हैं, उनकी विशुद्धि को अर्थात् गवेषण, ग्रहण और ग्रास (परिभोग) सम्बन्धी दोषों से अदूषित अतएव विशुद्ध आहार, पानी, रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि उपधि और शय्या, पाट, पाटलादि का ग्रहण करना एषणा समिति है।[52]

इस प्रकार एषणा समिति के तीन भेद हैं :-

1. गवेषणा : साधु के लिए मधुकरी (भिक्षा) वृत्ति का प्रतिपादन किया गया है। जिस प्रकार फूलों में भ्रमर अपना निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार साधु ग्रहस्थों द्वारा स्वयं के लिए बनाए हुए आहारादि की भिक्षा ग्रहण करेंगे, जिससे किसी जीव को कष्ट न हो।[53] भिक्षा के लिए निकलने पर आहार के निर्णय के लिए जिन नियमों का

पालन करना व जिन दोषों से बचना-साधु के लिए आवश्यक है, उसे गवेषणा कहते हैं।

2. ग्रहणेषणा : साधु आहार आदि को ग्रहण करते समय जिन नियमों का पालन करता है व दोषों से बचता है, उसे ग्रहणेषणा कहते हैं।

3. परिभोगेषणा : मिले हुए आहारादि का उपभोग करते हुए साधु को जिन-जिन नियमों का पालन करना चाहिये और जिन दोषों से बचना चाहिये, उसे परिभोगेषणा कहते हैं।

इस भिक्षाचर्या में 42 दोषों की संभावना बतायी जाती है। भिक्षा के 42 दोष में से 16 उद्गम दोष, 16 उत्पादन दोष और 10 एषणा के दोष बताए गए हैं। भिक्षा देते समय गृहस्थ द्वारा लगने वाले दोषों को उद्गम दोष कहते हैं। साधु तथा श्रावक द्वारा लगने वाले दोषों को एषणा दोष कहते हैं। पाँच आहार उपभोग के दोष हैं। इन 47 आहार दोषों से बचना साधु के लिए आवश्यक है,[54] जो अग्रलिखित हैं -

1. सोलह उद्गम दोष[55] :

1. **आधा-कर्म** : किसी विशेष साधु को मन में रखकर उसके निमित्त भोजन बनाना। ऐसा आहार सेवन करने से, निमन्त्रण स्वीकार करने से, ऐसा आहार करने वाले के साथ रहने से व उसकी प्रशंसा करने से भी दोष लगता है।
2. **औद्देशिक** : सामान्य याचकों के लिए आहार तैयार करना या याचक के लिए अलग निकालकर रखना वर्जित है।
3. **पूतिकर्म** : शुद्ध आहार में आधा कर्म का अंश मिला भोजन।
4. **मिश्रजात** : अपने व साधु के लिए एक साथ पकाया हुआ आहार।
5. **स्थापना** : साधु को देने के लिए भोजन अलग निकालकर रखना।
6. **प्राभृतिका** : साधुओं के आगम को सुनकर विवाहादि अवसरों को आगे-पीछे सरकाना, जिससे साधु को भोजन मिल सके।
7. **प्रादुष्करण** : अंधेरे में रखे भोजन को दीपक जलाकर साधु को देना।
8. **क्रीत** : साधु के लिए खरीद कर देना।
9. **प्रामित्य** : उधार लाया हुआ आहार देना।
10. **परिवर्तित** : साधु के लिए अदल-बदल की हुई वस्तु देना।
11. **अभिहत** : साधु के निमित्त वस्तु को अन्यत्र ले जाकर देना।
12. **उदभिन्न** : लेप आदि द्वारा बन्द की हुई वस्तु खोलकर देना।
13. **मालापहत** : अधिक ऊँचा या पहुँच से दूर रखा आहार उतार कर देना।
14. **आच्छेय** : निर्बल व्यक्ति से छीनकर साधु को आहार देना।
15. **अनिसृष्ट** : वस्तु के एक से अधिक स्वामी होने पर सबकी इच्छा के

बिना साधु को देना।

16. **अध्यवपूरक** : साधुओं का आगमन सुनकर अपने भोजन में अधिक सामग्री मिलाकर भोजन बनाना व देना।

2. **उत्पादन के दोष** : साधु द्वारा लगने वाले 16 दोष इस प्रकार हैं[56] -

1. **धात्रीकर्म** : बच्चे को खेल-खिलाकर या गोद में लेकर आहार प्राप्त करना।
2. **दूती कर्म** : गृहस्थ का संदेश एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचा कर आहार लेना।
3. **निमित्त** : गृहस्थ को शुभ, अशुभ, भूत-भविष्य बताकर आहार लेना।
4. **आजीव** : अपनी जाति कुल की विशेषता बताकर आहार लेना।
5. **वनीपक** : गृहस्थ जिसका भक्त हो, उसकी प्रशंसा करके या दीनता दिखाकर आहार लेना।
6. **चिकित्सा** : औषधि बताकर या वैद्यगिरि करके आहार लेना।
7. **क्रोध** : तप का प्रभाव या शाप का भय दिखाकर क्रोधित होकर आहार लेना।
8. **मान** : स्वयं को तेजस्वी, प्रतापी बताकर आहार लेना।
9. **माया** : कपट करके या विभिन्न वेशभूषा पहनकर आहार लेना।
10. **लोभ** : आहार लोलुप बनकर भटकते हुए आहार लेना।
11. **पूर्व पश्चात् संस्तव** : आहार करने से पूर्व या पश्चात् देने वाले की प्रशंसा करना।
12. **विद्या** : स्त्री रुप देवता से अधिष्ठित जपादि से सिद्ध होने वाली अक्षरों की रचना विशेष को विद्या कहते हैं, ऐसी विद्या का प्रयोग करके आहार लेना।
13. **मन्त्र** : पुरुष रुप देवता से अधिष्ठित ऐसी अक्षर रचना जो पाठ मात्र से सिद्ध हो जाये, उसे मन्त्र कहते हैं। ऐसे मन्त्र के प्रयोग से आहार लेना।
14. **चूर्ण** : अदृश्य करने वाले सुरमें (अंजन) आदि का प्रयोग करके आहार लेना।
15. **योग** : सिद्धियाँ बताकर आहार लेना।
16. **मूल कर्म** : गर्भ-स्तम्भ, गर्भाधान, गर्भपात आदि के लिए औषधि देकर आहार लेना।

3. **ग्रहण एषणा के दस दोष**[57] : साधु व गृहस्थ दोनों के द्वारा लगने वाले भोजन के दोष 10 प्रकार के हैं -

1. **शंकित** : विशेष साधु के निमित्त बने होने की शंका होने पर भी भोजन

को ग्रहण करना।

2. **भक्षित** : सचित्त पानी, पृथ्वी, वनस्पति से बने भोजन को लेना।
3. **निक्षिप्त** : पृथ्वी, पानी, तेजवायु, वनस्पति या जीवों पर रखा भोजन लेना।
4. **पिहित** : जो आहार सचित्त फलों से ढका हो।
5. **साहरीय** : जिस पात्र में अकल्पनीय वस्तु पड़ी हो, उसमें से आहार लेना।
6. **दायक** : बालक, अन्धा व गर्भवती से आहार लेना।
7. **उन्मिश्र** : अचित के साथ सचित मिला आहार लेना।
8. **अपरिणत** : जो आहार पूरा पका न हो।
9. **लिप्त** : अकल्पनीय या गर्हित वस्तु से भरे हुए हाथों से दिया आहार।
10. **छर्दित** : घी टपकता हुआ या गिरता हुआ भोजन लेना।

परिभोगेषणा : भोजन करते समय पूरा-पूरा विवेक रखना परिभोगेषणा है। इसके पाँच दोष हैं -

1. **अंगार दोष** : आहार को आसक्ति के साथ खाना।
2. **धूम दोष** : अमनोज्ञ आहार की प्राप्ति पर देने वाले की निन्दा या क्रोध करना।
3. **संयोजना दोष** : स्वाद वृद्धि के लिए वस्तुएँ मिलाकर खाना।
4. **प्रमाणातिरेक** : भूख से अधिक मात्रा में खाना। 32 कौर से अधिक आहार करना दोष है। आठ कौर का आहार करना अल्पाहार है। 12 कौर का आहार अपार्ध उनोदरी है। 16 कौर का आहार अर्ध उनोदरी है। 24 कौर का आहार उनोदरी (भूख से कम खाना) है। कौर का आहार निम्बू जितना कहा गया है।[58]
5. **पानैषणा** : साधु को सामान्य कच्चा पानी पीना वर्जित है। जैन साधु को उबालकर ठण्डा किया हुआ पानी अर्थात् जीवों से रहित पानी लेना चाहिये। साधु उचित (निर्दोष) पानी को विधि पूर्वक ग्रहण करते हैं। साधु के लिए 21 प्रकार का पानी कल्पनीय बताया है -

1. उत्पेदिक : आटे से लिप्त बर्तन का धोवन पानी।
2. संसकेमि - उबली हुई सब्जी को शीतल जल से धोए जाने पर तैयार हुआ जल।
3. चावलों का धोवन।
4. तिल का धोवन।
5. तुष का धोवन।
6. *जौ का धोवन।*
7. उबले चावलों का पानी-ओसामन।

8. कांजी के बर्तनों को धोया पानी या छाछ के ऊपर का पानी।
9. इमली का पानी।
10. आम का पानी।
11. अम्बाडक का पानी।
12. बिजौरे का पानी।
13. दाख का पानी।
14. कबीट का पानी।
15. अनारों का पानी।
16. खजूर का पानी।
17. नारियल का पानी।
18. कैर का धोया पानी।
19. बेर का धोवन।
20. आँवले का धोवन।
21. गरम पानी तथा अन्य इसी प्रकार का पानी व गुड़ के घड़े को धोया पानी ग्रहण करने योग्य बताया गया है।[1]

वस्त्रैषणा : वस्त्रैषणा के अन्तर्गत साधु को ध्यान रखना होता है, कि वह कैसा वस्त्र धारण व ग्रहण कर सकता है। साधु 1. ऊन का, 2. रेशम का, 3. सन् का, 4. ताड़पत्र का बना, 5. कपास का बना वस्त्र पहन सकता है। केवल श्वेत वस्त्र ही पहन सकता है। साधु को सुन्दरता के लिए न वस्त्र को धोना चाहिये न रंगना चाहिये। जीवों की उत्पत्ति को रोकने के लिए वस्त्रों को धोना चाहिये व प्रासुक व निर्दोष (जीव रहित) भूमि पर सुखाना चाहिये। साधु के लिए कम से कम वस्त्र रखने का विधान है। जो साधु बलिष्ट हों, उन्हें एक ही वस्त्र रखना चाहिये। शारीरिक स्थिति के अनुसार अधिक भी रख सकते हैं।

साध्वियों के लिए चार वस्त्रों का विधान है। साधु को 72 हाथ वस्त्र व साध्वी को 96 हाथ वस्त्र रखने का नियम है। दिगम्बर साधु वस्त्र नहीं रखते, साध्वियाँ रखती हैं।[2]

पात्रैषणा : साधु को तीन प्रकार के पात्र रखने की अनुमति है - 1. तुम्बे का पात्र, 2. काष्ट का पात्र, 3. मिट्टी का पात्र।[3]

शय्यैषणा : जैन साधु बिहारी (चलने वाला) होता है। चौमासे के चार महीने के अतिरिक्त वह एक स्थान पर अधिक समय नहीं ठहरते हैं। साधु को कैसे स्थान में ठहरना चाहिये। किस प्रकार आज्ञा लेनी चाहिये आदि नियम शय्यैषणा में आते हैं।

आचारांग सूत्र में उल्लेख है, कि धर्मशाला, लुहार की कर्मशाला, देवकुल, सभाएँ, प्याऊ, दुकान, गोदाम, पान शालाएँ, चूना बनाने का स्थान, कारखाने, श्मशान

भूमि में बने मकान, शून्यगृह, पहाड़, गुफा आदि स्थान जहाँ गृहस्थ नहीं रहते हों, वहाँ साधु ठहर सकता है। साधु के निमित्त बनाए मकान में उसे नहीं ठहरना चाहिये।

अन्य एषणीय वस्तुएँ : साधु जीवन में आहार, पानी और स्थान के अतिरिक्त अन्य वस्तएँ भी उपयोगी होती है, जो मुख्यतः निम्नलिखित हैं :

1. रजोहरण : स्थान साफ करने का साधन है।
2. मुख-वस्त्रिका : बीस अंगुल लम्बे और सोलह अंगुल चौड़े वस्त्र को आठ पुट करके मुँह पर लगाया जाता है। इससे वाणी के पुद्गलों द्वारा तथा उष्ण वायु से होने वाली वायुकाय की हिंसा का बचाव होता है।
3. चोल पट्टक
4. आहारादि के लिए पात्र
5. वस्त्र
6. कम्बल
7. आसन
8. पाद पोंछना
9. शय्या (स्थान)
10. संथारा (बिछाने का गर्म कपड़ा)
11. पीठ बाजौट
12. फलक बड़ा सोने के काम आने वाला पाट।
13. पात्र बंध
14. पात्र के नीचे बिछाने का वस्त्र
15. पात्र केसरिका (प्रमार्जनी)
16. पटल-पात्र ढ़कने वाला वस्त्र
17. गोरछक - पात्र साफ करने का वस्त्र
18. रजास्त्राण [पात्र लपेटने वाला वस्त्र]
19. दंड - वृद्धावस्था या आसक्ति में सहारे हेतु।
20. लघुनीति परठने का पात्र शौचादि के प्रयोग का पात्र

जो साधु जितनी कम सामग्री अपने साथ रखता है, वह उतना ही निर्मल चरित्र वाला साधु माना जाता है।[63]

4. आदान-निक्षेप समिति : आदान निक्षेप समिति के अन्तर्गत ओघ उपधि और औपग्रहिक उपधि, इन दोनों प्रकार की उपधि तथा भंडोपकरण को ग्रहण करता हुआ और रखता हुआ, मुनि इस विधि का प्रयोग करे। समितिवन्त साधु सदैव, यतनापूर्वक, आँखों से देखकर और प्रमार्जन करके, दोनों प्रकार की उपधि को ग्रहण करे, तथा रखे।[64] जो सदैव रखी जाती है, वह ओघ उपधि कहलाती है। जैसे

रजोहरण, वस्त्र-पात्र आदि। जो संयम रक्षार्थ थोड़े समय के लिए ग्रहण की जाती है, वह 'औपग्रहिक' उपधि कहलाती है। यथा-पाट-पाटला, शय्या आदि।

किसी सूक्ष्म या स्थूल जीव की हिंसा न हो, इसलिए इसमें वस्तुओं की प्रतिलेखना के 25 प्रकार बताए गए हैं, कि किस प्रकार वस्त्रों की सब तहों को खोलकर देखना चाहिये कि, जीव तो पैदा नहीं हो गए। जो वस्तुएँ कम काम में आती हैं, उनकी प्रतिलेखना करना अधिक आवश्यक होता है।

आदान-निक्षेप समिति के चार भेद हैं :

1. **द्रव्य से** : वस्तुओं को यतनापूर्वक ग्रहण करें और ध्यान पूर्वक रखें।
2. **क्षेत्र से** : अपनी वस्तुओं को गृहस्थ के घर रखकर विहार न करें।
3. **काल से** : प्रातःकाल और सांयकाल दोनों समय वस्त्र-पात्रादि की प्रतिलेखना करें व मन को उसी में लगावें।
4. **भाव से** : उपकरणों पर ममत्व न रखते हुए उपयोग पूर्वक ग्रहण करें और रखें।

5. **परिस्थापनिका समिति** : त्यागने योग्य मल-मूत्र, खंखरा, नाक का मैल, शरीर का मैल, न खाने योग्य आहार, जीर्ण वस्त्रादि उपधि, मृत शरीर अथवा इसी प्रकार की अन्य कोई वस्तु जो परठने योग्य हो, इन सबको यतनापूर्वक दस विशेषणों वालेस्थण्डिल में परठे, इसे ही परिस्थापनिका समिति कहते हैं।[6]

परिषह-जय : श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं, कि हे आयुष्मन् जम्बू! काश्यप गोत्रीय, श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने बाईस परीषह कहे हैं, जिन्हें सुनकर उनके स्वरूप को जानकर, परिचित होकर और जीतकर, साधु भिक्षाचर्या में जाते हुए, उन परीषहों के उपस्थित होने पर, संयम से विचलित न होवे।[7]

कर्म बन्धन के क्षय के लिए जो जो स्थिति समभावपूर्वक सहन करने योग्य हैं, उसे परिषह कहते हैं। परिषह साधु की कसौटी है। इनको सहन करके जो मोक्षमार्ग से चलायमान नहीं होता, वह अपने कर्मों की निर्जरा करता हुआ, अपना कल्याण करता है। ये परिषह निम्नलिखित हैं :-

1. **दिगिंछा (क्षुधा) परीषह** : भूख से शरीर के पीड़ित होने पर भी, संयम बल वाले, तपस्वी साधु फलादि का स्वयं छेदन नहीं करे, दूसरों से छेदन नहीं करवावे, अन्न आदि स्वयं न पकावे, दूसरों से न पकवावे।[8] क्षुधा परीषह से शरीर अत्यंत कृश एवं दुर्बल हो जाए, तो भी, आहार-पानी की मर्यादा को जानने वाला साधु, मन में दीनता का भाव न लाता हुआ दृढ़ता के साथ संयम मार्ग में विचरे, नवकोटि से विशुद्ध आहार ही ग्रहण करे।
2. **पिपासा परीषह** : पिपासा अर्थात् प्यास सहन करना। प्यास से पीड़ित

होने पर भी अनाचार विरत संयमी साधु कदापि सचित जल का सेवन न करे, अपितु अग्नि आदि के संयोग से प्रासुक बने हुए पानी की एषणा के लिए विचरे।[68]

3. **शीत परीषह** : शीतकाल में ठंड लगे तो शीत एवं वायु से बचाने वाले मकान आदि मेरे पास नहीं हैं और न मेरे पास शरीर की रक्षा करने वाले वस्त्र-कम्बल आदि हैं, इसलिए मैं तो अग्नि का सेवन कर लूँ, इस प्रकार साधु सेवन करना तो दूर विचार भी न करे।[69] शीत से बचने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर भी न जावे।
4. **उष्ण परीषह** : आगमोक्त मर्यादा का अनुसरण करने वाला साधु उष्ण स्पर्श या गर्मी से अत्यन्त पीड़ित होने पर भी स्नान की अभिलाषा न करे, शरीर को जल से न भिगोवे और अपने शरीर पर पंखे आदि से हवा नहीं करे।[70]
5. **दंशमशक परीषह** : महामुनि दंशमशक परिषह से पीड़ित होते हुए भी क्रोधित न हो। मांस और रक्त को चूसते हुए डाँस-मच्छर आदि जीवों को मारे नहीं और न ही उन्हें कष्ट पहुँचावे तथा उन्हें रोक कर अन्तराय भी न करे और मन से भी उन पर द्वेष न करे, अपितु समभाव रखें।[71]
6. **अचेल परीषह** : साधु को वस्त्रों के प्रति मोह नहीं होना चाहिये। वस्त्रों के जीर्ण हो जाने पर मैं वस्त्र रहित हो जाऊँगा, इस प्रकार अथवा वस्त्र सहित हो जाऊँगा, साधु इस प्रकार विचार न करे।[72]
7. **अरति परीषह** : ग्रामानुग्राम विहार करते हुए गृहत्यागी, परिग्रह रहित साधु के मन में यदि कभी अरति (संयम में अरुचि) उत्पन्न हो तो, उस अरति परीषह को सहन करे तथा संयम में अरुचि नहीं लावे।[73]
8. **स्त्री परीषह** : इस संसार में जो स्त्रियाँ हैं, वे पुरुषों के लिए संग रूप आसक्ति का कारण हैं। इन स्त्रियों को जिस साधु ने ज्ञपरिज्ञा से त्याज्य समझकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से छोड़ दिया है, उस साधु का साधुत्व सफल है।[74]
9. **चर्या परीषह** : साधु गृहस्थियों की नेश्राय रहित होकर अप्रतिबद्ध विहार करे। परिग्रह अर्थात् किसी भी स्थान में ममत्व भाव कतई नहीं रखे, गृहस्थों से सम्बन्ध न रखता हुआ घर रहित होकर विहार करता रहे।[75]
10. **नैषेधिकी परीषह** : पाप कर्मों की एवं गमनादि क्रिया की निवृत्ति रूप निषेध जिसका प्रयोजन हो वह नैषेधिकी है। स्वाध्याय अथवा कायोत्सर्ग के लिए श्मशान या एकाकी स्थान में रहे हुए मुनि को भयंकर उपसर्ग आने पर भी भयभीत नहीं होना चाहिये और न ही उद्विग्न होकर दूसरे

स्थान पर जाना चाहिये तथा न अपने अंगों को विकृत करके दूसरों को भयभीत करना चाहिये।[8]

11. **शय्या परीषह** : शीत-तपादि के परीषह को सहन करने में समर्थ तपस्वी साधु को यदि स्त्री, पशु आदि से रहित स्थान, ऊँची-नीची (अनुकूल-प्रतिकूल) शय्या मिले तो हर्ष विषाद न करता हुआ संयम धर्म की मर्यादा का उल्लंघन न करे, क्योंकि यह अच्छा है, यह बुरा है, इस प्रकार पाप दृष्टि रखने वाला साधु, संयम की मर्यादा का उल्लंघन कर शिथिलाचारी हो जाता है।[9]
12. **आक्रोश** : कोई व्यक्ति साधु को गाली देवे, बुरे वचन कह कर उसका अपमान करे, तो उस पर क्रोध नहीं करे, क्योंकि ऐसा करने से वह अज्ञानियों सरीखा हो जाता है, इसलिए साधु क्रोध न करे।[10]
13. **वध परीषह** : यदि कोई दुष्ट अनार्य पुरुष साधु को मारे, तो साधु उस पर क्रोध न करे। मन से भी उस पर द्वेष न लावे, 'क्षमा उत्कृष्ट धर्म है।' ऐसा जानकर, साधु क्षमा, मार्दव आदि दस विध यति धर्म का विचार करके पालन करे।[11]
14. **याचना परीषह** : भिक्षा से निर्वाह करने वाले साधु का जीवन निश्चय ही बड़ा कठिन है, क्योंकि उसे सभी आहार-उपकरण आदि वस्तु सदा माँगने पर ही मिलती है, बिना माँगे कोई भी वस्तु नहीं मिलती है। साधु इस प्रकार विचार भी न करे, कि भिक्षा माँगने से तो गृहस्थ जीवन ही अच्छा है।[12]
15. **अलाभ परीषह** : साधु को भोजन तैयार हो जाने पर ही गृहस्थों के यहाँ आहार की गवेषणा के लिए निकलना चाहिये। आहार मिले अथवा न मिले या अल्प मिले तो उसे खेद नहीं करना चाहिये।[13] मुझे आज आहार नहीं मिला तो कल मिल जाएगा, जो साधु आहार प्राप्त न होने पर इस प्रकार विचार करे, दीनभाव नहीं लाता, उसे अलाभ परीषह नहीं सताता है।
16. **रोग परीषह** : यदि साधु श्वास, कास आदि सोलह प्रकार के रोगों में से किसी प्रकार की वेदना से पीड़ित हो, वह उसे स्वकृत कर्म का फल जानकर दीनता रहित होकर अपनी बुद्धि को स्थित करे और रोग से पीड़ित होने पर समभाव पूर्वक उसे सहन करे।[14] किसी प्रकार की सावद्य चिकित्सा न करे, न करावे।
17. **तृण-स्पर्श परीषह** : तपस्वी मुनि को तृणों पर सोते हुए शरीर में पीड़ा होती है। अत्यन्त धूप पड़ने से और तृणों के स्पर्श से अत्यधिक वेदना

होती हैं, उस समय साधु को इस प्रकार विचार करना चाहिये, कि इस आत्मा ने नरकादि दुर्गतियों में जो वेदना सही है, उसके सामने यह तृण जन्य वेदना तो कुछ नहीं है। अतः पीड़ा को समभाव से सहना चाहिये। दर्भादिजन्य घाव वाले जिनकल्पी मुनि वस्त्र-कम्बल आदि का सेवन नहीं करते।[33]

18. **मैल परीषह** : स्नान परित्याग रूप मर्यादा में रहने वाले मुनि ग्रीष्म ऋतु में अथवा अन्य ऋतु में परिताप से होने वाले पसीने से अथवा मैल से या रज से शरीर लिप्त हो जाये तो भी सुख के लिए दीनता नहीं दिखावे।[34] जीवन पर्यंत स्नान का त्याग करके मैल परीषह को सहन करे।
19. **सत्कार-पुरस्कार परीषह** : जो साधु स्वतीर्थी या अन्यतीर्थी राजा आदि द्वारा किये गये नमस्कार, सत्कार, सम्मान तथा भिक्षा के लिए निमंत्रण आदि का सेवन करते हैं, उनकी साधु चाहना नहीं करे और उनकी प्रशंसा भी नहीं करे। दूसरों का सत्कार, सम्मानादि उत्कर्ष देख कर ईर्ष्यालु भी नहीं बने।[35]
20. **प्रज्ञा परीषह** : साधु को ज्ञान का अभिमान नहीं करना चाहिये। ज्ञान का अभिमान करने से किये हुए अज्ञान फल देने वाले कर्म उदय में आवेंगे, इस प्रकार कर्म-विपाक को जानकर अपनी आत्मा को आश्वासन देना चाहिये और समभाव पूर्वक प्रज्ञा परीषह को सहन करना चाहिये।[36]
21. **अज्ञान परीषह** : साधु को अवधि आदि प्रत्यक्ष ज्ञानों की प्राप्ति न होने पर भी अपने मुनि धर्म अंगीकार करने पर आत्म ग्लानि नहीं होनी चाहिये, कि जो मैं अभी तक साक्षात् स्पष्ट रूप से कल्याणकारी, धर्म के स्वरूप को और पाप के स्वरूप को भी नहीं जान सका हूँ, तो फिर मेरा मैथुन आदि से निवृत्त होना और सम्यक् प्रकार से आश्रवों का निरोध करना व्यर्थ ही है। इस प्रकार साधु कभी विचार नहीं करे, अपितु ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करने का प्रयत्न करे।[37]
22. **दर्शन परीषह** : साधु को सर्वज्ञ जिनदेव के द्वारा कहे गए वचनों को पूर्ण श्रद्धा से मानना चाहिये, उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। रागद्वेष को जीतने वाले सर्वज्ञ जिनदेव भूतकाल में हुए हैं, वर्तमान काल में महा विदेह क्षेत्र में सर्वज्ञ जिनदेव हैं तथा भविष्य में होंगे, इस प्रकार उन सर्वज्ञ जिनदेवों का अस्तित्व बताने वाले लोगों ने झूठ कहा है अथवा भूत-भविष्यत्-वर्तमान काल के जिन देवों ने स्वर्ग आदि परलोक बताया है, वह झूठ कहा है -इस प्रकार साधु विचार नहीं करे और पूर्ण श्रद्धा से विपरीत परस्थितियों में भी धर्म में दृढ़ रहे। यही दर्शन परीषह है।[38]

इन बाईस परीषहों में से कोई भी परीषह उपस्थित होने पर साधु उनको दृढ़तापूर्वक सहन करे, यही साधु की आदर्श आचार संहिता है।

4. समाचारी : श्रमण संघ के लिए दस प्रकार की समाचारी का विधान है। समाचारी के अन्तर्गत साधु के आचार को सात्विक व संयमित बनाने के लिए निर्देश होते हैं। मुख्य रूप से गुरु के प्रति शिष्यों के शिष्टाचार एवं आदर को समाचारी में निर्देपित किया गया है।

1. **आवश्यकी** : मुनि उपाश्रय से बाहर जाते समय गुरु से आज्ञा लेकर जाए, कि आवश्यक कार्य के लिए जा रहा हूँ। यह आवश्यकी है।
2. **नैषेधिकी** : कार्य से निवृत्त होकर आने पर गुरु से कहे, कि मैं निवृत्त हो चुका हूँ। यह नैषेधिकी है।
3. **आपृच्छा** : अपना कार्य करने की अनुमति लेना।
4. **प्रतिपृच्छा** : दूसरों का कार्य करने की अनुमति लेना, प्रतिपृच्छा है।
5. **छन्दना** : भिक्षा में लाए आहार के लिए साधर्मिक साधुओं को आमंत्रित करना छंदना है।
6. **इच्छाकार** : कार्य करने की इच्छा जताना, जैसे-आप कहें, तो मैं आपका कार्य करूँ? इसे इच्छाकार कहते हैं।
7. **मिथ्याकार** : भूल हो जाने पर स्वयं की आलोचना करना मिथ्याकार है।
8. **तथाकार** : आचार्य के आदेश को ज्यों का त्यों स्वीकार करना तथाकार है।
9. **अभ्युत्थान** : आचार्य यदि गुरुजनों के आने पर खड़े होना सम्मान करना, अभ्युत्थान है।
10. **उपसम्पदा** : ज्ञान आदि की प्राप्ति के लिए गुरु के समीप विनीत भाव से रहना अथवा दूसरे साधु गणों में जाना उपसम्पदा है।

यह दशविध समाचारी शिष्य का गुरु के प्रति कर्तव्य या आचार है।[50]

5. दिनचर्या : आगमों में साधु की दिनचर्या को मोटे तौर पर चार भागों में विभक्त किया है- दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करे, दूसरे में ध्यान, तीसरे में भिक्षाचर्या और चौथे में फिर स्वाध्याय करे।

इसी प्रकार रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करे दूसरे में ध्यान, तीसरे में नींद ले और चौथे में फिर स्वाध्याय करे।[51]

अपर रात्रि में उठकर आत्मालोचना व धर्म जागरिका करना - यह चर्या का पहला अंग है। स्वाध्याय, ध्यान आदि के पश्चात् आवश्यक कर्म करना।

आवश्यक : अवश्य करणीय कर्म छह हैं -

1. **सामायिक** : समभाव का अभ्यास, उसकी प्रतिज्ञा का पुनरावर्तन।

2. **चतुर्विंशतव** : चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति।
3. **वन्दना** : आचार्य की दशवर्त-वन्दना।
4. **प्रतिक्रमण** : कृत दोषों की आलोचना।
5. **कायोत्सर्ग** : काया का स्थरीकरण-स्थिर चिन्तन।
6. **प्रत्याख्यान** : त्याग करना।[42]

इन आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर सूर्योदय होते-होते मुनि भाण्ड-उपकरणों का प्रतिलेखन करे, उन्हें देखे। उसके पश्चात् हाथ-जोड़कर गुरु से पूछे-मैं क्या करूँ? आप मुझे आज्ञा दें। तब आचार्य यदि सेवा में लगाए तो अग्लान भाव से सेवा करे और यदि स्वाध्याय में लगाए तो स्वाध्याय करे। दिनचर्या के प्रमुख अंग हैं-स्वाध्याय और ध्यान। यह मुनि की जागरूकता पूर्ण जीवन चर्या है।

6. पाँच चारित्र - आत्मा का शुद्धावस्था में स्थिर रहना संयम या चारित्र है; परिणामों की विशुद्धि के तारतम्य (न्यूनाधिकता) की अपेक्षा से संयम के 5 भेद हैं।[43]

1. **सामायिक** : समभाव में स्थिर रहने के लिए समस्त सावद्य (सदोष) प्रवृत्तियों का त्याग करना सामायिक है।
2. **छेदोपस्थापना** : प्रथम छोटी दीक्षा लेने के बाद विशिष्ट श्रुत का अभ्यास कर चुकने पर विशेष शुद्धि के निमित्त जो जीवन पर्यंत के लिए पुनः दीक्षा ली जाती है अथवा दीक्षा में दोष उत्पन्न हो जाने पर उसका छेद कर फिर नवीन रूप में जो दीक्षा का आरोपण किया जाता है, वह छेदोपस्थापना है।
3. **परिहार विशुद्धि** : जिसमें विशिष्ट प्रकार के तप प्रधान आचार का पालन किया जाता है, वह परिहार विशुद्धि है।
4. **सूक्ष्म-सम्पराय** : जिसमें क्रोधादि कषायों का उदय तो नहीं होता, केवल लोभ का अंश अति सूक्ष्म रूप में रहता है, वह सूक्ष्म सम्पराय है।
5. **यथाख्यात** : जिसमें किसी भी कषाय का उदय बिल्कुल नहीं रहता, वह यथाख्यात अर्थात् वीतराग संयम है।

7. तप : वासनाओं को क्षीण करने तथा समुचित आध्यात्मिक बल की साधना के लिए शरीर, इन्द्रियों और मन को जिन-जिन उपायों से तपाया जाता है, वे सभी तप हैं। तप दो प्रकार के होते हैं - 1. बाह्य तप तथा 2. आभ्यान्तर तप।[44]

1. बाह्य तप : जिस तप के द्वारा शरीर एवं इन्द्रियों को नियंत्रित करने का प्रयास किया जाता है, उसे बाह्य तप कहते हैं। ये बाह्य तप छः प्रकार के होते हैं[45] -

1. **अनशन** : मर्यादित समय तक या जीवन के अन्त तक सब प्रकार के भोजन-पान का त्याग करना अनशन है।
2. **उनोदरी** : अपनी भूख से कम खाना उनोदरी तप है।
3. **वृत्ति-संक्षेप** : विविध भोज्य पदार्थों के सेवन के लोभ को कम करना

अर्थात् सीमित प्रकार की भोज्य सामग्री का उपभोग करना ही वृत्ति संक्षेप है।

4. **रस परित्याग** : तेल, घी, दूध, दही, मीठा आदि पाँच पदार्थों को विगय अथवा रस कहा गया है। अतः इन विगय रसों का सेवन न करना ही रस परित्याग है।
5. **काय क्लेश** : धर्म साधना के विविध आसन आदि के द्वारा समभाव पूर्वक शारीरिक कष्ट सहन करना कायक्लेश है। कायक्लेश के सात भेद हैं।

1. **स्थानायतिक** : शरीर भूमि पर पूर्ण रूप से फैला देना।
2. **उत्कटुकासनिक** : उकडू बैठना।
3. **प्रतिमा स्थायी** : प्रतिमा (मूर्ति) की तरह निश्चल रहना।
4. **वीरासनिक** : सिंहासन पर बैठे हुए के समान आसन लगाना।
5. **नैषेधिक** : पैरों को बराबर करके रखना।
6. **दंडायतिक** : दंड की तरह देह को फैलाना।
7. **लगण्डशायी** : इस प्रकार सोना कि पीठ पृथ्वी को न छुए।

6. **प्रतिसंलीनता** : विषयों व कषायों से आत्मा को बचाने के लिए बाधा रहित एकान्त स्थान मे रहना प्रति संलीनता है।

2. **आभ्यन्तर तप** : जिन तपों में मानसिक क्रिया की प्रधानता होती है, मन के भावों को शुद्ध करने का प्रयास किया जाता है और जो मुख्य रूप से बाहरी द्रव्यों की अपेक्षा न रखने के कारण दूसरों को न दिख सके, वे आभ्यान्तर तप हैं। ये आभ्यान्तर तप भी छः प्रकार का होता है।[1]

1. **प्रायश्चित** : प्रायश्चित के द्वारा धारण किए हुए व्रतों में हुए प्रमाद जनित दोषों का शोधन किया जाता है। किए गए अपराधों को स्वीकार करके स्वयं में सुधार कर पुनः निर्मल चारित्र का पालन किया जाता है। अतः इसे भी तप कहा गया है। प्रायश्चित के दस भेद हैं - 1. आलोचना, 2. प्रतिक्रमण, 3. तदुभय, 4. विवेक, 5. व्युत्सर्ग, 6. तप, 7. छेद, 8. मूल, 9. अनवस्थित तथा 10. पाराञ्चित।[2]

गुरु के समक्ष शुद्ध भाव से अपने अपराध को प्रकट कर देना आलोचना है। किए गए अपराध के लिए दंड ग्रहण करके उससे निवृत्त होना तथा भविष्य में अपराध न हो ऐसी प्रतिज्ञा करना प्रतिक्रमण है। एक ही अपराध के लिए आलोचना तथा प्रतिक्रमण दोनों करना तदुभय है। भोजन करते समय अशुद्ध, अकल्पनीय, तीन प्रहर से अधिक रखा हुआ आहार मिले, तो उसे परठ देना या त्याग देना विवेक प्रायश्चित है। कायोत्सर्ग करना अर्थात् एकाग्रतापूर्वक शरीर और वचन के व्यापारों को छोड़ देना व्युत्सर्ग है। उपवास, आयंबिल अनशनादि बाह्य तप करना तप है। कारणवश

जानबूझकर कुछ समय के लिए संयम में अपवाद मार्ग का सेवन करने पर पाले हुए संयम में से कुछ दिन या महीनों को कम करना छेद प्रायश्चित है। जान बूझकर पंचमहाव्रतों में से किसी का खण्डन करने पर नवीन दीक्षा देना मूल प्रायश्चित है। क्रूरतापूर्वक अपने या दूसरे पर कठोर घातक प्रहार करने वाले को सम्प्रदाय से पृथक् रखकर घोर तप कराया जाए और फिर नवीन दीक्षा दी जाए, तो वह अनवस्थित प्रायश्चित कहलाता है। शास्त्र विरुद्ध प्ररुपणा करने वाले और साध्वी के व्रत को भंग करने वाले का वेष परिवर्तन कराकर छह मास से बारह वर्ष तक सम्प्रदाय से बाहर रखकर घोर तप करवाकर, गांव-गांव घुमाकर फिर नवीन दीक्षा देना, पाराञ्चित प्रायश्चित कहलाता है। अन्तिम दोनों प्रायश्चित इस काल में नहीं दिये जाते हैं। नियमसार में कहा है, कि व्रत, समिति, शील और संयम का जो परिणाम तथा इन्द्रियों के रोकने का जो भाव है, उसका नाम प्रायश्चित है।[97]

2. विनय : निश्चय से विनय समाधि चार प्रकार की होती है, जैसे कि - जिस गुरु से विद्या सीखी हो, उनको परमोपकारी जानकर, जब वे अनुशासित करते हों तब उनकी शिक्षा को सुनना, सदा सेवा-शुश्रुषा करना एवं उनकी आज्ञा सुनने की इच्छा रखना। गुरु की आज्ञा सुनकर भली प्रकार उसका अर्थ समझना, इसके बाद गुरु की आज्ञा का पूर्ण रूप से पालन करना एवं श्रुत ज्ञान की आराधना करना। अभिमान न करना एवं आत्म प्रशंसा न करना। अर्थात् गुरु आदि ज्येष्ठ मुनियों, वयोवृद्धों व गुणवृद्धों का यथोचित सत्कार सम्मान करना विनय तप कहलाता है।[98] विनयतप के सात भेद हैं 1. ज्ञान विनय, 2. दर्शन विनय, 3. चारित्र विनय, 4. मनोविनय, 5. वचन विनय, 6. काय विनय, 7. लोकव्यवहार विनय।[99]

नम्रतापूर्वक सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना, ज्ञान विनय है। तत्त्व की यथार्थ प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन से विचलित न होना दर्शन विनय है। सामायिकादि चारित्र में चित्त का समाधान रखना चारित्र विनय है। उपर्युक्त तीनों प्रकार के विनयों का मन-वचन-काय पूर्वक विनय करना क्रमशः मनोविनय, वचनविनय तथा कायविनय है। अपने से ज्ञान-दर्शन-चारित्र में आगे बढ़े हुए एवं गुरुजनों का आदर करना लोक व्यवहार विनय है।

3. वैयावृत्य : अपने आपको काम में लगाकर, सेव्य पुरुषों के लिए आहार, वस्त्र, पात्र, औषधोपचार आदि आवश्यक योग्य साधन जुटाना, पैर दबाना तथा यथायोग्य सेवा करना वैयावृत्य तप है। इसके 10 भेद हैं।[100]

1. आचार्य वैयावृत्य	2. उपाध्याय वैयावृत्य
3. स्थविर वैयावृत्य	4. तपस्वी वैयावृत्य
5. ग्लान (रोगी) वैयावृत्य	6. शैक्ष वैयावृत्य
7. कुल वैयावृत्य	8. गण वैयावृत्य
9. संघ वैयावृत्य	10. साधर्मिक वैयावृत्य

4. **स्वाध्याय** : ज्ञान प्राप्ति के लिए आगम आदि का विविध प्रकार से अध्ययन करना स्वाध्याय है। इसके पाँच भेद हैं - 1. वाचना, 2. पृच्छना, 3. परिवर्तना, 4. अनुप्रेक्षा, 5. धर्मकथा।[102]

1. **वाचना** : सूत्र या ग्रन्थ का अर्थ सहित पाठ करना वाचना है।
2. **पृच्छना** : शंका दूर करने के लिए अथवा विशेष निर्णय के लिए पूछना पृच्छना है।
3. **परिवर्तना** : पढ़े हुए पाठ की उच्चारण शुद्धि पूर्वक आवृत्ति करना परिवर्तना है।
4. **अनुप्रेक्षा** : आगम पाठ या उसके अर्थ पर विशेष चिंतन करना अनुप्रेक्षा है।
5. **धर्म कथा** : जानी हुई वस्तु का रहस्य समझना उदाहरण देकर व्याख्या करना या धर्मोपदेश देना धर्म कथा है।

5. **ध्यान** : एक विषय में अन्तःकरण की वृत्ति को टिकाना-स्थापित करना ध्यान है। इसके चार भेद हैं - 1. आर्त ध्यान, 2. रौद्र ध्यान, 3. धर्म ध्यान, 4. शुक्ल ध्यान।[103]

1. **आर्तध्यान** : दुःख से पीड़ित होने पर बराबर शोक, विलाप आदि करना, चिन्ताग्रस्त हो जाना आर्तध्यान है।
2. **रौद्र ध्यान** : हिंसादि पापों को क्रियान्वित करने का विचार, क्रोध करना रौद्रध्यान है।
3. **धर्म ध्यान** : धर्म के सम्बन्ध में विविध प्रकार से चिन्तन करना धर्म ध्यान है।
4. **शुक्ल ध्यान** : आठ प्रकार के कर्ममल से रहित आत्मा एवं आत्मा से सम्बन्धित ज्ञानादि गुणों, शक्तियों आदि का शुद्ध चिन्तन करना शुक्ल ध्यान है।

इन चारों में से प्रारम्भ के दो ध्यान संसार के कारण होने से हेय तथा अन्तिम दो मुक्ति के कारण होने से उपादेय हैं।

6. **उत्सर्ग** : बाह्य तथा आभ्यान्तर उपाधि (ग्रन्थि) का त्याग करना उत्सर्ग है। धन, धान्य, मकान, क्षेत्रादि वस्तुएँ बाह्य उपाधि है। तथा क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मनोविकार आभ्यान्तर उपाधि है।[104]

8. **वर्षावास** : वर्षाकाल में साधु की आचार संहिता का कल्पसूत्र में पृथक् से विवेचन किया गया है। जिस प्रकार भगवान् महावीर बीस रात्रि सहित एक मास व्यतीत होने पर अर्थात् आषाढ़ी चातुर्मासी से पचास दिन व्यतीत होने पर वर्षावास रहे।[105] उसी प्रकार से श्रमणों को वर्षावास में रहना कल्पता है। इस समय से पूर्व भी

वर्षावास रहना कल्पता है (उचित है), किन्तु पचासवीं रात्रि का उल्लंघन करना उचित नहीं है, उससे पूर्व ही वर्षावास कर लेना चाहिये।[127]

वर्षावास में रहे हुए निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों को सभी ओर से पाँच कोष तक अवग्रह को स्वीकार कर रहना कल्पता है। पानी से गीला हुआ हाथ जब तक न सूखे, तब तक भी अवग्रह में रहना उचित है और बहुत समय तक भी अवग्रह में रहना कल्पता है, लेकिन अवग्रह से बाहर रहना नहीं कल्पता है तथा उन्हें चारों ओर पाँच कोस तक भिक्षाचर्या के लिए जाना कल्पता है और पीछे लौटना कल्पता है।[128]

वर्षावास में रहे हुए निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियाँ, हृष्ट-पुष्ट एवं स्वस्थ हो, बलवान हों उनको इन नौ रस विकृतियों का बार-बार सेवन करना नहीं कल्पता - 1. क्षीर (दूध), 2. दही, 3. मक्खन, 4. घृत, 5. तेल, 6. गुड़, 7. मधु, 8. मद्य व 9. मांस।[129]

वर्षावास में रहे हुए निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थिनियों को उनके शरीर पर से पानी गिरता हो या उनका शरीर गिला हो तो अशन, पान, खादिम और स्वादिम को खाना नहीं कल्पता।

शरीर में सात भाग स्नेहायतन बताए गए हैं अर्थात् शरीर में सात भाग ऐसे हैं, जहाँ पर पानी टिक सकता है, जैसे 1. दोनों हाथ, 2. दोनो हाथों के रेखाएँ, 3. नाखून, 4. नाखून के अग्रभाग, 5. दोनों भौंहे, 6. नीचे का ओष्ठ अर्थात् दाढ़ी, 7. ऊपर का ओष्ठ अर्थात् मूँछें।

जब निर्ग्रंथ और निर्ग्रंथिनियों को ऐसा ज्ञात हो, कि अब मेरे शरीर में पानी का आर्द्रपन बिल्कुल नहीं है, तो उनको अशन, पान, खादिम और स्वादिम का आहार करना कल्पता है।

सभी छद्मस्थ निर्ग्रंथ या निर्ग्रंथिनी को सम्यक् प्रकार से पुनः-पुनः ये आठ सूक्ष्म जानने योग्य, देखने योग्य और सावधानीपूर्वक प्रतिलेखना करने योग्य हैं। ये आठ सूक्ष्म इस प्रकार हैं - 1. प्राण सूक्ष्म, 2. पनक सूक्ष्म, 3. बीज सूक्ष्म, 4. हरित सूक्ष्म, 5. पुष्प सूक्ष्म, 6. अण्ड सूक्ष्म, 7. लयन सूक्ष्म, 8. स्नेह सूक्ष्म।[130]

वर्षावास में रहे हुए भिक्षु को आहार-पानी के लिए जाना हो, किसी प्रकार की चिकित्सा करवानी हो, विहार भूमि या विचारभूमि की ओर जाना हो अथवा कोई तप करना अथवा अन्य कोई भी अपनी इच्छित क्रिया करनी हो, तो पहले गुरुजनों की आज्ञा प्राप्त करके ही, उन्हें कुछ भी करना कल्पता है अन्यथा नहीं।

वर्षावास में रहे हुए निर्ग्रन्थों एवं निर्ग्रन्थिनियों को सिर पर गाय के रोम जितने भी केश हों तो इस प्रकार पर्युषण के पश्चात् उस रात्रि को उल्लंघन करना नहीं कल्पता। अर्थात् पर्युषण से पहले ही केश लुंचन कर लेना चाहिये।[131]

हाथों से नोंच कर बालों को निकालना केश लोच है। सभी तीर्थंकर प्रव्रज्या

ग्रहण करते समय अपने हाथ से पंचमुष्ठि लोच करते हैं। यह परम्परा भगवान ऋषभदेव से चली आ रही है। लोच उग्रतप है, कष्ट सहिष्णुता की बड़ी भारी कसौटी है। लोच करने से निर्लेपता, पश्चात् कर्म वर्जन, पुरः कर्म वर्जना, कष्ट सहिष्णुता ये चार गुण प्राप्त होते हैं।[111]

लोच करने के कारण इस प्रकार बताए गये हैं -

1. केश होने से अपकाय के जीवों की हिंसा होती है।
2. भीगने से जुआं उत्पन्न होती हैं।
3. खुजलाता हुआ श्रमण उसका हनन कर देता है।
4. खुजलाने से सिर में नखक्षत हो जाते हैं।

उपर्युक्त कारणों को ध्यान में रखकर मुनि को अपने केशों को हाथों से लोच करना ही श्रेयस्कर कहा है।

वर्षावास में रहे हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनियों को पर्युषण के पश्चात्-अधिकरण युक्त कलह-विवादयुक्त वाणी बोलना नहीं कल्पता है। यदि ऐसा कटुक्लेश उत्पन्न हुआ हो तो परस्पर क्षमायाचना कर लेनी चाहिये। गुरुजन भी छोटे श्रमणों से क्षमायाचना कर लें। निश्चय से श्रमण धर्म का सार उपशम-क्षमा ही है।[112]

9. जिनकल्पी साधु की चर्या (मर्यादा) : जिनेन्द्रदेव ने मुनियों के जिनकल्प और स्थविरकल्प ऐसे दो भेद कहे हैं। जो उत्तम संहननधारी हैं, उनके जिनकल्प होता है।[113] वर्तमान कलियुग में जिनकल्पी साधु नहीं होते, क्योंकि पंचम आरे में उत्तम संहनन का अभाव होता है, हीन संहनन ही होता है। अतः वर्तमान में स्थविर कल्पी साधु ही होते हैं। स्थविर कल्प इस प्रकार बताया है, कि पाँच प्रकार के वस्त्रों का त्याग करना, अकिंचनवृत्ति धारण करना और प्रतिलेखन पिच्छिका ग्रहण करना।[114] इसके अतिरिक्त श्रमण के जो 28 गुण पूर्व में बताए गए हैं, वे सभी स्थविर कल्पी साधुओं में होने चाहिये।

जिनकल्पी साधुओं को ही एकल विहारी स्वीकार किया गया है। उनकी विशेषता बताते हुए कहा गया है, कि तप, सूत्र, सत्य, एकत्वभाव, उत्तम संहनन और धैर्य इन सबसे परिपूर्ण दीक्षा और आगम में बली मुनि ही एकल विहारी हो सकता है।[115] जिनकल्प को स्वीकार करने वाला श्रमण जिस ग्राम में मास कल्प करता है, वहाँ छह भागों की कल्पना करता है। जिस भाग में एक दिन में भिक्षा चर्या कर ली गई हो, वहाँ फिर यह सातवें दिन ही भिक्षाचर्या करता है। भिक्षाचर्या करना अथवा एक ग्राम से दूसरे ग्राम में जाना यह तृतीय पौरुषी में ही करता है। जहाँ चतुर्थ पौरुषी आ जाती है, वह वहीं ठहर जाता है, अन्यत्र नहीं जाता है। पूर्वोक्त दो एषणाओं के अभिग्रह से अलेपकृत लेपरहित जिसका लेप न लगे ऐसे भक्त-पान को ग्रहण करता है। एषणादि विषय के बिना किसी के भी साथ बात नहीं करते हैं। एक बस्ती में

अधिक से अधिक सात जिनकल्पी साधु रह सकते हैं, तो भी वे परस्पर संभाषण नहीं करते हैं। जो भी उपसर्ग या परिषह आ जाए, तो उसे सहन करते हैं। रोग में ये किसी भी प्रकार की चिकित्सा नहीं कराते हैं। वरन् जैसे भी हो सहन करते हैं।

जिनकल्पी साधु अपवाद मार्ग का सेवन नहीं करते हैं। दस प्रकार की समाचारी में से पाँच प्रकार की समाचारी इन जिन कल्पियों की है। वह इस प्रकार है - 1. आप्राच्छन्न, 2. मिथ्याकार, 3. आवश्यकी, 4. नैषेधिकी, 5. गृहस्थोपसंपदा - गृहस्थ की आज्ञा लेकर उतरना-बैठना।

जिनकल्पी साधुओं का श्रुतज्ञान जघन्य की अपेक्षा नवम पूर्व की तृतीय आचार वस्तु तक उत्कृष्ट की अपेक्षा भिन्न दशपूर्व तक ही सीमित रहा करता है, संपूर्ण नहीं।[117] इनका शारीरिक संहनन वज्र ऋषभ नाराच नामक है और मानसिक संहनन वज्र कुड्य-वज्र की दीवार के तुल्य धैर्य है अर्थात् इनका धैर्य वज्र भित्ति के समान अभेद्य होता है और वही इनका मानसिक बल है।[118]

क्षेत्र की अपेक्षा से इनकी स्थिति अनेक प्रकार की है। इनका 15 कर्मभूमियों में ही जन्म होता है। अतः इनकी स्थिति, जन्म एवं सद्भाव की अपेक्षा 15 कर्मभूमियों में ही मानी जाती है। काल की अपेक्षा-उत्सर्पिणी काल व अवसर्पिणी काल में जन्म की अपेक्षा से तृतीय व चतुर्थ आरे में ही उनकी स्थिति मानी गई है। चारित्र की अपेक्षा से जो प्रतिपद्यमान चारित्री है, उनको सामायिक एवं छेदोपस्थापनीय चारित्र में स्थित मानना चाहिये, क्योंकि जो मध्यम तीर्थंकर एवं विदेह क्षेत्र में रहे हुए तीर्थंकर के तीर्थ में रहने वाले हैं, वे सामायिक चारित्र में एवं जो प्रथम एवं चरम तीर्थंकर के तीर्थवर्ती हैं, वे छेदोपस्थापनीय चारित्र में स्थित रहते हैं। जो प्रतिपन्न चारित्रि हैं, उनकी स्थिति उपशम श्रेणी में सूक्ष्मसंपराय एवं यथाख्यात चारित्र में होती है। तीर्थ की अपेक्षा जिनकल्पियों की स्थिति नियम से तीर्थ में ही होती है, तीर्थ के व्यवच्छिन्न होने पर नहीं।[119]

जिनकल्पियों का कल्प दस प्रकार का है - 1. आचेलक्य, 2. औद्देशिकी , 3. शय्यातर पिंडत्याग, 4. राजपिंडत्याग, 5. कृतिकर्म, 6. महाव्रत, 7. ज्येष्ठता, 8. प्रतिक्रमण, 9. मासकल्प, 10. पर्युषण कल्प।[120]

इन कल्पों में मध्यम तीर्थंकर के तीर्थवर्ती साधुओं के चार कल्प अवस्थित होते हैं, नियम से पालनीय होते हैं, वे चार ये होते हैं - 1. शय्यातर पिंडत्याग, 2. कृतिकर्म, 3. महाव्रत, 4. पुरुष ज्येष्ठता। शेष 6 कल्प उनके लिए अनवस्थित थे।

प्रथम तीर्थंकर एवं अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थ में रहने वाले जो साधु हैं, उनके लिए तो 10 प्रकार का कल्प अवस्थित ही है अर्थात् अवश्य पालने योग्य है।

आचेलक्य का तात्पर्य है, कि वस्त्रादि परिग्रह से रहित होना। जिनकल्पी साधु वस्त्रादि परिग्रह का पूर्ण त्याग करते हैं। स्थविर कल्पियों के लिए वस्त्रों को धारण

करने का उल्लेख आचारांग सूत्र व वृहत्कल्पसूत्र आदि आगमों में है।[11] प्रथम व अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थवर्ती साधुओं के तो प्रमाणोपेत तथा स्वल्पमूल्य वाले श्वेत वस्त्रों के परिधान करने का ही नियम है, जिसे भी वे केवल धर्मबुद्धि से ही ग्रहण करते हैं, मूर्च्छापरिणाम या आसक्ति भाव से नहीं, अतः वस्त्रों के सद्भाव में भी इनमें अचेलकता ही है। लेकिन मध्यम तीर्थंकरों के तीर्थवर्ती साधुओं के लिए अचेलकता अनवस्थित है। उन्हें लाल-पीले आदि रंगीन तथा महामूल्यवाले वस्त्रों के त्याग का कोई नियम नहीं है, क्योंकि वे ममता, आसक्ति से रहित ही होते हैं।

मुनियों के उद्देश्य से तैयार किए गए भोजन-पान आदि का त्याग करना औद्देशिकी है। जहाँ मुनिजन शय्यादि पिण्ड ग्रहण करें, ठहरें, वहाँ भोजन ग्रहण न करें, यह शय्यातर पिण्ड त्याग है। राजाओं के यहाँ अति स्वादिष्ट भोजन को ग्रहण न करें, यह राजपिण्ड त्याग है। छह आवश्यकों का पालन करना तथा गुरुजनों का विनय करना ही कृतिकर्म है। पाँच महाव्रतों का पालन करना ही महाव्रत है। मुनि, आचार्य आदि जो ज्ञान एवं चर्या में श्रेष्ठ हैं, वे आर्यिका आदि से भी तथा महाराजा, चक्रवर्ती आदि से भी हर प्रकार से ज्येष्ठगुण से युक्त होते हैं। सात प्रकार के प्रतिक्रमण करके आत्म भाव में रमण करना। प्रतिक्रमण द्वारा अपने द्वारा की गई गलतियों की आलोचना करके उनमें सुधार करना। प्रत्येक ऋतु में एक माह तक एक स्थान पर रहना मासकल्प है। पर्युषण कल्प, वर्षा ऋतु में चार माह तक एक ही स्थान पर रहना है।

इस प्रकार स्थितिकल्प के दश भेदों का जिनकल्पी साधु पालन करते हैं। जिस लिंग से जिनकल्पी साधु चारित्र धारण करते हैं, वह चार प्रकार का कहा गया है - नग्नत्व (अचेलकता), लोच, शरीर संस्कार हीनता और पिच्छिका।[12]

10. अनगारी संल्लेखना : प्राणान्तकारी उपसर्ग के आने पर, अन्न-पानी की प्राप्ति न हो ऐसा दुर्भिक्ष पड़ने पर, निरन्तर तपस्या करने से, अतिवृद्धावस्था के कारण अथवा किसी असाध्य रोग हो जाने से शरीर के अत्यन्त ही जीर्ण हो जाने पर जब प्राण बचने की कोई आशा न हो अथवा किसी निमित्त ज्ञान अथवा देव के द्वारा अपनी आयु का अन्तिम समय जानकर साधु को अनशन करके शरीर को कृश करने के साथ-साथ विषयों और कषायों को कृश करना संल्लेखना है।[13]

संल्लेखना ग्रहण के लिए किसी आचार्य या गुरु अथवा गीतार्थ बड़े साधु की अनुमति लेकर ही श्रमण सर्वप्रथम अपने समस्त साथी श्रमणों से, फिर संघ से व 84 लाख जीवयोनि से अपने पूर्वकृत अपराधों के लिए क्षमायाचना करता है। इसके बाद वह अशन, पान, खादिम तथा स्वादिम रूप चार प्रकार के आहार का जीवन पर्यंत त्याग कर देता है। संल्लेखना ग्रहण करने वाले साधु के लिए आवश्यक है, कि वह संल्लेखना के अतिचारों (दोषों) से दूर रहकर अपने व्रत का निर्दोष पालन करे।

संल्लेखना व्रत के पाँच अतिचार कहे गए हैं।[124]

1. **इहलोगासंसप्पओगे** : मैं मर कर किसी श्रेष्ठी आदि के रूप में जन्म लूँ या प्रचुर सुखभोग के साधन प्राप्त हों, ऐसी इच्छा करना।
2. **परलोगासंसप्पओगे** : मैं मरकर देवता आदि के रूप में जन्म लूँ। मुझे देवलोक के सुख मिले, इस प्रकार की फलाकांक्षा करना।
3. **जीवियासंसप्पओगे** : मेरी जिन्दगी बहुत लंबी चले, जिससे मैं लोगों से मिलने वाली प्रशंसा लूट लूँ या मेरे कुटुम्बी जनों को मालामाल करता जाऊँ, इस प्रकार अधिक जीने की आसक्ति करना।
4. **मरणासंसप्पओगे** : जल्दी मौत आ जाए तो इस दुःख से पिंड छूट जाए, इस प्रकार की मरणाकांक्षा करना।
5. **कामभोगासंसप्पओगे** : मैं मानवीय या दिव्य कामभोगों को पालूँ या भोग लूँ, ऐसी आकांक्षा करना।

संल्लेखना व्रती साधु पूर्वोक्त प्रकार से अशन, पान का, 18 पापस्थानों का, चारों कषायों का पूर्ण त्याग कर वैराग्यमय एवं आत्म जागरण में सावधान श्रमण स्थविर श्रमणों के निकट 11 अंगों का स्वाध्याय करता रहता है। आत्म ध्यान करते करते अन्त में शान्तिपूर्वक मृत्यु का आलिंगन कर लेता है।

यहाँ एक बात स्पष्ट करना चाहूँगी कि संल्लेखना आत्मघात नहीं है। आत्मघात व्यक्ति दुःखी निराश होकर रौद्रध्यान अथवा आर्तध्यान में करता है, वह अपना जीवन और मरण दोनों ही निन्दनीय बना देता है। जबकि संल्लेखना मरण धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यान में अवस्थित होकर साधक सहज, स्वाभविक रूप से आने वाली मृत्यु को आनन्दपूर्वक, शान्तिपूर्वक स्वीकार करता है, उसका स्वागत करता है। अन्त में साधक अपना जीवन और मृत्यु दोनों ही संल्लेखना मरण के द्वारा सफल, पूजनीय और अनुकरणीय बना देता है।

दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मान्यता - भेद -

जैन समुदाय मुख्य रूप से दो सम्प्रदायों में बंटा है- दिगम्बर सम्प्रदाय और श्वेताम्बर सम्प्रदाय। साहित्यिक भाषा में दिगम्बर का अर्थ है, वस्त्र जिसका आकाश है तथा श्वेताम्बर का अर्थ है, जिसका वस्त्र श्वेत है। इन सम्प्रदायों में जो भेद है वह तात्विक दृष्टि से नहीं है, बल्कि व्यावहारिक दृष्टि से अधिक है। दोनों सम्प्रदायों में धर्म और दर्शन के बारे में कोई मतभेद नहीं है। साधुओं के वस्त्रों, उनकी दिनचर्या, उनके भोजन ग्रहण करने के तरीकों, व्रतों, उपवासों, त्यौहारों में अन्तर है। प्रारम्भ में यह अन्तर केवल साधुओं तक ही सीमित था, लेकिन अब जैन समुदाय के सामाजिक जीवन में भी कुछ अन्तर प्रकट होने लगा है।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों के उपलब्ध साहित्य के आधार पर

यह पता चलता है, कि विक्रम की दूसरी शताब्दी में विशाल जैन संघ स्पष्ट रूप से दो भागों में विभाजित हो गया था। जिसका मूल कारण साधुओं का परिधान था। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही जैन धर्म के मूल सिद्धान्तों को एक रूप से स्वीकार करते हैं, फिर भी बहुत सी मूलभूत बातों में उनका सिद्धान्त मतभेद हैं।

दिगम्बर और श्वेताम्बर समुदायों में निम्न मुख्य बातों पर मतभेद हैं -

1. दिगम्बर सम्प्रदाय विश्वास करता है, कि एक साधु जो अपनी सम्पत्ति रखता है, वस्त्र पहनता है, वह मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है। लेकिन श्वेताम्बर सम्प्रदाय मानता है, कि मोक्ष या मुक्ति की प्राप्ति के लिए पूर्ण नग्नता आवश्यक नहीं है। (अचेलकता का प्रसंग)
2. दिगम्बर सम्प्रदाय स्त्री मुक्ति का निषेध करता है, फलस्वरूप 19वें तीर्थंकर मल्लिनाथ का स्त्री होना स्वीकार नहीं करता। दूसरी तरफ श्वेताम्बर सम्प्रदाय यह मानता है, कि स्त्री को अपने जीवन में निर्वाण या मुक्ति प्राप्त हो सकती है।
3. तीसरा अन्तर आहार का है, दिगम्बर लोग पूर्णतः साधु की आर्हत अवस्था होने के बाद उनको केवली भगवान कहते हैं। अर्हत् अवस्था में साधु में अनन्तदर्शन, अनन्त ज्ञान प्रकट होता है। यह अवस्था प्राप्त होने पर वह किसी प्रकार की इन्द्रियों का उपभोग नहीं करते, उनका ज्ञान केवलज्ञान कहलाता है। दिगम्बर लोग यह मानते हैं, कि केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद आहार की आवश्यकता नहीं होती, लेकिन श्वेताम्बर इस स्थिति के बाद भी आहार को आवश्यक मानते हैं।
4. दिगम्बर मानते हैं, कि महावीर का गर्भापहरण नहीं हुआ। वे यह नहीं मानते कि ब्राह्मण स्त्री देवानन्दा के गर्भ से निकाल कर क्षत्रिय स्त्री त्रिशला के गर्भ में महावीर के जीवन का आरोपण हुआ। लेकिन श्वेताम्बर इस तथ्य को मानते हैं।
5. दिगम्बर सम्प्रदाय मानता है, कि प्राचीन पवित्र जैन धर्म ग्रन्थ पूर्णतः समाप्त हो चुके हैं तथा श्वेताम्बर जैन विधान को अस्वीकर करता है। श्वेताम्बर 11 अंग स्वीकार करते हैं।
6. दिगम्बर मानते हैं, कि महावीर ने कभी विवाह नहीं किया था, लेकिन श्वेताम्बर कहते हैं, कि महावीर का विवाह यशोदा से हुआ था तथा उनकी एक पुत्री भी थी, जिसका नाम अन्नोजा या प्रियदर्शना था।
7. श्वेताम्बर मानते हैं, कि उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ स्त्री थे किंतु दिगम्बर उन्हें पुरुष मानते हैं।
8. दिगम्बर मानते हैं, कि तीर्थंकर नग्न, आभूषण रहित तथा आँखें नीचे किए

हुए होने चाहिये, जबकि श्वेताम्बर इसे आवश्यक नहीं मानते।

9. दिगम्बर साधु एक ही घर में भिक्षा ग्रहण कर लेते हैं, जबकि श्वेताम्बर साधु अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा ग्रहण करते हैं।
10. श्वेताम्बर मरुदेवी का हाथी पर चढ़े हुए ही मोक्षगामी होना मानते हैं, जबकि दिगम्बर इसे स्वीकार नहीं करते।
11. दिगम्बर दीक्षा के समय तीर्थंकर के कन्धे पर देवदूष्य वस्त्र का होना स्वीकार नहीं करते हैं, जबकि श्वेताम्बर ऐसा मानते हैं।
12. दिगम्बर नहीं मानते हैं, कि महावीर को तेजोलेश्या से उपसर्ग हुआ, जबकि श्वेताम्बर ऐसा मानते हैं।
13. दिगम्बर मुनि शूद्र के घर से आहार नहीं लेते, जबकि श्वेताम्बर के लिए ऐसा आवश्यक नहीं है।
14. दिगम्बर भरत चक्रवर्ती का अपने भवन में केवलज्ञान होना स्वीकार नहीं करते हैं, किंतु श्वेताम्बर करते है।
15. दिगम्बर शूद्र मुक्ति और गृहस्थ वेश में मुक्ति को नहीं मानते, जबकि श्वेताम्बर ऐसी कोई मान्यता नहीं रखते हैं।

इस प्रकार दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय में उपर्युक्त मूलभूत धार्मिक मान्यताओं में मतभेद है।[25] जैन दर्शन के बारे में दोनों सम्प्रदाय एक मत है। अनीश्वरवाद, आत्मवाद, कर्मवाद तथा निर्वाण ये जैन मत के प्रमुख सिद्धान्त हैं, जिनमें दोनों सम्प्रदाय पूर्ण रूप से विश्वास करते हैं।

जैन साधुओं की जीवनचर्या में दोनों सम्प्रदायों में महत्त्वपूर्ण अन्तर है। दिगम्बर साधु निर्वस्त्र अवस्था में रहते हैं, भोजन के लिए स्वयं श्रावक के घर जाकर भोजन ग्रहण करते हैं। खड़े-खड़े हाथों को पात्र बनाकर भोजन ग्रहण करते हैं, जमीन पर भोजन गिर जाने पर साधु आहार ग्रहण नहीं करते हैं। दिन में एक बार आहार ग्रहण करते हैं लेकिन श्वेताम्बर साधु श्वेत वस्त्र धारण करते हैं तथा भोजन श्रावक के घर से भिक्षा के रूप में लाकर अपने उपासरे में ग्रहण करते हैं। पात्रों का प्रयोग करते हैं। दोनों समय भी भोजन ग्रहण कर सकते हैं।

भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् साधुओं की स्मृति के आधार पर ग्यारह अंगों का संकलन करके उन्हें व्यवस्थित किया गया। इन आगमों को दिगम्बर सम्प्रदाय नहीं मानता।

2. सागार धर्म (श्रावक चर्या) : सागार धर्म में गृहस्थ के पालन करने योग्य नियमों का निर्देश दिया गया है। यह जीवन की सरल एवं छोटी पगडण्डी है। गृहस्थ जीवन में परिवार, समाज तथा राष्ट्र का उत्तरदायित्व का भी निर्वाह करना होता है। अतः व्यक्ति अखण्ड सत्य, अहिंसा रूप साधु धर्म का पालन करने में असमर्थ होने के

कारण उनका एक देश से पालन करते हुए उपासक धर्म को स्वीकार करता है। सागार चारित्र रूप गृहस्थ धर्म छोटा है, अणु है, किंतु वह हीन एवं निन्दनीय नहीं है, वरन् उसे भी मोक्षमार्ग कहा गया है। इस सागार धर्म का पालन करने वाले व्यक्ति को श्रावक कहते हैं। उसे गृहस्थ, उपासक, देशविरत आदि नामों से भी जाना जाता है। श्रद्धापूर्वक निर्ग्रन्थ प्रवचन श्रवण करने से श्रावक श्रमण की उपासना के कारण श्रमणोपासक एवं व्रतों का एकदेश से पालन करने के कारण अणुव्रती कहलाता है। श्रावक शब्द से निम्नलिखित लक्षण ध्वनित होते हैं -

श्रा - श्रद्धावान, व - विवेक, क - क्रिया।

अर्थात् श्रावक श्रद्धापूर्वक आंशिक रूप से सावद्य योगों का त्याग कर क्रियावान रहता हुआ विवेकपूर्वक जीवन यापन करता है। आत्म साधना में भी तत्पर रहता है।

12 गृही धर्म 11 प्रतिमा तथा अपश्चिम मारणान्तिक संल्लेखना, इस प्रकार कुल 24 प्रकार का श्रावक धर्म हैं।

गृही धर्म : इन व्रतों का पालन श्रावक गृह में रहकर ही करता है, अतः इन्हें गृही धर्म कहा है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार पाँच अणुव्रत मूल गुण रूप तथा सात शीलव्रत उत्तरगुण रूप हैं। इस प्रकार श्रावक के 12 धर्म ही कहे गए हैं। जबकि दिगम्बर परम्परा में श्रावकों के मूलगुण 8 और उत्तर गुण 12 माने जाते हैं। सर्वप्रथम इनका उल्लेख स्वामी समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में किया है। परवर्ती सभी दिगम्बराचार्यों ने इनका उल्लेख किया है।

सागार धर्मामृत में श्रावक की परिभाषा करते हुए लिखा है, कि जो देव, धर्म, मन्त्र, औषधि, आहार आदि किसी भी कार्य के लिए जीव घात नहीं करता, न्यायपूर्वक आजीविका करता हुआ श्रावक के बारह व्रतों का और ग्याहर प्रतिमाओं का आचरण करता है, उसे चर्या का आचरण करने वाला नैष्ठिक श्रावक कहते हैं।[26]

इसी प्रकार तत्त्वार्थ सूत्र में उमास्वाती ने आगार धर्म का विवेचन करते हुए लिखा है, कि आगारी अणुव्रतधारी होता है। वे दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्ड, सामायिक, पौषधोपवास, उपभोग परिभोग, परिमाण और अतिथि संविभाग व्रतों से सम्पन्न होते हैं। मारणान्तिक संल्लेखना के आराधक भी होते हैं।[27]

दिगम्बर परम्परा के अधिकांश शास्त्रों में आठ मूल गुणों में पाँच तो अणुव्रत ही माने गये हैं। साथ में मद्य, मांस और मदिरा सेवन के निषेध रूप तीन मूल गुण और कहे गए हैं।[28] लेकिन पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, ये संयम के आचरण हैं।[29] ये विवेचन कुन्दकुन्दाचार्य के चारित्र पाहुड़ में मिलता है। अतः मुख्य रूप से दोनों ही परम्पराओं में श्रावक के 12 व्रतों व 11 प्रतिमाओं का ही उल्लेख है।

अणुव्रत : अणु का अर्थ है, लघु। चूँकि अणुव्रत महाव्रतों की अपेक्षा लघु हैं, अतः इन्हें अणुव्रत कहा है। श्रावक गृहस्थ होने के कारण हिंसादि महाव्रतों का संपूर्ण

रूप से पालन नहीं कर सकते। अतः उन व्रतों को श्रावक आंशिक रूप में ही धारण करते हैं, जिन्हें अणुव्रत कहते हैं। अणुव्रत पाँच प्रकार के है[32] –

1. स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत : श्रावक द्वारा ग्रहण किए गए अहिंसा अणुव्रत का स्वरूप इस प्रकार से है, कि "मैं जीवन पर्यंत मन, वचन, काय से स्थूल हिंसा न करूँगा और न किसी द्वारा कराऊँगा।"[33]

जैन धर्म में क्रिया की अपेक्षा भवना की प्रधानता है। अतः किसी प्राणी का जीवन समाप्त कर देना ही हिंसा नहीं है, अपितु अन्य प्राणी के जीव संरक्षण के प्रति हृदय में असद् भावना पैदा होना ही हिंसा है। श्रावक भी अहिंसा राष्ट्रों की आन्तरिक शासन प्रणाली में आमूल परिवर्तन तथा सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्थाओं में संशोधन की ओर संकेत करती है।

अहिंसा अणुव्रत का धारक श्रावक जहाँ मनुष्य मात्र के प्रति प्रगाढ़ स्नेह एवं सहायता की भावना से ओत-प्रोत रहता है, वहाँ वह पशु जाति के प्रति भी अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण होता है। श्रावक अपने व्रतों का निर्दोष रूप से पालन कर सके इसके लिए प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचार बताए गए हैं। श्रावक के जो कार्य व्रत में दूषण लगाते हैं, वे अतिचार कहलाते हैं। अहिंसा अणुव्रत के पाँच अतिचार निम्नलिखित हैं–

1. **बंध (बंधन)** : पशुओं को कठोर बन्धनों से बाँधना
2. **वहे (वध)** : उनको लाठी आदि से पीटना।
3. **छविच्छेए (छविछेद)** : उनके नासिका आदि अंगों को छेदना।
4. **अइभार (अतिभार)** : उनके ऊपर अतिभार लादना।
5. **भत्तपाणविच्छेए (भक्तपान विच्छेद)** : उनको यथासमय व पूर्ण भोजन व पानी न देना।[34]

श्रावकों को इन अतिचारों से बचना चाहिये।

2. स्थूल मृषावाद विरमणव्रत (सत्य) : सत्य अणुव्रतधारी श्रावक जीवन भर के लिए दो करण व तीन योग से स्थूल मृषावाद का त्याग कर देता है अर्थात् वह मन, वचन तथा काया से किसी प्रकार का झूठ न स्वयं बोलता है और न किसी अन्य से बुलवाता है।[35] इस व्रत के निर्दोष पालन के लिए भी पाँच अतिचार बताए गए हैं –

1. **सहसभक्खाणे (सहसा अभ्याख्यान)** : बिना सोचे-समझे किसी भी बात को कहना।
2. **रहसभक्खाणे (रहस्याभ्याख्यान)** : किसी का रहस्य प्रकट कर देना।
3. **सदारमंतभेए (स्वदारमंत्रभेद)** : अपनी स्त्री की गुप्त बातों को प्रकट कर देना।
4. **मोसोवएसे (मृषाउपदेश)** : झूठा उपदेश देना।

5. **कूडलेहकरणे (कूट लेखकरण)** : झूठा लेख (दसतावेज) या झूठे बहीखाते लिखना।[134]

इन पाँचों अतिचारों को त्यागकर ही साधक अपने व्रत का समुचित रूप से पालन कर सकता है।

3. **स्थूल - अदत्तादान विरमण व्रत** : अचौर्य का साधारण अर्थ चोरी नहीं करना है, किंतु इसका तात्विक अर्थ यह है, कि प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे के अधिकारों पर आघात नहीं करना चाहिये। श्रावक मन, वचन तथा काया से जीवन पर्यंत इस प्रकार की चोरी करने तथा किसी अन्य के द्वारा करवाने के त्याग की प्रतिज्ञा करता है।[135] इस व्रत के पाँच अतिचार निम्नलिखित हैं-

1. **तेनाहडे (स्तेनहृत)** : चोरी द्वारा लाई हुई वस्तु को ग्रहण करना।
2. **तक्करपओगे (तस्कर प्रयोग)** : चोरी का उपाय साधन बताना।
3. **विरुद्धरज्जाइकम्मे (विरुद्ध राज्यातिक्रम)** : राज्य के विरुद्ध कार्य करना।
4. **कूडतुलकूडमाणे (कूटतुलाकुटमान)** : वस्तु के बेचने, खरीदने के प्रमाणों (तराजु, बाट आदि) को कम-बढ़ रखना।
5. **तप्पडिरुवगववहारे (तत्प्रति रुपक व्यवहार)** : अधिक मूल्य वाली वस्तु में उसके समान कम मूल्य वाली वस्तु को मिलाकर बेचना।[136]

इन उपर्युक्त अतिचारों का त्याग करके ही श्रावक समुचित रूप से अचौर्य अणुव्रत का पालन कर सकता है।

4. **स्वदार संतोष (ब्रह्मचर्य)** : श्रावक अपनी परिणीता स्त्री से ही पूर्ण संतोष रखकर अन्य स्त्रियों के मन, वचन तथा कार्य से जीवन पर्यंत मैथुन सेवन करने तथा करवाने का त्याग स्वदार संतोष व्रत है।[137] श्रावक अपनी स्त्री के प्रति भी अति कामुकता के त्याग की प्रतिज्ञा करता है। स्वदार संतोष के पाँच अतिचार निम्नलिखित हैं[138] -

1. **इत्तरिय परिग्गहियागमणे** : धनादि देकर कुछ समय के लिए रखी हुई स्त्री से व्यभिचार करना।
2. **अपरिग्गहियागमणे** : विधिवत विवाह न हुआ हो उसके साथ व्यभिचार करना।
3. **अनंगक्रीड़ा** : काम सेवन से भिन्न अंगों के द्वारा काम सेवन।
4. **परविवाह करणे** : अपनी संतान को छोड़कर अन्य लोगों के विवाह करवाना।
5. **कामभोगात्तिव्वाभिलासे** : काम भोग की तीव्र अभिलाषा करना।

उपर्युक्त पाँचों अतिचारों का त्याग करके ही साधक स्वदार संतोष व्रत का

पालन कर सकता है।

5. परिग्रह परिमाण व्रत : परिग्रह भी एक बहुत बड़ा पाप है। सामाजिक विषमता, संघर्ष, कलह एवं अशांति का प्रधान कारण परिग्रहवाद ही है। अतः स्व और पर की शांति के लिए अमर्यादित स्वार्थवृत्ति एवं संग्रह बुद्धि पर नियंत्रण रखना आवश्यक है। अशांति का कारण परिग्रह नहीं परिग्रह की इच्छा है। अतः इच्छा को मर्यादित करना ही वास्तविक परिग्रह परिमाण है। श्रावक को परिग्रह में आसक्ति भाव का त्याग करने का प्रयास करना चाहिये। इस व्रत का पालन करने के लिए श्रावक को जीवन में उपयोग ली जाने वाली समस्त वस्तु की सीमा निर्धारण करके उससे अधिक मात्रा में उन वस्तुओं का उपयोग नहीं करना चाहिये।[33] इस व्रत के सम्यक् पालन के लिए श्रावक को निम्नलिखित पाँच अतिचारों का त्याग करना चाहिये।[34]

1. **खेत-वत्थु पमाणाइक्कम्मे (क्षेत्र वस्तु प्रमाणातिक्रमण)** : जीवन पर्यंत के लिए किए गए क्षेत्र तथा वस्तुओं के प्रमाण को बढ़ा लेना।
2. **हिरण्णसुवण्णपमाणाइक्कम्मे (हिरण्यसुवर्ण प्रमाणातिक्रमण)** : सोने चाँदी के प्रमाण को बढ़ा लेना।
3. **दुप्पय चउप्पय पमाणाइक्कम्मे (द्विपद चतुष्पद प्रमाणातिक्रमण)** : दोपाये और चौपाये प्राणियों सम्बन्धी प्रमाण को बढ़ा लेना।
4. **धण-धन्न पमाणाइक्कम्मे (धन धान्य प्रमाणातिक्रमण)** : धन धान्य के प्रमाण को बढ़ा लेना।
5. **कुविय पमाणाइक्कम्मे (कुप्य प्रमाणातिक्रमण)** : गृह सामग्री के प्रमाण को बढ़ा लेना।

2. गुणव्रत : अणुव्रतों के विकास के लिए गुणव्रतों का विधान किया गया है। गुणव्रत के द्वारा अणुव्रतों की मर्यादा को और अधिक संकुचित किया जाता है। गुणव्रत अणुव्रतों को सर्व द्रव्य, काल, क्षेत्र और भाव से मर्यादित करते हैं। 3 गुण व्रतों का विधान किया गया है, जो निम्नलिखित हैं - 1. दिशा परिमाण व्रत, 2. उपभोग परिभोग परिमाण व्रत, 3. अनर्थदण्ड विरमण व्रत।[35]

1. दिशा परिमाण व्रत : मुख्य दिशाएँ तीन हैं - 1. उर्ध्व (ऊँची) दिशा, 2. अधो (नीची) दिशा और 3. तिर्छी दिशा। तिर्छी दिशा के चार प्रकार हैं - 1. पूर्व, 2. पश्चिम, 3. उत्तर और 4. दक्षिण। चार तिर्छी दिशाओं के सन्धि स्थलों को विदिशा कहते हैं, वे भी चार हैं- 1. अग्निकोण, 2. वायव्यकोण, 3. ईशानकोण, 4. नैऋत्यकोण। इस प्रकार दस दिशाएँ हो जाती हैं। विस्तारपूर्वक दिशाओं की संख्या 18 मानी गई हैं - 4 दिशाएँ, 4. विदिशाएँ, 8. आंतरे तथा ऊर्ध्वदिशा और अधोदिशा।

श्रावक सभी दिशाओं में गमनागमन की सीमा निर्धारित करके उस से आगे न जाने का प्रत्याख्यान करता है। मुख्य तीन दिशाओं के संदर्भ में ही परिमाण का

विवेचन किया गया है। इस व्रत के पाँच अतिचार निम्नलिखित हैं[162] -

1. **ऊर्ध्व दिशा परिमाणातिक्रमण** : ऊर्ध्व दिशा में जो गमनागमन की क्षेत्र की मर्यादा रखी हो उसका उल्लंघन करना।
2. **अधोदिशा परिमाणातिक्रमण** : नीची दिशा में जो गमनागमन की क्षेत्र की मर्यादा रखी हो, उसका उल्लंघन करना।
3. **तिर्यग्दिशापरिमाणातिक्रमण** : 4 दिशाओं और 4 विदिशाओं में जितने क्षेत्र की मर्यादा रखी हो, उसका अतिक्रमण करना।
4. **क्षेत्रवृद्धि** : सभी दिशाओं में जितने क्षेत्र की मर्यादा रखी हो, उसे और बढ़ाकर गमनागमन करना।
5. **स्मृतिभ्रंश** : जितने क्षेत्र की मर्यादा की हो उसका स्मरण न रखकर, संदेह वश मर्यादा को तोड़ना।

इन पाँचों अतिचारों का पूर्ण त्याग करके ही श्रावक अपने व्रत का उपयुक्त प्रकार से पालन कर सकता है। इस व्रत का लक्ष्य यही है, कि श्रावक के एक निश्चित सीमा से बाहर जाकर असत्य, हिंसा आदि पापाचरण का पूर्ण त्याग हो।

2. उपभोग परिभोग परिमाण व्रत : जो वस्तु एक बार ही प्रयोग में ली जाती है, उसे उपभोग कहते हैं, जैसे-भोजन-पानी आदि। जो वस्तु पुनः-पुनः काम आती है, वह परिभोग कहलाती है, जैसे- शय्या, वस्त्र आदि। उपभोग-परिभोग में आने वाली वस्तुओं की मर्यादा को निश्चित करना उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत है।

उपभोग परिभोग के दो भेद हैं - 1. भोजन तथा 2. कर्म। इस व्रत का उद्देश्य जीवन की अन्न-वस्त्रादि वस्तुओं तथा उनकी प्राप्ति के लिए किए जाने वाले प्रतिदिन के व्यावसायिक कार्यों का आवश्यकता से अधिक स्वीकार नहीं करना है। अर्थात् श्रावक प्रत्येक उपभोग-परिभोग की वस्तु को निश्चित मात्रा तक प्रयोग में लेने का प्रत्याख्यान करता है।[163]

भोजन में बाह्य तथा आभ्यान्तर दोनों प्रकार के समस्त भोग योग्य पदार्थों का अन्तर्भाव हो जाता है। भोजन सम्बन्धि अतिचार पाँच हैं।[164]

1. **सचित्ताहार** : पृथ्वी, जल तथा वनस्पति काय वाले जीव शरीरों का सचेतन रूप में भक्षण करना।
2. **सचित्त पडिबद्धाहारे** : बीज, गुठली आदि सचेतन वस्तु सहित फलादि का भक्षण करना।
3. **अपक्व आहार** : अग्नि पर पकाए बिना ही कच्चे शाक आदि का भक्षण करना।
4. **दुष्पक्व आहार** : जो वस्तु अच्छी तरह से पकाई न हो उसका सेवन करना।

5. **तुच्छौषधि सेवन** : जो वस्तु खाने के कम काम आए तथा उससे अधिक मात्रा में बाहर फेंकी जाए, ऐसी वस्तु का सेवन करना, जैसे सीताफल आदि।

पन्द्रह कर्मादान : कर्म सम्बन्धी अतिचार 15 बताए गए हैं। श्रावक महापापपूर्ण निषिद्ध व्यवसायों को जानकर उनका सर्वथा त्याग करता है। वे निषिद्ध व्यवसाय कर्मादान कहलाते हैं।

1. **अग्नि कर्म** : अग्नि संबंधी व्यापार, जैसे - कोयला बनाना, ईंटें बनाना आदि।
2. **वन कर्म** : वनस्पति संबंधी व्यापार, जैसे वृक्ष काटना, घास काटना आदि।
3. **शकट कर्म** : वाहन संबंधी व्यापार, जैसे - गाड़ी, मोटर, ताँगा आदि वाहन बनाना या बेचना।
4. **भाट कर्म** : वाहन, मकान आदि किराये पर देना।
5. **स्फोट कर्म** : भूमि फोड़ने का व्यापार, जैसे खानें खुदवाना, नहरें बनवाना, मकान बनाने का व्यवसाय।
6. **दन्त-वाणिज्य** : हाथी दाँत आदि का व्यापार।
7. **लाक्षा वाणिज्य** : लाख आदि का व्यापार।
8. **रस वाणिज्य** : मदिरा आदि का व्यापार।
9. **केश वाणिज्य** : बालों व बाल वाले प्राणियों का व्यापार।
10. **विष वाणिज्य** : जहरीले पदार्थ तथा हिंसा अस्त्र-शस्त्रों का व्यापार।
11. **यन्त्र पीड़न कर्म** : यंत्रों द्वारा तिलादि द्रव्यों को पेरने का व्यवसाय।
12. **निर्लांच्छन कर्म** : प्राणियों को छेदने, काटने का व्यवसाय।
13. **दावाग्निदान कर्म** : जंगल, खेत आदि में आग लगाने का कार्य।
14. **सर दहतलाय शोषणता कर्म** : सरोवर, झील, तालाब आदि को सुखाने का कार्य।
15. **असीतजन पोषणता कर्म** : कुलटा स्त्रियों के पोषण, हिंसक प्राणियों का पालन, समाज विरोधी तत्त्वों का संरक्षण आदि।

ये पन्द्रह कर्मादान रूप पन्द्रह व्यवसाय श्रावक के लिए मन-वचन-काया से कृत-कारित अनुमोदित रूप से सर्वथा त्याज्य हैं।

3. **अनर्थ दंड - विरमण व्रत** : निष्प्रयोजन पापाचरण अनर्थदण्ड है। मनुष्य यदि अपने जीवन को विवेकशून्य एवं प्रमत्त रखता है, तो बिना प्रयोजन भी हिंसादि कर बैठता है। श्रावक इस अनर्थदण्ड से विरक्त रहता है। अनर्थदण्ड के चार भेद हैं-

1. **अपध्यानाचरित** : अशुभ ध्यान पूर्वक किया गया आचरण अपध्यानाचरित है।

2. **प्रमादाचरित** : प्रमादपूर्वक किया गया आचरण प्रमादाचरित है। प्रमाद का तात्पर्य है, आलस्य, असावधानी। इसी प्रमाद के कारण ही अधिकांश दुर्घटना रूप हिंसा होती है। अर्थात् प्रमादाचरित का सम्यक् प्रकार से प्रत्याख्यान करके उससे बचा जाए, तो अधिकांश दुर्घटनाओं से बचा जा सकता है।

3. **हिंस्र प्रदान** : हिंसादि पापकर्मों में सहायक शास्त्रों को देना हिंस्रप्रदान है।

4. **पापकर्मोपदेश** : पाप कार्य करने के लिए प्रेरित करना उपदेश देना, पाप कर्मोपदेश है।

व्रती श्रावक इन चार प्रकार के तथा अन्य भी व्यर्थ पापपूर्ण कार्यों का त्यागी होता है।[143] इस व्रत के निम्नलिखित पाँच अतिचार हैं[144] -

1. **कन्दर्प** : कामोत्पादक वार्तालाप करना।
2. **कुक्कुइए** : शरीर के अवयवों की कुचेष्टाओं द्वारा हँसी-मजाक करना।
3. **मौखर्य** : धृष्टतापूर्वक असत्य एवं असम्बद्ध प्रलाप करना, बढ़ा-चढ़ा कर बातें करना।
4. **संयुक्ताधिकरण** : बिना आवश्यकता के हिंसक साधनों को संयुक्त रखना। जैसे-बन्दूकल कारतूस, उखल-मूसल आदि।
5. **उपभोग परिभोगातिरिक्त** : उपभोग-परिभोग की सामग्री को आवश्यकता से अधिक मात्रा में संग्रहीत करके रखना। जैसे भोजन, वस्त्र आदि।

इन पाँचों अतिचारों का त्याग करके अनर्थदण्ड विरमण व्रत का सम्यक् प्रकार से पालन करने से मनुष्य की मानसिक, वाचिक एवं कायिक सभी प्रवृत्तियाँ विशुद्ध होती हैं।

शिक्षाव्रत : शिक्षा का अर्थ अभ्यास है। जैसे विद्यार्थी पुनः-पुनः अभ्यास करता है, उसी प्रकार श्रावक को जिन व्रतों का पुनः-पुनः अभ्यास करना चाहिये उन व्रतों को शिक्षाव्रत कहते हैं। अणुव्रत और गुणव्रत जीवन में एक ही बार जीवन पर्यंत के लिए ग्रहण किए जाते हैं, लेकिन शिक्षाव्रत बार-बार ग्रहण किए जाते हैं, क्योंकि वे कुछ समय के लिए ही होते हैं। ये शिक्षाव्रत 4 बताये गए हैं-जो निम्नलिखित हैं- 1. सामायिक, 2. देशावकासिक, 3. पौषधोपवास, 4. अतिथि संविभाग।[145]

1. **सामायिक** : सामायिक का अर्थ है - समभाव। जीवन-मरण में, लाभ-अलाभ में, संयोग-वियोग में, मित्र-शत्रु में तथा सुख-दुःख आदि में समभाव होना सामायिक नाम का व्रत है।[146] पं. आशाधर जी सामायिक का विवेचन इस प्रकार करते हैं- "राग-द्वेषादि से आक्रांत न होने वाले अय-ज्ञान को समाय कहते हैं।" इस तरह के ज्ञान में अनुभव रूप जो प्रवृत्ति होती है, उसको ही सामायिक कहते हैं। सामायिक का ही दूसरा नाम साम्य भी है। प्रशस्त और अप्रशस्त नाम स्थापना आदि के विषय में क्रम से रागद्वेष न करना इसी को साम्य कहते हैं।[147] श्रावक को सामायिक करने के

लिए किसी एकान्त निर्बाध स्थान में आसन बिछाकर अल्पवस्त्र धारण करके कम से कम 48 मिनट तक, संपूर्ण सावद्य व्यापारों का त्याग कर सांसारिक प्रवृत्तियों से अलग होकर अपनी योग्यतानुसार अध्ययन, चिन्तन आदि द्वारा आत्मा का ध्यान करना चाहिए। सामायिक करते समय श्रावक भी श्रमण जैसा ही हो जाता है। श्रावक को प्रतिदिन एक सामायिक तो अवश्य करनी चाहिये। इस व्रत के पाँच अतिचार हैं -

1. **मनःदुष्प्रणिधान** : सामायिक के काल में मन से अहितकर एवं बाह्य विचार करना।
2. **वचन दुष्प्रणिधान** : सामायिक के काल में वचन से कठोर एवं दोषपूर्ण वचनों का प्रयोग करना।
3. **काय दुष्प्रणिधान** : सामायिक के समय हिंसादि पापकर्म करना।
4. **स्मृत्यकरण** : सामायिक न करना या ली हुई सामायिक को भूल जाना।
5. **अनवस्थितता** : सामायिक को निश्चित विधि से न करना।[51]

श्रावक को पूर्ण सतर्कता रखते हुए उपर्युक्त अतिचारों से बचाना चाहिये।

2. देशावकाशिक व्रत : देश का अर्थ है क्षेत्र। एक नियत क्षेत्र में निश्चित अवधि के लिए अपने आपको सीमित रखना देशावकाशिक व्रत है। इस व्रत में श्रावक मन, वचन व कर्म तीनों से क्षेत्र की मर्यादा करता है। अतः सीमित क्षेत्र के बाहर की वस्तुओं का भी उपभोग नहीं कर पाता है। अर्थात् देशावकाशिक व्रत में क्षेत्र सीमा निर्धारण से उपभोग सामग्री की सीमा भी स्वतः ही संक्षिप्त हो जाती है।[52] इस व्रत के भी पाँच अतिचार हैं।[53]

1. **आनयन प्रयोग** : मर्यादित क्षेत्र के बाहर की वस्तु मंगवाना।
2. **प्रेष्य प्रयोग** : मर्यादित क्षेत्र के बाहर वस्तु भेजना।
3. **शब्दानुपात** : मर्यादित क्षेत्र के बाहर के व्यक्ति को शब्द करके बुलाना।
4. **रुपानुपात** : मर्यादित क्षेत्र से बाहर के मनुष्य को अपना रूप दिखाकर बुलाना।
5. **बाह्य पुद्गल प्रक्षेप** : मिट्टी, पत्थर आदि फेंककर मर्यादित प्रदेश से बाहर के मनुष्य से कोई कार्य कराना।

3. पौषधोपवास : पौषधोपवास आत्म अभ्युदय की सर्वोत्तम साधना है। एक रात-दिन के लिए सचित्त वस्तुओं का, शस्त्र का, पाप व्यापार का, भोजन-पान, शरीर शृंगार तथा अब्रह्मचर्य का त्याग करना पौषधव्रत है। पौषधव्रतधारी की स्थिति साधु जैसी ही होती है। श्रावक भी धर्माचार्य के पास अथवा धर्मस्थान में ही रहकर इस व्रत को धारण करता है। पौषध में गृहस्थोचित्त वस्त्र नहीं पहनते, पलंग आदि पर नहीं सोते और स्नान भी नहीं करते हैं। सांसारिक प्रपंचों से सर्वथा अलग रहकर एकान्त में स्वाध्याय, ध्यान तथा आत्मचिन्तन आदि करते हुए जीवन को पवित्र बनाना ही इस

व्रत का उद्देश्य है। इस व्रत के पाँच अतिचार हैं[153]

1. **अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित शय्या संस्तारक** : शैय्या-संस्तारक (बिछौना) को बिना देखे भाले या असावधानीपूर्वक देखकर करना।
2. **अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्या संस्तारक** : बिना झाड़-पोंछ किए अथवा असावधानीपूर्वक झाड़पोंछ करके शय्या लगाना।
3. **अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित उच्चार प्रस्रवण भूमि** : मल-मूत्र त्यागने के स्थान का निरीक्षण न करना अथवा अच्छी तरह से न करना।
4. **अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चार प्रस्रवण भूमि** : मल-मूत्र त्यागने के स्थान को बिना साफ किए अथवा उपयुक्त प्रकार से बिना साफ किए उपयोग करना।
5. **पौषधोपवास-सम्यगनुपालना** : पौषधोपवास का सम्यक् प्रकार से पालन न करना।

4. **अतिथि संविभागव्रत** : अतिथि संविभाग व्रत में सेवा, दान, करुणा और परमार्थ की भावना ही प्रमुख रूप से है। यहाँ अतिथि शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से पंच महाव्रतधारी पंच समिति-तीन गुप्ति के आराधक श्रमण-श्रमणियों के लिए ही हुआ है। इस प्रकार अतिथि को श्रद्धाभावना से विभोर होकर अत्यंत सम्मान के साथ उनके लिए कल्पनीय एषणीय, ग्राह्य, निर्दोष आहार, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोंछन, पीठ फलक-पट्टा, शय्या संस्तारक, औषध, भैषज प्रभृति जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक पदार्थों को देखकर प्रतिलाभित करना। श्रावक ने जो अपने लिए आहार आदि का निर्माण किया है या अन्य साधन प्राप्त किए हैं, उनमें से ऐषणा समिति से युक्त निस्पृह श्रमण-श्रमणियों को कल्पनीय एवं ग्राह्य आहार आदि देने के लिए विभाग करना अतिथि संविभाग है।[154] इस व्रत के निम्नलिखित पाँच अतिचार हैं।[155]

1. **सचित्त निक्षेपण** : साधु को देय वस्तु सचित्त पत्र, पुष्प आदि पर रख देना।
2. **सचित्त पिधान** : साधु को देने योग्य वस्तु सचेतन पत्र, पुष्प आदि से ढक देना।
3. **कालातिक्रम** : साधु के भिक्षार्थ भोजन काल का उल्लंघन कर देना।
4. **परव्यपदेश** : भिक्षा के लिए अपने घर आए साधु को अपनी वस्तु को अन्य की बताकर लौटा देना।
5. **मात्सर्य** : ईर्ष्या व अहंकार की भावना से दान देना।

श्रावक को अत्यंत उदार होना चाहिये। कोई भी अतिथि (साधु-साध्वी) द्वार से खाली निराश न लौटे, यह श्रावक को ध्यान रखना चाहिये।

इस प्रकार श्रावक को इन बारह व्रतों का निरतिचार पालन करना चाहिये। इन

व्रतों को धारण करने के पश्चात् श्रावक की साधनाचर्या का आगे का सोपान है प्रतिमा धारण करने का।

4. प्रतिमा : प्रतिमा का अर्थ है – श्रावक की विशिष्ट साधना पद्धति, विशेष प्रतिज्ञा, व्रत व तप आदि। श्रावक धर्म स्थान में जाकर अणुव्रतों एवं शिक्षाव्रतों के अतिरिक्त जिन प्रतिज्ञाओं को विशष्ट रूप से धारण करता है, उन्हें प्रतिमा कहा गया है। प्रतिमाएँ वही श्रावक ग्रहण करता है, जिसे नवतत्त्व का सम्यक् ज्ञान होता है, तभी वह प्रतिमाओं का सम्यक् प्रकार से पालन कर सकता है।[156] श्रावक की ये प्रतिमाएँ 11 बतायी गयी हैं, जो इस प्रकार हैं।[157]

1. दर्शन प्रतिमा
2. व्रत प्रतिमा
3. सामायिक प्रतिमा
4. पौषध प्रतिमा
5. कायोत्सर्ग प्रतिमा
6. अब्रह्मवर्जन प्रतिमा
7. सचित्ताहार वर्जन प्रतिमा
8. स्वयमारम्भ वर्जन प्रतिमा
9. प्रेष्यारम्भवर्जन प्रतिमा
10. उद्दिष्ट भक्त वर्जन प्रतिमा
11. श्रमण भूत प्रतिमा।

प्रथम प्रतिमा का काल एक माह है, द्वितीय प्रतिमा का काल दो माह है, इस प्रकार एक-एक प्रतिमा एक-एक माह अधिक तक बढ़ती जाती है। अंतिम ग्यारहवीं प्रतिमा का काल ग्यारह माह है। इस प्रकार समस्त प्रतिमाओं का पूरा काल पाँच वर्ष छह माह होता है। प्रत्येक प्रतिमा के धारण से पहले उपासक के द्वारा उससे पहले की प्रतिमा का यथाकाल यथानियम अभ्यास कर लिया जाना आवश्यक है। अर्थात् प्रत्येक प्रतिमा में उसकी पूर्व प्रतिमा के गुण साथ में विद्यमान होने चाहिये।[158] यह उत्तरोत्तर श्रावकगुणों के विकास के सोपान है।

1. **दर्शन प्रतिमा** : जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य एवं पाप रुप नव पदार्थों पर यथार्थ श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है। जब श्रावक शुद्ध सम्यग्दर्शन का निरतिचार पालन करता है तथा पंच परमेष्टि रूप पंचगुरु की शरण में सम्यक् श्रद्धा से नत होता है, वही दर्शन प्रतिमा कही जाती है।[159]
2. **व्रत प्रतिमा** : दर्शन प्रतिमा का पूर्ण अभ्यास कर लेने के बाद अतिचार रहित पाँच अणुव्रतों तथा सात शिक्षाव्रतों के पालन की प्रतिज्ञा करना व्रत प्रतिमा है।[160] इस प्रतिमा में श्रावक में क्षमा, दया, सहनशीलता आदि मानवीय सद्गुणों का विकास होने लगता है।
3. **सामायिक प्रतिमा** : दर्शन तथा व्रत प्रतिमा से युक्त श्रावक प्रातः मध्याह्न तथा सांय, जो सामायिक करता है, वह सामायिक प्रतिमा है। मन को एकाग्र कर बाह्य अभ्यांतर परिग्रह का त्याग कर कुछ निश्चित समय (48

मिनट) तक आत्मा तथा परमात्मा का ध्यान करना व जीवन में समभाव का आचरण करना सामायिक कहलाता है।[161] दिगम्बर परम्परा के अनुसार सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक को यथाजात नग्न होकर सामायिक करनी चाहिये।[162]

4. **पौषध-प्रतिमा** : उपर्युक्त तीन प्रतिमाओं से युक्त श्रावक प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को 48 घंटे तक आहार-पानी का पूर्ण त्याग कर धर्माचरण में समय व्यतीत करता है, उसे पौषधप्रतिमा कहा जाता है।[163]
5. **कायोत्सर्ग प्रतिमा** : पूर्व की समस्त प्रतिमाओं का पालन करता हुआ जो श्रावक केवल दिन में ही भोजन करता है, ढ़ीले वस्त्र पहनता है तथा पौषधोपवास में एकरात्रि में कायोत्सर्ग प्रतिमा का पालन करता है। श्रावक प्रतिमा की तरह आसन में स्थिर होकर त्रिलोक पूज्य जीत कषाय 'जिन' का ध्यान करता है, अथवा आत्म दोषों को नष्ट करने वाले किसी अन्य तत्त्व का ध्यान करता है, वह पंचम प्रतिमाधारी है।[164]
6. **अब्रह्मवर्जन प्रतिमा** : उपर्युक्त पाँच प्रतिमाओं के पूर्ण पालन के बाद सांसारिक काम भोगों से मुक्ति पा लेना अब्रह्मवर्जन-प्रतिमा है। इसे धारण करने वाला श्रावक शृंगारपूर्ण चर्चा, स्त्रियों से अतिपरिचय तथा अपने शरीर की सजावट आदि से दूर रहता है। स्त्रियों के अंगोपांगों को निहारता नहीं है। कामोत्पादक वीभत्स भावों का पूर्ण त्याग कर देता है।[165]
7. **सचित्ताहारवर्जन प्रतिमा** : पूर्व प्रतिमाओं के अभ्यास पूर्वक श्रावक कन्द, मूल, फल, शाक सब्जी, पुष्प आदि सचित्त वस्तुओं के भक्षण का त्याग करता है, यह सचित्ताहारवर्जन प्रतिमा है।[166]
8. **स्वयमारम्भवर्जन प्रतिमा** : पूर्व प्रतिमाओं का पालन करता हुआ श्रावक घर में सदोष कार्य के स्वयं न करने का नियम लेना, स्वयमारम्भवर्जन प्रतिमा है। आवश्यकता पड़ने पर अन्य व्यक्ति के द्वारा गृहकार्य कराया जा सकता है।[167]
9. **परारम्भवर्जन प्रतिमा** : श्रावक दूसरे व्यक्तियों के द्वारा भी सदोष गृहकार्यों को न कराने का जो नियम लेता है, वह परारम्भवर्जन प्रतिमा है।[168]
10. **उद्दिष्ट भक्त वर्जन प्रतिमा** : इस प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक अपने निमित्त से बने हुए भोजन का भी त्याग कर देता है। अतः संपूर्ण आरम्भ परिग्रह का त्याग कर देता है। सिर का मुंडन करा देता है। किसी वस्तु के बारे में पूछे जाने पर भी जानता है, तो बताता है, अन्यथा नहीं बोलता है।[169]
11. **श्रमण भूत प्रतिमा** : ग्यारहवीं प्रतिमा में श्रावक पूर्व की दश प्रतिमाओं

का पालन करते हुए अन्त में श्रमण रूप जीवन को अपना लेता है। अपने सिर को पूरा मुंडा लेता है। वह श्रमणवेश तथा उपकरणों को धारण कर संयम का पालन करता हुआ साधु जैसा जीवन व्यतीत करता है। इसे ही श्रमणभूत प्रतिमा कहते हैं।[171]

इन प्रतिमाओं के पालन का उद्देश्य श्रावक के द्वारा धीरे-धीरे श्रमण अवस्था को प्राप्त करना है। जैसा कि ग्यारहवीं प्रतिमा के नाम से ही ज्ञात होता है।

इस प्रकार की 11 प्रतिमाओं को दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं में समान रूप से प्रतिपादित किया गया है, जो कि श्रावक को चरम लक्ष्य की ओर ले जाती हैं।

5. श्रावक पद का अधिकार : जैन धर्म में श्रावक होने के लिए कुछ आवश्यक शर्तें बतायी गई हैं। प्रत्येक गृहस्थ श्रावक नहीं कहला सकता, वरन् विशिष्ट व्रतों को अंगीकार करने वाला गृहस्थ ही श्रावक कहलाता है।

जैन परम्परा के अनुसार श्रावक बनने की योग्यता प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम सात दुर्व्यसनों का त्याग करना आवश्यक है, जो ये हैं -1. जुआ खेलना, 2. मांसाहार, 3. मदिरापान, 4. वेश्यागमन, 5. शिकार, 6. चोरी और 7. परस्त्रीगमन।[172]

ये सातों ही कुव्यसन जीवन को अधःपतन की ओर ले जाते हैं। इनमें से किसी भी एक व्यसन में फँसा हुआ मनुष्य, प्रायः सभी व्यसनों का शिकार हो जाता है। इनमें से किसी भी व्यसन का सेवन न करने वाला ही श्रावक बनने का पात्र होता है।

श्रावक के 21 गुण : जैन शास्त्रों में श्रावक की 21 विशेषताओं (गुणों) का विवेचन मिलता है -

1. उदार हृदयी	2. यशवन्त
3. सौम्य प्रकृति वाला	4. लोकप्रिय
5. अक्रूर प्रकृति वाला	6. पापभीरु
7. धर्म के प्रति श्रद्धावान	8. चतुर
9. लज्जावान	10. दयाशील
11. मध्यस्थ वृत्तिवाला	12. गम्भीर
13. गुणानुरागी	14. धर्मोपदेशक
15. न्यायी	16. शुद्ध विचारक
17. मर्यादित व्यवहार करने वाला	18. विनयशील
19. कृतज्ञ	20. परोपकारी
21. सत्कार्य में दक्ष।[173]	

इन गुणों का धारक श्रावक निश्चित रूप से अपने जीवन निर्माण के साथ समाज और राष्ट्र का भी उत्थान करता है।

6. श्रावक के 14 नियम : श्रावक के परिग्रह को सीमित करने के लिए 14 नियम बताए गए हैं, जिनकी मर्यादा श्रावक प्रतिदिन निश्चित करता है। इनसे उसकी प्रवृत्तियाँ नियंत्रित होती हैं तथा जीवन अनुशासित बनता है। ये चौदह नियम निम्नलिखित हैं।[२]

1. **सचित्त** : प्रतिदिन अन्न, फल, पानी आदि के रूप में जितनी सचित्त वस्तुओं का सेवन करते हैं, उनकी मर्यादा निश्चित करना।
2. **द्रव्य** : खाने पीने सम्बन्धी वस्तुओं की मर्यादा करना।
3. **विगय** : घी, तेल, दूध, दही, गुड़ और मिठाई की मर्यादा करना।
4. **पण्णी** : जूते-मौंजे, खड़ाऊ, चप्पल आदि पैर में पहनी जाने वाली वस्तुओं की मर्यादा करना।
5. **वस्त्र** : प्रतिदिन पहने जाने वाले वस्त्रों की मर्यादा करना।
6. **कुसुम** : फूल, इत्र आदि सुगंधित पदार्थों की मर्यादा करना।
7. **वाहन** : सवारी आदि की मर्यादा करना।
8. **शयन** : शैय्या व स्थान की मर्यादा करना।
9. **विलेपन** : केसर, चन्दन, तेल आदि लेप किए जाने वाले पदार्थों की मर्यादा करना।
10. **ब्रह्मचर्य** : मैथुन सेवन की मर्यादा करना।
11. **दिशा** : जितनी दिशाओं में यातायात व आवागमन की जो भी प्रवृत्तियाँ की जाती हैं, उनकी मर्यादा करना।
12. **स्नान** : स्नान व जल की मर्यादा करना।
13. **भक्त** : अशन, पान, खादिम-स्वादिम की मर्यादा करना।
14. **ताम्बूल** : पान, सुपारी, चूर्ण आदि मुखावास की मर्यादा करना।

7. श्रावक की दिनचर्या-रात्रिचर्या : श्रावक का जीवन धर्ममय व्रत नियमों से बंधा हुआ एवं शील सदाचार से महकता हुआ होना चाहिये। गृहस्थ जीवन के योग्य आवश्यक क्रियाओं से परिपूर्ण होना चाहिये।[३]

श्रावक रात दो घड़ी अथवा डेढ़ घंटा शेष रहे तब बिस्तार छोड़े, उठते ही नमस्कार मंत्र का जाप करे। फिर आत्मध्यान, आत्मनिरीक्षण करे कि मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? क्या कर रहा हूँ? कहाँ जाऊँगा? मैंने यहाँ आकर क्या खोया? क्या पाया? आदि। ऐसा चिन्तन करने से प्रेरणा मिलती है।

उसके पश्चात् सामायिक प्रतिक्रमण आदि करे। महान् सन्त सतियों, तीर्थंकरों आदि का स्मरण करके भाववन्दन करे। गुरु महाराज हों, तो उनके पास जाकर वंदन करे। कम से कम नवकारसी करे। बाद में व्याख्यान श्रवण करे।

इसके पश्चात् परिमित जल से स्नान करे नियमपूर्वक भोजन करे। बाद में

ईमानदारी एवं प्रामाणिकतापूर्वक जीवन निर्वाह के लिए अर्थ-चिन्ता करे। सायंकाल सूर्यास्त से पूर्व ही भोजन-पान से निवृत्त हो जावे। इसके बाद गुरु महाराज के पास बैठकर तत्त्वचर्चा करे। परिजनों के साथ धर्म चर्चा करे, महापुरुषों के चरित्र का स्मरण करे। तत्पश्चात् विषय विकार उत्तेजित न हो, ऐसा चिंतन करे।

8. श्रावक के तीन मनोरथ : श्रावक रात्रि में निद्रा लेने से पूर्व विषयों को जीतने के लिए विचार करे, कि-

1. जिन धर्म के साथ दासत्व मिले तो भी अच्छा है, किंतु धर्म से रहित चक्रवर्तीपन भी नहीं चाहिये।
2. कब मैं संवेगी, वैराग्यवान गीतार्थ गुरु के चरणों में संसार का त्याग कर दीक्षा ग्रहण करूँगा?
3. मेरे अन्दर ऐसी शक्ति कब जाएगी, कि मैं उग्र तपश्चर्या करता हुआ, श्मशान आदि में जाकर विधि पूर्वक कायोत्सर्ग करूँगा?[75]

9. श्रावक के तीन कर्म :

1. **असिकर्म** : तलवार, बन्दूक, चाकू आदि शस्त्रों की संख्या रखकर नियम करना।
2. **मसि कर्म** : कागज, कलम, दवात आदि का प्रमाण करना।
3. **कृषि कर्म** : खेत, बगीचा आदि का प्रमाण करना।

10. श्रावक के पर्व कृत्य : श्रावकों के लिए जैन धर्म की दृष्टि से कुछ धार्मिक पर्व आते हैं, जो निम्नलिखित हैं-

1. **कल्याणक तिथिक कृत्य** : अष्टमी, चतुर्दशी आदि तथा कल्याणक तिथियों (तीर्थंकरों के जन्म, दीक्षा एवं निर्वाण दिवस) पर उपवास पौषध आदि करें। पौषध उपवास न हो सके तो आयंबिल, एकासन आदि यथाशक्ति करें। सामायिक, प्रतिक्रमण, चैत्यवंदन, सुपात्रदान, देवपूजा, गुरु भक्ति आदि अवश्य करें। ब्रह्मचर्य का पालन करें। आरंभ-समारम्भ का त्याग करें।
2. **चातुर्मासिक कृत्य** : चातुर्मास में जीवोत्पत्ति अधिक होती है। अतः जीवोत्पत्ति अधिक हो, ऐसी वस्तुएँ न खाएँ। अभिग्रह धारण करें, दिन में तीन बार जल छानें। यथाशक्ति उपध्यान तप प्रतिभा वहन करें।
3. **अक्षय तृतीया** : अक्षय तृतीया का सम्बन्ध आद्य तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से है। उन्होंने वैशाख सुदी तृतीया के दिन बारह महीनों की तपस्या का ईक्षुरस से पारणा किया। इसलिए उसे ईक्षुतृतीया अथवा अक्षय तृतीया कहते हैं।
4. **पर्युषण व दसलक्षण पर्व** : पर्युषण पर्व आराधना का पर्व है। भाद्र बदी

12 या 13 से भाद्रसुदी 4 या 5 तक यह पर्व मनाया जाता है। इसमें तपस्या, ध्यान, स्वाध्याय आदि आत्मशोधक प्रवृत्तियों की आराधना की जाती है। इसका अन्तिम दिन संवत्सरी कहलाता है। वर्ष भर की भूलों के लिए क्षमा देना और क्षमा लेना इसकी स्वयंभूत विशेषता है। यह पर्व मैत्री व उज्ज्वलता का संदेशवाहक है।

दिगम्बर परम्परा में भाद्रशुक्ला पंचमी से चतुर्दशी तक दसलक्षण पर्व मनाया जाता है, इसमें प्रतिदिन क्षमा आदि दस धर्मों में से एक-एक धर्म की आराधना की जाती है। इसलिए इसे दस लक्षण पर्व कहते हैं।

5. **महावीर जयन्ती** : महावीर जयंती चैत्र शुक्ला 13 को भगवान महावीर के जन्म दिवस के रूप में मनायी जाती है।
6. **दीपावली** : दीपावली का सम्बन्ध महावीर भगवान के निर्वाण से है। कार्तिक अमावस्या को भगवान महावीर का निर्वाण हुआ था। उस समय देवों ने और राजाओं ने प्रकाश किया था। उसी का अनुसरण वर्तमान में दीप जलाकर किया जाता है।

11. **जन्म-कर्त्तव्य** : श्रावक को अपने जीवन में निम्न कर्त्तव्यों को एक बार अवश्य आचरण करना चाहिये।

1. जिन मन्दिर बनवाना।
2. जिन प्रतिमा को स्थापन करना।
3. पुत्र-पुत्री को महोत्सवपूर्वक दीक्षा दिलवाना।
4. साधु-साध्वी के आचार्य, उपाध्याय गणिपद तथा प्रवर्तिनी पद का महोत्सव करना।
5. पौषधशाला का निर्माण करना।

12. **संल्लेखना मरण** : संल्लेखना शब्द का अर्थ है, शरीर तथा कषाय को क्षीण करना। मरण काल में अशन-पान का क्रमशः सर्वथा त्याग कर शरीर को तथा निरन्तर आत्मोपासना में लीन रहकर क्रोधादि कषायों को क्षीण करना अन्त में शान्तिपूर्वक मृत्यु का आलिंगन करना संल्लेखना मरण कहलाता है। संल्लेखना के संदर्भ में आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है, कि श्रावक बारह व्रतों का विधिवत् पालन करके अन्त में उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा, रोग आदि निष्प्रतिकार आपत्ति के आ जाने पर अपने धर्म की रक्षा के लिए संल्लेखना को धारण करे।[२]

श्रावक को भी श्रमण के द्वारा त्याज्य संल्लेखना के पाँच अतिचारों को त्यागना चाहिये। जिनका श्रमणाचार में विस्तृत उल्लेख किया जा चुका है- 1. इहलोगा संसप्पओगे, 2. परलोगा संसप्पओगे, 3. जीवियासंसप्पओगे, 4. मरणासंसप्पओगे, 5. कामभोगासंसप्पओगे।[३]

श्रावक को किसी भी प्रतिफल की इच्छा के बिना, केवल धर्म की रक्षार्थ ही संल्लेखना धारण करनी चाहिये। तथापि जो व्यक्ति जीवन पर्यन्त श्रावक के व्रतों का निर्दोष पालन करता है तथा अन्त में संल्लेखना धारण कर शान्तिपूर्वक मृत्यु को प्राप्त होता है, वह आगामी जन्म में निश्चित रूप से महाऋद्धि से युक्त देवलोक अथवा किसी अच्छे स्थान में ही जन्म लेता है।

जैन दर्शन में नीति संबंधी नियमों का बहुत ही विशद् विवेचन किया गया है। नैतिक नियमानुसार जीवन जीने में ही जीवन की सफलता है। ये नैतिक नियम एक सुदृढ़ सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करते हैं, जिसमें सभी लोग, धनवान या निर्धन अपने आपको सुखी अनुभव कर सकते हैं। अतः यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा, कि जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित नीति व्यवस्था को व्यवहार में पूर्ण रूप से अपना लिया जाए, तो निःसंदेह एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था की स्थापना होगी तथा मानव अपने उच्चतम आध्यात्मिक लक्ष्य को भी सहज ही प्राप्त कर सकेगा।

संदर्भ सूची :

1. बृहत्कल्पभाष्य गाथा 4584
2. As the science of the good, it is the science par excellence of the 'ideal' and 'ought'. - नीतिशास्त्र-डॉ० बात्स्यायन, पृ० 4
3. पवाएणं पवायं णाणेज्जा।
   'सह सम्मुइयाए, पर वागरणेणं।'
   'अन्नेसिंवा अन्तिए सोच्चा।' आचारांग सूत्र, अ० अमोलक ऋषि श्रु०स्क० 1/5/6/2
4. पाश्चात्य नीतिशास्त्र। डॉ० रामनाथ शर्मा, पृ० 1
5. 'A moralising note..... is otherwise quite foreign to Rigveda, the Rigveda is every thing but a text book of morals.' - A History of Indian Literature, Vol. I, 1927, P 115
6. यजुर्वेद, 1/5
7. स्थानांगसूत्र वृत्ति, सुधर्मास्वामी, अभयदेवसूरि, 399
8. वही 399
9. जम्बीद्वीप प्रज्ञप्ति - वक्षस्कार, सूत्र 14
10. स्थानांगसूत्र, सुधर्मास्वामी 7/66
11. त्रिषष्टिशलाकाचरित्र, 1/2/959
12. आवश्यकचूर्णि 156
13. श्रीमद्भागवत् 5/5/28/563
14. अभिधान राजेन्द्रकोष, भाग - 4, राजेन्द्र सूरि जी, पृ० 2/52
15. संस्कृत-हिन्दी कोष-आप्टे, देखें नीतिशब्द
16. 'सर्वोपजीवकं लोकस्थिति कृन्नीति शास्त्रकं।

धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः॥' शुक्रनीति 1/2

17. सर्वलोकव्यवहार स्थितिर्नीत्या बिना नहि। शुक्रनीति 1/11
18. Ethics may be defired as the study of what is right or good in conduct. Mackenzie, J.S. : Amanual of Ethics P. 1
उद्धृत डॉ० रामनाथ शर्मा : नीतिशास्त्र की रूपरेखा, पृ० 3
19. As the science of the good, it is the science par excellence of the 'Ideal' and the 'ought' ---- seth, J.A. : Study of Eghical Principles; p 37
उद्धृत - जैन नीतिशास्त्र : एक परिशीलन : देवेन्द्रमुनि, पृ० 75
20. दशवैकालिक सूत्र, शय्यम्भवस्वामी 4/11
21. तत्त्वार्थसूत्र, वाचक उमास्वाति 1/1
22. आचारांगसूत्र, सुधर्मास्वामी 1/3/20
23. ठाणांगसूत्र, सुधर्मास्वामी 2/1/109
24. दशवैकालिक सूत्र, शय्यम्भवस्वामी 4/7
25. मूलाचार, वट्केराचार्य, 2/39
26. सूत्रकृतांग, सुधर्मास्वामी 1/16
27. वही 16/1
28. वही 16/2
29. वही 16/3
30. वही 16/4
31. प्रवचनसार, चरणानुयोग चूलिका, गा० 208-209
32. जैनतत्त्व प्रकाश, अमोलक ऋषिजी, पृ० 265
33. मूलाचार, आ० वट्टकेर , मूलगुण अधिकार, गा० 2, 3
34. अहिंसा विरदी सच्चं अदत्तपरिवज्जणं च बंभं च।
संगविमुत्ती य तहा महव्वया पंच पण्णत्ता॥ मूलाचार, गा० 4
35. उत्तराध्ययनसूत्र, सुधर्मास्वामी, 23/26-27
36. दशवैकालिक सूत्र, शय्यम्भवस्वामी, 4/8
आचारांगसूत्र, 2/15/777
37. आचारांगसूत्र, सुधर्मास्वामी 2/15/778
38. दशवैकालिकसूत्र, शय्यम्भवस्वामी, 4/9
39. वही 4/10
40. आचारांगसूत्र, सुधर्मास्वामी 2/15/783
41. दशवैकालिक सूत्र, शय्यम्भवस्वामी 4/11
42. उत्तराध्ययन सूत्र, सुधर्मास्वामी 16/11, 14
43. दशवैकालिक सूत्र, शय्यम्भवस्वामी 4/12
44. योगशास्त्र, आचार्यहेमचन्द्र 2-115 की वृत्ति

45. आचारांग, सुधर्मास्वामी, 2/15/790-791
46. तत्त्वार्थसूत्र, वाचक उमास्वाति , 9/4
47. स्थानांग टीका, सुधर्मास्वामी, अभयदेवसूरि स्था॰ 5-3 की टीका
48. तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति 9/5
49. उत्तराध्ययनसूत्र, सुधर्मास्वामी, 24/9, 10
50. णिसंते सियाऽमहरी, बुद्धाणं अंतिए सया।
अट्ठजुत्ताणि सिक्खिज्जा, णिरट्ठाणि उवज्जए॥ - उत्तराध्ययन सूत्र 1/8
51. पडिमापडिवण्णस्स णं अणगारस्स कप्पंति चत्तारि भासाओ भासित्तए, तंजहा-जायणी, पुच्छणी, अणुण्णवणी, पुट्ठस्स वागरणी॥ 22
चत्तारि भासा जाता पण्णता तंजहा-सच्चमेगं भासज्जायं, बीयं मोसं, तइयं, सच्चमोसं, चउत्थं असच्चमोसं। स्थानांगसूत्र 4/1/22, 23
52. गवेसणाए गहणेय, परिभोगेसणा च जा। आहारोवहि सेज्जाए, ए ए तिण्णि विसोहए। - उत्तराध्ययन सूत्र 24/11
53. वयं च वित्तिं लब्भामो, ण य कोइ उवहम्मइ। अहागडेसुरीयंते, पुप्फेसु भमरा जहा॥ - दशवैकालिक सूत्र 1/4
54. उग्गमुप्पायणं पढ़मे, बीए सोहेज्ज एसणं।
परिभोयम्मि चउक्कं, विसोहेज्ज जायं जई॥ - उत्तराध्ययन सूत्र 24/12
55. मूलाचार- वट्टकेराचार्य, 6 अथ पिण्डशुद्धि अधिकार, गा॰ 422, 423, वट्टकेर
56. मूलाचार, वट्टकेराचार्य, गा॰ 445, 446
57. मूलाचार, वट्टकेराचार्य, गा॰ 462
58. व्यवहार सूत्र उद्देशक 8/17, प्र॰ श्रीआगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
59. आचारांग सूत्र, श्रु॰स्कं॰ 2/10/7/369-370
दशवैकालिक सूत्र, 5/1/88, 92
60. पढ़मे गहणं बीए धरणं पगयं तु दव्ववत्थेणं।
एमेव होइ पायं भावे पायं तु गुणधारी। आवश्यक सू॰, श्रु॰ स्क॰ 2, सू॰ 315
61. लाउयपायं वा दारुपायंवा मट्टियापायं वा। आचारांग सूत्र, श्रु॰ स्कं॰ 2/6/1/588
62. आचारांग सूत्र, द्वितीय श्रुत स्कंध, 11/2/10, सुधर्मास्वामी-अनु॰ अमोलकऋषिजी
63. प्रश्न व्याकरण सूत्र, श्रुतस्कन्ध, 2/3, 5
64. ओहोवहोवग्गहियं, भंडयं दुविहं मुणी। गिण्हतो णिक्खिवंतोय, पउंजेज्ज इमं विहिं॥ 13॥ चक्खुसा पडिलेहित्ता, पमज्जेज्ज जयं जई। आइए णिक्खिवेज्जावा, दुहओ वि समिए सया॥ 14॥ उ॰सू॰, 24/13-14
65. उच्चारं पासवणं, खेलं सिंघाण-जल्लियं। आहारं उवहिं देहं, अण्णं वापि तहाविहं॥ उ॰सू॰, 24/15
66. उत्तराध्ययन सूत्र, सुधर्मास्वामी अ॰ 2 प्रारम्भ
67. दिगिंछा परिगए देहे, तवस्सी भिक्खू थामवं।
णं छिंदेण छिंदावए, ण पए ण पयवए॥ उ॰सू॰, 2/2

68. तओ पुट्ठो पिवासाए, दुगुंछी लज्जसंजए।
सीओदगं ण सेवेज्जा, वियडस्सेसणं चरे॥ उ०सू०, 2/4

69. णमे णिवारणं अत्थि, छवित्ताणं ण विज्जइ।
अहं तु अग्गिं सेवामि, इइ भिक्खूणं चिंतए॥ उ०सू०, 2/7

70. उण्हाहितत्तो मेहावी, सिणाणं णो वि पत्थए।
गायं ण परिसिंचेज्जा, ण वीएज्जा य अप्पयं॥ उ०सू०, 2/9

71. ण संतसे ण वारिज्जा, मणंपि ण पओसए।
उवेहे णो हणे पाणे, भुंजंते मंस-सोणियं॥ उ०सू०, 2/11

72. परि जुण्णेहिं वत्थेहिं, होक्खामि त्ति अचेलए।
अदुवा सचेलए होक्खं, इइ भिक्खू णचिंतए॥ उ०सू०, 2/12

73. गामाणुगामं रीयंतं, अणगारमकिंचणं।
अरई अणुप्पविसेज्जा, तं तितिक्खे परीसहं॥ उ०सू०, 2/14

74. संगो एस मणुस्साणं, जाओ लोगम्मि इत्थिओ।
जस्स एया परिण्णाया, सुकडं तस्स सामण्णं॥ उ०सू०, 2/16

75. असमाणो चरे भिक्खू, णेव कुज्जा परिग्गहं।
असंसत्तो गिहत्थेहिं, अणिके ओ परिव्वए॥ उ०सू०, 2/19

76. तत्था से चिट्ठमाणस्स, उवसग्गाभिधारए।
संकाभिओ ण गच्छेज्जा, उट्ठित्ता अण्णमासणं॥ उ०सू०, 2/21

77. उच्चावयाहिं सिज्जाहिं, तवस्सी भिक्खू थामवं।
णाइवेलं विहण्णिज्जा, पावदिट्ठि विहण्णइ॥ उ०सू०, 2/22

78. अक्कोसेज्जा परे भिक्खु, णतेसिं पडिसंजले।
सरिसो होइ बालाणं, तम्हा भिक्खू ण संजले॥ उ०सू०, 2/24

79. हओ ण संजले भिक्खू, मणं पिणपओसए।
तितिक्खं परमं णच्चा, भिक्खू धम्मं विचिंतए॥ उ०सू०, 2/26

80. गोयरग्गपविट्ठस्स, पाणी णे सुप्पसारए।
सेओ अगारवासुत्ति, इइ भिक्खूण चिंतए॥ उ०सू०, 2/29

81. परेसु घास-मेसेज्जा, भोयणे परिणिट्ठिए।
लद्धे पिंडे अलद्धेवा, णाणुतप्पेज्ज पंडिए॥ उ०सू०, 2/30

82. णच्चा उप्पइयं दुक्खं, वेयणाए दुहट्ठिए।
अदीणो ठावए पण्णं, पुट्ठो तत्थऽहियासए॥ उ०सू०, 2/32

83. आयवस्स णिवाएणं, अउला हवइ वेयणा।
एवं णच्चा ण सेवंति, तंतुजं तणतज्जिया॥ उ०सू०, 2/35

84. किलिण्णगाए मेहावी, पंकेण व रएण वा।
घिंसुवा परियावेणं, सायं णो परिदेवए॥ उ०सू०, 2/36

85. अभिवायणमब्भुट्ठाणं, सामी कुज्जा णिमंतणं।
जे ताइं पडिसेवंति, ण तेसिं पीहए मुणी॥ उ०सू०, 2/38

86. अह पच्छा उइज्जंति, कम्माऽणाण फला कडा।
एवमस्सासि अप्पाणं, णच्चा कम्मविवागयं॥ उ०सू०, 2/41

87. णिरट्ठगम्मि विरओ, मेहुणाओ सुसंवुडो।
जो सक्खं णाभिजाणामि, धम्मं कल्लाण-पावगं॥ उ०सू०, 2/42

88. अभूजिणा अत्थि जिणा अदुवा वि भविस्सइ।
भुसं ते एवमाहंसु, इइ भिक्खूणं चिंतए॥ उ०सू०, 2/45

89. i) इच्छा-मिच्छाकारं तधाकारो व आसिआ णिसिही।
आपुच्छा छंदण सणिमंतणाय उवसंपा॥ - मूलाचार, वट्केराचार्य, समाचाराधिकार, गाथा 125

ii) उत्तराध्ययन सूत्र 26 उ०सू० 2/2-7

90. पढमं पोरिसि सज्झायं, बीयं झाणं झियायई।
तइयाए भिक्खायरियं, पुणो चउत्थीइ सज्झायं॥ उ०सू०, 26/12

91. पढमं पोरिसी सज्झायं, बीयं झाणं झियायई।
तइयाए णिद्दमोक्खं तु, चउत्थी भुज्जो वि सज्झायं॥ उ०सू०, 26/18

92. i) सामाइयचउवीसत्थव वंदणयं पडिक्कमणं।
पच्चक्खाणं च तहा काओसग्गो हवदि छट्ठो॥ मूलाचार, 7/5-6

ii) प्रवचनसार - कुन्दकुन्दाचार्य, गा० 207-209 तक

93. पंचविधे संजमे पण्णत्ते, तं जहा-समाइयसंजमे, छेदोवट्ठावणियसंजमे, परिहार विसुद्धिसंजमे, सुहुम-संपरागसंजमे, अहक्खायचरित्त संजमे॥ - स्थानांगसूत्र, पंचमस्थान, उ० 2, गा० 139

94. (i) समवायांग, 61, (ii) निर्मायं चरतस्तपस्तदुभयं बाह्यं तथा अभ्यान्तरं, षोढाऽत्राऽनशनादि बाह्यमितरत षोढैव चेतुंचरेत्॥ अनगार धर्मामृत, पं० आशाधर, 7/4

95. अणसण अवमोदरियं रस परिचाओ यवुत्ति परिसंखा। कायस्सवि परितावो विविवत सयणासणं छट्ठं॥ - मूलाचार, गा० 346, पंचाचाराधिकार

96. छव्विहे अब्भंतरिए तवे पण्णत्ते, तंजहा-पायच्छित्त, विणओ वेयावच्चं, सज्झाओ, झाणं, विउसग्गो। स्थानांग सूत्र, स्थान 6, सूत्र 66

97. पायच्छितं विणओ वेज्जावच्चं तहेव सज्झायं।
झाणं विडस्सग्गो अब्भतरओ तवो एसो॥ - मूलाचार, पंचाचाराधिकार, गा० 360, वट्केराचार्य

98. वदसमिदिसिलसंजम परिणामो करणणिग्गहो भावो।
सो हवदि पायच्छित्तं अणवरयं चेव कायव्वो॥ - नियमसार, सू० 113, कुन्दकुन्दाचार्य

99. i) चउव्विहा खलु विणयसमाही भवइ, तंजहा - 1. अणुसासिज्जंतोसुस्सूसइ, 2. सम्मं संपडिवज्जइ, 3. वेयमाराहयइ, 4. णय भवइ अत्तसंपग्गहिए॥ - दशवैकालिक सूत्र-शय्यम्भव स्वामी, 9/4/2

ii) अब्भुट्ठाणं गहणं उवासणं पोसणं च सक्कार।
अंजलिकरणं पणमं, भणिदमिह गुणाधिणाणं हि॥ प्रवचनसार-चरणानुयोग सूचक चूलिका, गा० 262

100. सत्तविहे विणए पण्णत्ते, तं जहा-णाणविणए। दंसणविणए, चरित्तविणए मणविणए, वइविणए, कायविणाए, लोगोवयारविणए॥ - स्थानांगसूत्र, स्थान 7 सू० 130

101. आयरियमाईए, वेयावच्चम्मि दसविहे।
आसेवणं जहाथामं, वेयावच्चं तमाहियं॥ उ०सू०, 30/33

102. i) स्थानांग 465
ii) परियट्णाय वायण पडिच्छणाणुपेहणाय धम्मकहा।
थुदिमंगलसंजुत्तो पंचविहो होइ सज्झाओ॥ मूलाचार वट्टकेर, गाथा 393

103. अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता, झाएज्जासुसमाहिए।
धम्म-सुक्काइं झाणाइं, झाणं तं तु बुहावए॥ उ०सू०, 30/35

104. सयणासणठाणे वा, जे उ भिक्खूण वावरे।
कायस्स विउस्सग्गो, छट्टो सो परिकित्तिओ॥ उ०सू०, 30/36

105. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे वासाणं सवीसइराए मासे विइक्कंते वासावासं पज्जोसवेइ॥ कल्पसूत्र 224, प्र० प्राकृत भारती, जयपुर

106. अंतरा वि य से कप्पइ पज्जोसवित्तए, नो से कप्पइ तयणि उवायणावित्तए। कल्पसूत्र, सू० 231, ले० भद्रबाहु, प्र० प्राकृत भारती, जयपुर

107. कल्पसूत्र, आ० भद्रबाहु, सू० 232-233

108. वासावासं पज्जोववियाणं नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीणा वा हट्ठाणं आरोग्गाणं बलियसरीराणं इमाओ नव रसविगईओ अभिक्खणं 2 आहारित्तए तंजहा-खीरं, दहिं, नवणीयं, सप्पिं, तिल्लं, गुडं, मट्ठं, मज्जं, मंसं। वही-237

109. कल्पसूत्र, आ० भद्रबाहु, सू० 263-265

110. वही, 284

111. i) दशवैकालिक, हरिभद्रीय वृत्ति, पृ० 28-29
ii) नैः सङ्कयाडयाचनाडहिंसादुःखभ्यासाय नाग्न्यवत्।
हस्तेनोत्पाटनं श्मश्रुमूर्धजानां यतेर्मतम्॥ अनगार धर्मामृत, पं० आशाधरजी 9/97

112. कल्पसूत्र, आ० भद्रबाहु, सू० 285-286

113. दुविहोजिणेहिं कहिओ जिणकप्पो तह य थविरकप्पोय।
सो जिणकप्पो उत्तो उत्तम संहणण धारिस्स॥ - भावसंग्रह, देवसेनाचार्य, गा० 19

114. थविर कप्पो वि कहिओ अणयाराणं जिणेण सो एसो।
पंचच्चेलच्चाओ अकिंचणत्तं च पडिलिहणं॥ भावसंग्रह-देवसेनाचार्य, गा० 124

115. तवसुत्तसत्तएगत्तभावसंघडणधिदिसमग्गोय।
पविआआगमबलिओ एयविहारी अणुण्णदो॥ -मूलाचार, समाचाराधिकार, गाथा 194

116. उप्पण्णम्मिय वाही सिरवेयण कुक्खिवेयणं चेव।
आधियासिंति सुधिदिया कायतिगिंछं ण इच्छंति॥ -मूलाचार, वट्टकेराचार्य, अन० भावना०, सू० 841

117. जिणकप्पोऽणुचरिज्जइ नोच्छिन्नोत्ति भणिए पुणो भणइ।
तदसत्तस्सोच्छिज्जउ वुच्छिज्जइ किं समत्थस्स? - विशेषावश्यक भाष्य, भाग-2, गा० 2554, प्र० दिव्य दर्शन ट्रस्ट, मुंबई।

118. उत्तमधिइसंघयणा पुव्वविदोऽतिसइणो सयाकालं।
जिणकप्पियाविकप्पं कयपरिकम्मा पवज्जंति॥ -विशेषावश्यक भाष्य, भाग 2, गा॰ 2591

119. ते जइ जिणवयणाओ पवज्जसि, पवज्जतोस छित्रोत्ति।
अत्थित्तिकहं पमाणं कहवुच्छिन्नो त्ति न पमाणे? विशेषावश्यक भाष्य, गा॰ 2592,
संजयतिय-केवलि-सिज्झणाय जंबुम्मि बुच्छिण्णा। विशेषावश्यक भाष्य, गा॰ 2593

120. अच्चेलवकुद्देसियसेज्जाहरायचपिंड किदियम्मं।
वद जेट्ठ पडिक्कमणं मासं पज्जो समणकप्पो॥ मूलाचार, समयसाराधिकार, सू॰ 911

121. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा-इमाइं पंच वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्ता एवा, तंजहा - 1. जंगिए, 2. भंगिए, 3. साणए, 4. पोत्तए, 5. तिरीडपट्टे नामं पंचमे।
वृहत्कल्पसूत्र, उ॰ 2, सू॰ 29

122. अच्चेलक्कं लोचो वोसट्ठसरीरदा य पडिलिहणं।
ऐसो हु लिंगकप्पो चदुव्विधो होदि णायव्वो॥ मूलाचार, वट्टकेर, गा॰ 910, समयसार

123. उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसिरुजायाञ्च निः प्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः संलेखनामार्याः॥ रत्नकरण्डश्रावकाचार-समन्तभद्र, गा॰ 122

124. i) जीवियं नाभिकंखेज्जा, मरणं नो वि पत्थए।
दुहओ वित सज्जिज्जा, जीविए मरणे तहा॥
आचारांगसूत्र, अनु॰ अमोलक ऋषि श्रु॰ स्कं॰ 1 अ॰ 8, उ॰ 8, गा॰ 4

ii) उपासक दशांक-अभयदेवसूरि वृत्ति - गा॰ 1, 6 पृष्ठ 18

125. कल्पसूत्र 1/1

126. देशयमन्नकषायक्षयोपशमतारतम्यवशतः स्यात्।
दर्शनिकाद्येकादशावशो नैष्ठिकः सुलेश्यतरः॥ सागारधर्मामृत, पं॰ आशाधर, 3/1

127. अणुव्रतोगारी। 15 दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिक पोषधोपवासोपभोग परिभोग परिमाणा तिथि संविभाग व्रत सम्पन्नश्च॥ 16
मारणान्तिकी संलेखनां जोषिता॥17 -तत्त्वार्थ सूत्र, उमास्वाति, 7/15-17

128. मद्यमांसमधु त्यागैः सहाणुव्रतपंचकम्। अष्टौमूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः॥
रत्नकरण्ड श्रावकाचार, समन्तभद्र, 3/20

129. पंचवणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तहतिण्णि सिक्खावय चत्तारि य संजमचरणं च सायारं॥ चारित्र पाहुड, कुन्दकुन्दाचार्य, गा॰ 23

130. पंचाणुव्वया पण्णत्ता, तंजहा-थुलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं, थूलाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, सदारसंतोसे, इच्छापरिमाणे॥ स्थानांगसूत्र, श्री सुधर्मास्वामी, पंचमस्थान, 1/2

131. थूलगं पाणावाइयं पच्चक्खाइ, जावज्जीवाए, दुविहं, तिविहेणं, नकरेमि न कारवेमि, मणसा वयसा कायसा। उपासकदशांग, सुधर्मास्वामी, 1/13

132. तंजहा-बंधे, वहे, छविच्छेए, अइभरे, भत्त पाण विच्छेए। वही, 1/45

133. थूलगं मुसावायं पच्चक्खाइ, जावज्जीवाए दुविहं, तिविहेणं नकरेमि न कारवेमि, मणसावयसा कायसा॥ वही, 1/14

134. तंजहा-सहसभक्खाणे, रहसभक्खाणे, सदारमंतभेए, मोसोवएसे, कूडलेहकरणे। वही, 1/46
135. थूलगं अदिण्णादाणं पच्चक्खाइ, जावज्जीवाए दुविहं, तिविहेणं, न करेमि, न कारवेमि, मणसा वयसा कायसा॥ वही 1/15
136. तंजहा-तेनाहडे, तक्करप्पओगे, विरुद्धरज्जाइक्कमे, कूडतुलकूडमाणे, तप्पडिरूवगववहारे॥ वही, 1/47
137. i)सदारसंतोसिए परिमाणं करेइ, नन्नत्थ एक्काए सिवनंदाए भारियाए, अवसेसं सव्वं मेहुणविहिं पच्चक्खामि॥ उपासकदशांग, 1/16
ii) न तु परदारान् गच्छति, न परान गमयति च पापभीतेर्यत्। सा परदार निवृत्तिः स्वदार सन्तोष नामापि॥ रत्नकरण्डश्रावकाचार, समन्तभद्र, श्लोक 59
138. तंजहा-इत्तरियापरिग्गहियागमणे, अपरिग्गहियागमणे, अणंग क्रीड़ा, परविवाहकरणे, कामभोगातित्व्वाभिलासे॥ वही, 1/48
139. उपासक दशांग, 1/17
140. तंजहा खेतवत्थुपमाणाइक्कमे, हिरण्ण-सुवण्ण पमाणाइक्कमे, दुपय-चउपय-पमाणाइक्कमे, धण-धन्न पमाणाइक्कमे, कुविवपमाणाइक्कमे॥ वही, 1/49
141. i)तत्त्वार्थसूत्र, 7/16,
ii)"दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोग परिमाणम्। अनुवृंहणाद्गुणानामा ख्याति गुणव्रतान्यायाः॥" रत्नकरण्डश्रावकाचार, समन्तभद्र स्वामी, 3/21
142. तंजहा- उड्ढदिसिपमाणाइक्कमे, अहोदिसिपमाणाइक्कमे, तिरियदिसि पमाणाइक्कमे, खेत्तवुड्ढी, सइअंतरद्धा॥ उपासकदशांग, अ॰ 1 सू॰ 50
143. उपासक दशांग सूत्र, 1/22-42
144. वही, 1/51
145. चउव्विहं अणट्ठादंडं पच्चक्खाइ। तंजहा-अवज्झाणायरियं, पमायायरियं, हिंसप्पयाणं, पावकम्मोवएसे॥ वही, 1/43
146 i) तंजहा-कंदप्पे, कुक्कुइए, मोहरिए, संजुत्ताहिगरणे, उवभोग-परिभागाइरित्ते। उपासकदशांकसूत्र, 1/52
ii) असमीक्ष्याधिकरणं भोगनार्थक्यमेव च। तथा कन्दर्पकौत्कुच्य मौखर्यापि च पञ्चते॥ तत्त्वार्थसार, अमृतचन्द्रसूरि, 4/93
147. "देशावकाशिकं वा सामायिकं प्रोषधोपवासो वा। वैयावृत्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि॥" रत्नकरण्डश्रावकाचार, समन्तभद्र, 4/1
148. जीविदमरणे लाभालाभे संजोय विप्पओगेय।
बंधुरिसुहदुक्खादिसु समदा सामाइयं णाम॥ मूलाचार, अ॰ 1, मूलगुणाधिकार, गा॰ 23, ले॰ वट्टकेराचार्य
149. रागाद्यबाधबोधः स्यात् समायोस्मिन्निरुच्यते।
भवं सामायिकं साम्यं नामादौ सत्यऽसत्यपि॥ अनगार धर्मामृत, पं॰ आशाधर 8/19
150. तंजहा-मणदुप्पणिहाणे, वयदुप्पणिहाणे, कायदुप्पणिहाणे, सामाइयस्स सइअकरणया,

सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया। उत्तराध्ययन सूत्र, सुधर्मास्वामी, 1/53

151. सीमान्तानां परतः स्थूलेतर, पंच पाप त्यागात्। देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते। रत्नकरण्ड श्रावकाचार, आचार्य समन्तभद्र, 4/5, प्र० माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रंथमाला समिति।

152. देसावगासियस्स समणोवासएणं पंच अइयारा....., तंजहा-आणवणप्पओगे, पेसवणप्पओगे, सद्दाणुवाए, रुवाणुवाए, बहिया पोग्गालपक्खेवे। उत्तराध्ययन सूत्र, 1/54, सुधर्मास्वामी

153. पोसहोवणसस्स पंच अइयारा....., तंजहा-अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहियसिज्जासंथारे, अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जियसिज्जासंथारे, अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय उच्चार पासवणभूमि, अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय उच्चार पासवणभूमि, पोसहोवचासस्स सम्मं अणणुपालणया॥ उ०द०, 1/55, सुधर्मास्वामी

154. दानं वैयावृत्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये। अनपेक्षितं पचारोपक्रियम गृहाय विभवेन॥ रत्नकरण्ड श्रावकाचार, समन्तभद्रस्वामी, 4/21

155. अहासंविभागस्स पंच अइयारा....., तंजहा सचित्त निक्खेणया, सचित्तपेहणया, कालाइक्कमे, परववएसे, मच्छरिया। उत्तराध्ययन सूत्र, 1/56, सुधर्मास्वामी

156. पंचणुव्वय धारित्तमण इयारं वएसु पडिबंधो। वयणा तदण इयारा वय पडिमा सुप्पसिद्धन्ति॥ प्रतिमाविंशतिका - हरिभद्रसूरि 10/5

157.i) समवायांग, 11/1

ii) एक्कारस उवासग पडिमाओ पण्णत्ताओ तंजहा- 1 दंसण पडिमा, 2 वय पडिमा, 3 सामाइय पडिमा, 4 पोसह पडिमा, 5 काउसग्ग पडिमा, 6 बंभचेर पडिमा, 7 सचित्त परिण्णाय पडिमा, 8 आरंभ परिण्णाय पडिमा, 9 पेसपरिण्णाय पडिमा, 10 उद्दिट्ठभत्तपरिण्णाय पडिमा, 11 समणभूय पडिमा॥ दशाश्रुतस्कंध, 6/1-2

158. श्रावक पदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु। स्वगुणाः पूर्वगुणैः सहसंतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः। रत्नकरण्डश्रावकाचार, समन्तभद्र, 5/15

159. सम्यग्दर्शन शुद्धः संसार शरीर भोग निर्विण्णः। पंचगुरुचरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः॥ रत्नकरण्डश्रावकाचार, समन्तभद्र, अ० 5/16

160. निरतिक्रमणमणुव्रतपञ्चकमपि शीलसप्तकं चापि। धारयते निः शल्यो योऽसौ व्रतिना मतो व्रतिकः॥ वही, 5/17

161. अहावरा चउत्था उवासग पडिमा..... सेणं सामयियं देसावगासियं सम्मं अणुपालित्ता भवइ॥ दशाश्रुतस्कंध, 6/6

162. चतुरावर्त्तत्रितयश्चतुः प्रणामः स्थितो यथाजातः। सामायिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्ध स्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी॥ रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 5/18

163. पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनि गुह्य। प्रोषधनियमविधायी प्रणधिपरः प्रोषधानसनः॥ वही, 5/19

164. अहावरा पंचमा उवासणपडिमा..... सेणं एगराइयं का उसग्ग पडिमं सम्मं अणुपालित्ता भवइ॥

165. मलबणिं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगन्धि बीभत्सं। पश्यन्नङ्गमनङ्गा द्विरमति यो ब्रह्मचारी सः। रत्नकरण्डश्रावकाचार, समन्तभद्र, 5/22
166. मूल फल शाक शाखाकरीर कन्द प्रसून बीजानि। नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्त विरतो दयामूर्तिः॥ वही, 5/20
167. अहावरा अट्ठमा उवासगा पडिमा.... आरंभे से परिणाए भवइ। पेसारंभे स अपरिण्णाए भवइ॥ द०श्रु० स्कं०, 6/10
168. अहावरा नवमा उवासग पडिमा.... पेसारंभे से परिणाए भवइ॥ द०श्रु० स्कं० 6/11
169. अहावरा दसमा उवासग पडिमा.... जाव उद्दिट्ठभत्ते से परिण्णाए भव॥ से णं खुरमुंडएवा, सिहाधार एवा, तस्स णं आभाट्ठस्स वा समाभाट्ठस्स वा कप्पंति दुवे भासाओ भासित्तए, तंजहा - 1. जाणवाजाणं, 2. अजाणंवानोजाणं। वही, 6/12
170. गृहतो मुनिवनमित्वा गुरुपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्ड धरः॥ र० क० श्रा., समन्तभद्र, 5/26
171. सागार धर्मामृत - पं० आशाधर, 3/17
द्यूतं च मांसं च सुरा चवेश्या पापर्द्धिचौर्यां परदारसेवाः। एतानि सप्तव्यसनानि लोके पापाधिके पुंसिकराः भवंति॥ रत्नकरंडश्रावकाचारः समन्तभद्र, सू० 116
172. प्रवचनसारो द्वार, द्वार 238
173. सचित्त-दव्व-विगइ, उवाहण-तंबोल-वत्थ-कुसुमेसु। वाहण-सयण-विलेवण-बंभ-दिसि-ण्हाण-भतेसु॥ संबोध प्रकरण, श्रावकाधिकार, हभिद्रसूरि गा० 121
174. समणेण सावएण य, अवस्स कायव्वयं हवइ जम्हा। अन्ते अहो-निसस्स य, तम्हा आवस्सयं नाम॥ आवश्यक वृत्ति, गा० 2, पृ० 53
175. ठाणांगसूत्र, सुधर्मास्वामि 3/4/210
176. उपसर्गे, दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निः प्रतीकारे। धर्माय तनुविमोचन माहुः सल्लेखनामार्यां॥ रत्नकरण्ड श्रावकाचार, समन्तभद्र, पंचम अधिकार, गा० 1
177. उपासक दशांग सूत्र, 1/57

उपसंहार

मानव सदियों से अपने अस्तित्व एवं विकास के इतिहास को जानने का प्रयास करता रहा है। प्रत्येक देश और धर्म का अपना इतिहास होता है। इतिहास तथ्यों का संकलन मात्र नहीं है, अपितु समाज और काल विशेष के परिप्रेक्ष्य में उत्थान और पतन, विकास और अवनति, सामाजिक संरचना व संगठन की पृष्टभूमि को प्रस्तुत करता है। वस्तुतः धर्म-दर्शन का इतिहास समाज का ही इतिहास होता है, क्योंकि धर्म धार्मिकों के नैतिक आचार और आदर्शों में ही परिलक्षित होता है, जो उनकी सामाजिक मान्यताओं व परम्पराओं के अनुरुप ही होते हैं। धर्म के इतिहास का एक प्रयोजन काल-विशेष में विशेष धार्मिक समुदाय की सामाजिक और नैतिक व्यवस्था को भी समझना है।

भारतीय समाज में व्यक्ति व समूह के जीवन की सभी प्रमुख अवस्थाएँ धार्मिक आधार पर नियोजित रही है। जाति, परिवार, नैतिक जीवन, आर्थिक संस्थाएँ, मान्यताएँ, विश्वास इत्यादि सभी संस्थात्मक व सामाजिक सम्बन्धों में धार्मिक मान्यताएँ, अनुष्ठान व विधियाँ जीवन को नियन्त्रित व समायोजित करती है। धर्म का सम्बन्ध प्रत्येक व्यक्ति से किसी न किसी रुप में रहता है, क्योंकि धर्म व्यक्ति के जीवन के सर्वांगीण पक्षों से जुड़ा रहता है। अतः उसके आधार पर सामान्य आचार, आचरण, विचार को अधिक सार्थक रुप से समझा जा सकता है।

धर्म का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विधिवत रुप से अध्ययन करने का प्रयास बहुत कम ही हुआ है। बुद्धिजीवी प्रायः ऐतिहासिक पक्ष की अपेक्षा उसके दार्शनिक पक्ष को ही उजागर करने में अधिक अभिरुचि रखते हैं। जबकि धर्म के माध्यम से समाज को समझने की प्रक्रिया ज्ञान के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण विधा है। मानवशास्त्रियों ने आदिवासी समाज के अध्ययन में इस विधा का प्रयोग किया है, लेकिन अन्य विकसित जटिल समाजों में इस विधा के आधार पर अध्ययन नगण्य है।

एक ऐसे धर्म-दर्शन का ऐतिहासिक अन्वेषण किया जाना तो आवश्यक है, जो मानव संस्कृति व सभ्यता के विकास में सहायक ही नहीं रहा है वरन् जो उसका उद्गम स्त्रोत कहा जा सकता है। जो मानव संस्कृति का आद्य-प्रणेता रहा है, इतने महत्वपूर्ण धर्म दर्शन को भी आज अपनी प्राचीनता के प्रमाण देने पड़ते हैं। इसका कारण दर्शन के ऐतिहासिक पक्ष की ओर उपेक्षा भाव ही प्रतीत होता है। जबकि वह

धर्म-दर्शन सदियों से आज तक प्रवर्तमान है। जी हाँ, मैं जैन धर्म-दर्शन के सन्दर्भ में ही कह रही हूँ, जिसकी प्राचीनता को विविध प्रमाणों द्वारा इस शोध कार्य में प्रमाणित किया है।

जैन धर्म-दर्शन एक अति प्राचीन धर्म है, यह तो सर्वविदित हो गया है। भारत को आर्यावर्त एवं अहिंसा प्रधान देश कहा जाता है। इससे सिद्ध होता है, कि भारत में जैन धर्म का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। वैदिक काल से पूर्व जैन धर्म का अस्तित्व स्वयं वेद पुराणों के द्वारा प्रमाणित हो चुका है। जैसे यजुर्वेद में लिखा है, 'ऊँ नमो अर्हन्तो ऋषभो'। जिसका अर्थ है, अर्हंत ऋषभदेव को नमस्कार हो। इस प्रकार के अनेक प्रमाण पूर्व में दिए जा चुके हैं। इस प्रारम्भिक धर्म-दर्शन ने मानव को किस प्रकार संस्कारित किया और आज यह अपने मौलिक रुप में कितना उपादेय है? अन्त में इसी तथ्य को उजागर करने का प्रयास कर रही हूँ।

जैन धर्म-दर्शन का मानव संस्कृति के विकास में योगदान: संस्कृति के विकास का क्षेत्र या आधार मानव जीवन है। मानवेत्तर प्राणियों का संस्कृति में कोई प्रयोजन नहीं है। उनकी एक निश्चित रूढ़ जीवन प्रणाली है। प्राप्त का भोग करना ही उनके जीवन की प्रक्रिया है। उस प्रक्रिया में नवीनता लाना या परिवर्तन करना उनकी क्षमता से परे है। मानव ही अपने जीवन को सुन्दर, सुसंस्कृत बना सकता है। मानव में ही वह क्षमता है, जो नर से नारायण बन सके, मानव से महामानव के पद पर पहुँच सके।

संस्कृति उस सुन्दर सरिता के समान है, जो अपने स्वच्छन्द भाव से निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। यदि सरिता के प्रवाह को बाँध दिया जाए तो वह सरिता नहीं रह जाएगी। इसी प्रकार संस्कृति एक व्यापक तत्त्व है। उसे शब्दों की सीमा में बाँध देने पर उसकी प्रवाहशीलता का निदर्शन नही हो सकता। उसे विशेषणों द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता है। संस्कृति मानव के भूत, वर्तमान व भावी जीवन का सर्वांगीण स्वरुप है, जीवन की प्राणवायु है, प्रेरक शक्ति है, जीवन जीने की कला है।

संस्कृति का प्राणतत्व है- सतत् प्रवाह शीलता। संस्कृति विचार, आदर्श भावना और संस्कार प्रवाह का वह संगठित एवं सुस्थित संस्थान है, जो मानव को अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त होता रहता है। इस उत्तराधिकार को दो भागों में बाँटा जा सकता है- भौतिक और आध्यात्मिक। भौतिक संस्कृति को सभ्यता भी कहते हैं। इसमें भवन, वसन, वाहन आदि उस समस्त भौतिक सामग्री और साधनों का समावेश किया जा सकता है, जिसका मानव समाज ने अपने श्रम से निर्माण किया है। आध्यात्मिक संस्कृति में आचार, विचार, विज्ञान और संस्कार का समावेश होगा। सभ्यता एवं संस्कृति परस्पराश्रित हैं, लेकिन समानार्थक नहीं। सभ्यता प्रदर्शन है और संस्कृति अन्तर दर्शन है। संस्कृति का केन्द्र बिन्दु आत्मा है, जिसकी प्राप्ति के लिए

संस्कृति में धर्म, दर्शन, कला, विज्ञान आदि सभी तत्वों का पूर्ण सामंजस्य होता है।

जैन धर्म-दर्शन ने मानव संस्कृति को विकसित किया। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव जी इस मानव संस्कृति के सूत्रधार बने। उनके पूर्व आदि सभ्यता अत्यन्त सरल और सहज थी। किसी प्रकार की कौटुम्बिक व्यवस्था न होने से कोई उत्तरदायित्व नहीं था। युगलियों का जीवन था, भोगमूलक जीवन व्यवस्था थी, कल्पवृक्षों के आधार पर जीवन चलता था। प्रकृति और मानवीय तत्वों का यह ऐसे संमिश्रण का युग था, जहाँ धर्म साधना, पाप-पुण्य, ऊँच-नीच आदि द्वन्द्वात्मक प्रवृत्तियों का अस्तित्व नहीं था। कर्म और कर्त्तव्य की भावना सुषुप्त थी। लोग न खेती करते थे, न व्यवसाय।

कालचक्र के प्रभाव से आगे चलकर प्रकृति ह्रासोन्मुखी होने लगी। जैसे-जैसे प्राकृतिक साधन कम होने लगे, लोगों में कल्पवृक्षों को लेकर छीना-झपटी होने लगी। इससे असुरक्षा की स्थिति उत्पन्न हो गयी, फलतः सुरक्षा एवं सहयोग का आह्वान किया गया। इससे सामूहिक व्यवस्था प्रतिफलित हुई, जिसे जैन साहित्य में 'कुल' नाम दिया गया और जिन्होंने इस व्यवस्था का श्री गणेश किया, उन्हें कुलकर कहा गया। ऐसे 14 कुलकर हुए। प्रत्येक कुलकर ने व्यवस्था को गति प्रदान की। इनके समय तक विभाजन की व्यवस्था के साथ-साथ सामान्य दण्ड-व्यवस्था का भी प्रारम्भ हो चुका था।

भगवान ऋषभदेव के जीवन क्रम ने मानव सभ्यता एवं संस्कृति को एक नया मोड़ दिया। उन्होंने एक आदर्श राजा के रूप में भोगमूलक संस्कृति के स्थान पर कर्ममूलक संस्कृति की प्रतिष्ठा की। पेड़-पौधों पर निर्भर रहने वाले लोगों को खेती करना सिखाया। आत्म शक्ति से अनभिज्ञ रहने वाले लोगों को अक्षर, लिपि, कला और विज्ञान का ज्ञान देकर पुरुषार्थी बनाया। दैववाद के स्थान पर पुरुषार्थवाद की मान्यता को सम्पुष्ट किया। अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लड़ने के लिए हाथों में बल दिया। जड़ संस्कृति को कर्म की गति दी, चेतनाशून्य जीवन को सामाजिकता का बोध और सामूहिकता का स्वर दिया। पारिवारिक जीवन को सशक्त बनाया। सर्वप्रथम विवाह प्रथा का समारम्भ किया। कला कौशल और उद्योग-धन्धों की व्यवस्था कर निष्क्रिय जीवन-यापन की प्रणाली को सक्रिय और सक्षम बनाया।

ऋषभदेव जी ने ही सामाजिक व्यवस्था का ज्ञान लोगों को दिया। जिन काम-धन्धों के बिना उस समय वैयक्तिक और सामाजिक जीवन शक्य नहीं था और आज भी जो शक्य नहीं हो सकता, वे सारे उन्होंने सिखाए। उस वक्त की परिस्थिति व समझ के अनुसार ही उन्होंने लोगों को खेती द्वारा अनाज पैदा करने, अनाज पकाने, उसके लिए आवश्यकतानुसार बर्तन बनाने, रहने के लिए मकान तैयार करने, वस्त्र निर्माण आदि जीवनोपयोगी शिल्प की शिक्षा दी।

आदिवासी भारतीय जाति का निर्माण, गठन, रचना तथा तन्त्रीकरण करना

आसान काम नहीं था। ऋषभदेव जी ने ही वर्ण-व्यवस्था को प्रारंभ किया। वणिक, क्षत्रिय, व शूद्र की स्थापना की। उन्होंने स्पृश्यास्पृश्य भेद के बिना असि, मसि और कृषि अर्थात् स्वरक्षा, लेखन और खेती का ज्ञान दिया। कर्म के आधार पर ही वर्ण निर्धारण होता था। एक वणिक-पुत्र क्षत्रिय हो सकता था। इस प्रकार मानव को कल्पवृक्षों की अधीनता से मुक्त कर उसे स्वयं अपने भाग्य का निर्माता बनाया।

इस प्रकार जैन धर्म दर्शन के प्रथम प्रणेता ने राज्य व समाज व्यवस्था को स्थापित करके मानव जीवन को सरस, शिष्ट एवं व्यवहार योग्य बनाया। इसके पश्चात् उन्होंने ही सर्वप्रथम आत्म तत्व की प्राप्ति का प्रयास किया और उसे प्राप्त कर जैन धर्म दर्शन का प्रवर्तन किया। चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन भगवान ऋषभदेव जी चार हजार पुरुषों के साथ देवदृष्य वस्त्र लेकर चार मुष्ठि से केशलुंचन करके मुंडित होकर अनगार दशा को स्वीकार करते हैं।[1] भगवान ने चार हजार साधकों को अपने हाथ से प्रव्रज्या प्रदान नहीं की, किन्तु उन्होंने स्वयं ही भगवान का अनुकरण कर स्वयं लुंचन आदि क्रियाएँ की।[2]

श्रमण बनने के पश्चात ऋषभदेव जी अखण्ड मौनव्रती बनकर एकांत-शांत स्थान में ध्यानस्थ होकर रहने लगे। वे अनासक्त भाव से अम्लानचित्त से भिक्षा के लिए नगर-ग्रामों में परिभ्रमण करते। लेकिन भिक्षा विधि से अनभिज्ञ लोग, उन्हें भोजन के स्थान पर राज्य, धन, कन्याएं आदि भेंट करने का प्रयास करते और वे लौट जाते। पूरे एक संवत्सर के पश्चात बाहुबली के पुत्र सोमप्रभ राजा के पुत्र श्रेयांस कुमार ने भक्ति विभोर हृदय से ताजा आया हुआ इक्षुरस भगवान को प्रदान किया। विशुद्ध आहार जानकर भगवान ने उसे ग्रहण किया। इस प्रकार सर्वप्रथम इक्षुरस पान करने के कारण वे काश्यप नाम से भी विश्रुत हुए।[3] वैशाख शुक्ला तृतीया को इक्षुरस से वर्षीतप का पारणा हुआ। अतः वह तृतीया 'इक्षु तृतीया' या अक्षय तृतीया के नाम से प्रसिद्ध हुई।

चूंकि भगवान मौनस्थ थे। अतः वे चार हजार अनुगामी साधक भूख-प्यास से संतप्त होकर किसी दिशा निर्देश के अभाव में सम्राट भरत के भय से पुनः गृहस्थ न बनकर वल्कलधारी तापस बन गये।[4]

भगवान ऋषभदेव जी ने दीक्षा के पश्चात् अपनी आत्मा को एक हजार वर्ष तक भावित करते हुए फाल्गुन कृष्ण एकादशी को अनन्त केवल दर्शन, केवल ज्ञान को प्राप्त किया। उससे वे समस्त लोकालोक के भाव को जानने लगे। तभी उन्होंने प्रथम प्रवचन देकर जन-जन को उद्‌बोधित किया। उसे श्रवण कर सम्राट भरत के पाँच सौ पुत्रों और सात सौ पौत्रों ने तथा ब्राह्मी आदि ने दीक्षा ग्रहण की। भरत आदि ने श्रावक व्रत ग्रहण किए। इस प्रकार श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ की स्थापना करके वे सर्वप्रथम तीर्थंकर बने। श्रमण धर्म के लिए पंच महाव्रत और गृहस्थ

धर्म के लिए द्वादश व्रतों की प्ररुपणा की। इसीलिए भगवान ऋषभदेवजी को धर्म का मुख कहा है।[1]

इस प्रकार मानव की भौतिक व आध्यात्मिक दोनों ही पक्षों का प्रारम्भिक उन्नयन भगवान ऋषभदेवजी ने ही किया। उन्होंने जहाँ एक ओर वन सभ्यता में जीने वाले मानव को नगर-सभ्यता का ज्ञान दिया, वहीं उन्हें भौतिक साधनों की नश्वरता का ज्ञान देकर आत्म-साधना हेतु भी उद्‌बोधित किया। उनके बताए आत्म-साधना के मार्ग पर चलने वाले अनगिनत पथिकों ने मोक्ष सुख को प्राप्त किया। दूसरी ओर नगर-सभ्यता के निर्माण में जुटा मानव धीरे-धीरे समृद्धि का स्वामी हो गया और संस्कृति का वाहक भी। इस विकास क्रम से प्रतीत होता है, कि ऋषभदेव जी की प्रेरणा और तत्कालीन मानव का पुरुषार्थ ही सिंधु सभ्यता (जो प्राचीनतम नगर सभ्यता थी) के निर्माण की आधारशिला रहा होगा।

भगवान महावीर के जीवन दर्शन की पूर्व परम्परा में ऋषभदेव जी के अतिरिक्त बीच के 22 तीर्थंकरों के चिन्तन और साधना का भी महत्वपूर्ण योग रहा है। ऋषभदेव जी के बाद के तीर्थंकर भी मानव संस्कृति के विभिन्न कालों से जुड़े हुए हैं। तीसरे तीर्थंकर संभवनाथ जी का काल सिंधु-सभ्यता के विकास का काल माना जा सकता है। डॉ. ज्योति प्रसाद जैन ने अपने ग्रन्थ 'भारतीय इतिहास-एक दृष्टि' में इस प्रकार की कुछ समानताओं का संकेत किया है।

सिन्धु घाटी में प्राप्त अवशेषों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है, कि उसके पुरस्कर्ता प्राचीन विद्याधर जाति के लोग थे। उनके धार्मिक मार्गदर्शक मध्य-प्रदेश के वे मानवंशी मूल आर्य थे, जो श्रमण-संस्कृति के उपासक थे। संभवनाथ का विशेष चिन्ह अश्व है और सिन्धु देश चिरकाल तक अपने सैन्धव अश्वों के लिए प्रसिद्ध रहा है। मौर्यकाल तक सिंधु में एक सम्भूतक जनपद और सांभव (संबूज) जाति के लोग विद्यमान थे, जो बहुत सम्भव है, कि सम्भवनाथ तीर्थंकर की परम्परा से सम्बन्धित रहे हों।

इसी प्रकार सिन्धु सभ्यता में नागफण के छत्र से युक्त कलाकृतियाँ भी प्राप्त हुई हैं, जो सातवें तीर्थंकर सुपार्श्व की हो सकती हैं। इनका चिन्ह स्वास्तिक है और तत्कालीन सिन्धु घाटी में स्वास्तिक एक अत्यन्त लोकप्रिय चिन्ह रहा है। इस प्रकार जैन इतिहास में चौबीस तीर्थंकरों की परम्परा मिथ्या नहीं है। उसका अपना ऐतिहासिक एवं आध्यात्मिक महत्व है। लेकिन अनेक महत्वपूर्ण तथ्य काल के गर्त में दबे पड़े हैं।

मानव संस्कृति के साथ-साथ श्रमण संस्कृति के इस तालमेल के कारण भारतीय महापुरुषों का सम्बन्ध एक दूसरे से बना रहा है। चाहे वे श्रमण परम्परा के हों, अथवा वैदिक परम्परा के। बीसवें तीर्थंकर मुनि सुव्रत स्वामी का समय रामायण

का घटना काल माना जाता है। राम की कथा के प्रसंग में इनका विवरण भी मिलता है। 21वें तीर्थंकर नमि मिथिला के राजा थे। इन्हें हिन्दू पुराणों में भी राजा जनक का पूर्वज स्वीकार किया गया है। नमि की अनासक्त वृत्ति मिथिला में जनक में पायी जाती है। इनके वंश एवं प्रदेश को 'विदेह' कहे जाने का सम्भवतः यही कारण है। बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ का इतिहास कृष्ण-बलराम के कथा प्रसंगों से जुड़ा हुआ है। नेमिनाथ की संसार से विरक्ति में जीवमात्र के प्रति करूणा प्रधान कारण रही है। जिनशासन में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने प्राणीमात्र से मैत्रीभाव बढ़ाया, मांसाहार व पशुवध का घोर विरोध किया, और उस समय से सब बन्द भी करवा दिया। 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की परम्परा तो भगवान महावीर के समय भी विद्यमान थी। पार्श्वनाथ की जीवन साधना ने बुद्ध आदि को बहुत प्रभावित किया। पार्श्वनाथ ने भी अहिंसा का बहुत प्रसार किया, जो तत्कालीन समाज की परम आवश्यकता थी। उन्होंने समाज में पाखण्ड के प्रति फैले अन्धविश्वास को खण्डित किया। ईसा पूर्व छठी शताब्दी की धार्मिक क्रान्ति की पृष्ठभूमि भगवान पार्श्वनाथ के समय से ही स्पष्ट होने लगी थी, भगवान महावीर ने जिसका पूर्ण विकास किया। मानव संस्कृति जो पतन के गर्त में जा रही थी, महावीर ने एक बार फिर उसके पुनरुत्थान में सहायता की। समाज को पुनः दुष्प्रवृत्तियों से मुक्त किया।

इस प्रकार जैन धर्म-दर्शन मानव संस्कृति का प्रवर्तक ही नहीं है, वरन इसके लम्बे इतिहास में अनेक बार इसी जैन-दर्शन ने पुनः-पुनः सहारा देकर प्रशस्त मार्ग द्वारा इस मानव संस्कृति का पुनरुत्थान किया है।

2. भारतीय संस्कृति व दर्शन में जैन दर्शन की भूमिका: संस्कृति वस्तुतः सार्वदेशिक व सार्वभौमिक होती है। लेकिन उसमें किन्ही विशेष गुण-धर्मों या देश-प्रदेशों की अपेक्षा से उसका उस रूप में मुख्यता से कथन होने लगता है। देश भेद की दृष्टि से मानव अनेक हैं और उनकी अनेक संस्कृतियाँ हैं। लेकिन यह विविधता विभाजक नहीं, अपितु समन्वय, सहकार, सहयोग और सह अस्तित्व का सुन्दर गुलदस्ता है। जैसे गंगा के अनेक नाम हैं, पर नामों की विभिन्नता से गंगाजल में अन्तर नहीं आता। वह आदि से अंत तक अपने निर्मल प्रवाह रूप से एक है। यही बात संस्कृति के लिए भी है, नामकरण उसकी गतिशीलता के अवरोधक नहीं है, वरन् उसकी श्री वृद्धि करने वाले ही हैं।

भारतीय संस्कृति के उच्चरण से भारत देश की संस्कृति का ज्ञान होता है। लेकिन भारतीय संस्कृति का शाब्दिक अर्थ होता है- प्रकाश के मार्ग का अनुसरण करने से प्राप्त होने वाली संस्कार सम्पन्नता। भा- प्रकाश और प्रकाश के मार्ग का 'रत'- दत्तचित्त होकर अनुसरण करना, भारत का वाच्य है। उससे प्राप्त होने वाली संस्कार सम्पन्नता का नाम भारतीय संस्कृति है। इस संस्कार-सम्पन्नता प्राप्ति के तीन

सूत्र हैं- दयतां, दीयतां, दाम्यताम्।[1] इसमें समग्र भारतीय संस्कृति का सार आ गया है। जहाँ दया, दान और दमन (मन, इन्द्रियों का निग्रह) है, वहीं भारतीय संस्कृति है।

भारत के जन मन में दया, दान और दमन की ऊर्जा भरी हुई है। प्राणिमात्र के प्रति दया करो, मुक्त भाव से दान दो और अपने मन के विकल्पों का दमन करो, यही भारतीय संस्कृति का स्वर है। वेदों ने इसी को गाया है, पिटकों में इसी को ध्याया है, और आगमों में भी सर्वत्र इसी की छाया है।

अपने मूलरूप में भारतीय संस्कृति एक होकर भी धारा रूप में अनेक है। वेद, बुद्ध और जिन रूप से वह तीन धाराओं में प्रवाहित है। वेद दान का, बुद्ध दया का, और जिन दमन का प्रतीक है। वेद मार्ग से प्रवाहित धारा वैदिक संस्कृति, पिटक से बहने वाली धारा बौद्ध संस्कृति और आगम मार्ग पर अग्रसर धारा जैन संस्कृति है। मनोविकारों को दमित करने वाला विजेता ही जिन होता है और जिन की संस्कृति ही वस्तुतः जैन संस्कृति है।

भारतीय संस्कृति दो धाराओं में निहित है- ब्राह्मण संस्कृति विस्तारवादी, प्रवृत्तिवादी है। श्रमण संयम का साधक है, निवृत्तिवादी है। भारतीय संस्कृति में मानव के चार पुरुषार्थ स्वीकार किए गए हैं- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। ब्राह्मण संस्कृति में प्रथम तीन पुरुषार्थों पर अधिक बल दिया गया है, जबकि श्रमण संस्कृति में अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष को ही परम श्रेय माना गया है।

जैन संस्कृति किसी वर्ग, सम्प्रदाय या व्यक्ति विशेष की संस्कृति नहीं है। प्रत्युत मानव जाति के चिन्तन से विकसित आध्यात्मिकता का प्रवाह है। इसकी प्रत्येक प्रवृत्ति में अनासक्ति, अहिंसा और अपरिग्रह का आदर्श दृष्टिगत होता है। जड़ता, प्रमाद, कदाग्रह, अंधविश्वास और आडम्बर का जैन संस्कृति में कोई स्थान नहीं है। व्यक्ति को स्वविकास करने और पराश्रयता से मुक्त करने के लिए आत्मविश्वास पैदा करने का श्रेय जैन संस्कृति को ही है।

जैन संस्कृति में निहित उद्यत भावना का प्रतिनिधित्व तो इसका नाम ही करता है। जैन तीर्थंकरों ने अपने नाम पर धर्म का नामकरण नहीं किया। जैन शब्द बाद का है। इसका प्राचीन नाम श्रमण, अर्हत और निर्ग्रंथ धर्म रहा है। श्रमण शब्द समभाव, श्रमशीलता एवं वृत्तियों के उपशमन का परिचायक है। अर्हत् शब्द भी गुण वाचक है, जिसने पूर्ण योग्यता, पूर्णता प्राप्त कर ली है, वह है- अर्हत्। जो सब प्रकार की ग्रन्थियों से मुक्त हो गया है, वह निर्ग्रन्थ है। जिन्होंने राग द्वेष रूप-शत्रु अर्थात् आन्तरिक विकारों पर विजय प्राप्त कर ली है, वे जिन कहे गये हैं और उनके अनुयायी जैन। इस प्रकार जैन धर्म किसी विशेष व्यक्ति सम्प्रदाय या जाति का परिचायक न होकर उदात्त जीवन आदर्शों और सार्वजनीन भावों का प्रतीक है, जिनमें संसार के सभी प्राणियों के प्रति आत्मोद्धारक मैत्री भाव निहित है।

संपूर्ण भारतीय संस्कृति त्याग और सर्वभूतदया से ओतप्रोत है, लेकिन जितना बल जैन संस्कृति ने इस पर दिया है और जितनी गति की है वह विलक्षण है। जैन संस्कृति की प्रमुख विशेषता और संसार को सबसे बड़ी देन अहिंसा है। जैन दर्शन ने ही सर्वप्रथम यह उद्‌बोधन दिया, कि प्राणीमात्र जीवित रहने की कामना करता है, अतः प्राणीमात्र की रक्षा करो। वध सभी को अप्रिय लगता है और जीना सबको प्रिय लगता है। अतः जैन दर्शन ने वेदानुयायियों के धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा का कड़ा विरोध किया। यज्ञ के नाम पर की गई हिंसा अधर्म है। सच्चा यज्ञ आत्मा को पवित्र बनाने में है। इसके लिए क्रोध की बलि दीजिये, मान को मारिये, माया को काटिये और लोभ का उन्मूलन कीजिये। धर्म के इस अहिंसामय रूप ने संस्कृति को अत्यन्त सूक्ष्म और विस्तृत बना दिया। उसे जन रक्षा (मानव-समुदाय) तक सीमित न रखकर समस्त प्राणियों की सुरक्षा का दायित्व सौंप दिया। यह जनतंत्र से भी आगे प्राणतंत्र की व्यवस्था का सुन्दर उदाहरण है।

जैन दर्शन ने सांस्कृतिक विषमता के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द की। वर्णाश्रम व्यवस्था की विकृति का शुद्धिकरण किया। जन्म के आधर पर उच्चता और नीचता का निर्णय करने वाले ठेकेदारों को मुँह तोड़ जवाब दिया। व्यक्तित्व का मानदण्ड कर्म को बताया। हरिकेशी चाण्डाल तथा सद्दालपुत्त कुम्भकार को भी आचरण की पवित्रता के कारण आत्म-साधकों में गौरवपूर्ण स्थान दिया।

अपमानित और अचल सम्पत्तिवत मानी जाने वाली नारी के प्रति आत्म-सम्मान और गौरव की भावना जगाई। उसे धर्म-ग्रन्थों को पढ़ने का ही अधिकार नहीं दिया वरन् आत्मा के चरम विकास मोक्ष की भी अधिकारिणी माना। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार इस युग में सर्वप्रथम मोक्ष जाने वाली भगवान ऋषभदेव जी की माता मरुदेवी ही थीं। नारी को अबला और शक्तिहीन नहीं समझा गया। उसकी आत्मा में भी उतनी ही शक्ति संभावना मानी गई है जितनी पुरुष में। नारी को दब्बू, आत्मभीरु और साधना क्षेत्र में बाधक नहीं माना गया। उसे साधना में पतित पुरुष को उपदेश देकर संयम-पथ पर लाने वाली प्रेरक शक्ति के रूप में देखा गया। राजुल ने संयम से पतित रथनेमि को उद्‌बोधन देकर अपनी आत्मशक्ति का ही परिचय नहीं दिया, वरन तत्वज्ञान का वास्तविक स्वरूप भी समझाया।

जैन संस्कृति ने भारत में सांस्कृतिक समन्वय और एकता की भावना को भी बलवती बनाया है। यह समन्वय विचार और आचार दोनों क्षेत्रों में देखने को मिलता है। विचार समन्वय के रूप में अनेकान्त दर्शन का प्रतिपादन किया है। आचार समन्वय की दिशा में श्रमण धर्म तथा गृहस्थ धर्म की व्यवस्था दी है। ज्ञान और क्रिया का, प्रवृत्ति और निवृत्ति का सुन्दर सामंजस्य किया गया है।

सांस्कृतिक एकता के संरक्षण एवं संवर्द्धन में जैन दर्शन का महत्वपूर्ण योगदान

है। उसने सम्प्रदायवाद, जातिवाद, प्रांतीयतावाद आदि सभी मतभेदों को भुलाकर राष्ट्र-देवता को बड़ी उदार और आदर की दृष्टि से देखा है। प्रत्येक धर्म के विकसित होने के कुछ विशिष्ट क्षेत्र होते हैं। उन्हीं दायरों में वह धर्म बन्धा रहता है। लेकिन जैन धर्म इस दृष्टि से किसी जनपद या प्रान्त विशेष में बंधा नहीं रहा। भारत के किसी एक भाग विशेष में इसकी श्रद्धा, साधना और चिन्तन का क्षेत्र नहीं रहा वरन् संपूर्ण राष्ट्र में इसके बीज अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित हुए तथा संपूर्ण राष्ट्र में इसकी सौरभ फैली है। धर्म का प्रचार करने वाले तीर्थंकरों के जन्मभूमि, दीक्षास्थली, तपोभूमि, निर्वाणस्थली आदि भिन्न-भिन्न रहे हैं। जैसे भगवान महावीर विदेह (उत्तर बिहार) में उत्पन्न हुए तो उनका साधना क्षेत्र व निर्वाण स्थल मगध (दक्षिण बिहार) रहा। तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जनम तो वाराणसी में हुआ और उनका निर्वाण स्थल बना सम्मेदशिखर। प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव अयोध्या में जन्मे लेकिन उनकी तपोभूमि रही कैलाश पर्वत। भगवान अरिष्टनेमि का कर्म व धर्म क्षेत्र रहा सौराष्ट्र-गुजरात। भूमिगत सीमा की दृष्टि से जैन धर्म दर्शन सम्पूर्ण राष्ट्र में फैला। दक्षिण भारत के श्रवणबेलगोला व कारकल आदि स्थानों पर स्थित बाहुबली के प्रतीक आज भी इस राष्ट्रीय चेतना के प्रतीक हैं।

जैनों की यह सांस्कृतिक एकता भूमिगत ही नहीं रही। वरन् भाषा और साहित्य में भी समन्वय का सुन्दर चित्रण दर्शित होता है। जैन दार्शनिकों ने संस्कृत को ही नहीं अन्य सभी प्रचलित जनपदीय भाषाओं को अपना कर उन्हें समुचित सम्मान दिया। जहाँ-जहाँ भी वे गये, वहाँ-वहाँ की भाषाओं को चाहे वे आर्य परिवार की हो अथवा द्रविड़ परिवार की- अपने उपदेश और साहित्य का माध्यम बनाया। इसी उदार प्रवृत्ति के कारण मध्ययुगीन विभिन्न जनपदीय भाषाओं के मूल रूप सुरक्षित रह सके हैं। आज जब भाषा के नाम पर विवाद और मतभेद हैं, तब ऐसे समय में जैन संस्कृति की यह उदार दृष्टि स्तुत्य ही नहीं, अनुकरणीय भी है।

साहित्यिक समन्वय की दृष्टि से तीर्थंकरों के अतिरिक्त राम और कृष्ण जैसे लोकप्रिय चरित्र नायकों को भी जैन साहित्यकारों ने सम्मान का स्थान दिया। इसके अतिरिक्त रावण आदि अनेक ऐसे व्यक्ति जो अन्यत्र उपेक्षा एवं घृणा के पात्र बने हैं, उन्हें भी जैन साहित्य में उचित सम्मान मिला है। उनके भी गुणों को उजागर किया है। यही कारण है, कि वासुदेव के शत्रुओं को भी प्रति वासुदेव का उच्च पद दिया। नाग-यक्ष आदि को भी अनार्य न मानकर तीर्थंकरों का रक्षक माना है। और उन्हें देवालयों में स्थान दिया है। कई जैनेत्तर संस्कृत एवं डिंगल ग्रन्थों की लोकभाषाओं में टीकाएँ लिखकर भी जैन विद्वानों ने इस सांस्कृतिक विनिमय को प्रोत्साहन दिया है।

जैन दर्शन में सगुण-निर्गुण के विवाद को भी निर्मूल बताते हुए दोनों ही धाराओं को साधना के दो सोपानों के रूप में प्रतिष्ठित करके दोनों का अद्भुत

समन्वय किया है। निराकार आत्मा (सिद्ध) और साकार रूप (अरिहन्त) के स्वरूप में एकता के दर्शन होते हैं। पंच परमेष्ठी नमस्कार महामंत्र (नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्व साहूणं) में एक ही मंगलाचरण में इस प्रकार का समभाव अन्यत्र देखने को नहीं मिलता।

यह समन्वय भावना अनुपम उदारता की प्रतीक है। पंच-परमेष्ठी नमस्कार महामंत्र किसी वैयक्तिक निष्ठा का प्रतिपादक न होकर गुणनिष्ठा का प्रतिपादन करता है। इसमें जैन धर्म के सर्वाधिक पूजनीय, वन्दनीय 24 तीर्थंकरों में से किसी का नाम नहीं है। व्यक्ति विशेष को नमस्कार न करके गुणों को नमन किया गया है। इससे यह महामंत्र सार्वभौमिक, सार्वकालिक, सार्वजनीन रूप में प्रतिष्ठित है। जो क्रोध, अहंकार, आसक्ति आदि विकारों से मुक्त हो गये हैं, उन अरिहन्तों को नमस्कार है। जिन्होंने साधना का सर्वोच्च लक्ष्य प्राप्त कर लिया है, उन सिद्धों को नमस्कार है। जो शुद्ध आचार का आदर्श हैं, उन आचार्यों को नमस्कार है, जो स्वयं ज्ञानी बनकर विद्यादान में कुशल हैं, उन उपध्यायों को नमस्कार है और जो साधना के शुद्ध मार्ग पर गतिशील हैं, विश्व के उन सभी साधुओं को नमस्कार है।

इस प्रकार वैयक्तिक पूजा की अपेक्षा गुण-पूजा को महत्व देने से आराध्य के नाम पर किसी भी व्यर्थ के विवाद की संभावना ही नहीं रह जाती है।

जैन साहित्यकारों ने नवीन काव्य विधाओं को विकसित किया और गद्य के रूप में भी कई नवीन रूपों की सृष्टि की। जैसे गुर्वावली, पट्टावली, उत्पत्तिग्रन्थ, दफ्तरबही, ऐतिहासिक टिप्पण, ग्रंथ-प्रशस्ति, बवलिका दवावैत, सिलोका, बालाव बोध, बात आदि। ये निर्माण इसलिए भी महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि उसके द्वारा हिन्दी गद्य का प्राचीन ऐतिहासिक विकास स्पष्ट होता है। हिन्दी के प्राचीन ऐतिहासिक और कलात्मक गद्य में इन काव्य रूपों की देन महत्वपूर्ण हैं।

प्रत्येक संस्कृति के दो रूप होते हैं - आन्तर और बाह्य। बाह्य रूप को तो सभी व्यक्ति चक्षु, कर्ण आदि बाह्य इन्द्रियों से जान सकते हैं, किन्तु आन्तर रूप का अनुभव तो उसे जीवन में तन्मय करने वाला ही जानता है और दूसरे तो उसके व्यवहार और वातावरण पर पड़ने वाले प्रभाव से अनुमान लगाते हैं या प्रभावित होते हैं। जैन संस्कृति को विशद् रूप से समझने के लिए इसी प्रकार के दो रूपों का विचार करना है। इसका आन्तर रूप निवृत्ति परक और बाह्य रूप प्रवृत्ति परक है।

निवृत्ति का अर्थ कर्तव्य विमुखता, अकर्मण्यता या पुरुषार्थ हीनता नहीं है। निवृत्ति को साधारण तौर पर त्याग के रूप में जाना जाता है और त्याग ही जैन संस्कृति का आन्तर रूप है। निवृत्ति किससे लेना, त्याग किसका करना है? इसके लिए जैन संस्कृति में स्पष्ट बताया है, कि वह प्रवृत्ति करो जिससे यह जनम-मरण-पुनर्जन्म का चक्र समाप्त हो जाए। जन्म मरण के प्रमुख कारण राग-द्वेष है। इनके द्वारा प्राणिमात्र

क्रोधादि कषायों, हिंसादि पापकार्यों में रत रहता है। मनुष्य इच्छाओं का दास बनकर पाप पुण्य के चक्कर में भटकता रहता है। अतः इसको रोकने के लिए निवृत्ति की साधना की जानी चाहिये। ज्यों-ज्यों मनुष्य सांसारिक बन्धनों रागद्वेष आदि से निवृत्त होता जायेगा, वैसे-वैसे ही जन्म मरण का बन्धन भी शिथिल होकर सर्वथा क्षय हो जायेगा।

निवृति का मार्ग अपनाने से दो कार्य होते हैं - 1. दुःखोत्पत्ति के भावी कारणों का निरोध और 2. विद्यमान कारणों को नष्ट करना। पहले रूप में उन कारणों पर प्रतिबन्ध लगाने का लक्ष्य रहता है, जो वर्तमान में अदृश्य रूप से हमारी मानसिक क्रियाओं द्वारा होकर भविष्य में फलदायी बनते हैं। दूसरे में उन कारणों का क्षय करने का प्रयास होता है, जो अतीत के कार्यों से कारण रूप बनकर वर्तमान में दुःखोत्पत्ति कर रहे हैं। भावी कारणों की रोक के लिए अहिंसा और वर्तमान कारणों के क्षय के लिए संयम तप साधन हैं। इस त्रिपदी के समन्वय द्वारा निवृत्ति का फलितार्थ प्राप्त होता है। इसी को श्रमण संस्कृति ने धर्म कहा है - 'धम्मो.....अहिंसा संजमो तवो।'

जैन संस्कृति का यह निवृत्ति परक आन्तर रूप व्यक्ति और समाज का आवश्यक अंग है। आत्मदर्शन की भावना प्रत्येक व्यक्ति में छिपी है और उसके लिए स्वयं प्रयत्न भी करता है। काषायिक प्रवृत्तियों से निवृत्त होना ही आत्मदर्शन (साक्षात्कार) का मार्ग है। यद्यपि आन्तरिक वासनाओं से वासनाओं पर विजय पाकर सर्वदा निवृत्त होना कठिन है, लेकिन असम्भव नहीं है। जो आत्मा का निग्रह कर लेते हैं, वे अपने आप पर संयम कर सकते हैं, वे धीरे-धीरे उनसे निवृत्त होकर सुख एवं आनन्द का अनुभव भी कर सकते हैं।

निवृत्ति के सम्बन्ध में यदि भारतीय दर्शनों की समीक्षा करें तो प्रत्येक दर्शन ने आत्मसाक्षात्कर के लिए निवृत्ति को मुख्यता दी है। कर्मकाण्डी मीमांसकों के अतिरिक्त सभी वैदिक और अवैदिक दर्शन निवृत्ति के उपदेष्टा हैं। जैन और बौद्ध संस्कृतियाँ तो मूलतः निवृत्ति परक हैं ही, किन्तु वैदिक समझे जाने वाले न्याय-वैशेषिक, सांख्य योग और औपनिषद् दर्शनों की आधारशिला भी निवृत्ति मूलक है। उन्होंने आत्म साक्षात्कार के लिए प्रवृत्तिमूलक धर्म को हेय बताकर आत्मज्ञान और तत्सम्बन्धी व्यवहार को उपादेय बताया है और उसी के द्वारा पुनर्जन्म से निरत होना सम्भव मानते हैं।

जैन संस्कृति का निवृत्ति परक आन्तर रूप अनुभवगम्य है। इसका स्पष्ट दर्शन श्रमण वर्ग में किया जा सकता है, जो तप, त्याग संयम की साधना के लिए ऐहिक भोगों और देह से ममत्व त्याग करते हैं। जनता उन्हें श्रद्धा से सिर झुकाती है। इतना ही नहीं, साधारण जन स्वयं अकिंचन अनगार का मार्ग अनुसरण करने में अपने जीवन की कृतार्थता मानते हैं।

जैन संस्कृति की इसी निवृत्ति प्रधानता के कारण सामान्यतः लोगों में यह भ्रान्ति पायी जाती है, कि जैन धर्म ने संसार को दुःखमूलक बताकर निराशावाद को जन्म दिया है। संयम और विराग की अधिकता पर बल देकर मानव की अनुराग भावना और कला प्रेम को कुंठित किया है। लेकिन यह भ्रांति निर्मूल है। इस संस्कृति के संवाहकों ने आचार व्रत, नियम, कला, साहित्य, स्थापत्य आदि के रूप में बाह्य रूप को भी उजागर किया है। यह ठीक है, कि जैन धर्म ने संसार को दुःखमूलक माना, लेकिन किसलिए? अखण्ड आनन्द की प्राप्ति के लिए, शाश्वत सुख की उपलब्धि के लिए। यदि जैन धर्म संसार को दुःखपूर्ण मानकर ही रुक जाता, सुख प्राप्ति की खोज नहीं करता, उसके लिए साधना-मार्ग की व्यवस्था नहीं देता, तो हम उसे निरशावादी कह सकते थे, पर उसमें तो मानव को महात्मा बनाने की, नर से नारायण बनाने की, आत्मा को परमात्मा बनाने की आस्था का बीज छिपा हुआ है। दैववाद के नाम पर अपने को असहाय और निर्बल समझने वाले लोगों को किसने आत्म जागृति का सन्देश दिया? किसने उसके हृदय में छिपे हुए पुरुषार्थ को जगाया? किसने उसे अपने भाग्य का विधाता बनाया? जैन धर्म की यह विचारधारा युगों बाद आज भी बुद्धि जीवियों की धरोहर बन रही है, संस्कृति को वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान कर रही है।

जैन दर्शन केवल निवृत्तिमूलक ही नहीं है, वरन् प्रवृत्ति को, जीवन के विधान पक्ष को भी उसने महत्त्व दिया है। इस धर्म-दर्शन के उपदेष्टा तीर्थंकर लौकिक-अलौकिक वैभव के प्रतीक हैं। दैहिक दृष्टि से वे अनन्तबल, अनन्त सौंदर्य और अनन्त पराक्रम के धनी होते हैं। इन्द्रादि मिलकर उनके पंच कल्याणक महोत्सवों का आयोजन करते हैं। उपदेश देने के उनके स्थान (समवसरण) कलाकृतियों से अलंकृत होते है। जैन धर्म ने जो निवृत्तिमूलक बातें कही है, वे केवल उच्छृखलता और असंयम को रोकने के लिए ही है।

जैन संस्कृति की कलात्मक देन भी अपने आप में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। वास्तुकला के क्षेत्र में विशालकाय कलात्मक मंदिर मेरुपर्वत की रचना, नंदीश्वर द्वीप व समवसरण की रचना, मानस्तम्भ, चैत्य, स्तूप आदि उल्लेखनीय हैं। मूर्तिकला में विभिन्न तीर्थंकरों की मूर्तियों को देखा जा सकता है। चित्रकला में भित्ति चित्र, ताड़पत्रीय चित्र, काष्ठ चित्र, लिपि चित्र, वस्त्र पर चित्र आश्चर्य में डालने वाले हैं।

इस प्रकार साहित्य, संगीत, कला, स्थापत्य के रूप में जैन संस्कृति का जो रूप दिखता है, वह भी काफी गौरवपूर्ण है। जैन संस्कृति की विशिष्टता यह है, कि इसमें कला को मात्र कला के लिए नहीं, साहित्य, संगीत आदि को केवल मनोरंजन के लिए ही नहीं, वरन् इनको भी मानसिक एकाग्रता, अन्तर्लीनता, भक्तिरस की अनुभूति एवं परमात्म स्वरूप के साथ तदाकारता के लिए ही स्वीकार करती है। संस्कृति के बाह्य स्वरूप का विकास, अन्तर स्वरूप को पुष्ट करने के लिए माना है। यहाँ देह का

पोषण पहलवानी के लिए नहीं, वरन् साधना और तपश्चर्या के लिए किया जाता है। इसी प्रकार साहित्य, संगीत आदि का विकास भी आत्म विकास की दृष्टि से ही हुआ है।

इस प्रकार निवृत्ति और प्रवृत्ति का समन्वय करके जैन दर्शन ने संस्कृति को लचीला बनाया है। उसकी कठोरता को कला की बांह दी है, तो कोमलता को संयम की शक्ति इसलिए वह आज भी जीवंत है।

आर्यों के आगमन के पूर्व भी भारत में निवृत्ति परक धर्म का प्रचार था। इन निवृत्तिवादियों को वेदों में 'व्रात्य' शब्द से सम्बोधित किया गया है। व्रात्य का अर्थ है, तप, त्याग, ध्यान, अनासक्ति आदि व्रतों का अनुसरण करने वाले। इनकी यह निवृत्ति मूलक वृत्ति इतनी सबल थी, कि प्रवृत्ति अनुगामी आर्य भी इनसे आकर्षित हुए और शनैः-शनैः उन्होंने भी आचार विचार मूलक बातों को अपनी प्रवृत्ति का अंग बना लिया। संभवतः तत्कालीन आर्यों में, उपनिषदों और उसके उत्तरवर्ती साहित्य में निवृत्ति की प्रधानता के स्पष्ट दर्शन होते हैं।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मविद्या के प्रथम प्रवर्तक भगवान ऋषभ हैं। वे प्रथम राजा, प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम तीर्थंकर और प्रथम धर्म-चक्रवर्ती थे। ब्रह्मविद्या या आत्मविद्या अवैदिक शब्द हैं। बौद्ध, जैन आदि विभिन्न ब्राह्मण विरोधी मत-मतान्तरों का विकास आत्म वेत्ता क्षत्रियों की बदौलत ही संभव हो सका। क्योंकि आध्यात्म विद्या की परम्परा बहुत प्राचीन रही है, संभवतः वेद रचना से पहले भी रही है। उसके पुरस्कर्ता क्षत्रिय थे। ब्राह्मण पुराण भी इस बात का समर्थन करते हैं, कि भगवान ऋषभ क्षत्रियों के पूर्वज हैं। उन्होंने सुदूर क्षितिज में आध्यात्म विद्या का उपदेश दिया था।

वस्तुतः क्षत्रिय परम्परा ऋग्वेद काल से पूर्ववर्ती है। उपनिषद्-काल में क्षत्रिय ब्राह्मणों का पद छीन लेने को उद्यत नहीं थे, प्रत्युत ब्राह्मणों को आत्मविद्या का ज्ञान दे रहे थे। जैसा कि एम० विन्टरनिट्ज ने लिखा है, 'उपनिषदों में तो और कभी-कभी ब्राह्मणों में भी ऐसे कितने ही स्थल आते हैं, जहाँ दर्शन अनुचिन्तन के उस युग प्रवाह में क्षत्रियों की भारतीय संस्कृति को देन स्वतः सिद्ध हो जाती है।"

वर्तमान युग में जैन संस्कृति की उपादेयता : जैन दर्शन विश्व के प्राचीनतम दर्शनों में से हैं। अन्य कई दर्शन काल प्रवाह में विलीन हो गये। लेकिन जैन दर्शन की अविच्छिन्न धारा आज भी अविलरूप से प्रवाहमान है और उसमें निहित जीवन मूल्यों के वाचक प्रतिनिधि चतुर्विध संघ- श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका रूप से विद्यमान हैं। इससे यह स्पष्ट है, कि जैन दर्शन में ऐसे सार्वमतैक, सार्वकालिक तत्व हैं, जो सदियों पूर्व भी इतने ही महत्वपूर्ण थे और आज के वैज्ञानिक युग में भी उतने ही प्रासंगिक व महत्वपूर्ण हैं।

आधुनिक जीवन और सभ्यता का विकास जिस प्रकार से हुआ है, उसने धर्म के साथ जुड़े हुए प्रतिगामी मूल्यों को झकझोर दिया है। फलस्वरूप धर्म-दर्शन अतीत का व्याख्यान और भविष्य की स्वप्नदर्शी कल्पना मात्र समझा जाने लगा है। ज्ञान - विज्ञान के स्तर पर, जो आधुनिक जीवन दृष्टि विकसित हुई है, उसके साथ धर्म का कोई तालमेल नहीं है, लेकिन ऐसी सोच और समझ भ्रामक है। इस भ्रम निवारण के लिए आधुनिकता और धर्म-दर्शन के स्वरूप को सही परिप्रेक्ष्य में समझना आवश्यक है।

आधुनिकता को दो रूपों में समझा जा सकता है। एक तो समय सापेक्ष प्रक्रिया के रूप में और दूसरा विभिन्न प्रभावों से उत्पन्न चेतना के रूप में। प्रथम रूप में आधुनिकता कालवाची है, जो परिवर्तन और विकास की सारणियों को पार कर काल-प्रवाह के साथ आगे बढ़ती है। इस स्थिति में हर आगन्तुक क्षण अपने पूर्ववर्ती क्षण की अपेक्षा आधुनिक होगा और इस प्रक्रिया में परम्परा आधुनिकता से जुड़ी रहेगी, उससे कटकर एकदम अलग नहीं होगी। दूसरे रूप में आधुनिकता भाववाची है, विभिन्न प्रभावों से उत्पन्न चेतना रूप है। इसका सम्बन्ध मूल्यवत्ता से है। आधुनिक काल-खण्ड में रहते हुए भी कई बार व्यक्ति इस मूल्य परक चेतना को ग्रहण नहीं कर पाता। जैन दर्शन में यह चेतना समानता, स्वतन्त्रता, श्रमनिष्ठा, इन्द्रिय जय, आत्म-संयम, आन्तरिक वीतरागता, लोककल्याण, वैचारिक औदार्य, विश्वमैत्री, स्वावलम्बन, आत्म जागृति, कर्त्तव्य परायणता, आत्मानुशासन, अनासक्ति जैसे मूल्यों से जुड़ी हुई है, यही मूल्यवत्ता जैन दर्शन की आधुनिक दृष्टिवत्ता है।

आधुनिकता के इस सन्दर्भ में धर्म सम्प्रदाय या मत बनकर नहीं रहता। वह आत्म जयता या आत्मस्वभाव का पर्याय बन जाता है। सभ्यता का विकास इन्द्रिय सुख और विषय-सेवन की ओर अधिकाधिक होने से आत्मा अपने स्वभाव में स्थित न होकर विभावाभिमुख होती जा रही है। फलस्वरूप आज संसार में चारों तरफ हिंसा, तनाव और विषमता का वातावरण बना हुआ है।

विषमता से समता, दुःख से सुख और अशान्ति से शान्ति की ओर बढ़ने का मार्ग धर्ममूलक ही हो सकता है। लेकिन वर्तमान काल में सबसे बड़ा संकट यही है, कि व्यक्ति धर्म को अपना मूल स्वभाव न मानकर, उसे मुखौटा मानने लगे हैं। धर्म या दर्शन मुखौटा तब बनता है, जब वह आचरण में प्रतिफलित नहीं होता। सिद्धान्त और व्यवहार का बढ़ता हुआ अन्तर व्यक्ति को अन्दर ही अन्दर खोखला बनाता रहता है। जब धर्म अपने ही दार्शनिक सिद्धान्तों से हटकर लीक पीटने वाली रूढ़ि मात्र बन जाता है तब धर्म के प्रति अरूचि होने लगती है। लोग उसे अफीमी नशा और न जाने क्या-क्या कहने लग जाते हैं- यह सही है, कि इस धर्मोन्माद में बड़े-बड़े अत्याचार हुए हैं। विधर्मियों को झूठा ही नहीं ठहराया गया, वरन् उन्हें प्राणान्तक यातनाएँ भी दी

गई।

जहाँ धर्म के नाम पर ऐसे अत्याचार होते हैं, धर्म के नाम पर सामाजिक ऊँच-नीच के विभिन्न स्तर कायम किए जाते हों, धर्म के नाम पर भगवान के प्रांगण में न जाने, उन्हें छूने न छूने की प्ररूपणा की जाती हो, वह धर्म निश्चय ही एक प्रकार की अफीम है। उसके सेवन से नशा ही आता है। आत्मदशा की कोई पहचान नहीं होती। धर्म के नाम पर पनपने वाली इस विकृति को देखकर ही मार्क्स ने धर्म को अफीम कहा। लेकिन सच्चा धर्म नशा नहीं है, वरन् वह तो नशे को दूर कर आत्म-दशा को शुद्ध और निर्मल बनाने वाला है, सुषुप्त चेतना को जागृत करने वाला है, ज्ञान और आचरण के द्वैत को मिटाने वाला है।

धर्म के दो आधार हैं- 1. चिरन्तन और 2. सामयिक। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। चिरन्तन आधार आत्म-गुणों से सम्बन्धित है और सामयिक आधार सम-सामयिक परिस्थितियों का परिणाम हैं। देश और काल के अनुसार यह परिवर्तित होता रहता है। ग्राम धर्म, नगर धर्म, राष्ट्र धर्म, संघ धर्म सामयिक आधार पर अपना रूप खड़ा करते हैं और चिरन्तन आधार से प्रेरणा व शक्ति लेकर जीवन तथा समाज को संतुलित, संयमित करते हैं। दोनों आधारों को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार यथायोग्य स्थान और महत्त्व देता है।

आधुनिकता और वैज्ञानिक युग धर्म के लिए अनुकूल नहीं है या वे धर्म के विरोधी हैं, ऐसी विचारधारा निरा भ्रम उत्पन्न करती है। वास्तव में आधुनिकता ही धर्म की कसौटी है। धर्म अन्धविश्वास या अवसरवादिता नहीं है। कई लोक सम्मत जीवन आदर्श मिलकर ही धर्म का रूप खड़ा करते हैं। उसमें जो अवांछनीय रुढ़ि तत्त्व प्रवेश कर जाते हैं, आधुनिकता उनका विरोध करती है। आधुनिकता का धर्म के केन्द्रीय जीवन तत्त्वों से कोई विरोध नहीं है। आज के इस तेजरफ्तार युग में सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की ही है, धर्म के केन्द्रिय जीवन तत्त्व यथा इन्द्रिय निग्रह, मैत्री, करुणा, प्रेम, सेवा, सहकार, स्वावलम्बन, तप, संयम, परोपकार आदि सुरक्षित रहें।

वर्तमान युग बौद्धिक विश्लेषण और तर्क जाल का युग है। वह श्रद्धा और आस्था के आधार पर टिके हुए शाश्वत आदर्शों को महत्त्व न देकर उन मूल्यों तथा तथ्यों को महत्त्व देता है, जो प्रयोग और परीक्षण की कसौटी पर खरे उतरते हैं। वह अतीत जीवी विश्वासों और अनागत आदर्श कल्पनाओं में न विचर कर, वर्तमान जीवन की कठोरताओं और विद्रूपताओं से संघर्ष करने में अपने पुरुषार्थ का जौहर दिखाता है। वह इन्द्रियों और मन द्वारा प्रत्यक्षीकृत सत्य तथा भौतिक जगत् की स्थिति व अवगाहना में विश्वास करता है। त्रिकालवाही सत्यनिरुपण, परलोक सम्बन्धी रहस्यात्मकता व ईश्वरवादिता को नकारता है। विज्ञान का चिन्तन ईश्वर जैसी किसी ऐसी अलौकिक शक्ति में विश्वास नहीं करता जो व्यक्ति के सुख-दुःख की नियामक

हो और न ऐसे छायालोक में विश्वास करता है, जो इस पृथ्वी लोक से परे अनन्त सुखों की क्रीड़ा भूमि है। दूसरे शब्दों में विज्ञान यह स्वीकार नहीं करता, कि मानव को कोई दूसरी शक्ति सुखी या दुःखी बनाती है। चूंकि तथाकथित धार्मिक परम्पराएं मनुष्य के सुख दुःख के लिए स्वयं मनुष्य को नहीं, वरन् ईश्वर नाम की किसी अन्य शक्ति को उत्तरदायी ठहराती रही हैं, इसलिए विज्ञान ने धर्म का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया।

भौतिकवाद के इस युग में बाह्य भौतिक साधन-सामग्री का बहुलता से अन्वेषण हुआ है। लेकिन ये भौतिक सुख-सुविधाएँ व साधन भी मनुष्य को किसी सन्तोष जनक साध्य की ओर ले जाने में सक्षम नहीं रहे। फलस्वरूप मानव पुनः अपने अतीत में कुछ खोजने को प्रेरित हुआ, जहाँ कम साधनों के बावजूद अधिक सन्तुष्टि एवं परिपूर्णता का जीवन था। इस जागरण में सांस्कृतिक धरोहर का पुनर्मूल्यांकन होने लगा। धर्म-दर्शनों में निहित तथ्यों और आदर्शों की समसामयिक सन्दर्भों में व्याख्या होने लगी। जर्मनी के प्राच्य विद्या विशारदों की दृष्टि भारत की इस मूल्यवान धार्मिक सांस्कृतिक, आध्यात्मिक निधि की ओर गई। मैक्समूलर और हरमन जैकोबी जैसे विद्वानों के नाम इस दिशा में विशेष उल्लेखनीय हैं। जब जैन दर्शन से विद्वानों का सम्पर्क हुआ और उन्होंने अपने अध्ययन से यह जाना, कि ईश्वर और परलोक को परे रखकर भी धर्म-साधना का चिंतन और अभ्यास किया जा सकता है, तो उन्हें धार्मिक सिद्धान्त तथ्यपूर्ण लगे। जैन दर्शन की इस मान्यता में उनकी विशेष दिलचस्पी पैदा हुई, कि ईश्वर सृष्टि का कर्ता नहीं है। षट्द्रव्यों के संयोग से सृष्टि की रचना स्वतः होती चलती है। यह एक गतिशील प्रक्रिया है। इस दृष्टि से सृष्टि का न आदि है न अंत है। यह अनादि अनन्त है। इसी प्रकार जीवों को सुख-दुःख कोई परोक्ष सत्ता नहीं देती है। जीव के स्वकृत कर्मों से ही उसे सुख-दुःख मिलते हैं। जीव किसी अन्य शक्ति अथवा ईश्वर पर निर्भर नहीं है। इस प्रकार जैन दर्शन में आत्म-निर्भरता पर सर्वाधिक बल दिया गया है। सृष्टि रचना और ईश्वरत्व के रूप में अपने पुरुषार्थ-पराक्रम के बल पर मानव चेतना के चरम-विकास (चेतना के उर्ध्वीकरण) के सिद्धान्त ने धर्म और विज्ञान के अन्तर को कम कर दिया। आधुनिक विचारक धर्म और विज्ञान को एक दूसरे के विरोधी न मानकर पूरक मानने लगे हैं। दोनों की पद्धति और प्रक्रिया में अन्तर होते हुए भी उनके लक्ष्य में समानता है।

जैन दर्शन ने धर्म को किसी मत या सम्प्रदाय से न जोड़कर मनुष्य की वृत्तियों से जोड़ा और क्षमा, सरलता, विनम्रता, सत्य, निर्लोभता, त्याग संयम, तप, ब्रह्मचर्य आदि की परिपालना को धर्म कहा। जो व्यक्ति धर्म की इस रूप से साधना करता है, वह देवता से भी महान् है। वह देवता को नमन नहीं करता, वरन् देवता उसे नमन करते हैं।

इस प्रकार जैन धर्म ने साधना के केन्द्र में मनुष्य को प्रतिष्ठित किया। मनुष्य अपने पुरुषार्थ द्वारा अपनी विकृतियों पर विजय प्राप्त कर अपनी चेतना का सर्वोपरि विकास कर सकता है। मानव मन की विकृतियाँ हैं- क्रोध, मान, माया, लोभ। इन्हें कषाय कहा गया है। इन कषायों की जड़ हैं- मानव इच्छा या कामना। ये इच्छाएँ कषायों में रूपान्तरित होती रहती है, जिससे चेतना का विकास सम्भव नहीं हो पाता। फलतः आत्मा की ज्ञान-दर्शन चारित्र व सुख की शक्तियाँ दबी हुई रहती हैं। साधक अपनी साधना द्वारा कामनाओं पर नियन्त्रण करके आत्म अनुशासन द्वारा अपनी आत्म शक्तियों को पूर्ण रूप से जागृत और विकसित कर सकता है। चेतना की इस पूर्ण विकसित अवस्था को ही केवलज्ञान तथा मोक्ष कहा है। वही वास्तविक स्वतन्त्रता है। इस स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए मनुष्य किसी अलौकिक शक्ति अथवा सत्ता पर निर्भर नहीं है। वह स्वयं इस अवस्था को प्राप्त करने में सक्षम और स्वतंत्र है। जैन दर्शन में इस अवस्था को प्राप्त करने की प्रक्रिया को ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की सम्यक् आराधना द्वारा आत्मा के साथ लगे हुए कर्मों को क्षय करने की साधना कहा है।

वर्तमान युग में सिक्युलरिज्म (Secularism) के जो विचार उभरे हैं, वे जैन दर्शन के धर्म के विचार से पर्याप्त मेल खाते हैं। सिक्युलरिज्म की भावना है, सभी धर्मों के प्रति आदर और सम्मान। धर्म के नाम पर किसी को ऊँचा नीचा न समझना। दूसरे शब्दों में सम्प्रदायातीत होना। जैन दर्शन में धर्म की जो व्याख्या है, वह सम्प्रदायातीत धर्म की व्याख्या है। इसमें सम्प्रदाय की अपेक्षा धर्म को जीवन की एक कला के रूप में प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से जैन धर्म का चिंतन सार्वजनीन, सर्वजनोपयोगी तथा सर्वोदयी है।

जैन दर्शन में धर्म के दो भेद किए हैं। अनगार धर्म अर्थात्, मुनि धर्म और आगार धर्म अर्थात् गृहस्थ धर्म। मुनि धर्म वह धर्म है,जिसमें साधक तीन करण, तीन योग से हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह का आजीवन त्याग करता है, अर्थात् मुनि इस पापकर्मों को मन, वचन और काया से न करता है, न दूसरों से करवाता है और न जो करते हैं उनको प्रोत्साहित करते हैं। वह पंच महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह) धारी होता है। गृहस्थ धर्म वह धर्म है, जिसमें साधक महाव्रतों की बजाय अणुव्रतों को धारण करता है। वह अपनी शक्ति व सामर्थ्य के अनुसार स्थूल रूप से हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का त्याग करता है। गृहस्थ धर्म के आगे की सीढ़ी है- अनगार धर्म। गृहस्थ धर्म के नियम अर्थात् बारह व्रत एक प्रकार से किसी भी देश के आदर्श नागरिक की आचार संहिता है।

जैन दर्शन की क्रांतिकारी विचारधारा ने धर्म की आड़ में यज्ञों में दी जाने वाली पशुबलि का सख्त विरोध किया। धर्म के अतिरिक्त भी मूक पशुओं के वध को रोकने के यथासंभव प्रयास किए। मांसाहार का निषेध कर पशुवध की प्रवृत्ति पर रोक

लगाई। अरिष्टनेमि ने मूक पशुओं की हिंसा को रोकने के लिए स्वयं के विवाह तक का त्याग कर दिया। दशवैकालिक में कहा है,'' सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।''' अर्थात् सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को समाप्त करने के लिए दास प्रथा का भी घोर विरोध किया। जैन दर्शन में ही शूद्रों एवं स्त्रियों को भी सभी प्रकार के धार्मिक अधिकार दिए। उन्हें अपने संघ में दीक्षित किया बराबरी का स्थान दिया। जातिवाद का खण्डन करके यह उद्घोष किया, कि किसी जाति विशेष में जन्म लेने मात्र से ही व्यक्ति ऊँचा अथवा नीचा नहीं हो जाता है, वरन् व्यक्ति अपने कर्मों से महान बनता है। जैन दर्शन ने मानवीय मूल्यों एवं आत्मिक सद्गुणों के विकास को अधिक महत्व दिया है। जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र[10] में कहा है, 'समताभाव धारण करने से कोई श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य पालन करने में ब्राह्मण होता है, ज्ञान की आराधना करने से मुनि होता है और तपस्या करने से तपस्वी होता है।' अर्थात् शूद्र कुल में जन्मा व्यक्ति भी ब्राह्मण के कर्म करके ब्राह्मण बन सकता है। जैन दर्शन के आद्यप्रणेता भगवान ऋषभदेव ने भी इसी आशय से जाति प्रथा प्रारम्भ की थी और भगवान महावीर ने भी यही उद्घोष बुलंद किया।

जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादि धर्म, समाज व्यवस्था आदि युगों-युगों के बाद आज भी उपयोगी और प्रासंगिक हैं। मानव सभ्यता के विकास क्रम में वैज्ञानिक युग के इस दौर ने भौतिक विकास की चरम सीमाओं को छू लिया है। मानव अन्तरिक्ष तक पहुँच गया है। विज्ञान ने ऐसी-ऐसी खोजें की हैं, कि मनुष्य एक स्थान पर बैठा-बैठा सारे विश्व को जान सकता है, कहीं से भी किसी से बात कर सकता है। बहुत कम समय में लम्बी दूरियाँ तय कर सकता है। लेकिन इस भौतिक उपकरणों के विकास ने मानव की क्षमताओं को कम कर दिया। व्यक्ति के आत्मविश्वास में कमी आ गयी। समय और स्थान की दूरी पर विजय पाकर भी मनुष्य अपने पारस्परिक सम्बन्धों में अधिक दूरी और तनाव महसूस करने लगा है। आज उसके चारों ओर विभिन्न प्रकार की समस्याएँ मुँह बाए खड़ी हैं। विभिन्न आर्थिक और राजनैतिक चिन्तकों ने जो विचार दिए हैं, उससे लौकिक समृद्धि का क्षितिज तो विस्तृत हुआ है, लेकिन आत्मिक शांति संकुचित हो गयी। हिंसा, झूठ, चोरी, असंयम और परिग्रह की समस्या पहले से कहीं अधिक जटिल और सूक्ष्म बनी है। जीवन अधिक अशांत संत्रस्त और कुंठित हो गया है। ऐसी स्थिति में मनुष्य के जीवन में शांति, सुख और संतुष्टि लाने के लिए जैन दर्शन मार्ग प्रशस्त करता है। जैन धर्म के सिद्धान्तों को जीवन में, व्यवहार में अपनाने से जीवन स्वतः ही सहज, सरल एवं सुखमय हो जाएगा।

संदर्भ सूची -

1. कल्पसूत्र-भद्रबाहु, (देवेन्द्र मुनि), अ॰ 2, गा॰ 195
2. आवश्यक निर्युक्ति, गा॰ 337
3. वही, गा. 342-345
4. वही, गा॰ 339
5. धम्माणं कासवो मुहुं। उत्तराध्ययन, 25, गा॰ 16
6. वृद्धारण्यक उपनिषद्, 5/2/3
7. वायुपुराण पूर्वार्द्ध, 33/50
8. प्राचीन भारतीय साहित्य, प्रथम भाग, प्रथम खण्ड, पृ॰ 183
9. दशवैकालिक सूत्र, 6/10
10. उत्तराध्ययन सूत्र, 25/32

संदर्भ ग्रन्थ

1. अथर्ववेद संहिता : राम शर्मा आचार्य, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, 1971
2. अनगार धर्मामृत : पं० आशाधर, माणिक्यचन्द्र जैन ग्रंथमाला समिति, बम्बई, वि०नि०सं० 2034
3. अनुयोग द्वार सूत्र : आर्य रक्षित, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1987
4. अभिधान राजेन्द्र कोष (1-7) : आचार्य राजेन्द्र सूरि, अभिधान राजेन्द्र कार्यालय, रतलाम (म०प्र०), 1991
5. अष्ट पाहुड़ : कुन्दकुन्दाचार्य, श्री शान्तिवीर जैन संस्थान, श्री महावीरजी, राजस्थान, वी०नि०सं० 2502
6. आचारांग सूत्र : सुधर्मा स्वामी, अ० अमोलक ऋषि, जैन अमोलक ज्ञान प्रकाशन, धूलिया (महाराष्ट्र), 1980
7. आदिपुराण : जिनसेनाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1951
8. आदि पुराण में प्रतिपादित भारत : नेमिचंद शास्त्री, वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1968
9. आप्त परीक्षा : आ० विद्यानन्द, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई 1904
10. आप्त मीमांसा : आ० समन्तभद्र, आगमोदय समिति, बम्बई, वि०सं० 2501
11. आवश्यक चूर्णि : आ० विद्यानन्द, आगमोदय समिति, बम्बई, 1984
12. आवश्यक निर्युक्ति : आ० भद्रबाहु, आगमोदय, समिति, बम्बई, 1981
13. आवश्यक सूत्र : भद्रबाहु स्वामी, आगमोदय समिति, बम्बई, 1917
14. ईशावाश्योपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर, 1976
15. उत्तरपुराण : आ० गुणभद्र, पन्नालाल, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, वी०नि० 2024

16. उत्तर भारत में जैन धर्म : सेवा मंदिर, रावटी, जोधपुर, 1990
17. उत्तराध्ययन सूत्र : सुधर्मास्वामी, श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, ब्यावर, 1978
18. उपासक दशांग सूत्र : सुधर्मा स्वामी, श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति संघ, ब्यावर, 1980
19. उपाय हृदय : नागार्जुन, पालि प्रकाशन मण्डल, बिहार, 1975
20. ऐतरेयोपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर, वि॰सं॰ 2001
21. ऐतिहासिक काल के तीन तीर्थंकर : आचार्य हस्तीमलजी, जैन इतिहास समिति, लाल भवन, जयपुर, 1978
22. औपपातिक सूत्र : अभयदेव सूरि की टीका सहित, आगमोदय समिति, बम्बई, 1916
23. अंगुत्तर निकाय : राहुल सांस्कृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, 1960
24. अंतगड़ दशांग सूत्र : श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, ब्यावर, 1981
25. ऋग्वेद संहिता (1-4) : राम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, बरेली, 1972
26. कठोपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर, 1982
27. कर्म ग्रन्थ भाग (1-5) : देवेन्द्र सूरि, श्री जैन धर्म प्रसारक, भावनगर, 1917
28. कल्प सूत्र : भद्रबाहु, अ॰ श्री आनन्दसागर सूरिजी, श्री आनन्द ज्ञान मंदिर, सैलाना, म॰प्र॰, 1976
29. कल्पसूत्र की प्रस्तावना : देवेन्द्रमुनि, श्री अमर जैन आगम शोध संस्थान, गढ़ सिवाना, 1980
30. कल्पसूत्र सुबोधिक टीका : विनय विजय गणि, देवचन्द लालभाई, बम्बई, 1923
31. काम्पिल कल्प : सं॰ प्रो॰ के॰डी॰ वाजपेयी, प्र॰ हजारी मल बाँठिया, काम्पिलपुर तीर्थ विकास परिषद्, शक्कर पट्टी, नागपुर, 1980
32. कुमारपाल चरित्र : जयसिंह सूरि, एन॰एस॰पी॰ बोम्बे, 1926
33. केनोपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर, 1930
34. गोम्मटसार : पुष्पदन्त एवं भूतबलि, प्र॰ नेमीचंद परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, 1985
35. चरक संहिता : चरक, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1977

36. चार तीर्थंकर : श्री सुखलाल जी संघवी, श्री जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, बनारस, 1953
37. छान्दोग्य उपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर, वि॰सं॰ 2023
38. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति : अमोलक ऋषि, जैन अमोलक ज्ञान प्रकाशन, धूलिया, वि॰सं॰ 2446
39. जिणधम्मो : आचार्य नानेश, श्री समता साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, इन्दौर-उज्जैन, 1980
40. जीवाभिगम : मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1983
41. जैन आगम में नारी : डॉ॰ कोमल जैन, प्र॰ पद्मजा प्रकाशन, देवास (म॰प्र॰), 1986
42. जैन ऐतिहासिक नामावली : पं॰ नेमिचन्द्र यति, सुखराज संखलेचा, आहोर, 1926
43. जैन कानून : बेरिस्टर चंचलराय, दिगम्बर जैन महासभा, बोम्बे, 1984
44. जैन तत्व प्रकाश : अमोलक ऋषि, जैन अमोलक ज्ञान प्रकाशन, धूलिया, 1968
45. जैन दर्शन : चिंतन अनुचिंतन : डॉ॰ रामजी सिंह, जैन विश्वभारती, लाडनूँ, 1993
46. जैन दर्शन का आदिकाल : दलसुख मालवणिया, एल॰डी॰ इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद, 1980
47. जैन दर्शन व संस्कृति का इतिहास : भागचन्द भास्कर, नागपुर विद्यापीठ, 1977
48. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास (भाग 1-2) : बलभद्र, केशरीचन्द चावलवाले, दिल्ली, वी॰नि॰ 2500
49. जैन धर्म का मौलिक इतिहास (भाग 1-2) : आचार्य हस्तीमलजी, जैन इतिहास समिति, जयपुर (राज॰), 1981
50. जैन धर्म का संक्षिप्त इतिहास : तेजसिंह गौड़, जयध्वज प्रकाशन समिति, मद्रास, 1980
51. जैन धर्म की प्राचीनता : बाल गंगाधर तिलक, अ॰भा॰दि॰ संघ, चौरासी, मथुरा, 1904
52. जैन पत्र-पत्रिकाएँ तीर्थंकर विशेषांक : सं॰ नेमिचन्द, इंदौर 1977
53. जैन मन्दिरों की प्राचीनता व मथुरा का कंकाली टीला : मुनि ज्ञान सुन्दर, रत्न प्रभाकर फलौदी, 1994
54. जैन साहित्य और इतिहास : श्री नाथूराम प्रेमी, हेमचन्द्र मोदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, 1940
55. जैन विद्या का सांस्कृतिक अवदान : रामचन्द्र द्विवेदी, आदर्श साहित्य संघ, चुरू, राजस्थान, 1976

56. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद् प्रकाश : जुगल किशोर मुख्तार, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, 1956
57. तत्त्वार्थवार्तिक (सभाष्य) : अकलंकदेव, श्री रत्नप्रभाकर ज्ञान पुष्पमाला फलौदी, वी०नि० 2044
58. तत्त्वार्थसार : अमृतचन्द्र, माणिक्यचन्द दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, 1970
59. तत्त्वार्थ सूत्र : उमास्वाति, सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1952
60. तिलोयपण्णति : यति वृषभसेन, जीवराज ग्रन्थमाला, सोलापुर, 1999
61. तीर्थंकर महावीर व उनका सर्वोदय तीर्थ : पं० हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर प्रिंटर्स, 1999
62. तीर्थंकरों का लेखा : अखिल भारतीय साधुमार्गी संघ, सैलाना, वी०नि० 2045
63. तीर्थ दर्शन (भाग 1 व 2) : श्री महावीर जैन कल्याण संघ, मद्रास, 1980
64. तैतिरिय उपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर, वि०सं० 2026
65. दशवैकालिक निर्युक्ति : भद्रबाहु, आगमोदय समिति, बम्बई, 1935
66. दशवैकालिक सूत्र : शय्यंभवस्वामी, आगमोदय समिति, बम्बई, 1918
67. दशाश्रुतस्कंध : भद्रबाहु, आगमोदय समिति, बम्बई, 1935
68. दर्शनसार : देवसेनाचार्य, जैन साहित्य प्रकाशन दिल्ली, 1985
69. दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि : कामता प्रसाद जैन, आ०दि० जैन शास्त्रार्थ, अंबाला, 1932
70. दीर्घ निकाय : राहुल सांस्कृत्यायन, महाबोधी सभा सारनाथ, बनारस, 1965
71. देवसेन का दर्शनसार : नाथूराम प्रेमी, बम्बई, 1918
72. धम्मपदं : राहुल सांस्कृत्यायन, महाबोधी सभा सारनाथ, बनारस, 1965
73. नन्दीसूत्र : देवर्द्धिगणि, प्र. मोतीलाल मूथा, सतारा सीटी, 1918
74. नवतत्त्व साहित्य संग्रह : हेमचन्द्रसूरि, सं० उदय विजय गणि, जैन एडवोकेट सभा, अहमदाबाद, 1922
75. नियमसार : कुन्दकुन्दाचार्य, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़, सौराष्ट्र, 1974
76. निरयावलिया सूत्र टीका सहित : चन्द्रसूरि, आगमोदय समिति, बोम्बे, 1922

77. नीतिशास्त्र की रुपरेखा : डॉ॰ रामनाथ शर्मा, दिल्ली प्रकाशन, 1984
78. न्यायमंजरी : जयंत भट्ट, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1970
79. न्याय विनिश्चय विवरण : आचार्य वादिराज, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, वी॰नि॰ 2484
80. न्यायावतार : सिद्धसेन दिवाकर, आगमोद्धारक ग्रंथमाला, कपड़गंज, वी॰नि॰ 2024
81. 2500 वर्षों में भगवान महावीर की विश्व को देन : सं॰ देशभूषणजी, मुन्नीदेवी, दरियागंज, दिल्ली वि॰ नि॰ 2500
82. पट्टावली समुच्चय : मुनि दर्शन, वीरमगाम 1933
83. पद्मपुराण : सं॰ रामशर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, बरेली, 1971
84. परिशिष्ट पर्वण : आचार्य हेमचन्द्र, श्री जैन धर्म प्रचारक सभा, भावनगर, 1917
85. पुरातन प्रबन्ध संग्रह : मुनि जिन विजय, एम॰जे॰जी॰एम॰ कलकत्ता 1936
86. पुरुषार्थसिद्धयुपाय : अमृतचंद्राचार्य, परमश्रुत प्रभावना मंडल, बम्बई, 1986
87. पंचाध्यायी : पं॰ सरनाराम जैन, दि॰ जैन धर्म प्रचारक पुस्तकालय, सहारनपुर, 1986
88. पंचास्तिकाय संग्रह : कुन्दकुन्दाचार्य, श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट भावनगर, सौराष्ट्र, 1994
89. प्रमाण मीमांसा : हेमचन्द्रसूरि, प्र॰ सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदाबाद, 1939
90. प्रमाणनय तत्वरत्नावतारिका : यशोविजयजी, आगमोदय समिति, बम्बई, 1965
91. प्रमाणनय तत्वावलोक : वादिदेव सूरि, श्री तिलोकरत्न स्था॰ जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी, 1989
92. प्रमाण संग्रह : अकलंकदेव, आगमोदय समिति, बम्बई, 1939
93. प्रवचनसार : कुन्दकुन्दाचार्य, श्री महावीर प्रसाद सांगाका पाटनी, किशनगढ़, राजस्थान, 1986
94. प्रवचन सारोद्धर : नेमिचन्द्र सूरि, शा॰ मोहनलाल गोविंदजी, पालीताणा, 1979
95. प्रश्न व्याकरण सूत्र : सुधर्मा स्वामी, अ॰ मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1983

96. प्रज्ञापना सूत्र : श्यामाचार्य, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1986

97. प्राचीन भारत : ओम प्रकाश प्रसाद, पुस्तकमहल, दिल्ली प्रकाशन, 1980

98. बारह अणुवेक्खा : कुन्दकुन्दाचार्य, कुन्दकुन्द भारती, दिल्ली, 1975

99. ब्रह्मपुराण : इलहाबाद, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, 1972

100. ब्रह्मसूत्र : बादरायण, चौखम्भा विद्याभवन वाणसी, 1980

101. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य सहित : शंकराचार्य, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1976

102. भगवती सूत्र : सुधर्मास्वामी, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1980

103. भगवान अरिष्टनेमि और कर्म योगी श्रीकृष्ण : देवेन्द्र मुनि शास्त्री, श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, राजस्थान, 1971

104. भगवान ऋषभदेव और उनकी लोकव्यापी मान्यता : कामता प्रसाद जैन आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रंथ, प्रकाशन, 1982

105. भगवान पार्श्वनाथ एक समीक्षात्मक अध्ययन : देवेन्द्र मुनि शास्त्री, श्री वर्धमान श्वे॰ स्था॰ जैन श्रावक संघ पूना, 1970

106. भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास प्रथम भाग : मुनि ज्ञान सुन्दर, श्री रत्न प्रभाकर ज्ञान पुष्पमाला, फलौदी, 1943

107. भगवान बुद्ध : धर्मानन्द कौशाम्बी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई, 1960

108. भगवान महावीर एक अनुशीलन : देवेन्द्र मुनि शास्त्री, श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, राजस्थान, 1983

109. भगवान महावीर और बुद्ध : कामताप्रसाद जैन, आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रंथ प्रकाशन, 1975

110. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि : डॉ॰ ज्योति प्रसाद जैन, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, 1980

111. भारतीय जैन साहित्य संसद : ज्योति प्रसाद जैन, जैन साहित्य व कला संगोष्ठी, आगरा 1965

112. भारतीय दर्शन : पं॰ बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, 1960

113. भारतीय संस्कृति और श्रमण परम्परा : श्री हरिन्द्रभूषण जैन, वीर निर्वाण भारती, मेरठ, 1973

114. भारतीय संस्कृति की दो धाराएँ : इन्द्रचन्द, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, 1949
115. भाव संग्रह : देवसेनाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, 1985
116. मज्झिम निकाय : राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, 1933
117. मत्स्य पुराण : इलाहाबाद, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, 1971
118. मध्य एशिया का इतिहास : राहुल सांकृत्यायन, पालि प्रकाशन मण्डल बिहार, 1930
119. मनुस्मृति : पं. काशीनाथ वाजपेयी, बाबू बैजनाथ प्रसाद बुकसेलर, बनारस, 1932
120. महापुराण : पुष्पदन्त, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, वि०सं० 2036
121. महाभारत : वेदव्यास, गीता प्रेस गोरखपुर, 1930
122. मल्लिनाथ चरित्रम् : विनयचन्द्र सूरि, बनारस, 1912
123. मार्कण्डेय पुराण : नागशर्मा सिंह, नाग पब्लिकेशन दिल्ली, 1971
124. माण्डूक्य उपनिषद : चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1995
125. माध्यमिक कारिका : नागार्जुन, महाबोधि सभा, सारनाथ, 1965
126. मुण्डकोपनिषद : चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1995
127. मूलाचार : वट्टकेराचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, वी०नि० 2484
128. यजुर्वेद : सातवलेकर संस्करण, वि० सं० 1984
129. यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद : महर्षि दयानन्द सरस्वती, दयानन्द संस्थान, दिल्ली, 1930
130. योग वाशिष्ठ : राम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, बरेली, 1960
131. योग शास्त्र : हेमचन्द्रसूरि, श्री जैन धर्म प्रचारक सभा, भावनगर, 1985
132. योगशास्त्र (पातञ्जल) : व्यास भाष्य, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, वि०सं० 2027
133. रत्नकरण्डश्रावकाचार : समन्तभद्र, माणिक्यचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वी०नि० 2513
134. राजतरंगिणी : कल्हण, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1965
135. राज प्रश्नीयसूत्र : अमोलक ऋषि, राजा बहादुर लाला सुखदेव सहायजी, हैदराबाद, वि०सं० 2442
136. रामायण : टी०आर० कृष्णाचार्य, बम्बई, गीता प्रेस, गोरखपुर, वि०सं० 2717

137. लघीयस्त्रय : अकलंकदेव, आगमोदय समिति, बम्बई, 1972

138. विपाकसूत्र : वृत्ति अभयदेव, सं॰ एस॰सी॰ मोदी, पूना, प्र॰ व्ही॰ जै॰ चौकसी, अहमदाबाद, 1935

139. विशेषावश्यक भाष्य : जिनभद्र गणि क्षमा-श्रमण, दिव्य दर्शन ट्रस्ट, मुंबई, 1912

140. विष्णुपुराण : इलाहाबाद, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1951

141. वैशेषिक सूत्र : वात्स्यायायन, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1969

142. वृहत्कल्पसूत्र (मलयगिरीवृत्ति) : मलयगिरी, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, 1933

143. वृहदारण्य उपनिषद् : चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1990

144. व्यवहारसूत्र : भद्रबाहु, आगम प्रकाशन समिति, बम्बई, 1932

145. सन्मति प्रकरण कुण्ड : सिद्धसेन दिवाकर, आगमोदय समिति, बम्बई, 1932

146. समयसार (अमृतचंद्र की आत्मख्याति टीका सहित) : कुन्दकुन्दाचार्य, पं॰ टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, 1980

147. समवायांग सूत्र : अ॰ मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1966

148. सर्वार्थसिद्धि : आ॰ पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1985

149. संस्कृति के चार अध्याय : रामधारी सिंह दिनकर, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरीगेट, दिल्ली-1956

150. संस्कृति के अंचल में : देवेन्द्रमुनि शास्त्री, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1967

151. सागार धर्मामृत : पं॰ आशाधर, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, वी॰नि॰ 2034

152. सामवेद संहिता : चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1971

153. सांख्यकारिका : ईश्वर कृष्ण, मोतीलाल बनारसीदास, 1971

154. सांख्य प्रवचन भाष्य : विज्ञानभिक्षु, गीताप्रेस, गोरखपुर, 1977

155. सूत्रकृतांग : वृत्ति शीलांकाचार्य, आगमोदय समिति, बम्बई, 1917

156. स्कंध पुराण : इलाहाबाद हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1971

157. स्थानांग सूत्र : सुधर्मा स्वामी, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, 1981
158. स्यादवाद मंजरी : मल्लिषेण सूरि, परमश्रुत प्रभावक म०, बम्बई, 1910
159. शारीरिक भाष्य : शंकराचार्य, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1976
160. षट्खण्डागम : पुष्पदन्त (धवला टीका) वीरसेन, अमरावती, 1943
161. षड्दर्शन समुच्चय : म० राजशेखरसूरि, धर्माभ्युदय मंत्रालय, वाराणसी, 1893
162. श्रीमद्भागवद् गीता : गीताप्रेस, गोरखपुर, 177
163. श्रीमद्भागवत पुराण : वेदव्यास, गीताप्रेस, गोरखपुर, 1918
164. श्री शान्तिनाथ पुराणम् : महाकवि असग, जैन संस्कृति संघ, सोलापुर, 1974
165. हरिवंशपुराण : जिनसेन, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1930
166. हिन्दू सभ्यता : राधाकुमुद मुकर्जी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1984
167. त्रिषष्टि-शलाका-पुरुष चरित्र : हेमचन्द्र, जैन धर्म प्रचारक सभा, भावनगर, 1908
168. ज्ञाताधर्मकथांग : सुधर्मा स्वामी, आगमोदय समिति, बम्बई, 1920
169. ज्ञानसार : यशोविजय, हिन्दी साहित्य, कार्यालय आबूरोड, वि०सं० 2038

1. A History of Indian Literature, Vol. II : M. Winternitz, Calcutta, 1993
2. A History of Indian Philosophy Part-I : S. Dasgupta, Cambridge
3. Ancient India : R.C. Mazumdar, Cambridge, 1980
4. Apigraphica Indica, Vol. II : Dr. Fuharar, London, 1927
5. Comparative Religion : A. C. Banquet, Carresll, London, 1975
6. Constructive sarvey of upnishadic philosophy : R.D. Ranade, Oriental Book Agency, Poona, 1917

7. Der Jainisms : H. Glasenapp, Berlin, 1925
8. Early Jainism : K.K. Dixit, L.D. Inst; Ahemdabad, 1966
9. Eight Upnishads : Shri Aurobindo, Shri Aurobindo Ashram, 1953
10. Encyclopaedia Britanica : Whooler, London, 1913
11. Ethics of Hindus : S.K. Maitra, University of Calcutta, 1957
12. Harrappa and Jainism : Jyoti Prasad Jain, T.R. Ram Chandra, 1986
13. History of Culture of Indian People, Vol. I (Vedic Age) : Editor R.S. Mazumdar, Cambridge, 1930
14. History of Literature of Jainism : U.D. Bardia, Bombay, 1909
15. Indian Anti. IX : Harmon Jacobi, Motilal Banarsi Das, 1944
16. Indian Philosophy, Vol. I & II : S.Radha Krishnan, George Allen & Unwin ltd., London, 1938
17. Jainism in Budhist Litrature : Bhagchand Jain, Alok Prakashan, Nagapur, 1972
18. Jain Sutras : Dr. Harmon Jacobi, Motilal Banarasidas, 1944
19. Political History of Ancient India : N.C. Raychodhary, Delhi Publication, 1978
20. Philosophy of India : Zimmer Edition by campbell, London, 1953
21. Religion & Culture of Jains : Dr. Jyoti Prasad, Bhartiya Gyan Pitha, Delhi, 1975
22. Sources of Indian Tradition : Bary, The Odorede Oxford University Press. 1958

23. Studies in Jainism : Dr. Hermon Jacobi, Motilal Banarsidas, 1983

24. The heart of Jainism : Mrs. Sindair Stevention, Oxford University, 1915

25. The Principal of Upnishadas : Dr. S. Radha Krishnan, G.A & V. ltd. London, 1953

26. The Story of Civilization : Will deaurent, New York, 1935

डॉ. मीनाक्षी डागा

पति : श्री नरेन्द्र डागा

शिक्षा : एम.ए. (दर्शन शास्त्र);
एम.फिल.; पीएच.डी.

लेखन : 1. आचार्य कुन्दकुन्द के दर्शन
परम सत्ता का स्वरूप
2. भगवान महावीर एवं उनसे
का जैन धर्म, दर्शन एवं संस्
3. विविध पत्रिकाओं में अ
लेख प्रकाशित

प्रकाशन : 1. जैन दर्शन (विशिष्ट संदर्भ
2010

सम्मान : 1. प्रथम पुरस्कार, शांकर वेद
प्रतियोगिता
2. प्रणवानन्द पुरस्कार,(1989
3. प्रणवानन्द पुरस्कार,(1990
4. खरतर गच्छ समाज में लेखि
सम्मान (2013)

सम्पर्क : डॉ. मीनाक्षी डागा
201, वीर दुर्गादास नगर, पाली
(राजस्थान) 306 401
मोबाइल : 098291 18675

ISBN : 978-81-86103-07-4

₹ 800.00